हिन्दी वैष्णवभक्ति काव्य में निहित काव्यादर्श
एवं
काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त

(सन १४०० ए० डी० से १६०० ए० डी० तक)

डी० फिल्० की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोधप्रबंध

प्रस्तुतकर्ता

योगेन्द्र प्रताप सिंह, एम० ए०, शोधछात्र

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग : इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

भूमिका

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य पर किया गया अधिकांश कार्य निगमात्मक पद्धति का अनुसरण करता है. आगमात्मक पद्धति से किए गए कार्यों की संख्या कम है. निगमात्मक पद्धति से शोध प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाला सबसे बड़ा दोष है, विषय की अस्पष्टता एवं उसके अनेक पक्षों के छूट जाने का भय. फिर, जहाँ काव्य को मूलाधार मानकर उसमें निहित सिद्धान्त नियोजन का प्रश्न है, उस स्थिति में आगमात्मक पद्धति ही एकमात्र आधार है. कला विषयक शोध प्रक्रिया में आगमात्मक पद्धति के समुचित प्रयोग का प्रश्न अत्यधिक महत्वपूर्ण है. यह सत्य है, कि इस पद्धति के आधार पर समग्र कृतित्व में निहित तथ्य का अन्वेषण हो जाता है, किन्तु कलाविषयक सिद्धान्तों के अन्वेषक का कार्य आगमात्मक पद्धति से उपलब्ध आँकड़ों को ज्यों का त्यों रख देना मात्र नहीं है. उसके लिए इससे भी महत्वपूर्ण कार्य मूल्यांकन का है. कलाविषयक आँकड़ों के मूल्यांकन के बिना शोधकर्म अधूरा रहता है. इस शोधकर्म कार्य में समग्रतः इसी पद्धति को अपनाने का प्रयास किया गया है.

किन्तु, क्या कला विषयक शोध प्रबन्धों में निगमात्मक पद्धति को भुला जा सकता है, मेरा विचार है कि वह असम्भव है. आगमात्मक पद्धति से प्राप्त तथ्यों के मूल्यांकन के लिए ऐतिहासिक विवेचन एवं सैद्धान्तिक विश्लेषण को आधार बनाया जाता है. इस रूप में निगमात्मक पद्धति के सहयोग के बिना कार्य हो सकना असम्भव है.

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मेरी अध्ययनदृष्टि इसी पर केन्द्रित रही है कि आगमात्मक पद्धति से भक्तिकाव्य में कौन कौन सी शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक समस्याएँ उठती हैं, उनका ऐतिहासिक परिवेश क्या है तथा उनका मूल्यांकन एवं सिद्धान्त नियोजन किस प्रकार किया जाय. भक्तिकाव्य के विषय में अनेक प्रकार के भ्रम हैं. कोई इसे मध्यकालीन पौराणिक प्रवृत्ति का

प्रतिफलन स्वीकार करता है, कोई दक्षिण से आई भक्ति एवं आवेश की अन्तिम लहरी मात्र किन्तु हिन्दी का भक्तिकाव्य दोनों का प्रतिफल मात्र नहीं है. इसकी प्रशस्त परम्परा संस्कृत काव्य के पूर्व से चली आ रही है. वैदिक काल की समाप्ति के बाद लौकिक काव्ययुग का आरम्भ संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है. इस लौकिक काव्य की परम्परा हिन्दी के रीतिकाल तक अनवरत गति से चली आती है. दूसरी ओर लौकिक साहित्य के पृथक भी उपदेशात्मक एवं स्तोत्रात्मक शान्तपरक भाव के काव्य प्रणीत होते रहे हैं. काव्य के ये रूप धार्मिक परिवेश से सम्बद्ध थे. जैन, बौद्ध, शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों में इसकी विशाल परम्परा वर्तमान है. इस परम्परा का स्पष्ट सूत्र ई. की वर्तमान के चौथी शती से प्राप्त होने लगता है. उत्तरमध्यकाल में वैष्णव धर्म की प्रमुखता के फलस्वरूप भक्तिविषयक अनेक रचनाएं मिलती हैं. पौराणिक एवं साम्प्रदायिक आग्रह से इस परम्परा को और भी अधिक बल मिला. इसी परम्परा का अन्तिम अवशेष हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य है.

शोधप्रबन्ध में स्थल स्थल पर यह संकेत मिलेगा कि भक्तकवि संस्कृत की बँधी बँधाई काव्यशास्त्रीय मनोवृत्तियों के समर्थक नहीं थे. संस्कृत के आरम्भिक आचार्य इन रचनाओं को उदात्त कलात्मक काव्य की संज्ञा न देकर सकाव्य मात्र सिद्ध करते हैं. बाद में संस्कृत के अनेक काव्यशास्त्रियों ने इन्हीं भक्तकवियों की मनोवृत्ति का पालन भी किया, फिर भी उन्होंने भक्तिकाव्य के विवेचन के लिए काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक ग्रन्थ रचना नहीं की. वैष्णव भक्तिकाव्य के विकास काल में भक्त आचार्यों ने भक्तिकाव्य के मानक ग्रन्थों की रचना का प्रयास किया, जिनमें श्री रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती, कविकर्णपूर गोस्वामी, जीवगोस्वामी, आचार्यवल्लभ आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है. किन्तु इनसे भी भक्तिकाव्य की वे सम्पूर्ण समस्याएं हल न हो सकीं, जिसकी अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य में हुई है.

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत शैलीवादी सिद्धान्त किसी भी शब्दार्थ रूप काव्य पर आरोपित किए जा सकते हैं. अलंकार, रीति, ध्वनि, एवं वक्रोक्ति शैली के गुण हैं. ये अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, इष्ट नहीं. इनसे काव्य सुरुचि जाग्रत हो सकती है, हृदय में उदात्तता नहीं आ सकती. भक्तिकाव्य हृदय के उदात्तीकरण की ओर संकेत है. उसे शैली सौन्दर्य की

अधिक अपेक्षा नहीं है. यदि प्रतीयमान व्यंग्य से भी व्यक्त हो जाय तो वे सन्तुष्ट है. इस प्रकार यह स्वत: स्पष्ट है, कि संस्कृत के शैलीवादी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त भक्ति काव्य पर आरोपित नहीं किए जा सकते. संस्कृत काव्य के अध्ययन के संदर्भ में किसी पृथकधर्मी सिद्धान्त का नियोजन अपेक्षित है. इसी क्रम में भक्तिकाव्य की काव्यशास्त्रीय सम्भावनाएं स्वत: उत्पन्न हो जाती हैं.

लक्ष्य की उदात्तता की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है. सौद्देश्य रचना उपयोगितावादी मूल्य की समर्थक है. किन्तु उपयोगितावाद आलोचना क्षेत्र में जिस अर्थ में रुढ हो चुका है, भक्तिकाव्य में वैसी उपयोगिता दृष्टि नहीं है भक्तिकाव्य में निहित उपयोगिता के स्वरुप को शुक्ल जी की शब्दावली में लोकमंगलवाद कहा जाता रहा है. यदि भक्तिकाव्य की प्रकृति के आधार पर उसका नामकरण किया जाय तो, वह नैतिक हितवाद के नाम से पुकारा जा सकता है. भारतीय काव्य में हितवाद या मंगलवाद की परम्परा आज की नहीं है. भारतीय साहित्य हितवाद का पर्याय है. इसके विकास की कड़ी वैदिक साहित्य से लेकर सम्पूर्ण मध्यकाल तक वर्तमान रही है. साहित्य निर्माण में इस हितवाद के सैद्धान्तिक निरुपण एवं पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा है. इसके बिना भक्तिकाव्य का अध्ययन अधूरा समझा जायेगा. भक्ति, धर्म की रसात्मक अनुभूति न होकर, ईश्वर की रसात्मक अनुभूति है. ईश्वर विषयक इसी रसात्मक अनुभूति को भक्ति एवं इसकी अभिव्यक्ति को भक्तिकाव्य की संज्ञा दी जाती है. भक्तिकाव्य के अध्ययन के संदर्भ में इस रसात्मक अनुभूति का अध्ययन करना अति आवश्यक है. इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर रुपगोस्वामी आदि आचार्यों ने भक्तिकाव्य के मानक ग्रन्थों के निर्माण के प्रति सचेष्टता दिखाई थी. फलत: उनके सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन एवं भक्तिकाव्य में निहित रस विषयक मान्यताओं का परस्पर सम्बन्ध निरुपण इस अध्ययन का अभीष्ट है. इस शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत इस परम्परा पर तो विचार ही किया गया है, साथ ही, यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है, कि भक्ति रस क्या उत्तरमध्यकाल के आचार्यों की कल्पना मात्र है. यदि नहीं, तो क्या उसकी परम्परा के संकेत उपलब्ध हैं. इस प्रकार भक्तिरस की उत्पत्ति, विकास भक्तिकाव्य में उसकी अभिव्यक्ति का स्वरुप आदि समस्याओं पर विचार करना इस अध्याय का प्रयोजन रहा है.

काव्य में अभिव्यक्त वस्तु के रूप, गुण, चेष्टा, स्वरूप एवं तज्जन्य प्रियता का अध्ययन भारतीय वाङ्मय में रसशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है. पाश्चात्य देशों में यही समस्याएं सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत ली गई हैं. सौन्दर्यशास्त्र रसशास्त्र से अधिक व्यापक है. रसशास्त्र में सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं का अध्ययन आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव एवं संचारी की निश्चित परिधि में बंधकर करते हैं. किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र में उनके अध्ययन के लिए स्वच्छन्द सीमा वर्तमान है. भक्तिकाव्य में रसात्मक अनुभूति का परिवेश अत्यधिक व्यापक है, जिसके अध्ययन के लिएमात्र रसशास्त्र ही सहयोगी नहीं है. भक्तिकाव्य में प्राप्त सौन्दर्यमूल्य से सम्बन्धित भावों की संख्या ५ है उदात्त, प्रियता, शृंगार, एवं प्रेम. प्रेम का आध्यात्मीकरण तथा आनन्द. इन मूल्यों का अध्ययन रसशास्त्र के आधार पर नहीं किया जा सकता. फलत: इसका अध्ययन सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया गया है

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में ये ही तीन शास्त्रीय सिद्धान्त निहित हैं रसवाद, उपयोगितावाद तथा सौन्दर्यमूल्य. इन तीनों के अतिरिक्त संस्कृत की काव्यशास्त्रीय की कसौटी पर भी भक्तिकाव्य को कसने का प्रयत्न किया गया है काव्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रयोजन उसकी परम्परामूलक दृष्टि को स्पष्ट करने से है संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त शिल्प की दृष्टि से इन पर चरितार्थ हो जाते हैं किन्तु सम्पूर्णत: भक्तिकाव्य के अध्ययन के वे आधार नहीं हो सकते.

भक्तिकाव्य के संदर्भ में अन्तिम समस्या काव्यरूपों की है. संस्कृत साहित्य शास्त्र में निर्दिष्ट काव्यरूपी सम्बन्धी सिद्धान्त भक्तिकाव्य पर ज्यों के त्यों चरितार्थ नहीं किए जा सकते. भक्तिकाव्य अपनी परम्परा में प्राप्त काव्यरूपों को ही स्वीकृति देता है. फलत: सिद्धान्त नियोजन में भक्तिकाव्य की प्रकृति एवं उसकी वास्तविक परम्परा को ही आधार माना जा सकता है.

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत काव्यादर्श की समस्या उठाई गई है. भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्श पूर्णरूपेण स्पष्ट है. जीवनादर्श से सम्बन्धित होने के कारण ये काव्यादर्श भक्तिकाव्य की सम्पूर्ण प्रकृति का उद्घाटन करने में सहायक हैं. ये काव्यादर्श तीन हैं भक्ति के आदर्श, काव्य के आदर्श तथा क भक्ति एवं काव्य के मिश्रित आदर्श. भक्ति एवं जीवन उनके काव्य की अभिव्यक्ति से प्रत्यक्ष सम्बद्ध हैं. फलत: मूल्य निर्धारण के संदर्भ में भक्ति एवं जीवन सम्बन्धी मूल्यों को छोड़ा नहीं जा सकता है भक्तिकाव्य में प्राप्त मूल्यों के स्थायित्व की दृष्टि

से पाश्चात्य सिद्धान्तकारों से भी तुलना कर दी गई है . भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्श अपनी परम्परा में पूर्णरूपेण उदात्तकाव्य की भूमिका नियोजित करने में समर्थ हैं.

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्श तथा काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त विषय के अनुशीलन के संदर्भ में अध्ययन के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देना आवश्यक है . समय की दृष्टि से यह विषय १४ वीं शती से लेकर १६ वीं शती तक अध्ययन के लिए स्वीकृत है . इस समय के अन्तर्गत प्रणीत अनेक काव्य अप्रकाशित हैं. प्राप्त काव्यों की संख्या कम है . परम्परा की दृष्टि से मूल सामग्री को ६ सम्प्रदायों में विभक्त किया गया है . रामानुज , रामोपासक मधुर , वल्लभ , गौड़ीय , निम्बार्क एवं राधावल्लभ सम्प्रदाय . मध्यकाल के साम्प्रदायिक वैष्णव भक्तिकाव्य का अध्ययन करना ही प्रस्तुत प्रबन्ध का अभीष्ट है यद्यपि सम्पूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य उपलब्ध नहीं हो सका है , फिर भी प्राप्त साहित्य अध्ययन के दृष्टिकोण से पर्याप्त रहा है . इनके अभाव में निष्कर्ष निकालने में किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ा है . इस संदर्भ में कीर्तन संग्रह , रामकल्पद्रुम एवं निम्बार्क माधुरी से अधिक सहायता मिली है .

अध्ययन के संदर्भ में सर्वाधिक कठिनाई निहित शब्द के पालन में हुई है . भक्त कवि अन्ततया कवि हैं , आचार्य नहीं . उन्होंने काव्यशास्त्रीय शब्दों का यत्रतत्र संकेत मात्र ही किया है . उनकी काव्यपूर्ण शब्दावली को सैद्धान्तिक गद्य का रूप देना जटिल कार्य है , किन्तु जहाँ भी यह कार्य करना पड़ा है इस विषय पर ध्यान रखा गया है , कि उनके कथन की स्वाभाविकता नष्ट होने पाए . द्वितीय अध्याय में इस प्रकार का प्रयोग अधिक किया गया है . निहित शब्द की पुष्टि रचना की प्रकृति से भी हुई है . कवि कथन एवं रचना प्रकृति दोनों ही इस दिशा में सहयोगी रहे हैं .

यहाँ एक शब्द पर और ध्यान दे देना आवश्यक है वह है काव्यशास्त्रीय यह काव्यशास्त्रीय शब्द संस्कृत की काव्यशास्त्रीय दृष्टि का द्योतक न होकर सिद्धान्त नियोजन का पर्याय है फलतः यहाँ काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ काव्यसिद्धान्त से ही समझा जाना चाहिए .

यदि इस कार्य से गुरुजनों को किंचित् संतोष हो सका तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूंगा .

आभार प्रदर्शन

सन् १९५७ में आदरणीय डा० धीरेन्द्र जी वर्मा ने इस विषय पर कार्य करने की स्वीकृति स्व० विश्वम्भरसिंह राठौर को दी थी। कार्य के प्रारम्भकाल में ही सिंह के आकस्मिक देहावसान तथा ६६ में विश्वविद्यालय से डा० साहब के अवकाश ले लेने के बाद अक्टूबर १९६९ में आदरणीय डा० ब्रजेश्वर जी वर्मा ने यह कार्य मुझे दे दिया। कार्य की जटिलता एवं सैद्धान्तिक दुरुहता से एक बार अभीत अवश्य हुआ, किन्तु डा० वर्मा के प्रोत्साहन से कार्य निश्चित अवधि के भीतर समाप्त हो गया। कार्य के विषय में मुझे इतना अवश्य कहना है, कि इसे मैंने निष्काम भाव से किया है, अन्यथा जो कुछ भी है, वह डा० साहब का है। उनकी सहृदयता एवं आत्मीयता ने मेरे धैर्य को स्थिर रखा है, अन्यथा यह प्रत्येक दृष्टि से मेरे लिए दुस्तर था।

इस अवसर पर, विभागीय गुरुजनों एवं मित्रों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना, मैं धृष्टता नहीं समझूँगा। गुरुदेव डा० रामकुमार जी वर्मा की उदारता प्रत्येक पग पर आकाश दीपक की भाँति वर्तमान रही है। आदेय पं० उमाशंकर जी शुक्ल ने डा० ब्रजेश्वर जी वर्मा के प्रयाण छोड़ देने पर निर्देशन का कार्य किया है। आदरणीय महित जी की स्नेह भरी शोध पद्धति का अनुकरण करने का मैंने प्रयत्न किया है क्योंकि उनका अधिकारी भी हूँ। विभागीय गुरुजनों में डा० आदीश्वरप्रसाद, डा० सुरेश, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यथा समय अपनी सहायता से मुझे उपकृत किया है। ये भविष्य में भी मेरी अध्ययन दिशा को बढ़ावा देंगे, ऐसी मुझे आशा है। अनुज राजेन्द्रकुमार जी वर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना एकमात्र धृष्टता का उदाहरण होगा। इस कार्य पर मुझसे अधिक अधिकार उनका है।

शोध निबन्ध को प्रस्तुत करने में एक दुर्घटना से किंचित् विलम्ब हुआ है वह है ठा० वीरेन्द्रप्रताप सिंह का आकस्मिक देहावसान, उन्हें कितनी अभिलाषा थी कि उनके जीवनकाल में यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हो जाय। इस कृतज्ञता के प्रति उनकी आत्मा की शान्ति के लिए, यदि मैं उनका स्मरण न कर सकूँ तो मेरी कृतघ्नता होगी।

अन्य अभिरुचियों में प्रिय शील की स्मरण करना आवश्यक है, जिनका सहयोग मेरे कार्य के प्रति निरन्तर बना रहा है. टाइप सम्बन्धी गुरुतर कार्य का श्रेय ठा० केशरसिंह साहित्य रत्न को है, जिन्होंने पूरे अध्यवसाय के साथ मेरा कार्य समाप्त किया है.

अन्त में मैं पुनः उन ज्ञात एवं अज्ञात अभिरुचियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने किसी भी सहायता से मेरे कार्य की समाप्ति में सहयोग दिया है.

प्रार्थी
योगेन्द्र प्रताप सिंह
योगेन्द्र प्रताप सिंह
शोध छात्र
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग.

दिनांक २०/अप्रैल/१९६४

२१८ पुराना कटरा.
इलाहाबाद.

विषय सूची

अध्याय १

वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि तथा भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, वैष्णव भक्तिकाव्य की परम्परा, तथा भक्ति सम्बन्धी काव्यों की सूची. मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य तथा रचनाकार. रामानुज सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्कसम्प्रदाय क. हरिदासी सम्प्रदाय ख. हरिव्यासी सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय, राममक्ति का रसिक सम्प्रदाय. हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की प्रवृत्तियाँ वर्ण्य विषय के आधार पर सामाजिक मूल्य, नैतिक आचरण एवं भक्ति, दार्शनिक आधार, भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण काव्यदृष्टि. 1-62

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा तथा प्रवृत्तियाँ. काव्य की पृष्ठभूमि का सैद्धान्तिक विवेचनक. काव्य का स्वरूप, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य की मूलात्मा का विवेचन, क. वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण काव्यपाक, काव्यशैव्या तथा लक्षण, अलंकार सिद्धान्त, रीतिसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय, ख. वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त, ध्वनि, तथा गुण, रस सम्प्रदाय आचार्य भरत पूर्वक रस की स्थिति, आचार्य भरत तथा रस, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा रस, अभिनवगुप्त तथा रस, मम्मट तथाउनके पावर्ती एवं रस भक्तिकाव्य की समीक्षा में काव्यशास्त्रीय मूल्यों की उपयोगिता का परीक्षण.

६०१- ५६८८

अध्याय २

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्शों का सैद्धान्तिक अध्ययन

काव्यमूल्य: काव्यादर्श : काव्यप्रयोजन. संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रीय आदर्श और उनकी परम्परा अलंकार तथा रीतिसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय. हिन्दी भक्तकवियों के काव्यादर्श लोकमंगल की उद्भावना तथा रामनाम की अनिवार्यता काव्य से समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति, रामचरित्र या कृष्णलीला का गान, या राम का यशगान, आनन्द, कृष्णरस का गान, अचेतन वासना की तृप्ति, इतिहास का मनन, ज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति, काव्यादर्शों का वर्गीकरण. प्रयोजनों के स्रोत एवं उनकी परम्परा काव्यपरम्परा और पृष्ठभूमि, वैष्णवभक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्श. तथा संस्कृत के काव्यशास्त्रीय प्रयोजनों का तुलनात्मक अध्ययन पाश्चात्य काव्यशास्त्र तुलनात्मक

अध्याय ३

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा रस सिद्धान्त .

वैष्णव भक्तिकाव्य को रस विषयक पृष्ठभूमि . भक्तिरस केव्याख्याता आचार्य . वैष्णव भक्तिकाव्य भक्तिरस स्वरुप तथा स्वभाव मधुसूदन सरस्वती तथा भक्तिरस, गौडीय सम्प्रदाय , रुपगोस्वामी तथा भक्तिरस , आचार्य वल्लभ तथा उनके अनुयायी . कवि कृष्णदासगोस्वामी , हिन्दी वैष्णव भक्तिकवियों की रस सम्बन्धी धारणाएं कृष्णरस , प्रेमरस , रासरस, लीलारस, उज्वलरस, अन्यरस . निष्कर्ष : काव्यरस तथा वैष्णव भक्तिरस का तुलनात्मक अध्ययन . स्वभाव विस्तार, साधारणीकरण तथा रसबोध की स्थिति , प्रयोग , रसों का परस्पर अंगांगि सम्बन्ध . अंगांगि सम्बन्ध की उत्पत्ति एवं विकास , भक्त आचार्यों के द्वारा की गई अंगांगि सम्बन्ध की चर्चा मधुसूदन , रुपगोस्वामी तथा कविकृष्णदासगोस्वामी , वैष्णव भक्तकवि तथा रस का अंगांगि सम्बन्ध . भक्तआचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्तिरसबोध के सिद्धान्त तथा उनकी आलोचना रुपगोस्वामी , आचार्य वल्लभ , मधुसूदन सरस्वती, आलोचना भक्तिकाव्य के रसबोध का वास्तविक आधार . पृ० १६७-२३६

अध्याय ४

भक्तिकाव्य तथा उपयोगिता वादी साहित्य सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र में उपयोगिता तत्व का अभिधान . धार्मिक साहित्य और उपयोगितावाद . हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य तथा उपयोगितावाद का स्वरुप परम्परा का संकेत . उपयोगिता का स्वरुप . क्या नियोजन . कवि कथन तथा उपयोगिता का स्वरुप , वैयक्तिक हित , लोकरक्षा , सामाजिक संरक्षण, अशुभविनाश , सामाजिक अनाचार एवं नैतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन . उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का नियोजन वैयक्तिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, रचना प्रक्रिया. हिन्दीकेवैष्णव भक्तकवि एवं उनके वैयक्तिक सामाजिक मूल्य, निष्कर्ष . पृ० २३७-२८८

अध्याय ५

भक्तिकाव्य तथा सौन्दर्यबोध सिद्धान्त

भारतीय सौन्दर्यबोध तथा अध्ययन की परम्परा . भारतीय सौन्दर्यबोधतत्व की परम्परा धार्मिक परिवेश में भक्ति की परम्परा . वैष्णव भक्तिकाव्य के सौन्दर्य शास्त्रीय परिवेश में लीला का सौन्दर्य शास्त्रीय मूल्य , उदात्त सम्बन्धी भाव तथा

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य . भिन्नता के भाव . भक्तिकाव्य में प्रेम का व्यवहृत स्वरूप . शास्त्रीय शृंगार . स्वच्छन्द प्रेम , अंगप्रत्यंग तथा प्रेमविषय चेष्टाएँ , अलंकरण , कृष्ण तथा राधा निष्कर्ष . शृंगार का आध्यात्मीकरण , आनन्द .

पृ० १८५ - ३१३

अध्याय ६

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा काव्यरूपों का सैद्धान्तिक अध्ययन

संस्कृत काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट काव्यरूप तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त, महाकाव्य , खंडकाव्य , एकार्थकाव्य , मुक्तक , सविशेषक , युग्मक , सन्दानितक , कलापक , कुलक , संघात कोश . हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के विभिन्न काव्यरूप . चरितकाव्य, कथनात्मककाव्य, खंडकाव्य, एकार्थकाव्य, प्रबंधात्मक या चरितात्मक काव्य, संग्रहात्मक गीतिकाव्य, गीतिकाव्य, मुक्तककाव्य . क्षुद्रमुक्तक तथा कथात्मक मुक्तक , शेष रचनाएँ, चरितकाव्य, लीलामुक्तककाव्य , मंगल काव्य, मंजरीकाव्य .

पृ० ३१५ - ४५७

अध्याय ७

भक्तिकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

भक्तिकाव्य में रस का उत्कर्ष , भक्तिकाव्य में शृंगार रस का स्वरूप , भक्ति आदि सात्विक भावों से शासित शृंगार , शृंगार का आध्यात्मीकरण , शुद्ध शृंगार . शान्तरस, निर्वेदमूलक शान्तरस , ज्ञानमूलक या आत्मतत्त्वमूलक शान्तरस, तृष्णाक्षयमूलक तथा शान्तरस अन्यरस , वीर , हास्य, करुण , रौद्र , भयानक वीभत्स , अद्भुत निष्कर्ष . अलंकार, उपमा तथा रूपक , उपमा का प्रस्तुत पक्ष, अप्रस्तुतपक्ष , उत्प्रेक्षा प्रस्तुतपक्ष अप्रस्तुतपक्ष शब्दगत अप्रस्तुत, पदगत अप्रस्तुत , वाक्यगत अप्रस्तुत, अतिशयोक्ति, अतिशयोक्तिभास, तथा शुद्ध . अतिशयोक्ति , प्रतीप , दृष्टान्त तथा उदाहरण , अन्य अलंकार, निष्कर्ष . वक्रोक्ति सिद्धान्त तथा भक्तिकाव्य . वक्रोक्ति के भेद तथा भक्तिकाव्य , अलंकार तथा अलंकार्य भक्तिकाव्य में ध्वनिसिद्धान्त की संभावनाएँ वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों का अध्ययन . काव्यलक्षण , अप्रस्तुतनियोजन , रीति तथा शैली सम्बन्धी रूढ़ियाँ . कवि समय मानवस्वभाव तथा क्रिया से सम्बन्धित कविसमय , अचेतन वस्तुओं का मानवीकरण , गुण सम्बन्धी कविसमय , देवकर्म सम्बन्धी कवि समय , निष्कर्ष . काव्य हेतु .

अध्याय ८

उपसंहार .

संकेत सूची

अ०	अध्याय
अ० सं०	अध्याय, संख्या
आ०	आह्निक
आई. एच० क्वा०	इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
उज्ज्व०	उज्ज्वल नीलमणि
एस० के० डे .	सुशीलकुमार डे
का० प्र०	काव्यप्रकाश
कृष्ण०	कृष्णदास
चन्द्र०	चन्द्रगोपाल
चतु०	चतुर्भुजदास
चौ०	चौपाई
छं. सं.	छन्द सं०
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
डा०	डाक्टर
द० स्क०	दशम स्कन्ध
दिस०	दिसम्बर
दो०	दोहा .
दो० सं०	दोहा संख्या
नाभा०	नाभादास
पं०	पंडित्
परमा०	परमानन्ददास
परशु०	परशुरामदेव
प. सं.	पद संख्या
प्र० स्क०	प्रथम स्कन्ध
पृ०	पृष्ठ
बा०	बालकांड
बाल०	बालमल्ली
म० म०	महामहोपाध्याय
माधव०	माधवदास जगन्नाथी
मानस	रामचरितमानस .
रा च० मा०	रामचरितमानस
रो० सं.	रोला संख्या
श्लो०	श्लोक .
सं. या सम्पा०	सम्पादक .
सं.	संवत्
हरि०	हरिदास .

विषय सूची

अध्याय १

वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि तथा भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की पृष्ठ भूमि

वैष्णव भक्ति को मध्यकालीन धर्मसाधना के नाम से पुकारा जाता है। यह मध्ययुग या मध्यकाल समय बोधक विभाजन है, अंग्रेजी में इसी के समानान्तर मेडिवल शब्द का प्रयोग मिलता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह शब्द अंग्रेजी के 'मिडिल एजेज' के अनुकरण पर बना लिया गया है[1]। किन्तु यह मध्यकाल समय से कहीं अधिक उन प्रवृत्तियों का बोधक है, जो इस समय वर्तमान थीं। इस प्रकार मध्यकाल का अर्थबोध मध्ययुगीनता या मध्यकालिकता से अधिक स्पष्ट होता है। इसके समय निर्धारण के विषय में विद्वानों में मतभेद कम है। डॉ. द्विवेदी के अनुसार यह युग सन् ४७३ ई. से लेकर १५५३ ई. तक व्याप्त रहा है। पं. पद्मराम चतुर्वेदी ने इसके समय निर्धारण की ओर संकेत करते हुए भारत में इसका आरम्भ पुराण काल से स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके अनुसार यह ग्यारहवीं शती ई. से लेकर १८ वीं शती तक वर्तमान रहता है[2]। भक्तिकाल पर कार्य करने वाले विदेशी विद्वानों फर्कुहर, ग्रियर्सन, ग्राउस, बारथ्वाल आदि ने मध्यकाल का आरम्भ चौथी शती के आसपास से ही स्वीकार किया है। सन् १९६१ में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रस्तुत मध्ययुगीन भक्ति साहित्य में वात्सल्य एवं सख्य शोध प्रबन्ध में शोधकर्त्री डॉ० करुणावती ने ग्यारहवीं से लेकर सं. १९०० तक के समय को मध्ययुग के नाम से पुकारा है[3]। उनके अनुसार डा० द्विवेदी का मत अशंगत एवं भ्रान्त है। प्रस्तुत लेखिका ने अपने मन्तव्य पर विशेष जोर देते हुए बताया है कि हमारे विचार से पाश्चात्य मनोवृत्ति को ध्यान में न रखकर यदि मध्ययुग का आरम्भ सन्त कबीर से ही किया जाय तो अधिक संगत प्रतीत होता है[4]। लेखिका को हिन्दी साहित्य के मध्यकाल एवं भारतीय इतिहास के मध्यकाल की भिन्नता के विषय में भ्रम है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में जिस मध्यकाल का अध्ययन किया जाता है, उसका आरम्भ चौथी शती के आसपास से शुरु होता है। हिन्दी का मध्ययुगीन भक्तिकाव्य इस परम्परा का अन्तिम अवशेष है।

१: मध्यकालीन धर्मसाधना डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. १० तृतीय संस्करण १९६२

२: मध्यकालीन मधुर साधना . पं. पद्मराम चतुर्वेदी पृ. १७१ तथा १७२ .

३: मध्ययुगीन साहित्य में वात्सल्य एवं सख्य डा० करुणावती पृ. १ ४ तक .

प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय पु. सं. ३७७४ . १० . ६५७ .

ऊपर कहा जा चुका है कि मध्यकाल समय से अधिक मध्यकालीन प्रवृत्तियों का द्योतक है। इस युग में मनुष्य ज्ञान की अपेक्षा आस्था, विवेक विश्वास, आचरण, नैतिक निष्ठा एवं भक्ति का अधिक पक्षपाती हो चुका था।[1] इसी युग में वैष्णव धर्म की उन प्रवृत्तियों का विकास हुआ जो समाज, धर्म, जाति, नैतिकता, दर्शन आदि के रूप में व्यक्ति के ऊपर थोपी जाने लगी। किसने अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही मध्य युग के प्राचीन उपकरणों को लेकर वैष्णव भावना और भक्ति की यह पुनरावृत्ति उपस्थित की तथा युग के संस्कारी प्रयत्नों को नई केन्द्रीयता दी। यह नई वैष्णवता नए देश के लिए नया युगधर्म बन गई।[2]" हिन्दी का मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति साहित्य इसी धार्मिक परम्परा की अन्तिम कड़ी है। इस दृष्टि से हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव भक्तिसाहित्य शक्तियों से विकसित विशाल परम्परा की शृंखला प्रतीत होता है। यह धार्मिक साहित्य आरम्भ से किन किन शक्तों में विकसित होता हुआ १८ वीं शताब्दी तक इस रूप में प्राप्त हुआ, इसी का अध्ययन करना यहाँ अपेक्षित है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य का आन्दोलन मात्र २०० वर्षों का प्रतिफलन ही नहीं है। इसकी पृष्ठ भूमि के रूप में भारतीय परम्परा की समस्त धार्मिक काव्यधारा वर्तमान है। इसकी परम्परा को सशक्त कहीं न देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक बार आश्चर्य भी हुआ था कि सूरजी कृष्ण काव्य की कोई प्रशस्त परम्परा नहीं प्राप्त है, फिर भी एकाएक सूर इतने महान् कवि कैसे हो गए। इसी आश्चर्य का प्रतिफलन डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह का शोध प्रबन्ध सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्य है किन्तु इस प्रबन्ध में भी सूर पूर्व ब्रजभाषा में कृष्णकाव्य की परम्परा का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है। सूर ही नहीं लौकिक भाषा में प्राप्त तुलसी के पूर्व रामकथा एक दर्जन से अधिक नहीं है। प्राय: कहा जाता है कि प्रवृत्ति एवं शिल्पकला की दृष्टि से सूर की रामकथा को

.....

१ : वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट, एस.के. डे, भूमिका भाग

२ : डा. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति पृ. २४७

छोड़कर तुलसी अन्य किसी भाषा कवि से प्रभावित नहीं ज्ञात होते किन्तु ऐसी बात नहीं है। इनके काव्य की पृष्ठभूमि एवं परम्परा इतनी सशक्त रही है कि हिन्दी की कोई भी काव्य परम्परा इसका टक्कर नहीं ले सकती।

वैष्णव धर्म का आन्दोलन अपनी परम्परा में उतना ही प्राचीन ठहरता है, जितना कि वैदिक धार्मिक साहित्य। कारण कि, वैदिक धार्मिक साहित्य में वैष्णव धर्म के प्राचीनतम उल्लेख मिल जाते हैं। इस दिशा में कार्य करने वाले विद्वानों ने वैदिक साहित्य में निहित वैष्णव धर्म एवं उसकी प्रवृत्तियों का सविस्तर उल्लेख किया है। यह सत्य है, कि कतिपय विद्वान् इसे वैदिकोत्तर धर्म मानते हैं किन्तु वैष्णव धर्म की अनेक प्रवृत्तियों के उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त हो जाते हैं। वैष्णव धर्म की प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का प्रयोजन नहीं है, अपितु हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य में प्राप्त उन परम्पराओं का निर्देशन अभीष्ट है, जिनका प्रतिफलन धार्मिक काव्य या साहित्य के रूप में मध्यकाल में हुआ है।

आर्य परम्परा का भारतीय साहित्य आरम्भ से ही धर्मप्रवण रहा है, फिर भी इस विषय में अनेक मतवाद हैं। किसी किसी विद्वान् ने इसे आदिम संस्कृति का प्रतिफल बताया है[1], किन्तु यह मत आज भ्रामक सिद्ध हो चुका है। ब्लूमफील्ड ने इस विषय पर अच्छा कार्य किया है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, रिलीजन आव द वेद में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक धर्म पुरोहितों का धर्म है इसीलिए वशिष्ठ एवं तुरुष आदि को उन्होंने उच्च पुरोहितों की श्रेणी में रखा है[2]। इस प्रकार वैदिक साहित्य पूर्णरूपेण धर्म प्रधान है। यही धार्मिक प्रवृत्ति आदिम काल से ही भारतीय काव्यों के लिए आत्मा का कार्य करती रही है। वैदिक साहित्य में धार्मिकता एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों के समन्वय की एक विशिष्ट प्रकृति क्रियाशील मिलती है। विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को ४ भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१: व्यक्तित्व उपासना सम्बन्धी साहित्य
२: प्राकृतिक शक्ति एवं आध्यात्मिक चिन्तन प्रधान साहित्य
३: कर्मकाण्ड या यागकर्म के संकेत तथा तत् विषयक आचरणमूलक साहित्य
४: कथोपकथन प्रधान आख्यानमूलक साहित्य

.....

१ सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट सीरीज भाग ४२ ओरियंटल बुक डिपो नाः तृतीय संस्करण

२ रिलीजन आव द वेद . ब्लूमफील्ड . पृ. १८४

वैदिक साहित्य को इस दृष्टि से वर्गीकृत करने का मुख्य प्रयोजन परवर्ती विकसित धार्मिक साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं व्याख्या मात्र है।

व्यक्तित्व उपासना सम्बन्धी मंत्रों की संख्या वेद में अधिक है। इन व्यक्तित्वों में इन्द्र, वरुण, विष्णु, रुद्र अग्नि आदि प्रमुख हैं। इनकी उपासना का मुख्य विषय प्रशंसात्मक या स्तुतिपरक है। वैदिक कवियों ने इस स्तुति को स्तोत्र का नाम दिया है। इन मंत्रों या स्तुतियों में इनके कृत्य, शक्तिमत्ता, रुचि एवं अधिष्ठान आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें अधिकांशतः शक्तिमत्ता की प्रवृत्ति अधिक क्रियाशील दृष्टिगत होती है। फलतः ये गाथाएं अनेक स्थलों पर अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धति में प्राप्त होती हैं। इन्द्र के विषय में कहा गया है कि उसने अनेक नदियों के स्रोतों का मुख बंद उर्वरा भूमि को बाढ़ प्लावित कर दिया, विष्णु ने अपने तीन डगों से समूचे विश्व को नाप लिया आदि कथ्य अतिशयोक्ति मूलक होते हुए भी काव्योक्तियों से पूर्ण हैं। मैक्डानेल एवं मैक्डानेल ने इन तत्वों को मिथ (myth) का नाम दिया है। उनके अनुसार ऋग्वेद इस प्रकार की अनेक धार्मिक रूढ़ियों से भरा पड़ा है। इन्द्र एवं अश्विन के कार्य पूर्णरूपेण अतिशयोक्ति परक हैं। परवर्ती ऋग्वेद के मंत्रों में इन्हीं पौराणिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित कथोपकथन भी मिलते हैं। इन कथोपकथनों के बीच एक निश्चित सामाजिक उद्देश्य निहित है[२]। व्यक्तिपरक उपासना एवं पूजा के अनेक संकेत इन्हीं परम्पराओं से विकसित होकर परवर्ती धार्मिक साहित्य को प्रभावित किए हैं। प्रायः यह सभी स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिनिष्ठा से सम्बन्धित वैदिक स्तोत्र भिन्न भिन्न ऋषियों की वाणियां हैं, जिनको बाद में संकलित किया गया है। ये संकलन अपनी विशिष्ट पद्धति में

.....

२. द सेक्रेड बुक्स आफ ऋग्वेद मुकर्जी एंड कर पृ. ७०, ७१

काव्यात्मक ही है। यह सत्य है कि लौकिक साहित्य में काव्य के जो लक्षण निर्धारित किए गए हैं, उन पर ये सब न उतरें, फिर भी इनके मंत्रों को एक विशेष प्रकार का काव्य ही कहा जा सकता है। इनके रचनाकारों ने अपने को कवि, स्तोता तथा मन्त्रदृष्टा आदि नामों से पुकारा है।

प्राकृतिक शक्ति से सम्बन्धित स्तोत्रों की संख्या कम है व्यक्तित्व उपासना के साथ प्राकृतिक शक्ति के मानवीकरण की प्रवृत्ति वैदिक साहित्य में अधिक मिलती है। मानवीकरण के साथ साथ प्राकृतिक तत्वों में दैवत्व निरूपण की इनकी विशेष प्रकृति दिखाई पड़ती है। सूर्य, मेघ, विद्युत, नदी, उषा, संध्या, पर्वत, पृथ्वी, जल आदि से सम्बन्धित अनेक स्तोत्र वैदिक साहित्य में विशेष रूप से ऋग्वेद में भरे पड़े हैं। इन स्तोत्रों में उदात्त तथा उदात्त की प्रखर भावना निहित है। रुद्र सम्बन्धी ऋचायें उदात्त [सब्लाइम] की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं।

आध्यात्मिक तत्व विचार एवं आचार विषयक मंत्रों की संख्या यहाँ अधिक है। इसी का विकास ब्राह्मण ग्रन्थ काल में किया गया। ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण आरण्यकों, उपनिषदों एवं सूत्रकाल की रचनाओं में आध्यात्मिक तत्व विचार एवं आचारमूलक प्रवृत्तियाँ अधिक दृष्टिगत होती हैं। इन को छोड़कर ब्रह्म एवं अर्थ आचार की कर्मकांड विषयक मान्यताओं से सम्बन्धित हैं। उपनिषद् आरण्यकों की आध्यात्मिक तत्व विवेचना को विकसित रूप दिया है। इसका सम्पूर्णतः विकास वेदान्त में होता है। मध्यकालीन वैष्णव धर्म की आध्यात्मिक तत्व विवेचना वेदान्त पर ही आधारित है, शंकर को छोड़कर बादरायण के वेदान्त सूत्र पर लिखे गए भाष्य भागवत सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध हैं। इस प्रकार वैदकालीन आध्यात्मिक तत्वविवेचना वैष्णव धर्म की आध्यात्मिकता का आधार रही है।

इन तीन विशेषताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य की एक और भी विशेषता है जिसका सम्बन्ध उपाख्यानों से है उपाख्यानों के रूप में प्राप्त वैदिक साहित्य रूप अधिकांशतः कथोपकथनात्मक हैं पुरुरवस् तथा उर्वशी, सारस्वत सोपद्रा, यम यमी आदि के आख्यान सौरूप्य कथोपकथन से सम्बन्धित हैं आख्यान के रूप में कथित यह साहित्य आख्यान संवाद या इतिहास के नाम से पुकारा जाता है किसी के अनुसार तो भारतीय नाटकों की यह सर्वोत्तम विधा कही जा सकती है। भारतीय पुराणों को भी इतिहास एवं आख्यान के नाम से

पुकारा
कही जा सकती है[1]। भारतीय पुराणों को भी इतिहास एवं आख्यान के नाम से पुकारा जाता है। वायु पुराण में पुराणों को भी इतिहास एवं आख्यान के नाम से
वायु पुराण ने
अलंकृत[2]। पुराण को परिभाषित करते हुए कहा गया है "यस्मात् पुरा हि अनतीत पुराणम्[2]" अर्थात् जो प्राचीन काल से रहे वह पुराण है। राजशेखर ने इतिहास एवं पुराण को समान अर्थ में प्रयुक्त किया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार नारद कहलाते हैं कि मैंने समानरूप से इतिहास एवं पुराणों का अध्ययन किया है[3]। महाभारत के प्रथम पर्व में पुराण का उल्लेख मिलता है[4]। मैकडानेल के अनुसार संस्कृत काव्य की दो परम्परा प्राप्त होती है। एक वह जो अपनी परम्परा में इतिहास आख्यान को आधार बनाकर चलती है। इसका सम्बन्ध वैदिक परम्परा के आख्यानों से है इसरा वर्ग कलात्मक काव्य का है[5]। इस आख्यानमूलक साहित्य में तीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित है' नैतिक आदर्श प्रेम तथा वीरभावना इन्द्र एवं वृत्र का आख्यान वीरभावना से सम्बन्धित है नैतिक आदर्श के क्षेत्र में एक जलोदर पीड़ित व्यक्ति की प्रार्थना, घोषा का विवाह, जुआरी का पश्चाताप, यागिरस कथा का उल्लेख किया जा सकता है। यम यमी के संवाद नैतिक आचरण एवं अनाचरण के द्वन्द की कहानी है। इन कथाओं के मूल में आदर्श की एक निश्चित भावना निहित है। सम्भवत: इसीलिए विंटरनीत्स महोदय ने कहा है भारतीय मनीषा की यह एक निजी विशेषता है। कि वह विशुद्ध कलाकृतियों तथा शास्त्रीय वाङ्मय में कोई विभाजक रेखा नहीं खींच पाता[6]। भारत के विशुद्ध साहित्य में और नीति के दोहों में भेद कर सकना असम्भव है। जो चीज हमें परीकथाओं और पशु कथाओं का एक समूह मात्र लगता है, स्वयं भारतीय उसे युगों से नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के वैधानिक संस्कारों के रूप में स्वीकृत करते आए हैं। परवर्ती धार्मिक साहित्य के विकास में वैदिक आख्यानमूलक साहित्य का इस प्रकार महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

१: these dialogue hymns variously called आख्यान, संवाद, इतिहास are regarded by some as the earliest dramatic literature in India. पृ. ७१. वी. एस. आप्टेकर, लेक्चरस् ऑन ऋग्वेद.

२: वायुपुराण : १.२०३

३: अ. ७ खंड १ मंत्र २ तथा खंड ७ मंत्र १

४: महाभारत : उद्योगपर्व. ५: ५५.

५: ए. हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, बाय मैकडानेल पृ. २३६

६: प्राचीन भारतीय साहित्य मूल लेखक विंटरनीत्स अनुवादक श्री ललितराय पृ. ३

वैदिक साहित्य की इस धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव प्रत्येक परवर्ती धार्मिक साहित्यों पर पड़ा। विशेष रूप से बौद्ध एवं जैन साहित्य इससे अधिक मात्रा में प्रभावित हुए। सम्पूर्ण बुद्ध साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जाता है - सुत्तपिटक, विनयपिटक एवं अभिधम्म पिटक। सुत्तपिटक में भगवान बुद्ध के उपदेश एवं वे सुत्त से आरम्भ होते हैं। सुत्त से आरम्भ होने के कारण इसका नामकरण भी सुत्तपिटक किया गया। इस प्रकार भगवान्बुद्ध द्वारा कहा गया तथा स्थविरों द्वारा ग्रहण सुत्त साहित्य का संकलन सुत्तपिटक में मिलता है। इसका अभिप्राय नाम धर्मोपदेश है। जातक कथाएं सुत्तपिटक से ही संकलित हैं। ये जातक कथाएं वैदिक परम्परा में प्रचलित पौराणिक आख्यानों से पूर्णरूपेण मेल खाती हैं। वैष्णव धर्म एवं पुराणकथाओं में स्वीकृत दाशरथि राम एवं वासुदेव कृष्ण तथा देवेन्द्र शक्र की कथाएं इसमें संकलित हैं। इसी सुत्तपिटक में थेर एवं थेरी गाथाएं भी हैं, इन कथाओं को गीतिकाव्य की परम्परा में इन गाथाओं को वादिमपरम्परा के रूप में अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार पौराणिक आख्यान एवं गीतितत्व के काव्यात्मक परिवेश को मूलरूप बौद्ध साहित्य के सुत्तपिटक में प्राप्त हो जाती है।

व्यावहारिक दैनिक व्यवहारों के लिए विनयपिटक की रचना की गई है। विनयपिटक के दो भाग हैं-सुत्तविभंग तथा खन्धक। सुत्त विभंग के अन्तर्गत मानवहत्या, अनाचार, प्रचलित पापों का विवरण एवं तत्सम्बन्धी दोषों का कथन यहां मिलता है। इसी प्रकार इनसे सम्बन्धित नियमादि भी यहां कथित हैं। खन्धक [स्कन्धक] के अन्तर्गत भिक्षुओं के आरम्भिक व्रताचरण का विधान मिलता है।

अभिधम्म अभि + धम्म (Meta + physics) आध्यात्मिक तत्वदर्शन से सम्बन्धित है। बौद्ध दर्शन की सम्पूर्ण मान्यताओं का मूल यहीं वर्तमान है। इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से बौद्धसाहित्य का स्वभाव वैदिक साहित्य के समीप है। यही कारण है कि वैदिक साहित्य के कथात्मकरूप नैतिक काव्य की जो परम्परा संस्कृत साहित्य में प्राप्त होती है, वैसी ही कुछ बौद्ध साहित्य में भी है। इस साहित्य की परम्परा वैष्णव भक्ति सम्बन्धी साहित्य से प्राचीन है। पिटकोत्तर पालिसाहित्य में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित काव्य उपलब्ध होने लगते हैं। बौद्ध-धर्म को आधार बनाकर काव्य प्रणयन का श्रेय राजा महासेन (३२५, ३५२ ई०)

दिखाई जाता

की/है। उनके द्वारा रचित दीपवंश काव्य पुराणकाव्यों से मेल खाता है। उसके पश्चात् अश्वघोष (दूसरी शती) का स्थान आता है। अश्वघोष को कालिदास के टक्कर का कवि कहा जाता है। अश्वघोष की रचनाओं में बुद्ध चरित का महत्वपूर्ण स्थान है। इनका दूसरा महाकाव्य सौन्दरानन्द है। इन दोनों काव्यों के मूल में बौद्ध धर्म के उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य निहित हैं। दूसरी ओर इसको काव्यात्मक कृत्रिमता समझी जाती है। इसी समय के आसपास यहाँ कथात्मक साहित्य भी प्राप्त होने लगता है जिनमें जातकमाला, दानवंस, धूपवंस का उल्लेख किया जा सकता है। बौद्धों का स्तोत्र साहित्य ६ वीं शताब्दी से प्राप्त होने लगता है। इनमें मातृचेट कृत लोकेश्वर शतक, सर्वज्ञमित्र कृत आर्यावलोकितेश्वर स्तोत्र, रामचन्द्र कविभारती का भक्तिशतक नागार्जुन कृत कृपालु हृदय निरुपम्यस्तव तथा अचिन्त्यस्तव का महत्वपूर्ण स्थान है। इस काव्य की परम्परा विकसित होती हुई अपभ्रंश काल तक चली आई है। नाथ एवं सिद्धों का साहित्य इसी परम्परा से सम्बन्धित १५ वीं शती तक मिलता है। बंगाल के वैष्णव भक्त कवियों के ऊपर इनका अधिक प्रभाव पड़ा है। वहाँ के बाउल एवं सहजिया सम्प्रदाय अधिकाधिक इसी से प्रभावित है।

बौद्ध साहित्य की भाँति जैन साहित्य भी अपनी समृद्ध विशेषताओं के साथ विषयवस्तु की दृष्टि से वैदिक साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुगमन करता है। जैनियों के सैद्धान्तिक ग्रन्थों आचारांग, कल्पसूत्र सूत्रकृतांग तथा उत्तराध्ययन का अधिक महत्व है। जैन साहित्य में सैद्धान्तिक तत्वविवेचन बौद्धसाहित्य की तुलना में बहुत कम है। यहाँ दो तथ्यों की अधिकता है। दैनिक आचरण से सम्बन्धित साहित्य तथा उपाख्यान मूलक साहित्य आचारांग में जैनमतावलम्बियों के लिए दैनिक आचरण की व्यवस्था की गई है। कल्पसूत्र एवं सूत्रकृतांग में दार्शनिक तथा आचारमूलक विवेचना मिलती है। किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण है इनका आख्यानमूलक साहित्य। यह अधिकांशतया प्राकृत में है। यह साहित्य ७ वीं शती से आरम्भ होकर १८ वीं शती तक व्याप्त है। जैन धर्म की कथाओं का आरम्भ ज्ञाताधर्म कथांग से होता है। इन कथाओं में कथाकार धर्मोपदेश एवं कथा दोनों को साथ साथ चलता चलता है। इसी परम्परा से

.....

१ हिन्दी साहित्य : खंड : १ सम्पादक डॉ० ब्रजेश्वरवर्मा, डॉ० धीरेन्द्रवर्मा

सम्बन्धित जैनियों के यहाँ भी वैष्णव भक्तिकाव्य की ही भाँति विशाल पौराणिक साहित्य निर्मित हुआ। आचारांग के अन्तर्गत महावीर की कथा मिलती है। इसके भावती सूत्र के अन्तर्गत द्रौपदी की कथा भी पाई जाती है। राम एवं कृष्ण के चरित्र को लेकर यहाँ भी महत्त्वपूर्ण कथा काव्य प्रणीत हुए हैं। जैन साहित्य में ६३ पुरुषों के ६३ शलाका पुरुषों के से सम्बन्धित शलाका पुरुष चरित्रों की रचनाएँ की गई है। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्राप्त महापुराण श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शलाकापुरुष चरित्र से ही सम्बन्धित हैं। यहाँ निम्न पुराण अधिक प्रसिद्ध हैं। शीलांकाचार्य कृत महापुरुष चरित्र, हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, जिनसेन कृत महापुराण, पुष्पदन्त कृत महापुराण, गुणविजय का महावीर चरित्र हरिभद्र कृत नेमिनाह चरित्र लक्ष्मणगणिका सुपासनाह चरित्र आदि। जैनियों के यहाँ वैष्णव पुराणों में वर्णित राम तथा कृष्ण के चरित्र को आधार बनाकर भी रचनाएँ की गई हैं। इस दृष्टि से विमल सूरि का पउमचरिउ तथा स्वयंभू का पउमचरिउ अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आचार एवं उपासना से पृथक मानसिक शान्ति एवं धर्म भावना से प्रेरित अनेक स्तोत्र मूलक रचनाएँ यहाँ प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मानतुंग का भक्तामरस्तोत्र सिद्धसेन दिवाकर कृत कल्याणमन्दिर, धनपाल कृत ऋषभपंचाशिका वादिराज कृत एकीभाव स्तोत्र, सोमप्रभाचार्य कृत सूक्तिमुक्तावली, समन्तभद्र कृत जिनशतक एवं प्राकृत स्तोत्रों में - उवसग्गहर, जयतिहुअण अजियसन्ति, उपदेशमाला एवं उपदेशशतक आदि अधिक महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में भी धर्माचरण आख्यान एवं गीतिस्तोत्र मूलक साहित्य की परम्परा मिलती है।

वैष्णव भक्ति काव्य की परम्परा

वैष्णव भक्ति साहित्य की परम्परा बौद्ध एवं जैन साहित्य की ही भाँति अत्यधिक प्राचीन है। आरम्भिक वैष्णव साहित्य मूलतः धार्मिक कर्मकाण्डमूलक या सैद्धान्तिक था। इसमें एक ओर वैष्णव संहिताओं एवं आगमों की प्रधानता थी दूसरी ओर सैद्धान्तिक भाष्यों की। डॉ० लक्ष्मीप्रसाद दिवेदी ने इस काल की विशाल ग्रन्थ राशि की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार पांचरात्र संहिताओं की संख्या २०८ तथा आगमों एवं उपागमों की संख्या १९८ है।

इसमें शैवागम भी सम्मिलित है इस काल में अन्य धार्मिक साहित्य रूप भी निर्मित हुए हैं जिन्हें स्तोत्र एवं धारणियों के नाम से पुकारा जाता है। वैष्णव धर्म की आरम्भिक शिक्षाओं में अहिंसा धर्म का नाम अधिक महत्वपूर्ण है अवतारवाद के विषय में सर्वप्रथम हमें संकेत मिलता है[2]। यह अवतारवाद की धारणा कुहासे से पुष्ट है किन्तु रचनात्मकता की दृष्टि से इसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि में जहाँ तक रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रश्न है उसकी पीठिका में दो ही कृतियाँ आरम्भकाल में महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं रामायण तथा महाभारत वाल्मीकि रामायण में वैष्णवधर्म की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत नहीं होतीं किन्तु उनमें तत्सम्बन्धित अनेक संकेत अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। इसमें ऋषि मुनियों का पीड़ित होकर विष्णु की प्रार्थना करना, परशुराम का वैष्णव रूप, बालकाण्ड में मंदोदरी, संवाद में विष्णु का उल्लेख, रावण वध के उपरान्त ६ अवतारों विष्वक्सेन कृष्ण, वामन, प्रद्युम्न, नरसिंह तथा राम का कथन आदि वैष्णव धर्म से सम्बन्धित हैं जो वस्तुतः बाद के जोड़े हुए प्रक्षिप्त कथन के रूप में आते हैं। उत्तरकाण्ड में रावण वध के उपरान्त एक श्लोक प्राप्त है जिसमें राम ने देवताओं से अपने विष्णु रूप की चर्चा की है -

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दाशरथिं तु मां।
यद्रूपं यच्च वीर्यं च तत्सर्वं ब्रूत मे भवान्[3]।

देवता गण! मैं तो अपने को मनुष्य दशरथ पुत्र राम ही मानता हूँ, जो मैं हूँ और जहाँ से आया हूँ आप लोग मुझे बताइए। इस श्लोक को फादर कामिल बुल्के ने वाल्मीकि रामायण की प्राचीनतम प्रतियों में प्राप्त बताया है[4]। बालकाण्ड में राम को पुराण पुरुषोत्तम कहकर पुकारा गया है। यहीं इनके कौशल का भी कुछ सम्पूर्ण पारलौकिक मनोरथों की प्राप्ति, अनोखा समस्त

.....

१: मध्यकालीन धर्म साधना : हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. २६

२: अवतारवाद : हिन्दी साहित्य कोश: भाग १ द्वितीय संस्करण प्रस्तुत लेखक की टिप्पणी

३: वाल्मीकि रामायण: बालकाण्ड ११९ सर्ग श्लोक सं. १२ तथा वैष्णव भक्ति सम्बन्धी अन्य संदर्भों के लिए बालकाण्ड पंचदश सर्ग श्लोक १८, १९, २१, २२ तथा अष्टसप्ततितम: सर्ग श्लोक १ २४ तक युद्धकाण्ड सर्ग ११ श्लोक ११, १४ तथा सर्ग ११७ का १३,

४: रामकथा उत्पत्ति और विकास फादर कामिल बुल्के पृ. ३४८

समस्त साध्यनों की प्राप्ति तथा अपराजेय बताया गया है[1]। कुछ भी हो वाल्मीकि रामायण रामकाव्य के संदर्भ में मध्यकाल से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव अवश्य डालती है। तुलसी ने स्वत: वाल्मीकि रामायण को आधार बनाकर काव्य प्रणयन की चर्चा की है। इस काव्य में धार्मिकता के स्थान पर महाकाव्यात्मक भव्यता अधिक है।

धार्मिक भव्यता की दृष्टि से महाभारत का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। इसका मूल प्रतिपाद्य वैष्णवधर्म का समर्थन है। महाभारत का शान्तिपर्व वैष्णवधर्म का आदिम प्रामाणग्रन्थ है। समूचे रूप से महाभारत में भारतीय धार्मिक साहित्य की तीनों प्रवृत्तियां धार्मिक तत्वविचार, नैतिक आचरण एवं उपाख्यान (मूलरूप वर्तमान) हैं। महाभारत में प्रमुख कथा के अतिरिक्त तत्कालीन पौराणिक उपाख्यान (मूलरूप) भी वर्तमान हैं। महाभारत पौराणिक आधार को निश्चित रूप से अपने कलेवर में समेटे हुए मिलता है। इसमें प्राप्त उपाख्यान इस प्रकार है — शिवि उपाख्यान, ययाति उपाख्यान, शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामोपाख्यान, सावित्री उपाख्यान, नलोपाख्यान आदि। इसी से सम्बन्धी कतिपय कथाएं मन्वन्तर, व्यवन नागयज्ञ आदि से सम्बन्धित मिलती हैं। इसीलिए महाभारत का पौराणिक संदर्भ मध्यकालीन भक्ति पूर्ण रचनाओं की परम्परा में महत्वपूर्ण माना जाता है। महाभारत की ही भांति वाल्मीकि रामायण में ही अनेक पौराणिक कथाएं मिलती हैं। हरिश्चन्द्र, वामन, कार्तिकेय परशुराम, ऋष्यशृंग, सगरपुत्र एवं गंगा की उत्पत्ति तथा शुन:शेप आदि की कथाएं (रामकथा के संदर्भ में आई हैं)।

ऊपर देखा जा चुका है कि रामायण एवं महाभारत में पौराणिक प्रवृत्ति के निर्माण की अनेक परिस्थितियां क्रियाशील रही हैं। मुख्य चरित्र का काल्पनिक अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, उनके कुल का दैव परम्परा का सविस्तार उल्लेख, पौराणिक विश्वासों का अनुमोदन, धार्मिक एवं तात्विक कथनों की अधिकता आदि ऐसे अनेक तत्व हैं जो पुराणों में बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किए गए हैं। हरिवंशकार ने वाल्मीकि रामायण के श्लोकों को कहीं चतुराई से — रूपान्तरित करके रख दिया है। वाल्मीकि रामायण में नारद द्वारा आत्म में

---

[1] रामायण युद्धकाण्ड : सर्ग ११७ श्लोक सं. ३०, ३१,

किए गए राम के प्रशंसा सम्बन्धी श्लोकों की हरिवंश में प्राप्त तत्सम्बन्धी श्लोकों की तुलना करने से इस तथ्य का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण दोनों में पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुत: पुराण लोक प्रचलन में स्वीकृत मौखिक कथारूप थे जिन्हें क्रमिक रूप में लिपिबद्ध कर लिया गया[1]। वैष्णव पुराणों की संख्या १८ बताई जाती है ब्रह्म विष्णु अग्नि, वायु, मत्स्य स्कन्द, कूर्म, लिंग, भविष्य, पद्म, भागवत, ब्रह्माण्ड गरुड़ मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त, वामन, वराह तथा नारद। इनमें हरिवंश का ऐतिहासिक महत्व है। इसने महाभारत के खिल रूप में कृष्ण की बाल लीला का सर्वप्रथम परिचय यहीं कराया गया है : पुराणों में अवतारवाद सम्बन्धी प्राय: सभी धारणाएं मिल जाती हैं। पुराणों में विष्णु, अग्नि, वायु, ब्रह्मवैवर्त एवं भागवत हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य के प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की न केवल रचनात्मकता अपितु नैतिक एवं लीला विषयक उदात्त तथा मधुर भाव इन पुराणों से सम्बद्ध हैं। पूर्ववर्ती वैष्णव भक्ति में जो स्थान भगवद्गीता का था। परवर्ती भक्ति में वही स्थान भागवत को मिला भक्ति काव्य से सम्बन्धित काव्यरूपों के रूपमें में इन पुराणों का अध्ययन अगले अध्यायों में हुआ है।

धार्मिक उपाख्यानात्मकता के साथ साथ हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में माधुर्य भाव एवं गीतात्मक तत्व की प्रचुरता मिलती है। इसकी यह परम्परा मध्यकाल से ही प्राप्त होने लगती है। हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य इससे बहुत अधिक प्रभावित रहा है। इन रचनाओं में भक्ति एवं काव्य के तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। इसमें निहित भक्ति के स्वरूप का दो स्वभाव है शान्तिमूलक तथा शृंगारमूलक या मधुर।

शान्त की स्थिति वैष्णव भक्तिकाव्य के आरम्भ में दृष्टिगत होती है। वैष्णव भक्ति के आरम्भ में इनकी प्रकृति मधुरोन्मुख न होकर शान्त्योन्मुख थी। अभिनवगुप्त के अनुसार शान्त निष्क्रिय न होकर दु:खाधिक्य जन्य है। यह वैराग्य का समानार्थी न होकर आनन्द का उद्भावक है। उन्होंने शान्त रस प्रकाश में

.....

१: इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली भाग ३ दिस० १९६३ पृ ७४६

नागानन्द ,तापस वत्सराज ,हितोपदेश की चर्चा की है।डॉ० वी० राघवन् ने शान्त रस की समर्थक १७ काव्य रचनाओं एवं ३८ नाटकों की तालिका का उल्लेख किया है।इनमें काव्य रचनाएं इस प्रकार है:-

१: राजतरंगिणी [शान्तरस से सम्बन्धित प्रकरण]
२: कैवल्यावली पक्षिय विलास
३: ज्ञानछड़ा पक्षिय काव्य
४: उद्धृत
५: उद्धृत
६: उद्धृत
७: मक्तिद्धृत
८: मनोद्धृत
९ मनोद्धृत .
१० : मनोद्धृत
११ : मनोद्धृत
१२ : मेद्धृत समस्यालेख
१३ : शोद्धृत
१४ : मनोद्धृत
१५: सिद्धृत
१६: ज्ञानविलास काव्य
१७: गातावीतराग [१]

बाथेर मैकडानेल ने नैतिक काव्य (Ethical poetry) कहकर निम्न रचनाओं को शान्तिपरक बतलाया है।

१: नीतिशतक
२: वैराग्य शतक
३: शान्तिशतक
४: चाणक्यशतक
५: नीति मंजरी
६: सूक्ति कौमुद
७: शार्ङ्गधरपद्धति
८: सुभाषितावली
९: धम्मपद [२]

मक्ति रस की भूमिका के अन्तर्गत इस परम्परा की संक्षिप्त चर्चा की गई है । यह सत्य है कि सभी रचनाएं वैष्णवभक्ति से नहीं सम्बन्ध रखती है फिर भी, इनसे परम्परा का बोध अवश्य हो जाता है ।

शान्तिरस से पृथक मधुर उपासना सम्बन्धी साहित्य को भी एक विशिष्ट परम्परा का उल्लेख मिलता है। काव्य की दृष्टि से आलम्बन साहित्य को गणना

.....

१: द नम्बर आव रसाज, वी० राघवन् पृ.३० ४२ तक
२: ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, मैकडानेल पृ. ३२१

इसके अन्तर्गत सबसे पहले का जाता है। इस दृष्टि से १२ आलवारों की रचित एवं संकलित 'नालियरा प्रबन्धम्' की स्थिति महत्वपूर्ण है। काव्य की दृष्टि से अत्यधिक उच्च एवं मधुर भक्ति के समर्थक इसमें ४ हजार पद संकलित हैं। यह एक प्रकार का कीर्तन ग्रंथ है। इसके पूर्वक का एक अन्य कीर्तन ग्रंथ दिव्य प्रबन्धम् के नाम से प्राप्त है। मुक्तक रूप में संकलनों में शठकोपाचार्य कृत तिरुवायमोलि, कुलशेखर आलवार कृत मुकुन्दमाला, पेरिया नोदा कृत तिरुप्पावै, नाच्चियार एवं तिरोमालि के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। इनमें हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की मधुरोपासना की समस्त प्रवृत्तियां निहित बताई जाती हैं।

मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साम्प्रदायिक हो गई थी। साम्प्रदायिक मान्यताओं का प्रभाव इन काव्यरचनाओं पर भी दृष्टिगत होता है। प्रत्येक सम्प्रदाय में भक्तिकाव्य प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से यामुनाचार्य कृत चतुः श्लोकी, आलवन्दारस्तोत्र का नाम लिया जा सकता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्बार्क की दो रचनाएं दशश्लोकी एवं कृष्णास्तवराज स्तव प्राप्त होता है। आचार्य वल्लभ के द्वारा १६ रचनाएं श्लोकित एवं स्वतंत्र 'षोडश ग्रन्थानि' के नाम से संकलित हैं। इनके पौत्र विट्ठलनाथ के तीन काव्य इसी परम्परा से सम्बन्धित हैं- विद्वन्मण्डन, भक्तिहेतु तथा शृंगार रस मंडन। चैतन्य मतावलम्बियों का इस विषय में प्रभूत साहित्य प्राप्त है। इनका प्रतिपाद्य मधुर भक्तिरस ही है। रूप गोस्वामी ने यह प्रथम बार प्रयोग करके दिखला दिया कि नाटक का कौशिक शृंगार वीर एवं शान्त के अतिरिक्त भक्तिरस भी हो सकता है। इनका काव्यकृतियां स्तवमाला, गोविन्द विरुदावली मुकुन्दमुक्तावली लघुभागवतामृत उद्धृत या उद्धृत ना मिलते हैं। इनके पश्चात् सनातन गोस्वामी का हरिभक्ति विलास तथा जीवगोस्वामी का श्लोकोशिणी का स्थान आता है। इस परम्परा में प्राप्त अन्य काव्य इस प्रकार हैं.—

.....

उज्वलनीलमणि में 'समो स्थलो' पर उद्धृत न मिल का उद्धृत भेद/मिलता है

१ विलापकुसुमांजलि
२ राधाष्टक
३ नामाष्टक
४ उत्कण्ठादशक
५ वांछितप्रार्थनाष्टक
६ स्तवनन्दनशतक
७ गोविन्दलीलामृत
८ कृष्णकर्णामृतटीका
९ वैष्णवाष्टक
१० रागमाला

इसके अतिरिक्त भक्तिरस की पुष्टि के लिए रूपगोस्वामी ने उज्वल नीलमणि में लगभग ४०० श्लोकों का प्रयोग उदाहरण के रूप में किया है। इनमें से कतिपय काव्यों का नामोल्लेख भी है किन्तु अधिकांश ग्रन्थों के मूल का संकेत नहीं मिलता। इस क्रम में यह सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि वैष्णव भक्तिकाव्य का मध्यकालीन साहित्यिक परिवेश कितना व्यापक था। रूपगोस्वामी ने उज्वल नीलमणि में निम्न संकेत दिये हैं। यहाँ कवियों में विल्वमंगल तथा जगन्नाथ वल्लभ का उल्लेख है, किन्तु इनकी कृतियों का पता नहीं मिलता। यहाँ रचनाओं के विषय में इस प्रकार के उल्लेख ही प्राप्त हैं :-

१ : ललितमाधव
२ : हरिवंश
३: भागवत दशम स्कन्ध
४: विदग्ध वल्लभ माधव
५: दुर्द्धृत
६: रसामृतसिन्धु
७: उद्धवसंदेश
८: प्रावली
९: दानकेलिकौमुदी
१० गीतगोविन्द
११ विष्णुपुराण
१२ दूतवाक्यमाला
१३ सुक्तावलि
१४ रुक्मिणीस्वयम्वर
१५ गोविन्दविलास
१६ कृष्णदीपिका
१७ एकादशकाव्य
१८ शिवाक्य
१९ कर्णामृत

इनमें प्राप्त कतिपय रचनाओं का उल्लेख संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में अब भी नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त अन्य फुटकल काव्यों में अप्पयदीक्षित कृत वरदराजस्तव एवं नारायणभट्टकृत कृष्णस्तोत्र के नामोल्लेख मिलते हैं। एस० के० डे० महोदय ने चैतन्य सम्प्रदाय की कतिपय रचनाओं का उल्लेख किया है। इनमें

रूपगोस्वामी रचित स्तवमालाकादशम् (उज्वलनीलमणि में उल्लिखित एकादश काव्य से भिन्न), गीतावली, ब्रजविहाराष्टक, षष्टदशछन्दम्, सामान्य विरुदावली स्तव तथा अन्य कवियों द्वारा रचित राधाकृष्णोज्वल द्रुमकेलि, विशेषनन्दस्तोत्र आदि के नाम आये हैं।—

उज्वलनीलमणि की ही भाँति श्रीहरिभक्तिरसामृत सिन्धु में उन्होंने अनेकानेक रचनाओं की सूचना दी है। डॉ० दे का कथन है कि ये रचनाएँ वैष्णव भक्तिकाव्य एवं रस की विशाल साहित्यिक परम्परा से सम्बन्ध रखती हैं।

महाकाव्य आदि

महाभारत, रामायण, हरिवंश तथा श्रीमद्भगवद्गीता।

पुराण तथा उपपुराण

श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध विशेष रूप से, ब्रह्म स्कन्ध नारदीय, नारसिंह, ब्रह्माण्ड, विष्णु, अग्नि, वराह, आदि वराह, महावराह श्वेत, महाकूर्म, बृहद्वामन आदि पुराण, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त पुराण, भविष्योत्तरपुराण शिव, गरुड, पुराणतंत्र आदि।

अन्य धार्मिक रचनाएँ

विष्णु धर्मोत्तरपुराण, विष्णुधर्म, विष्णुरहस्य, वैष्णवतंत्र नारदपांचरात्र, नारदीय पांचरात्र, पंचरात्र, शुकसंहिता, आत्रेय संहिता, ब्रह्मसंहिता, कात्यायन संहिता, तंत्र, भावार्थदीपिका, हरिभक्तिसुबोधय हरिभक्तिविलास, नाम कौमुदी, भक्ति विवेक।

स्तोत्र नारायणबृहस्तव, अपराध भंजन, विल्वमंगलस्तव, स्तवावली, गोपीनाथाचार्य के स्तोत्र।

काव्य वैराग्यशतक, शिशुपालवध, कीर्तामृत, गीतगोविन्द, विल्वमंगल, गोविन्दविलास, मुकुन्दमाला तथा रूपगोस्वामी की स्वनिर्मित रचनाएँ।

.....

देखिए वैष्णव फेथ एंड मूवमेन्ट इत्यादि पृ. ६४६ . ७५ तक.

इसमें कुछ ऐसी भी रचनाएं हैं जिनका उल्लेख उज्ज्वलनीलमणि में भी हुआ है किन्तु उसके अतिरिक्त भी वह सूची अत्यधिक विस्तृत है। इस तरह हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि को मात्र हिन्दी साहित्य तक ही सीमित रखना समीचीन नहीं है। प्रेरणा के रूप में उसकी विशाल परम्परा शताब्दियों से चली आ रही थी। यही कारण है कि मध्यकाल में आकर उसका साहित्यिक स्वरूप इतना सम्पन्न हो गया कि उसके समक्ष तत्कालीन राजाश्रय में पनपने वाली लौकिक काव्य प्रवृत्तियां धीमी हो गईं। इस पृष्ठ भूमि के अध्ययन से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —

शुद्ध कलात्मक काव्यों से पूर्व धार्मिक काव्यों की रचना बहुत पहले से होती चली आ रही है। मध्यकाल में जहां एक ओर संस्कृत साहित्य के लक्षणग्रन्थ लिखे गए वहीं धार्मिक परम्परा से प्रभावित अनेक काव्यरूपों की भी रचना की गई। बौद्ध, जैन एवं वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय में इस परम्परा से सम्बन्धित साहित्य की संख्या अधिक है।

इन काव्यों में कलात्मक सजगता के स्थान पर शुद्ध भावाभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। शान्त एवं मधुर भाव से सम्बन्धित इन काव्य रूपों में काल्पनिक कलात्मकता का आग्रह कम मिलता है। इसके साथ ही, इनमें धार्मिकता के माध्यम से नैतिक आचरण की प्रतिष्ठा की गई है। नैतिक आचरण विषयक मान्यताएं उद्देश्य के रूप में सांकेतिक एवं अभिव्यक्ति के रूप में प्रत्यक्ष कथित हैं। नैतिक आचरण से सम्बन्धित एक निश्चितवर्ग, सामाजिक मान्यता एवं तत्सम्बन्धी कर्तव्यों का निर्देश इस परम्परा के काव्यों में प्राप्त होता है। नैतिक उपयोगिता एवं हितवाद का प्रयत्न समर्थन इन काव्यों का उद्देश्य है।

भक्ति एवं साम्प्रदायिक आग्रह भी इन काव्यों में प्राप्त है। भक्ति सम्बन्धी मधुर एवं शान्तपरक रचनाएं श्रोता को भक्तिभावना का समर्थन करती हैं। जैन, बौद्ध, एवं वैष्णव भक्ति की परम्परा में प्राप्त रचनाओं में साम्प्रदायिक आग्रह के रूप में तत्सम्बन्धी मान्यताएं मिलती हैं। यह परम्परा मूलतः वैदिक साहित्य से आरम्भ हो चुकी थी। काव्यत्व, तत्वदर्शन एवं नैतिक सदाचरण का परस्पर सम्मिश्रण इन काव्यों का मूल प्रतिपाद्य है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन के संदर्भ में इनकी सविस्तार चर्चा की जायेगी। किन्तु यहाँ इतना ही कहना आवश्यक मात्र है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य यकायक १४ वीं शती की राजनीतिक एवं सामाजिक प्रतिक्रियाओं का न तो मात्र प्रतिफलन है, न दाक्षिण की विकसित परम्परा का परिणाम मात्र। यह काव्यपरम्परा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की अन्तिम कड़ी है, जिसके इतिहास निर्माण में लगभग १२०० वर्ष लग गए हैं। अगले अध्यायों में इस काव्य की परम्परा की ओर यत्र तत्र संकेत मिलेगा।

.....

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति काल तथा रचनाकार

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों की परम्परा एवं तत्सम्बन्धी सूचो का परिचय तत्कालीन संग्रह ग्रन्थों में मिलता है। इन कवियों के परिचय का संकेत नाभादास कृत भक्तमाल, गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा ध्रुवदास की भक्तनामावली में प्राप्त है। वार्ता सम्बन्धी एक और रचना गोकुलनाथ कृत बताई जाती है किन्तु वह अपेक्षाकृत परवर्ती रचना है; ध्रुवदास १८ वीं शती के कवि हैं। फलतः उनकी सूची बहुत विस्तृत हो गई है। इसमें परम्परा के अनेक कवि भक्त आ गए हैं। गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता में अष्टछाप तथा अन्य सम्प्रदायों के कवियों का सामान्य परिचय मिलता है। इसमें सर्वाधिक प्रामाणिक सूची भक्तमाल की है। इस सूची में शुद्ध सगुण वैष्णवों के अतिरिक्त रामानन्दी सम्प्रदाय के सन्त भी आ गये हैं। साथ ही, इसमें कुछ ऐसे भक्तों का भी उल्लेख मिलता है, जिनकी सम्प्रति कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है और भक्त परम्परा में उनकी प्रसिद्धि ही रही है। भक्त माल में मध्यकालीन भक्त कवियों की सूची इस प्रकार है :-

वैष्णव भक्त कवि	निश्चित या आनुमानिक काल
अग्रदास	१६ वीं शती
आसकरन	१६ वीं शती उत्तरार्द्ध
कल्यानदास	सं. १५२० से १५७३ तक
कान्हर जी	१६ वीं या १७ वीं शती
कान्हरदास	१८ वीं १७ वीं शती .
कुंभनदास	जन्म सं० १५२५ के आस पास तथा मृत्यु १६०० के लगभग

कृष्णदास - इस नाम के ६: कवियों का उल्लेख भक्तमाल में मिलता है: यही समझा जाता है कि इन कवियों का व्यक्तित्व पृथक पृथक रहा है :

केवलराय	सं. १५ ५ के आस पास .
केशव भट्ट	चैतन्य के शिष्य, समकालीन या १६ वीं शती .

खेम	सं० १५०४ ... १५७३ के आसपास
गदाधर मिश्र	सं० १६०० के आस पास
गदाधर भट्ट	१६ वीं १७ वीं शती
गोपालदास	१५६१ से १६३० तक
गोपीदास	१६ वीं शती
गोविन्ददास	१७ वीं शती
चतुर्भुजदास	१६ वीं या १७ वीं शती पूर्वार्द्ध
छीत स्वामी	१६ वीं १७ वीं शती
जगन्नाथदास	अज्ञात
जमुना स्त्री	१७ वीं शती
तुलसीदास	१७ वीं शती
दामोदर दास	१७ वीं शती
नन्ददास	१७ वीं शती
नरसी	सं. १५६१ .. १६३० तक
नरवाहन	अज्ञात .
नारायण भट्ट	१६३ से १६३० तक
पद्मनाभ	१७ वीं शती .
हरीराम व्यास	१६ वीं शती .
माधवदास	१६ वीं १७ वीं शती .
मीरा	सं. १५५५ . १६२० तक
रामदास	१७ वीं शती
विट्ठलविपुल	१७ वीं शती .
विट्ठलनाथ	१७ वीं शती
विट्ठलदास	[इसी भक्त अष्टछापका: सीमा में नहीं है.]
प्रभुदास	१६ वीं शती .
श्री भट्ट	१६ वीं शती .
सूरदास	१६ वीं शती .
सूरदास मदन मोहन .	१७ वीं शती .
हरिदास	१७ वीं शती .
हित हरिवंश	१७ वीं शती .

साम्प्रदायिकता की दृष्टि से भी इन कवियों का विभाजन किया जाता है। इन कवियों की दृष्टि साम्प्रदायिक थी। ये अपने सम्प्रदाय को पुष्ट करने के लिए तत्सम्बन्धी कीर्तन, भजन, पद या अन्य प्रकार के काव्य रूपों की रचना किया करते थे। इसके पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी भक्ति काव्य के पूर्व विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक दृष्टि से रचनाएं जाने लगी थीं। वस्तुत: हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य इसी परम्परा का प्रतिफलन है। इससे पृथक इसका अध्ययन नहीं किया जा सका। क्योंकि हिन्दी के भक्त कवियों ने वर्ण्य विषय वस्तु विवेचन, समस्याओं, काव्य एवं धर्म सम्बन्धी प्रवृत्तियों को अपनी साम्प्रदायिक ~~दृष्टि से विभाजन करना असंगत नहीं है~~। परम्परा से ही अधिक प्राप्त किया है। फलत: भक्त कवियों का साम्प्रदायिक दृष्टि से विभाजन करना असंगत नहीं है। हिन्दी काव्य के सम्बन्ध में इतना सत्य अवश्य है कि अनेक कवि परम्परा मुक्त हैं। इसमें मीरा का नाम सर्व प्रमुख है। मीरा के पदों का वृहत्संग्रह मीरा सुधा सिन्धु सिन्धु के नाम से प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार मीरा की रचनाएं इस रूप में बताते हैं' गीतगोविन्द की टीका, नरसी जी का महेरा, फुटकर तथा रागसोरठ के पद[2]। मीरा के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे कवि मिलते हैं, जिनमें केवल वैष्णव धर्म के प्रति आग्रह मात्र है। उनमें सामान्य साम्प्रदायिकता नहीं है : तुलसीदास ऐसे ही कवियों में रखे जा सकते हैं। मध्यकालीन वैष्णव भक्तों को इन सम्प्रदायों में विभक्त किया जाता है।

१: रामानुजीय सम्प्रदाय
२: वल्लभ सम्प्रदाय का अष्टछाप
३: मध्व सम्प्रदाय
४: गौड़ीय सम्प्रदाय
५: राधावल्लभ सम्प्रदाय
६: रामोपासक मधुर सम्प्रदाय
७: निम्बार्क सम्प्रदाय। भक्त कवियों में इसके दो रूप पाये जाते हैं।
क : हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवि
ख : हरिव्यासी सम्प्रदाय के भक्त कवि :

१: श्री मीरा प्रकाशन समिति मालवाड़ा : राजस्थान : सं.२०१४ तथा एक दूसरा संकलन मी : वृहत्मीरा पद संग्रह : पद्मावती शबनम् लोक सेवा प्रकाशन, बनारस, २००६ : प्रकाशित हो चुका है :
२: हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा पृ०५८२ .

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्त कवि तथा उनके काव्य

रामानुजीय सम्प्रदाय

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह पूर्णतः सिद्ध नहीं हो सका है कि तुलसी का सम्बन्ध किस सम्प्रदाय से था। फिर भी तुलसी के सिद्धान्त रामानुजी सम्प्रदाय के अधिक समीप है। ब्रह्म, राम, जीव, माया, भक्ति, एवं ज्ञानादि सम्बन्धी व्याख्याओं में वे अन्य सम्प्रदायों से कहीं अधिक विशिष्टाद्वैत का ही समर्थन करते हैं। किन्तु तुलसी के बाद उनकी परम्परा में कोई ऐसा कवि नहीं मिलता, जो उस सम्प्रदाय का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर पाता। विद्वानों ने प्राणचन्दचौहान, केशवदास तथा सेनापति आदि परवर्ती कवियों को तुलसी की परम्परा का बताया है। डा० रामकुमार वर्मा ने नाभादास को भी तुलसीदास के परवर्ती कवियों की परम्परा में रखा है, किन्तु नाभादास को रामभक्ति शाखा के मधुर सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही प्रामाणिक है। शेष प्राणचन्द चौहान, केशवदास तथा सेनापति आदि तुलसी परवर्ती राममक्ति शाखा के कवि साम्प्रदायिक न होकर सम्प्रदाय मुक्त हैं। मध्यकालीन वैष्णव धर्म की अनेक प्रवृत्तियाँ उनके काव्य में मिल जाती हैं किन्तु समग्रतया ये कवि वैष्णव के भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते। इस दृष्टि से साम्प्रदायिक रामानुजीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत मात्र तुलसी को ही रखा जा सकता है। तुलसी की निम्न रचनाएँ प्रामाणिक समझी जाती हैं।

१: रामलला नेहछू
२: रामाज्ञा प्रश्न
३: जानकी मंगल
४: पार्वती मंगल
५: बरवै रामायण
६: तुलसी सतसई
७: दोहावली
८: कवितावली
९: रामगीतावली
१०: कृष्ण गीतावली
११: विनयपत्रिका
१२: रामचरित मानस
१३: हनुमान बाहुक

डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त ने तुलसी सतसई की प्रामाणिकता के विषय में भी सन्देह किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय

सिद्धान्त तथा काव्य दोनों दृष्टिकोणों से यह सम्प्रदाय भक्ति आन्दोलन को अधिक सशक्त बनाने में सहायक हुआ है। हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य अपनी समृद्धि के लिए इस सम्प्रदाय पर सर्वाधिक आधृत है। इस परम्परा के ख्यातु आठ कवि आजीवन काव्य साधना में लगे रहे। तत्कालीन वार्ता साहित्य में इन्हें भक्त, कवि, गवैया तीन विशेषणों से पुकारा गया है। नाभादास ने भक्तमाल में इन कवियों को महान् भक्त एवं लोकोद्धारक कवि की संज्ञा दी है। ये कवि अष्टछापी कवि के नाम से हिन्दी कृष्ण साहित्य में बहुश्रुत हैं। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित परमानन्ददास, सूरदास, कुम्भनदास एवं चतुर्भुजदास चार शिष्य तथा विट्ठलनाथ द्वारा दीक्षित गोविन्ददास, नन्ददास, छीतस्वामी एवं कृष्णदास क्रमशः आठ भक्तों की मंडली अष्टछाप के नाम से विख्यात रही है। वल्लभ नामक एक कवि का उल्लेख भक्तमाल में मिलता है और वल्लभ नाम से किसी कवि के कतिपय पद राग कल्पद्रुम में भी पाए जाते हैं किन्तु प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये पद आचार्य वल्लभ के ही हैं। इस सम्प्रदाय के कवियों की कृतियाँ इस प्रकार की है।

परमानन्ददास : सम्प्रदाय प्रवेश सं. १५७६ जन्म सं. १५५० मृत्यु १६४०
रचनाएं : दानलीला, ध्रुवचरित्र, हस्तलिखित परमानन्द सागर व अनेक अन्य रचनाएं अप्रकाशित हैं। परमानन्ददास सागर के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिसमें कांकरौली संस्करण[1] अपेक्षाकृत प्रामाणिक है।

सूरदास : जन्म सं. १५३५ के आस पास : मृत्यु १६३८ तथा ३९ : इसके द्वारा प्रणीत २४ ग्रन्थ बतलाए जाते हैं।
१: सूर सागर २: दशमे स्कन्ध भाषा ३- नाग लीला- ४-सूर पचीसी ५-सूर सागर के साथ प्रकाशित : ५-भागवत भाषा ६-व्याहलो ७-सूर रामायण. प्रकाशित : काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित सूर सागर के नवम् स्कन्ध अन्तर्गत

.....

१: प्रकाशित : विद्या विभाग, कांकरौली सम्वत् २०१६

८: मानलीला
९: राधा रस केलि कौतुक
१०: सूर सारावली .
११: सूर शतक
१२: हरिवंश टीका
१३: एकादशी माहात्म्य
१४: प्राणप्यारी
१५: भँवर गीत
१६: दान लिीला
१७: सूर साठी
१८: सूर सागर सार[१]
१९: साहित्य लहरी
२०: नल दमयन्ती
२१: राम जन्म
२२: सेवा फल
२३: भागवत भाषा
२४: भँवर गीतक

इनमेंआठ रचनाओं का प्रकाशन हो चुका है । सूर सागर सूर पचासी , सूर रामायण , राधा रस केलि कौतूहल , सूर सारावली, भँवरगीत ,सूर साठी तथा साहित्य लहरी । अन्य अप्रकाशित हैं । डा० दीनदयाल गुप्त ने अन्ततया अपना निष्कर्ष निकालते हुए सिद्ध किया है कि सूर सागर , साहित्य लहरी तथा सारावली ही अन्ततया सूर की प्रामाणिक रचनाएं हैं । यहां नहीं अन्य १५ ग्रन्थ सूरदास के अवश्य हैं किन्तु वे सूरसागर एवं साहित्य लहरी में ही आ जाते हैं । इसके विपरीत डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है कि मात्र सूरसागर ही सूर की प्रामाणिक रचना है ।

कुंभनदास : जन्म संवत् १५३५ : सम्प्रदाय प्रवेश १५४९ : मृत्यु सं. १६३८
डा० दीनदयाल गुप्त के अनुसार इनके पदों के संग्रह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता : हिन्दी संसार में अभी तक इनका कोई पद संग्रह प्रकाश में नहीं आया: किन्तु कुंभनदास के पदों का एक संग्रह विद्या विभाग कांकरौली से प्रकाशित हो चुका है :

कृष्णदास : जन्म संवत् १५५५ के आस-पास : मृत्यु सं. १६३२ तथा ३८ के बीच इनकी आठ रचनाओं का उल्लेख डा० दीनदयाल जी गुप्त ने किया है किन्तु उनमें से समस्त रचनाओं को उन्होंने प्रामाणिक नहीं माना है । ये रचनाएं इस प्रकार है

... .

१: अष्टछाप के कवियों की अधिकांश रचनाएं डा० दीनदयाल गुप्त के शोध प्रबन्ध अष्टछाप एवं वल्लभ सम्प्रदाय : द्वितीय भाग पर आधारित है:
२: विद्या विभाग कांकरौली सं. २०१०

१: ध्रुवमान चरित्र ४ प्रेम सत्व निरुपण ७ कृष्णदास को वचनो
२: भक्तमाल टीका ५: भगवत भाषानुवाद ८-प्रेम रस सागर
३: प्रेमगीत ६: वैष्णव वन्दन .

किन्तु ये रचनाएं अप्रकाशित है'। विद्या विभाग , कांकरौली से कृष्णदास के पदों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है[१] ।

नन्ददास : जन्म सं.१५९० वि० सं. १५१६ सम्प्रदाय प्रवेश : मृत्यु सं. १६४२ लगभग सम्मत : डा० दीनदयालु गुप्त ने निम्न १४ रचनाओं को प्रामाणिक माना है।

१: रस मंजरी २: अनेकार्थ मंजरी
३: मान मंजरी ४: दशम् स्कन्ध भाषा
५: श्याम सगाई ६: गोवर्धन लीला
७: सुदामा चरित्र ८: विरह मंजरी .
९: रुप मंजरी १०: रुक्मिणी मंगल
११: रास पंचाध्यायी १२: भंवरगीत .
१३: सिद्धान्त पंचाध्यायी १४: पदावली .

पंडित उमाशंकर जी शुक्ल ने रस मंजरी , अनेकार्थ मंजरी , मान मंजरी , दशम् स्कन्ध श्याम सगाई , विरह मंजरी , रुप मंजरी , रास पंचाध्यायी , सिद्धान्त पंचाध्यायी , रुक्मिणी मंगल , भंवरगीत , ११ रचनाओं को ही प्रामाणिक स्वीकार किया[२] है ।

चतुर्भुजदास : जन्म संवत् १५९७ : सम्प्रदाय प्रवेश सं. १५९७ मृत्यु सं.१६४२ : इनके नाम निम्न चार रचनाएं प्रसिद्ध है'।

१: मधु मालती २ भक्ति प्रताप
३: द्वादश यश ४ छिताई मंगल :

विद्या विभाग ,कांकरौली से इनके पदों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है[३] :

.....

१: विद्या विभाग कांकरौली सं.२०१९
२: नन्ददास ग्रन्थावली सं.सादक पं.उमाशंकर शुक्ल : प्रकाश प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग
३: विद्या विभाग ,कांकरौली सं.२०१४ .

गोविन्दस्वामी जन्म सं. १५६२ के आस पास गोलोकवास सं. १६४३।

वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों के आधार पर डा० गुप्त ने इनके २७४ पदों का संकलन किया है। यह १९४० में 'गोविन्द स्वामी के कीर्तन' के नाम से बंबई से प्रकाशित हो चुका है। इनके पदों का दूसरा संकलन विद्या विभाग, कांकरोली से प्रकाशित है।[१]

छीत स्वामी जन्म सं. १५७७ के आस पास मृत्यु सं. १६४२ के आस पास

डा० दीनदयालु गुप्त ने इनके छपे हुए ६४ पदों का उल्लेख अपने शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत किया है। विद्याविभाग कांकरोली से इनके पदों का संकलन प्रकाशित हो चुका है।[२]

अष्टछाप के इन कवियों के साथ इनके अनुगायक के रूप में भी कवि मिलते हैं इनकी स्थिति इस प्रकार है :

परमानन्ददास — गोपालदास, नवलकिशोर, गदाधरदास, रघुनन्दास, हरिजीवनदास, मानिकचन्द्र, रसिकविहारी

सूरदास — चानसेन, बलीसेन, जगन्नाथ, कविराय, हरिनारायण, श्यामदास, मुरारिदास, मुकुन्ददास, कृष्णजीवन तथा लक्ष्मीदास

कुम्भनदास — हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, लघुगोपाल, किशोरी, माधुरीदास, दास वैष्णव रसिक

नन्ददास — हरिदास, ताज, कटहरिया, रामदास, घोषी, भावानन्दित, रघुनाथदास, जनहरिया।

गोविन्ददास — हरिराय, काका वल्लभ जी दास छाप द्वारिकेश, व्रजाधीश, व्रजपति, गंगाबाई, श्रीविट्ठल गिरिधरदास छाप कृष्णदास, कल्याण प्रभु

चतुर्भुजदास — व्यासदास, मानदास, दामोदर रक्षित, विचित्र, विहारी, श्री भट्ट, प्रेमप्रभु, जगजीवन, विहारीदास

१: विद्या विभाग, कांकरोली, सं. २०१८।

२: विद्या विभाग, कांकरोली, संवत् २०१२

हरिस्वामी : श्यामदास , धुधरराय, केशकिशोरी , अग्रदास , भगवानदास, हृषीकेश, माधुरीदास , जनगिरिधर ,

कृष्णदास : रामराय ,गोपालदास , चतुर बिहारी , जन त्रैलोक्य ,दासमाधौ , जग जीवन , रूप माधुरी ,नागरीदास[1] :

इन बहुसंख्यक कवियों में कितने शुद्ध भक्त थे , ~~कितने गायक तथा~~ कितने गायक तथा कितने मात्र कवि, इसका अनुमान अभी तक नहीं लगाया जा सका है । इनमें से नागरीदास ,गोपालदास ,अग्रदास ,ध्रुवदास ,हरिदास ,हितहरिवंश, रसखान, रामराय , भगवानदास ,माधुरीदास ,ताज ,रसिकविहारी, आत्मदास ,आदि के ही पद या स्वतंत्र काव्य प्राप्त होते हैं।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का संस्थापन श्री हितहरिवंश ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रबन्ध की सीमा में निम्न कवि एवं उनकी रचनाएँ आती हैं।

हित हरिवंश : जन्म सं. १५५६ तथा मृत्यु १६०६ : रचनाएँ :

१: राधा सुधानिधि [संस्कृत] इसकी १० टीकाओं का उल्लेख मिलता है। इसमें २७० श्लोक हैं: यह प्रस्तुत अध्ययन के सीमा के बाहर है । इसी तरह इनकी संस्कृत में प्रोक्त एक अन्य कृति `यमुनाष्टक` भी प्रसिद्ध है । हिन्दी रचनाओं में हित चतुरासी ८४ पदों का संग्रह है[2] । इनकी स्फुट वाणी में ४ सवैये ,२ कवित्त , ३ कुंडलिया तथा १४ पद प्राप्त हैं। इस प्रकार इनके इनके स्फुट काव्य की छन्द संख्या २७ है ।

दामोदरदास सेवक जी : जन्म सं. १५७७ के आस पास तथा मृत्यु १६१० ।

इनकी रचना का नाम सेवक वाणी है । यह चतुरासी पर आधारित तथा सोलह प्रकरणों में विभक्त है ।

हरीराम व्यास : जन्म सं. १५४८ के लगभग तथा मृत्यु समय अज्ञात ।

रचनाएँ : व्यास वाणी , इसमें ६५८ पद तथा १४८ दोहे या साखियाँ हैं: इनकी लिखी हुई अन्य पुस्तकें ~~कही जाती है~~ राग माला तथा नवरत्न एवं स्वधर्म पद्धति ~~अन्तिम रचनाएँ~~ संस्कृत में हैं ~~तथा~~ रागमाला संगीतशास्त्र की रचना है ।

.....

१: देखिए पीताम्बर अभिनन्द ग्रन्थ : लेखा० वासुदेवशरण अग्रवाल

२: प्रकाशित : ज्योतिषी पं. रामलाल शर्मा : मागवती : राधा: सं. २०१४

संग्रहकर्ता: सेवक जी महाराज : इस संग्रह का नाम श्री हितामृत निधि है :

अन्य कवियों में चतुर्भुजदास तथा ध्रुवदास का अधिक महत्व है। चतुर्भुजदास रचित द्वादश यश, एवं ध्रुवदास की ४२ रचनाएं प्रसिद्ध हैं। किन्तु प्रस्तुत अध्ययन की समय सीमा में ये कवि नहीं आते। इस सम्प्रदाय के कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनकी रचनाएं सम्प्रति प्रकाश में नहीं आई हैं इनमें कल्याण कुमारी की वाणी के मात्र २०० पद उपलब्ध बताये जाते हैं। रसिक कवि नेही नन्ददास नागरीदास की तीन रचनाएं सिद्धान्त पदावली, पदावली, रस पदावली के नाम से प्रसिद्ध हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय :

निम्बार्क सम्प्रदाय मध्यकाल में वस्तुतः हरिव्यासी और हरिदासी दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ है। ये दोनों सम्प्रदाय यद्यपि कृष्ण की रसिक उपासना को ही आधार मानकर अपनी प्रेम साधना में तत्पर थे किन्तु दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर के ही फलस्वरूप इसकी दो शाखाएं बन गईं। इन दोनों शाखाओं के कवियों एवं उनकी रचनाओं की सूची इस प्रकार है।

हरिदासी सम्प्रदाय[२] :

हरिदास स्वामी। जन्म विक्रम की १६ वीं शती। मृत्यु १७ वीं शती का मध्यकाल इनके १२८ ध्रुपद प्राप्त हैं; १८ सिद्धान्त के पद १०८ या ११० श्री राधा कृष्ण विहार के पद कहे जाते हैं। इन पदों का संग्रह केलिमाल के नाम से प्रसिद्ध है। इनके पदों का संकलन प्रभुदयाल मीतल के साहित्य संस्थान, मथुरा से प्रकाशित हो चुका है। मीतल ने इनके कीर्तन संग्रहों में प्राप्त कतिपय संदिग्ध पदों का उल्लेख किया है। ऊपर निर्देशित इन पदों का संग्रह निम्बार्क माधुरी में है।

श्री विट्ठल विपुल : जन्म एवं मृत्यु : स्वामी हरिदास के आस पास १६ वीं तथा १७ वीं शती इनके द्वारा रचित मात्र ४० पद बताए जाते हैं। इनके ७ पदों का संकलन प्रभुदयाल मीतल ने स्वामी हरिदास एवं अष्टाचार्यों की वाणी किया है। निम्बार्क माधुरी में इनके ३६ पद संकलित हैं।

.....

१: ये सूचनाएं डॉ० विजेन्द्र स्नातक के शोध प्रबन्ध, राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य से ली गई हैं:

२: रचनाओं एवं कवियों के लिए देखिए : स्वामी हरिदास तथा अष्टाचार्यों की वाणी, प्रभुदयाल मीतल एवं निम्बार्क माधुरी, भक्त बिहारी शरण :

श्री बिहारिनदास जन्म सं. १५६१ : मृत्यु सं. १६५६

इनके रचे हुए ७०० दोहे [साखी के रुप में] २०० सिद्धान्त पद तथा ४०० शृंगार पद बताए जाते हैं। निम्बार्क माधुरी में इनके ६० पदों का संकलन प्राप्त है।

नागरीदास निज मत सिद्धान्त, के अनुसार उनका जन्म सं. १३११ तथा मृत्यु सं. १४८३ के लगभग है। इनके द्वारा रचित वाणी में कवित्त, सवैया और पद प्राप्त हैं: निम्बार्क माधुरी में २० सवैये, ६ कवित्त एवं २५ पदों का संकलन मिलता है।

हरिव्यासी सम्प्रदाय

हरिव्यासी सम्प्रदाय के प्रथम सिद्धान्त विवेचक श्री भट्ट जी कहे जाते हैं जिनसे हरिव्यास देवाचार्य ने दीक्षा ली थी। इन्हीं हरिव्यास देव जी ने हरिव्यासीसम्प्रदाय की स्थापना की थी।

श्री भट्ट जी का कविता काल तेरहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर चौदहवीं के मध्य तक है। इनकी रचना का नाम श्री जुगल शत है जिसके ४६ पद निम्बार्क माधुरी में संकलित हैं[1]।

श्री हरिव्यासदेवाचार्य : जन्म सं. १३२० तथा मृत्यु काल अनिश्चित। इनके द्वारा निर्मित ३ ग्रन्थ बताए जाते हैं। सिद्धान्त रत्नांजलि, अष्टयाम, श्री निम्बार्क अष्टोत्तर शतनाम की टीका, तत्वार्थ पंचक, पंच संस्कार निरुपण तथा श्री महावाणी : श्री महावाणी श्री जुगलशत का भाष्य है। निम्बार्क माधुरी में इनके १० स्तोत्र तथा ७२ पद संकलित हैं[2]।

श्री रामदेव जी जन्म सं. १६ वीं शती तथा मृत्यु अज्ञात : आपकी रचना परशुराम सागर के नाम से प्रसिद्ध है जिनमें बाइस सौ दोहे, छप्पै, छन्द एवं हजारों पद हैं[3]। श्री निम्बार्क माधुरी में १०० दोहे तथा ३३ पद संकलित हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय : हिन्दी के गौड़ीय सम्प्रदाय के कवियों का विस्तृत परिचय अद्यावधि अनुपलब्ध था किन्तु इस मत के ब्रजभाषा कवियों की एक विस्तृत एवं प्रामाणिक सूची प्रभुदयाल मीतल ने चैतन्यमत और ब्रज साहित्य नामक पुस्तक में दी है: प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से यह विवरण इस प्रकार है।

.....

१: श्री निम्बार्क माधुरी बिहारी शरण पृ० ७.
२: श्री निम्बार्क माधुरी बिहारी शरण पृ. २७
३: श्री निम्बार्क माधुरी बिहारी शरण पृ. ७४
४: प्रकाशित साहित्य संस्थान, मथुरा १९६२

माधवदास जगन्नाथो समय १५ वीं शती : इनके द्वारा लिखित कई रचनाओं को अचो मीतल ने इस प्रकार दो है- इतिहास कथासार संग्रह, नारायण लीला, ग्वालिन कगरी, मदालसा आख्यान, परतीत परीक्षा। इसके अतिरिक्त इनके अन्य छोटे ग्रन्थ भी है- बाल लीला, नानराय लीला, जनमकरनलीला, ध्यान लीला, रथ लीला, स्वयम्बर लीला तथा रघुनाथ लीला।

आनन्द घन : ज्ञान प्रेमी राधावल्लभी सम्प्रदाय से पृथक। जन्म सं. १५५० तथा मृत्यु १६०० के आस पास। रचनाएं- इनके द्वारा रचित मात्र कुछ फुटकल पद प्राप्त होते हैं। बौद्धार अभिनन्दन ग्रन्थ में आनन्द घन के नाम से प्रकाशित पद इन्हीं के बताये जाते हैं।

रामराय : सं. १६०० के आस पास इनका जीवन काल निश्चित किया जाता है। इनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ बताए जाते हैं, आदि वाणी तथा गीत गोविन्द भाषा

सूरदास मदन मोहन : इनका जीवन काल सं. १६०० के आस पास निश्चित किया जाता है। इनके द्वारा भागवत दशम स्कन्ध के भाषानुवाद का भी संकेत किया जाता है किन्तु यह अप्राप्य है। प्रभुदयाल मीतल ने साहित्य संस्थान मथुरा से इनके पदों का संग्रह प्रकाशित कराया है।

गदाधर भट्ट : इनका भी जीवन काल सं. १६०० के आस पास स्थिर किया जाता है। गदाधर भट्ट की वाणी के नाम से उनके पदों का सम्पादन बाबा कृष्णदास ने कराया है। इन पदों की संख्या १०० के लगभग है।

चन्द्रगोपाल : जन्म काल सं. १६०० के लगभग : इनकी संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में रचनाएं मिलती है। संस्कृत की इनकी रचनाएं इस प्रकार है- श्री राधामाधव भाष्य, गायत्री भाष्य तथा श्री राधामाधवाष्टक : चन्द्र चौरासी, अष्टयाम सेवासुधा, गौरांग अष्टयाम, रस बिहार तथा राधा विरह उनकी ब्रजभाषा में प्रणीत कृतियां हैं।

इसके साथ ही साथ इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत राम-राय तथा चन्द्रगोपाल के शिष्यों का उल्लेख मिलता है। राम राय के बारह तथा चन्द्रगोपाल के चार शिष्य थे। इनमें गरीबदास, भगवानदास, विष्णुदास, जुगलदास, नागरीदास आदि अधिक महत्वपूर्ण कहे जाते हैं। मीतल के इन विवरणों के साथ ही साथ इस सम्प्रदाय के ६५ ज्ञात एवं १६ अज्ञात अन्य कवियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार ब्रजभाषा का गौणीय साहित्य मध्यकाल में अत्यन्त प्रभावपूर्ण ज्ञात होता है।

रसिक सम्प्रदाय के हिन्दी कवि तथा उनकी रचनाएं

रसिक सम्प्रदाय के कवियों को भी मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों की सीमा के अन्तर्गत रखा जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि इस सम्प्रदाय पर कार्य करने वाले विद्वानों को इनकी साहित्यिक अभिरुचि एवं रचनात्मक प्रतिभा पर अविश्वास है[1], और यह सत्य भी है। किन्तु भक्ति काव्य की परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण इस सम्प्रदाय का अध्ययन अपेक्षित है। इनके काव्य की प्रवृत्ति एक ओर कृष्ण भक्ति साहित्य से मेल खाती है, दूसरी ओर इस पर तत्कालीन काव्य परम्पराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसकी रसिकता का स्तर प्राय: छिछला ही है। निश्चित ही इस प्रकार का साहित्य उस महान् धारा का तलछट ही कहा जा सकता है जिसने रामचरित के एक उपेक्षित पक्ष की ओर भावुक भक्तों का ध्यान आकृष्ट कर हिन्दी साहित्य में एक नई चेतना उत्पन्न की[2]। विद्वान् लेखक इस प्रवृत्ति को नई चेतना कहता है तो कहे किन्तु इन काव्यों में निम्न स्तर की जिन रसिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति मिलती है, उसे साहित्य का विद्यार्थी शुद्ध काव्य का विषय बनाने में हिचकेगा अवश्य। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्न कवियों का संकेत किया जा सकता है।

अग्रदास : उपनाम अग्रअली समय १६ वीं शती के आस पास। रचनाएं १ ध्यानमंजरी २ कुंडलिया। डा० भगवती प्रसाद सिंह का कथन है कि इनमें प्रथम रचना राम ध्यान मंजरी तथा द्वितीय उपदेश उपखाणा बावनी नाम से भी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त शृंगार रस सागर अथवा 'अग्रसार' नामक विशाल रसिक ग्रन्थ इनके द्वारा विरचित बताया जाता है। जन श्रुति है कि इसी तीसरे ग्रन्थ अग्रसागर को पढ़ने के लिए मानस के प्रथम टीकाकार महात्मा रामचरणदास ने रेवासा जाकर अपना तिलक बदल डाला[1]। संस्कृत भाषा में लिखित इनका एक अष्टयाम भी प्रकाशित बताया जाता है। ध्यान मंजरी एवं कुंडलिया के कुछ पदों का संकलन भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने अपनी पुस्तक राममक्ति साहित्य में मधुर उपासना, में किया है।

नाभादास : नारायणदास : नाभाअली [१७ वीं शती] रचनाएं – भक्तमाल, रामचन्द्र जी से सम्बन्धित दो अष्टयाम। ब्रजभाषा पद्य तथा गद्य] रामचरित संग्रह नामक एक चौथे ग्रन्थ का भी उल्लेख विद्वानों ने किया है किन्तु परीक्षा करने पर वह ब्रजभाषा में रचित अष्टयाम के कतिपय छन्दों का संकलन मात्र ठहरता है। भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने इनके अष्टयाम का भी संकलन किया है।

१: राममक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ. ३८१

बाल कृष्ण या बाल अली : १७ वीं शती । इनकी आठ रचनाओं का पता चलता है : ध्यान मंजरी , नेह प्रकाश , सिद्धान्त तत्व दीपिका , दयाल मंजरी , ग्वाल पहेली प्रेम पहेली , प्रेम परीक्षा , प्रतीत परीक्षा । इनकी ध्यान मंजरी एवं नेह प्रकाश का संकलन भुवनेन्द्र मिश्र माधव के ग्रन्थ में प्राप्त है।[1]

डा० भगवती प्रसाद सिंह ने प्रस्तुत अध्ययन की सीमा में आने वाले इन्हीं तीन कवियों का उल्लेख किया है । प० भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने मधुराचार्य कृत मुन्दर सन्दर्भ की परम्परा के आधार पर इसके निम्न आरम्भिक कवियों की चर्चा की है :-

१. स्वामी रामानन्द , स्वामी अनन्तानन्द तथा कृष्णदास पयहारी । कृष्णदास पयहारी के दो शिष्य थे कील्हदास तथा अग्रस्वामी । कील्हदास की परम्परा में छोटे श्री कृष्णदास , श्री विष्णुदास , रसिकेन्द्र श्री नारायण मुनीन्द्र , श्री हृदयदेव स्वामी प्रपन्न मधुराचार्य आदि आते हैं । अग्रअली की परम्परा में नाभादास एवं प्रियादास का नाम लिया जाता है । किन्तु इन भक्त कवियों के काल निर्णय तथा कृति के समुचित उल्लेख के अभाव में प्राप्त सामग्री के ही आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है । वैसे प्राप्त सामग्री से इसकी विशेषता एवं विशिष्टता का सम्पूर्णत: परिचय मिल जाता है।

.....

१: रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय , डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० १३८७

२: रामभक्ति में मधुर उपासना ; भुवनेन्द्र मिश्र माधव, पृ. १३७ , १३८ .

वैष्णव भक्ति साहित्य के वर्ण्य विषय का प्रवृत्तिगत मूल्यांकन

इस संदर्भ में देखा जा चुका है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की प्रेरणा अत्यधिक प्राचीन एवं सम्पन्न है। इस विशाल साहित्य की अन्तर्परिधि का विश्लेषण करने के लिए इसे ५ भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध पूर्णरूपेण पूर्ववर्ती धार्मिक परम्परा से रहा है :—

१: सामाजिक मूल्य
२: नैतिक आचरण एवं भक्ति
३: दार्शनिक आधार
४: भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं लीला.
५: काव्य दृष्टि.

सामाजिक मूल्य : वैष्णव धर्म के आन्दोलन के मूल में सामाजिक रचना का आदर्श प्रधान है। महाभारत शान्ति पर्व में सामाजिक रचना का उच्च आदर्श मिलता है। शान्ति पर्व के आपद्धर्मपर्व में सामाजिक रचना के घातक मूल्यमें असत्य, हिंसा, वैर न करना, अलोभ, काम, क्रोध आदि १३ अन्य मनोविकारों, तथा नाना प्रकार के पापों एवं उनके प्रायश्चित का विधान मिलता है। यह सामाजिक आदर्श वैष्णव धर्म की परम्परा में स्वीकृत वैदिक आदर्श से सम्बन्धित है[1]। शान्ति के मोक्ष धर्म पर्व के अन्तर्गत वैष्णवोचित क्रियाओं, आदर्शों एवं परम्परागत प्राप्त सामाजिक मूल्यों का विधान मिलता है। भरद्वाज एवं भृगु संवाद में ठीक उन्हीं सामाजिक मूल्यों का कथन है, जो वैष्णव भक्ति काव्य में प्राप्त है। इसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति, ब्रह्मचर्य एवं गार्हस्थ आश्रम, धर्मों का वर्णन, धर्म की प्रशंसा, शिष्टाचार आदि का विस्तृत विधान प्राप्त है[2]। हरिवंश में सामाजिक अनाचार से विमुक्त होने तथा वैदिक मर्यादाओं के पालन को समाज का उच्चतम उद्देश्य बताया गया है। यहाँ पितृकल्प के अन्तर्गत योगभ्रष्ट भरद्वाज के पुत्रों की कथा के संदर्भ में बताया गया है कि जो अयाच्य से याचना नहीं करते, दीन पुरुषों को अपमान नहीं करते, धन को गर्व से मदमत्त नहीं होते, जिनका आहार विहार शास्त्रानुकूल होता है, जो सदा भोग में लीन रहते; अनार्य चर्चा नहीं करते, ब्राह्मणों की निंदा करते हैं, जो आलस्य एवं अभिमान से मुक्त नहीं होते, जितक्रोधी होते हैं, वे [समाज के] उच्चतम पुरुष हैं।

.....

१: महाभारत: शान्ति पर्व : नवम्बर १९५७ पृ. ४८३२ .. ४० तक.
२: महाभारत शान्ति पर्व नवम्बर १९५७ पृ. ४९०२ .. १० तक.

इन व्रतों के पालन करने वाले व्यक्ति सदैव कल्याण के पात्र बने रहते हैं, तथा इनसे समाज की सनातन व्यवस्था भंग नहीं होती। निश्चित रुप से यहाँ उन सामाजिक आचरणों का विधान मिलता है, जिसे भक्त कवि वेद विहित धर्म का संज्ञा देते हैं। विष्णु पुराण के अंश ६ के अन्तर्गत सामाजिक अव्यवस्था की ओर संकेत किया गया है। पुराणकार के अनुसार कलि के फैल जाने पर समस्त सामाजिक मूल्यों का विनाश हो जाता है। शिक्षा, वर्ण व्यवस्था, शक्ति, धर्म, स्त्री, राजा, प्रजा आदि की गति वैदिक परम्परा के विपरीत दिखाई पड़ने लगती है: प्रजा में अनाचार, पाखंड, स्वेच्छाचारिता, ब्राह्मणों का अपमान, वैदिक धर्मों का उल्लंघन होने लगता है[2]। मत्स्य, बृहन्, लिंग, पुराणों में[3] मोक्षस्नान, दैनिक चर्या, व्रताचरण, नियम, उपवास आदि का विधान मिलता है। ये विधान मध्यकालीन वैष्णवोपासना के अंग के रुप में स्वीकृत थे। उनका मुख्य उद्देश्य समाज का धार्मिक संरक्षण ही था। श्रीमद्भागवत पुराण में इस सामाजिक मान्यता का पूर्ण रुपेण समर्थन प्राप्त होता है। भागवतमाहात्म्य के अन्तर्गत भक्ति के फल का विधान सामाजिक मान्यता की परिपुष्टि के लिए ही है। भागवत कथा के श्रोता के लिए विधान मिलता है कि वह सात दिन तक निराहार रहकर मात्र दुग्ध का ही सेवन करे, क्रोध, प्रमेध, मद, मोह मान, मत्सर, दम्भ, लोभ, द्वेष को छोड़कर वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गौ, तथा महापुरुषों की सेवा करे। धार्मिक व्यक्ति अन्त्यज, म्लेच्छ पतित, गायत्रीहीन द्विज, ब्राह्मण द्वेष्टा, से कभी बात न करे। इस प्रकार के व्रताचरण से ही भागवत के फल की प्राप्ति होती है। भागवत कथा के फल की ओर संकेत करता हुआ पुराणकार ने समस्त पापों के विनाश में सहायक मुक्ति का एक मात्र कारण, भक्ति वर्धक एवं कल्याणकर तत्व बताता है। इसके सप्ताह श्रवण से सामाजिक नैतिक धारणा को पुष्टि मिलती है। इसका श्रवण करके सत्य से च्युत, माता पिता को निन्दा करने वाले, आश्रम रहित स्त्री, दूसरों की उन्नति देखकर जलने वाले आततायी पवित्र

.....

१: हरिवंश : हरिवंश पर्व : अध्याय २० श्लोक ११ . २८ तक .

२: विष्णु पुराण : अंश ६ अध्याय १ श्लोक ५०५ . ५१० तक .

३: भागवत : माहात्म्य : अध्याय ५ श्लोक ५५ . ६० तक

हो जाते हैं। मदिरापान, ब्रह्महत्या, स्वर्णचोरी, गुरु स्त्रीगमन, विश्वासघात पाच पापों से मुक्त होकर स्वर्ग के अधिकारी बनते हैं। इस प्रकार भागवत सामाजिक दूषणों से मुक्ति देने का प्रबलतम साधन है[1]। कल्कि अवतार के अन्तर्गत कलिंग में उत्पन्न होने वाले सामाजिक अनाचारों को वृत्तिछू, एवं उनसे मुक्ति का उपाय बताया गया है।

पौराणिक परम्परा से प्राप्त इसी सामाजिक आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में मिलती है। इसी संदर्भ में विकसित मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त सामाजिक रचना के कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। इन्हें क्रमशः तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[1]

उच्चतम मंगलमय मानव समाज : हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य में उच्चतम मंगल पूर्ण मानव समाज की कल्पना मिलती है। तुलसी का रामराज्य एवं सूर का कृष्ण राज्य इस मंगलमय समाज का उच्चतम आदर्श है। इस आदर्श का विकास पौराणिक परम्परा से सम्बन्धित है। इस राज्य में निम्न सामाजिक लक्षणों की ओर संकेत मिलता है। समस्त प्राणियों को दैहिक, आर्थिक विषमता, दैहिक पीड़ा, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व एवं अन्य चिन्ताओं से पूर्ण मुक्ति मिलती है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अभावों से पीड़ित नहीं होता। वह दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से वंचित रहता है। धार्मिक मूल्यों, जिनका उल्लेख पुराणों में मिलता है, उसकी पूर्ण स्थापना मिलती है। वर्णाश्रम एवं वेद सम्मत धर्म का प्रचार, श्रुति कथित मार्ग का आचरण तथा मनुष्य मनुष्य में प्रेम तथा सद्भावना इस समाज का अन्तिम गुण है। इस समाज में धर्म अपने चारों पैरों पर खड़ा रहता है। कोई भी व्यक्ति रोग, शोक एवं मृत्यु पीड़ा से कष्टित नहीं होता[2]। रामराज्य की ठीक यही स्थिति कृष्ण राज्य में आरोपित है। इन कथनों से दो निष्कर्ष सरलता पूर्वक निकाले जा सकते हैं।

१: सामाजिक आदर्श का मापक धर्माचरण या धर्मप्रेरित नीति मार्ग है।

२: इस समाज में सबको वैयक्तिक सुख, सन्तोष, एवं प्राप्त करने दुश्चिन्ताओं से मुक्त रहने का

१: भागवतमाहात्म्यम् : अध्याय ४ श्लोक ११ - १४ तक.

२: मानस : उत्तर काँड : दो० सं. २३ तथा २४

पूर्ण अधिकार है । इस प्रकार यह सामाजिक आदर्श मानव कल्याण की उच्चतम स्थापना पर निहित है । इस समाज का अन्तिम मूल्य नैतिक कल्याण या लोकमंगल की स्थापना है । इस शुभ मूल्य का साधन नैतिक आचरण है । इस समाज के नागरिकों में वर्णाश्रम धर्म से अनुमोदित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, उच्चतम सामाजिक शुभ मूल्य के स्थापक राम या कृष्ण [विष्णु के अवतार] तथा इन मूल्यों के पोषक सज्जन, तपस्वी, साधु, महात्मा आदि हैं।

अधमतम समाज : इन भक्त कवियों ने जहाँ एक ओर राम या कृष्ण राज्य का उल्लेख किया है, दूसरी ओर उसी का हीन मात्रा में अपवित्र गर्हित, अनाचारपूर्ण राज्य का भी संकेत किया है । रावण एवं कंस का राज्य इसी का प्रतीक है। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति शक्ति एवं छल प्रपंचों को आधृत करके शुभ मूल्यों के विनाश का प्रयत्न करता है । रावण एवं कंस अधमतक अमरता के वरदान थे । कुंभकर्ण ६ मास सोकर एक दिन उठने के बाद अनन्त गर्हित एवं अशुभतम कार्य कर डालता था। मेघनाद घोर आधिभौतिक शक्तियों का स्वामी था । कृष्ण कथा में प्रयुक्त तृणावर्त शकटासुर, बकासुर आदि असुर वर्ग विभिन्न पीड़ादायक आधिभौतिक शक्तियों के अधिकारी थे । इनका उद्देश्य आधिभौतिक प्रचंड शक्तियों में मनुष्य को पीड़ित करना था । ये समस्त शक्तियाँ मिल कर एक अशुभतम उच्च सत्ता रावण या कंस का समर्थन करती हैं। इस समाज में मानव के अहित के लिए प्रयुक्त सबसे गर्हित मूल्य उच्च समझे जाते थे । यहाँ के मूल्य ऋषि, मुनि, ब्राह्मण धेनुकी हत्या, यज्ञ भंग, धर्मावरोध, मांस भक्षण, मदिरापान, नग्नृत्य, विलास आमोद प्रमोद, स्वेच्छाचारिता आदि अमानवीय क्रिया कलापों से सम्बन्धित थे ~~मदिरापान, नग्नृत्य विलास~~ :

इन अशुभप्रद मूल्यों के स्थान पर उच्चतम मूल्यों की स्थापना मध्यकालीन वैष्णव धर्म का मूल विचारधारा का अंश थी । ये अशुभप्रद मूल्य वेद विरोधी, जनहित में असमर्थ तथा मंगलेच्छा से शून्य थे । इनके स्थान पर वेद सम्मत, लोक हित तथा मंगल मय मूल्यों का स्थापन इनकी कविता का अन्तिम उद्देश्य था । इस उद्देश्य की पूर्ति में मात्र उच्चतम पूर्ण मूल्य (Highest absolute value) अर्थात् विष्णु ही सहायक हैं। राममक्ति शाखा में पदच्युत शुभ मूल्य के प्रतीक विभीषण एवं कृष्ण भक्ति शाखा में वसुदेव तथा देवकी को समझा जा सकता है । अशुभतम मूल्यों के विनाश के बाद विभीषण एवं वसुदेव पुनः शुभमूल्यों का संस्थापन समाज में करते हैं।

समाज के इन वर्गों को अपेक्षा लौकिक वर्ग इसी में सांकेतिक रूप से अन्तर्भुक्त हो जाता है। रामराज्य के समस्त आचरण, जो स्थल स्थल पर सांकेतिक शुभ कर्म समस्त लोक वर्ग के लिए अपेक्षित है। इनका विशेष विस्तार पूर्वक अध्ययन व्यक्तिगत मूल्यों के अध्ययन के संदर्भ में होगा।

मानव वर्ग के साथ साथ मध्यकालीन वैष्णव धर्म की पौराणिकता ने पौराणिक विश्वासों एवं प्रचलनों को सामाजिक मान्यता के रूप में स्थापित किया है। इसमें तिर्यक योनि भुशुन्डि गरुड, पशुयोनि बन्दर भालु तथा गायें, पशु पक्षी तक वैष्णव धर्म की सामाजिक रचना के अंग बन गए हैं। भिन्न भिन्न चेतना स्तर के ये जीव शुभ मूल्यों का समर्थन करते हैं। भुशुन्डि रामकथा के परम शुभ मूल्यों के स्थापन एवं अधमतम मूल्यों के विनाश में पूर्णतया सचेष्ट मिलते हैं। जड वस्तुएं मानव चित्त हित की मंगलेच्छा से एक मात्र प्रेरित समाज को सम्पन्न तथा सुखी रखने को और प्रयत्नशील हैं। रामराज्य के प्रसंग में तुलसी ने जड प्रकृति की समाज के प्रति हितैषिता को और इस प्रकार संकेत किया है मनुष्यों के लिए वृक्ष सदा फूलने फलने लगे, पशुओं का नैसर्गिक वैर भाव समाप्त हो गया। वे निर्भय होकर विहार करने लगे। भ्रमि आनन्दित होकर बहने लगी, मकरन्द पान करके मस्त होकर विचरण करने लगे, विटप के मांगने पर लताएं मधुदान करने लगीं तथा गाएं स्वतः कामदुह होकर दूध देने लगीं। पृथ्वी अन्न से सम्पन्न हो गई, गिरि कन्दराओं में प्रसुप्त धातु राशियां निःसृत होने लगीं। सुद्र अपनी मर्यादा में रहकर तट पर मणि विकीर्ण करने लगा एवं आजीवक उनको चुन चुन कर अपनी जीविकार्जन करने लगे। कमल पूरित सरोवर तडाग दिखाई पडने लगे। चन्द्र की किरणों से पृथ्वी शीतल हो गई तथा सूर्य का प्रखर किरणें मात्र तेज के कार्यों में निष्पन्न हुई। बादल व्यक्ति को इच्छा पर जल दें।

सामाजिक मूल्यों के साथ साथ वैयक्तिक वैयक्तिक मूल्यों की स्थिति वैष्णव भक्ति काव्य में इस प्रकार है।

व्यक्ति की स्वेच्छा का अवरोध : वैयक्तिक दृष्टि से व्यक्ति मात्र शुभ कर्म करने के लिए ही स्वतंत्र है। शुभ कर्म का फल ईश्वर के आधीन है। वह स्वतंत्र रूप से फलभोक्ता नहीं है। क्योंकि फल का अधिकार उसे नहीं है। ईश्वर व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों पर नियंत्रण रखता है। इस शुभ अशुभ कर्म के मूल में व्यक्ति के संस्कार अधिक प्रभावशील होते हैं। विभीषण, हनुमान, भरत आदि संस्कार गत साधु थे, फलतः शुभ मूल्यों के एक मात्र स्थापक यही हैं। दुर्योधन और रावण आदि संस्कारगत

अशुभ मूल्यों के प्रतीक अवत है। ये दोनों शुभ एवं अशुभ मूल्य एक ही सत्ता के द्वारा निर्धारित किए जाते है। वह सत्ता है पूर्ण प्रत्यय (Absolute Idea हीगल) अर्थात् वह पूर्ण सत्ता ब्रह्म की है। संक्षेप में, व्यक्ति की कर्मेच्छा एवं फल निर्धारण इसी पूर्णसत्ता पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त सामाजिक वर्ण व्यवस्था में विभक्त जाति एवं वर्ग भी स्वतंत्र नहीं है। इनके लिए परम्परागत वर्ण व्यवस्था निर्धारित कर दी गई है, जिसमें इनका रहना अनिवार्य है। इन कवियों ने वर्ण व्यवस्था को वैदिक परम्परा का अंग मानकर इसे लौकिक व्यवस्था का मूलाधार सिद्ध किया है। फलतः नैतिक, धार्मिक एवं कर्म की दृष्टि से व्यक्ति पूर्णतः परतंत्र है। भक्ति एवं आचरण के संदर्भ में वैयक्तिक मूल्यों की स्थिति और भी स्पष्ट है।

व्यक्ति की विभिन्न कोटियाँ नैतिक आचरण एवं भक्ति

वैष्णव भक्त कवियों के अनुसार जीवन का अन्तिम मूल्य 'शुभ तत्वों' की उपासना है। पौराणिक एवं धार्मिक परम्परा से चले आते हुए वैष्णव धर्म के अन्तर्गत अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष समाज के सामान्य वर्ग स्तर के लिए हैं। सामान्य वर्ग से ऊंचे उठकर मनुष्य धर्मापेक्षा मात्र रह जाता है। इस स्थिति से उठकर वह व्यक्ति सात्विक वर्ग के अन्तर्गत आता है। रामचरित मानस में सामान्य वर्ग से ऊंचे उठे हुए अनेक पात्र आते हैं। उच्चतम सामाजिक मूल्यों का स्थापन सात्विक वर्ग के ही अन्तर्गत होता है। अयोध्याकांड में राम के द्वारा पूछने पर वाल्मीकि सात्विकता का निम्न लक्षण बतलाते हैं—निरन्तर रामकथा के श्रवण के प्रति रुचि रखने वाला रामकथा का आकांक्षी, राम के स्वरूप पर लुब्ध होने वाला ईश्वर के अर्पित करके भोजन करने वाला, गुरु को शीश झुकाने वाला, विनयशील, तीर्थों का पर्यटक, गुरु का सम्मान करने वाला, काम, क्रोध मद, मोह, लोभ, दोष, राग, द्रोह, कपट, दम्भ से रहित, सबको प्रिय, सुख दुःख में समभाव वाला, निरन्तर सत्यभाषी, दूसरे की पत्नी को माता के समान देखने वाला, निरन्तर राम को शरण में रहने वाला, दूसरे के धन को विष की तरह देखने वाला, व्यक्ति समाज के सात्विक वर्ग से सम्बन्धित है। ये उच्च सामाजिक रचना के विधायक मूल्य हैं। सात्विक वर्ग के पुरुष इनसे निःश्रेयस् तत्व को प्राप्त करते हैं। सात्विक वर्ग से ऊंचे उठने पर सन्त एवं साधु वर्ग आता है। साधु वर्ग के ये प्रतिनिधि निरन्तर शुभ मूल्यों का परिष्करण, मार्जन एवं संस्थापन

में लगे रहते हैं। याज्ञवल्क्य, जनक, विश्वामित्र, नारद, आदि इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। कृष्ण कथा में भीष्म तथा विदुर को इसी श्रेणी में रखा गया है। व्यक्ति एवं वर्ग की दृष्टि से अन्तिम श्रेणी भक्त वर्ग की है। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों की दृष्टि में भक्त समाज के उच्चतम साधक हैं। भक्तों के आचरण एवं कर्तव्य की ओर मानस एवं सूरसागर में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है, शबरी के प्रसंग में मानसकार भक्त के लिए इस प्रकार के आचरण का विधान करता है ये आचरण सतसंग, रामकथा में रुचि, गुरु पद सेवा, राममक्ति मंत्र जाप, दम, शील तथा विराग, यथालाभ सन्तोष, सबसे छलहीनता का व्यवहार कर्तव्य है[1]। एक दूसरे स्थल पर कवि ने पुनः भक्ति के साधनों या भक्त के कर्तव्यों की ओर संकेत किया है विप्र चरण में प्रीति, श्रुति द्वारा कथित वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार कर्म, विषय विराग, धर्म अंकुरण, अकामादिक भक्ति की दृढता, लोलारति संत चरण में प्रेम, मन वाणी कर्म से भजन, पारिवारिक कर्तव्यों का पालन, ईश्वर का गुण गान करते समय पुलकपूर्ण हो जाना, गदगद् होकर आंखों से अश्रु का गिराना, काम, मद एवं दंभ से पृथकता भक्त के लिए श्रेष्ठ है[2]। इस प्रकार वैयक्तिक दृष्टि से व्यक्ति के विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों का निर्धारण इन कवियों ने अपने काव्यों में किया है।

जीवन के अन्तिम मूल्य : इनके अनुसार मानव जीवन के अन्तिम मूल्य का निर्धारण शुभ या अशुभ कर्तव्य से होना चाहिये। शुभ से प्रेरित जीवन मूल्य उपास्य एवं शेष त्याज्य हैं। इस शुभ मूल्य में मुक्तियां मोक्ष तथा भक्ति को प्राप्ति जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मुक्ति की कल्पना इनके काव्य में लोकों से सम्बन्धित है। व्यक्ति शुभ कर्मों के द्वारा देव लोक, गोलोक, ब्रह्म लोक एवं विष्णुलोक के अधिकारी होते हैं। इसी दृष्टि से सायुज्य सारूप्य, सालोक्य आदि मुक्तियों की परम्परागत मान्यताएं इनके काव्यों में प्राप्त हैं। इन शुभ मूल्यों के नियंत्रक एवं दाता विष्णु एवं उनके सहायक ब्रह्मा तथा शंकर हैं। ब्रह्मा एवं शंकर शुभ कर्मों

.....

१: मानस अरन्यकान्ड दोहा सं. ३५, ३६.

२: मानस अरन्य कांड दोहा सं ३५.

के फल रूप में शक्ति सम्पन्नता, निःश्रेयस् तथा सलोकधाम दे सकते हैं किन्तु सारूप्य, सालोक्य तथा सारुप्य आदि उच्चतम शुभ मूल्य के निकटवर्ती मूल्य पर उनका अधिकार नहीं है। उसके नियोजक एक मात्र विष्णु ही हैं।

मध्यकाल के आरम्भ में मुक्ति को समाज एवं व्यक्ति का उच्चतम मूल्य समझा जाता था। किन्तु हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में मुक्ति को गौण एवं भक्ति को उच्चतम मूल्य समझा गया है। वैष्णव भक्त कवियों के अनुसार समाज का महत्तम व्यक्ति भक्त है तथा भक्ति उच्चतम मूल्य। भक्त अपनी साधना से मुक्ति की कामना न करके मात्र भक्ति की ही इच्छा प्रकट करता है।

नैतिक आचरण एवं भक्ति

वैष्णव भक्त कवियों के अनुसार सामाजिक ~~शक्तियों~~ वर्गरचना को चार श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है:

१: भक्त वर्ग
२: साधु या सज्जन वर्ग
३: सामान्य मानव वर्ग
४: कुत्सित असुर वर्ग

भक्त वर्ग इनमें सबसे श्रेष्ठ है। साधु, सामान्य एवं कुत्सित वर्ग के व्यक्ति भक्त बनकर उच्च वर्ग के व्यक्ति बन सकते हैं। भक्ति के स्वरूप में इसी दृष्टि से अनेक संशोधन किए गए हैं ताकि उसका स्वरूप अत्यधिक सुगम एवं प्रचलित हो जाय। साधु, सामान्य तथा कुत्सित वर्ग क्रमशः उच्चतम शुभ मूल्य के नीचे की श्रेणियाँ हैं। विभिन्न वर्गों के लिए इन मध्यकालीन भक्त कवियों ने इस प्रकार के मूल्यों की स्थापना की और बल दिया है।

१: नैतिक सदाचरण एवं अनाचरण का द्वन्द : इन कवियों के अनुसार समाज सद् असद्, विवेक अविवेक, आचरण अनाचरण के द्वन्द से युक्त है। समाज में यह द्वन्द निरन्तर चलता रहता है। असद् एवं अनाचार की प्रमुखता के कारण समाज में अशुभ मूल्यों की स्थापना होती है। ये अशुभ मूल्य इस प्रकार हैं: जप, तप, योग विराग तथा यज्ञ का विनाश, भ्रष्टाचार का प्रचलन, हिंसा बहुलता, समाज में चोर, जुवारी, लंपट, परस्त्रीगामी, धर्म विपरीतता का बाहुल्य आदि[१]: इन अशुभ मूल्यों के उच्छेद के लिए उच्चतम शुभ मूल्य का

१: मानस : बालकान्ड : दो. सं. १८३, १८४

अवतरण होता है । उच्चतम शुभ मूल्य अपनी समस्त धार्मिक सजगताओं के साथ अनाचरण से द्वन्द करता है । परिणामस्वरूप समाज में पुन: शुभ मूल्यों की स्थापना होती है ।

२: शुभ मूल्यों का स्थायित्व : इनके अनुसार शुभ मूल्य ही समाज के एकमात्र समर्थक हैं : शुभ मूल्यों के इन्होंने अनेक लक्षण बताये हैं । इनके अनुसार ये पूर्ण, सनातन, परम्परया संक्रमित मूल्य हैं । इनका कभी भी नहीं विनाश होता इस प्रकार वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत नैतिक आचरण को प्रमुखता मिली है। यहाँ सात्विक वर्ग के जन सात्विकतापूर्ण एवं भक्त वर्ग इनसे विशिष्ट आचरणों का पालन करते हैं । सात्विक वर्ग के जन समाज में प्रचलित शुभ मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं । ये आचरण परम्परा से ही सम्बन्धित हैं । इनमें वैदिक परम्परा से समर्थित कर्मकांड, जप, तप, सत्य, अहिंसा, तितिक्षा, दया, मैत्री, कर्तव्य परायणता, शील, विनय, साधुता आदि सात्विक मूल्य हैं । आचरण संबंधी तथा मानसिक पवित्रता का भी इन कवियों ने उल्लेख किया है ।

नित्य सेवा तथा वर्णोत्सव सम्बन्धी आचरण की ओर हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में उल्लेख मिलता है। पौराणिक परम्परा में मान्य शुभ तिथियों के अनुसार पर व्रत, पवित्र तीर्थ स्थानों का पर्यटन, नैष्ठिकता का पालन इनके प्रेरणास्रोत रहे हैं । हिन्दी भक्त कवि कृष्ण की नित्य सेवा से सम्बन्धित उत्थापन, भोग, गोदोहन, शृंगार, शयन, तथा वैष्णव धर्म में स्वीकृत पवित्र, गनगौर, महाद्वादश, रामनवमी, राखी, होली, हिंडोल आदि पर्वों से सम्बन्धित आचरणों का विधान मिलता है : राममक्ति की रसिकोपासक धारा में भी नित्य सेवा के विषय में यही परम्परा प्राप्त है । निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों ने नित्य सेवा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताकर कृष्ण के प्रति किए गए सामान्य से सामान्य आचरण को पवित्र बताया है । इस दृष्टि से भोजन, बीरी, चँवर, चलेक, पाँव दबाना, शैया आदि को व्रताचरण से भी अधिक पवित्र माना गया : इस प्रकार वैष्णव भक्ति साहित्य में आचरण विषयक मान्यतायें जीवन में व्याप्त प्रत्येक व्यवहारों का स्पर्श कर लेती हैं ।

.....

वैष्णव भक्ति काव्य का दार्शनिक आधार

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत कहा जा चुका है कि इन कवियों की दृष्टि साम्प्रदायिक एवं स्वतंत्र दोनों है : जहाँ तक साम्प्रदायिक मान्यताओं का प्रश्न है, इसे चार भागों में विभक्त किया जाता है:

१: श्री सम्प्रदाय — रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद, ८वीं शती
२: ब्रह्म सम्प्रदाय — आनन्दतीर्थ [मध्व] द्वैत मत — १३वीं शती
३: रुद्र सम्प्रदाय — विष्णु स्वामी शुद्धाद्वैत — १४वीं शती
४: सनक सम्प्रदाय — निम्बार्क स्वामी द्वैताद्वैत — १२ वीं शती

वैष्णव धर्म के ये सम्प्रदाय मध्यकालीन धार्मिक वातावरण के मूलाधार हैं। इनके प्रभाव से शैव, तंत्रवाद एवं इस्लामी प्रभाव भारतीय जनमत पर अपना प्रभाव नहीं डाल सके। कुछ तो इसी में घुल मिल गये। पूर्वी भारत के शैव, शाक्त एवं तंत्रवाद आदि धार्मिक मतवाद वैष्णव धर्म के द्वारा आत्मसात् कर लिए गए।

वैष्णव धर्म मध्यकाल में व्यापकता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण था। यह बंगाल, आसाम, मिथिला, मध्यदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक आन्ध्र आदि विस्तृत भू भाग में प्रचलित था। हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति साहित्य का प्रेरणा स्रोत यही रहा है। मध्यकालीन वातावरण में इस धर्म को अनेक विकासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। बंगाल का गौड़ीय सम्प्रदाय १४ वीं शती के आस पास वृन्दावन आया था। इसके पूर्व रामानन्द १४वीं शती के आरम्भ में काशी में आकर रामावत सम्प्रदाय का प्रचार कर चुके थे। आचार्य वल्लभ १५ वीं शती के आरम्भ में मथुरा, काशी, व्रज तथा प्रयाग में भ्रमण करके वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहे थे। इस आन्दोलन के विकास से वैष्णव धर्म में स्वीकृत समस्त तीर्थ एवं आराध्य को लीलाभूमि को अधिकाधिक मान्यता मिली। फलतः परवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय इन्हीं स्थानों में अधिष्ठित हुए।

ऊपर कहा जा चुका है कि रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क इन चार आचार्यों ने क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत सिद्धान्तों की स्थापना की। इन्हीं के परवर्ती सम्पोषक आचार्य वल्लभ, हित हरिवंश, हरिव्यासदेवाचार्य, हरिदास, चैतन्य आदि ने अपने

सम्प्रदायों में इनको प्रधान आधार के रूप में स्वीकार किया। ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषद् तत्कालीन वैदिक धर्म के तीन प्रधान स्तम्भ थे। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के तत्वदर्शन पर आधारित भारतीय आस्तिक धर्म दर्शन का प्राणाधार है: उपनिषद् की मान्यताएं ज्ञानमूलक अधिक हैं। जहां तक गीता का प्रश्न है, वहां भी ज्ञान को प्रधानता मिली है। इस ज्ञान के साथ यहां कर्म एवं भक्ति मार्ग को भी अपना लिया गया है। किन्तु मध्यकालीन भक्त आचार्यों की प्रवृत्ति उपनिषदों के ज्ञानवाद से सन्तुष्ट नहीं हो सकी। धीरे धीरे इस परम्परा में उपनिषदें गौण पड़ती गईं। ब्रह्मसूत्र एवं गीता को अधिक मान्यता मिली। गीता में मात्र भक्तियोग को इन आचार्यों ने अधिकमहत्व दिया। लीलामूलक भक्ति को मान्यता का समर्थन और अधिक हो जाने के कारण भागवत की समाधि भाषा, तथा उसके मान्यताओं को दार्शनिक आधार दिया गया। इस प्रकार आरम्भिक औपनिषदिक मान्यता मध्यकाल में आकर भागवत पर आधारित हो गई।

आचार्य रामानुज का सिद्धान्त आचार्य शंकर के सिद्धान्त का पूर्ण परिशोधन था: आचार्य शंकर ने ब्रह्म जीव एवं जगत में जगति को मिथ्या बताया था। जीव के मूल तत्व भी आचार्य शंकर के अनुसार मिथ्या थे। जीव में निहित आत्मा का जहां तक प्रश्न था, शंकर ने उसे ब्रह्म के नाम से सम्बोधित किया। इस प्रकार आत्मा एवं ब्रह्म की अभिन्नता का प्रतिपादन आचार्य शंकर का मूल मन्तव्य था।

ब्रह्म की विशेषताओं को और उल्लेख करते हुए शंकर ने उन्होंने उसे सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेदों से पृथक माना है। इनके अनुसार वह केवल, अनन्य, अद्वैत तथा सत् चित् एवं आनन्द के गुणों से युक्त है। शंकराचार्य के इस मत के प्रतिकूल रामानुज, निम्बार्क एवं वल्लभ ने ब्रह्म के स्वरूप में अनेक मौलिक परिवर्तन किए। रामानुज ने ब्रह्म को चिदाचिद् विशिष्ट बताया। चित् के कारण है, शुद्ध ज्ञान रूप चैतन्य का समर्थक एवं पूर्ण ब्रह्म है। चित् जीव का लक्षण है, वह शुद्ध, चैतन्य तथा मनबुद्धि एवं इन्द्रिय के अस्तित्व से पृथक है। किन्तु यह अचित् तत्व से भी युक्त है। यह अचित तत्व सत्व मय है। यह सत्व तीन प्रकार का है। सत्वशून्य, मिश्रसत्व तथा शुद्धतत्व: जीव चिद् चिद्, के

रुप में ईश्वर का अंश है। यह ब्रह्ममय नहीं है, किन्तु उपासना के कारण ब्रह्म का सामीप्य लाभ प्राप्त कर सकता है। इस सामीप्य लाभ के लिए, कैंकर्य या दास्यभाव की भक्ति साध्य रुप में है। शुद्ध तत्व से निर्मित, वैकुंठ, अयोध्या, गोलोक तथा त्रिपाद विभूति का मुक्त अधिकारी होता है। आचार्य वल्लभ का सिद्धान्त अविकृत परिणामवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से उत्पन्न होने पर जगत एवं जीव दोनों अविकृत रहते हैं। इसकी उत्पत्ति अग्नि, एवं उससे निर्गत आभूषणों से दी जाती है। जिस प्रकार आभूषण के किसी रुप में अग्नि तिरोहित नहीं होता, ठीक वही स्थिति ब्रह्म की भी है। इस प्रकार समस्त विश्व मात्र ब्रह्म का ही प्रपंच है। यह तीन प्रकार का है।

१: आधिभौतिक ——→ जगत

२: आध्यात्मिक ——→ अक्षर ब्रह्म

३: आधिदैविक ——→ परम ब्रह्म पुरुषोत्तम.

जगत या आधिभौतिक में चित् तथा आनन्द तत्व तिरोहित है। यही कारण है कि सामान्य जीवों को ब्रह्म के स्वरुप का बोध नहीं हो पाता क्योंकि चित् तथा आनन्द तत्व का उसमें तिरोधान है। आध्यात्मिक ब्रह्म में आनन्द तत्व तिरोहित है। आधिदैविक या परमपुरुषोत्तम ब्रह्म सच्चिदानन्दमय साक्षात् कृष्ण ही हैं। यह आनन्दमय रुप जब अपनी सम्पूर्णावस्था में प्रकट होता है - परमानन्दस्वरुप या पूर्ण पुरुषोत्तम कहलाता है। यह क्रमः स्थिति प्रायः लीला में ही होती है। श्री कृष्ण अपनी समस्त अन्तरंगशक्तियों के द्वारा वृन्दावन एवं गोकुल को गोलोक बनाकर अपनी लीला प्रस्तुत करते हैं।

साधन रुप में शुद्धाद्वैत मार्ग में पुष्टिमार्ग को मान्यता मिली है। पुष्टि को भगवान का अनुग्रह स्वीकार किया गया है। यह पुष्टि ४ प्रकार की मानी गई है मर्यादापुष्टि, प्रवाहपुष्टि, पुष्ट पुष्टि तथा शुद्ध पुष्टि।

आचार्य वल्लभ ने मर्यादा, प्रवाह एवं पुष्ट पुष्टि को भक्ति के साधनों में गौण महत्व दिया। इनके लक्ष्य क्रमशः कर्म, ज्ञान, लौकिक सुख भोगों को भोगते हुए प्रवाह में पड़े रहना मात्र है। पुष्ट पुष्टि मर्यादामार्ग को सायुज्य मुक्ति है, यह शुद्ध पुष्टि की तुलना में कम उत्कृष्ट है। शुद्ध पुष्टि ही ब्रह्म का पूर्ण आनन्दात्मक प्रकृति का उद्घाटन करती है। यह पूर्णतः रागात्मक भाव पर आधारित लीला रुप कृष्ण की उपासना से सम्बन्धित है। इस मार्ग के द्वारा मुक्त 'आनन्दधाम'

भगवान कृष्ण के अधरामृत पान को अपनी उपासना का फल मानता[1] है ।

माध्व का मत अपेक्षाकृत कम स्पष्ट है । इनके सिद्धान्त के रूप में दो श्लोक उनके सिद्धान्त सार के रूप में उद्धृत किये जाते हैं जिसके अनुसार विष्णु सर्वोच्च तत्व के रूप में स्वीकृत हैं । वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध तथा मोक्ष, इन आठ गुणों से युक्त हैं । वे जगत जीव को सत्य मानते हैं । किन्तु जगत, जीव तथा ब्रह्म तीनों, इनके अनुसार पृथक हैं । उनके अनुसार मुक्ति से ही आनन्द तत्व का उदय होता है । जीव अपनी कर्म योग्यताओं के कारण उत्तम, मध्यम एवं अधम कोटियों में बंधा है । उत्तम स्थिति भक्ति की है जो सात्विक प्रवृत्तों के फलस्वरूप उद्भूत होती है । चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति माध्वमत पर ही अवलम्बित है।

हिन्दी के वैष्णव भक्ति साहित्य में प्राप्त निम्बार्क सम्प्रदाय अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है । इनके सिद्धान्त को भेदाभेद के नाम से पुकारा जाता है । कार्य रूप से ईश्वर और जीव में भेद है किन्तु कारण रूप में दोनों में अभेद[2] है । निम्बार्क एवं रामानुज के ब्रह्म में विशेष अन्तर नहीं है । अन्तर मात्र जीव के स्वरूप में है । उन्होंने जीव को ज्ञानघन माना है । जीव अणुरूप है तथा इन्द्रियों की सहायता के बिना भी ज्ञान करने में सक्षम है । ब्रह्म सगुण तथा प्राकृत दोषों से रहित अशेष गुण ज्ञान, बल तथा कल्याण का निधान[3] है । साधन के रूप में उन्होंने रागात्मक भक्ति को अधिक महत्व दिया है [तस्मात् कृष्ण एव परो देव:, तं ध्यायेत् तं रसेत्, तं अर्चेत्, तं भजते[4]]। अर्थात् कृष्ण का ध्यान, भजन, अर्चन एवं रमण उनकी सर्वोच्च उपासना है । इन्होंने भक्ति भावों को पाँच भागों में विभक्त किया है शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्वल ।

.....

१: भागवत सम्प्रदाय, प. बलदेव उपाध्याय पृ. ३४८

२: हिन्दी साहित्य प्रथम खंड से डॉ: धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा पृ. ६३

३: दशश्लोकी । श्लोक संख्या, ४,८ पृ:

४: दशश्लोकी, टीका हरिव्यासदेव पृ. ३६ .

उज्वल रस को उपासना सर्वोत्कृष्ट है । भक्त तथा गोपी एवं राधा इसी उज्वल रस के साधक हैं[1]। निम्बार्क सम्प्रदाय के फलस्वरूप हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य के क्षेत्र में हरिव्यासी, हरिदासी तथा राधावल्लभी सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई ।

इस प्रकार इन सिद्धान्तों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनका मुख्य प्रयोजन ब्रह्म तथा जीव में द्वैत भाव की स्थापना करना है । इस द्वैत भाव की स्थापना ने भक्ति के क्षेत्र में वैयक्तिक अभिव्यक्ति का मार्ग खोल दिया । इसी द्वैत भाव के ही कारण ईश्वर सामीप्य के लिए दास्य एवं रामावत सम्प्रदाय में वैधी भक्ति का प्रचार हुआ । किन्तु मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य ने वैधी के स्थान पर प्रेम को ही प्रधानता स्वीकार की । इनके अनुसार भक्ति मूलतः रागात्मक सम्बन्ध है । संसार में प्रचलित प्रियता के उच्चतम रागात्मक सम्बन्ध इसके आधार बने । इस प्रकार लौकिक सम्बन्धों को भक्ति का आधार बनाकर इन आचार्यों ने इसे सामान्य जन की अनुभूति का विषय बनाया । इसी के फलस्वरूप मध्व मुक्ति को कल्पना किसी दूसरे लोक में न करके यहीं करते हैं । उनके अनुसार परम आध्यात्मिक सुख ही मुक्ति है। निम्बार्क ने भक्तिजन्य इसी सुख को सिद्धि स्वरूप आनन्द की संज्ञा दी । यह भक्ति विधान लौकिक आसक्तियों पर केन्द्रित है । दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्ताविषयक सांसारिक भावों का कृष्ण के प्रति आरोपण इस भक्ति का मूलाधार है । जहाँ तक कि इनके मत में प्राप्त शान्त शम या निर्वेद का सूचक न होकर आनन्द या प्रीति का सूचक बन गया । आचार्य वल्लभ ने शुद्ध पुष्टि के द्वारा ब्रह्म के प्रति अनन्य प्रेमाकांक्षा को भक्ति का आधार बताया । यह प्रेमाकांक्षा या प्रेमभक्ति का आधार कृष्ण की शृंगारमय लीला है । हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में संक्षेप में निम्न दार्शनिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं क + ब्रह्म के रूप, गुण, लीला एवं धाम की कल्पना तथा तत्सम्बन्धी

व्याख्याएँ :

.....

१: भागवत सम्प्रदाय पं. बलदेव उपाध्याय पृ. ३४८

ख : जीव एवं ब्रह्म के संकेत

ग : माया का अनेक रूपों में निरूपण : यह माया आचार्य शंकर के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसके साथ ही साथ अन्य वैष्णव सम्प्रदायों एवं पौराणिक प्रभावों का अवशेष इस पर वर्तमान है।

घ : मुक्ति विषयक प्रश्न : इस प्रश्न के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म, भक्ति, आचरण एवं अनाचरण को भी बटोरा गया है।

ङ. : भक्ति को, उच्चतम साधन के रूप में, स्वीकृति

भक्ति तथा लीला

भक्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग श्वेताश्वेतरोपनिषद् में श्रद्धा समवेत भावना के अर्थ में[1] है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी भक्ति एवं भक्त का उल्लेख मिलता है उसके अनुसार भक्त चार प्रकार के बताए गए हैं, जिसमें एकान्तिन एवं अन्यदेवत सर्वश्रेष्ठ हैं।यहाँ एकान्तिन भक्ति का अर्थ निष्काम भक्ति से लाया गया है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत वासुदेव उपासना को पाँच विधियों का उल्लेख किया है। वे अधिगमन, उपादान, ईज्या, स्वाध्याय तथा योग हैं। परवर्ती काल में साधनों में इनका उल्लेख किंचित परिवर्तन के साथ मिलता है। स्वाध्याय मंत्रजाप तथा योग ध्यान परवर्ती काल में भक्ति के महत्वपूर्ण साधन माने गए हैं।अहिर्बुध्न्य संहिता में भक्ति के साधनों में आश्रय भक्ति का उल्लेख मिलता है। इसके साथ साथ यहाँ भक्ति के साधनों में कीर्तन, मनन, गमन, ईज्या का भी स्पष्ट उल्लेख है। आरम्भ में सम्भवतया भक्ति को योग के अधिक समीप रखा गया था गीता में भक्ति को योग की संज्ञा मिली है। गीता की भक्ति में इसके समूचे तत्व यत्र तत्र कथित हैं। यहाँ भक्ति के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं- ज्ञानमूलाभक्ति २ कर्ममूलाभक्ति तथा श्रद्धामूलाभक्ति महाभारत शान्ति पर्व में भक्ति को योग की संज्ञा मिली है।श्रद्धामूलक भक्ति का एक वैदिक उल्लेख अधिक महत्वपूर्ण है, जहाँ अपाला नामकविदुषी इन्द्र के प्रति आत्मीयता प्रकट करने के लिए मुँठे सोम को अर्पित करती है। यह दास्य भक्ति का उत्कट मनोभाव है जो किंचित् रूपान्तरण के साथ शबरी की भक्ति में मिलता है। डॉ० विनयमोहन शर्मा के अनुसार गीता की भक्ति श्रद्धा प्रधान की थी[2]। श्रद्धा को उपनिषदों में आस्तिक बुद्धि की संज्ञा मिली है।श्रद्धा वस्तुत: रागमूलक प्रवृत्ति है।आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार जब यह वैयक्तिक मनोवेग का रूप बन जाती है, तो उसे भक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। महाभारत तथा रामायण की रामकथाओं के संदर्भ में राम की भक्त वत्सलता का अनेक रूपों में संकेत मिलता है। महाभारत में राम की विभीषण के प्रतिकिए गए कृपाभाव को भक्त वत्सलता के नाम से पुकारा गया है[3]।रामायण में अनेक स्थलों पर राम को विष्णु के रूप में अवतरित होने की चर्चा मिलती है। इस अवतार का

....

कारण यहाँ लोकस्थिति बताया गया है।[1] युद्धकांड में राम को स्वतः अपने विष्णु रूप में अवतार लेने की बात ज्ञात थी। इसी कांड में रामभक्ति के फल की भी चर्चा मिलती है कवि के अनुसार राम की भक्ति से परलोक के सभी मनोरथों की पूर्णता एवं अमोघता प्राप्त होती है।[2]

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट है कि राम तथा कृष्णकथा के संदर्भ में भक्ति भावना बहुत पहले से चली आ रही थी। पुराण काल में समस्त भारतीय संस्कृति आस्थामूलक हो गयी। इस आस्थामूलक भावना के साथ साथ अवतारवाद की धारणा का संभूतिः विकास भक्तिकाल तक हो चुका था। अवतारवाद की धारणा से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण भक्ति मध्यकालीन धार्मिक चेतना पर अधिकाधिक प्रभावपूर्ण होती गयी।

मध्यकालीन पौराणिक भक्ति का स्वरूप स्पष्ट है। इसकी प्रवृत्तियों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला पुराण भागवत है। सम्भवतः अपनी भक्ति सम्बन्धी गंभीर मान्यता के कारण मध्यकालीन आस्थावादी धार्मिक भावना को इसने सर्वाधिक प्रभावित किया। भागवत पुराण की सर्वाधिक महत्वपूर्ण धारणा एकान्तिक या प्रेमभक्ति की रही है। भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत पुराणकार ने भक्ति को भागवतरसशास्त्र की संज्ञा दी है, यह भागवतरस अपनी पूर्ण उपलब्धि दशा में भक्तों को प्रेम विभोर कर देती है। नेत्र प्रेमाश्रु से पूर्ण हो जाते हैं, रोम कंटकित हो जाते हैं, मन विह्वल हो जाता है तथा कंठ रुंध जाता है। इसी प्रेम की चर्चा का उल्लेख भागवतकार ने रासपंचाध्यायी के अन्तिम अध्याय में किया है, जिसके अनुसार कृष्ण प्रेम वर्ण, जाति, योनि आदि के विभेद के परे शुद्ध आनन्दमय तथा मुक्तिदायक है। यह प्रेम है, कृष्ण के प्रति सर्वात्म समर्पण का भागवत की भक्ति प्रेम को मूलाधार बनाकर लीला के माध्यम से सांसारिक विषय वासनाओं को कृष्ण के प्रति समर्पण की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार पूर्ववर्ती भक्ति सम्बन्धी संयम की भावना के स्थान पर मध्यकाल में प्रेममूलाभक्ति की प्रधानता हो गयी। मध्यकाल में इस भक्ति के दार्शनिक आचार्यों रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, रामानंद, मध्व

.....

१: १: वाल्मीकि रामायण: बालकांड: पंचदशसर्ग: श्लोक सं. २१,२२

२: वाल्मीकि रामायण: युद्ध कांड : सर्ग ११७ : श्लोक ३०,३१,३२.

से भिन्न अन्य चार आधार और हैं जो रागमूलाभक्ति का पूर्ण समर्थन करते हैं - नारदभक्तिसूत्रकार, शाण्डिल्यभक्तिसूत्रकार, आचार्य रूप गोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती। दो सूत्रकारों ने भक्ति को ज्ञान तथा कर्मयोग से उत्कृष्ट बताकर उसे स्वतः निर्भर एवं उनकी तुलना में श्रेष्ठतम स्वीकार किया। सूत्रकारों के अनुसार ब्रह्म के प्रति उच्चतम प्रेम ही भक्ति है। सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे या सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा भक्ति की प्रेम सम्बन्धी मान्यताओं के पोषक प्रारम्भिक स्वतंत्र ग्रन्थ हैं। शाण्डिल्यभक्तिसूत्र को भक्ति प्रेम का उतना उत्कट समर्थन नहीं करता जितना नारदभक्तिसूत्र नारदभक्तिसूत्र के अनुसार भक्त, भक्ति तथा भक्त की ईश्वरविषयक अनुभूति तीनों ही विलक्षण हैं। ~~भक्त तथा भक्त की ईश्वरविषयक अनुभूति तीनों ही विलक्षण हैं।~~ भक्त तथा भक्त की ईश्वरविषयक अनुभूति की ओर संकेत करते हुए सूत्रकार ने जो मूकास्वादन की दशा दी है और उसका उपभोग कर वह आत्माराम, परितृप्त अमृत आदि की अवस्था प्राप्त कर लेता है। नारदभक्तिसूत्र में मानसिक भक्ति विषयक परितृप्ति की एकादश भूमिकाएं कथित हैं। ये भूमिकाएं क्रमशः कर्मकाण्ड से आरम्भ होकर शुद्ध मानसिक प्रेमासक्ति में अध्यवसित हो जाती हैं: गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति।

रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति के चार भेद हैं: सामान्या, साधनाभिधा भावाश्रिता तथा प्रेमनिरूपिका। प्रेमनिरूपिका भक्ति इनमें श्रेष्ठ है क्योंकि यह भक्ति भक्तों को स्वतः आकर्षित करके अपने वश में कर लेती है, अतः इसका नाम वृष्याकर्षिणी रखा है। इसके दूसरे भेद प्रेमनिरूपिका भक्ति को दो भागों में विभक्त किया है - रागानुगा तथा कामानुगा या सम्बन्धानुगा। रागानुगा भक्ति गोपिकाओं को अत्यधिक प्रिय थी। जिस प्रकार एक स्त्री का सम्पूर्ण वासनासमर्पित प्रियतम के प्रति हो जाता है उसी प्रकार अपने को ब्रह्म में लय कर देना ही रागानुगा भक्ति है। यह भक्ति व्रजांगनाओं को था कामानुगा भक्ति सांसारिक सम्बन्धों का कृष्ण के प्रति आरोपण है। ये सम्बन्ध स्वामी पिता, मित्र, प्रियतम आदि किसी के भी हो सकते हैं - सुबल, नारद, सुदामा आदि की भक्ति इसी श्रेणी में आता है। रूप गोस्वामी ने स्पष्ट रूप से प्रेममूला रागात्मिका भक्ति को गौड़ीय सम्प्रदाय की भक्ति का मूलतत्व बताया

है। इस प्रकार इनको भक्ति का आधार भाव है। यह भाव रागात्मक सम्बन्ध के कारण रति में परिणत हो जाता है यही रति कृष्णरस या भक्तिरस की निष्पत्ति में सहायक होता है।

भक्ति के लक्षणों की ओर संकेत करते हुए इन्होंने भक्ति की भूमिकाओं की ओर भी निर्देश किया है। यह भूमिका इस प्रकार है –

श्रद्धा, साधु संग, भजनक्रिया, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, प्रेम.

यही प्रेम ही भक्ति के सदर्भ में शुद्ध अव्यक्त एवं भागवत का अमृत तत्व है भक्तों के लिए यही एकमात्र उपास्य है[2]।

रूपगोस्वामी की ही भाँति मधुसूदन सरस्वती की भक्ति विषयक धारणा प्रेमाश्रिता ही है। उनके अनुसार भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है। चित्त को ब्रह्म में केन्द्रित करने से उत्पन्न चित्तद्रवता ही भक्ति है। यह चित्तद्रवता स्निग्ध रसिक भक्तों द्वारा कथित रागमूलाभक्ति है। उन्होंने पुनः दूसरे स्थल पर चित्त की ब्रह्मविषयक धारावाहिक एकरूपता को भक्ति के नाम से सम्बोधित किया है। भक्ति की भूमिका का क्रम, उनके अनुसार इस प्रकार है –

महतों सेवा, उनकी याचना, श्रद्धा, हरिगुणश्रुति, रत्यंकुरोत्पत्ति, प्रेमवृद्धि भगवद्धर्म निष्ठा, परमप्रेम की उत्पत्ति, भक्ति उनके अनुसार भक्ति की ये आठ भूमिकाएं हैं[3] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती भी भक्ति के रागात्मक स्वरूप की मान्यता का ही स्थिरीकरण करते हैं।

3774-10
1133

हिन्दी के मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य में प्रेममूलक भक्ति को अधिक महत्ता मिलती है। तुलसी के अनुसार प्रेममूलाभक्ति सर्वोत्कृष्ट है। यद्यपि रामचरितमानस, तथा उनकी अन्य रचनाओं में दास्य एवं नवधा भक्ति का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु जहाँ प्रेममूलाभक्ति का सम्बन्ध सम्मुक्त: तुलसी से अधिक जागरूक कोई भी कवि नहीं मिलता। किन्तु तुलसी की यह प्रेममूला भक्ति रूपगोस्वामी की भाँति रागानुगा नहीं है। इनकी भक्ति के मूल में दास्य की भावना निहित है तुलसी का यह दास्य इतना अलौकिक है एवं सात्विक है

.....

१: भक्तिरसामृतसिन्धु: पूर्वविभाग : लहरी १,२,३ तथा ४.

२: भक्तिरसामृतसिन्धु : पूर्व विभाग : लहरी ४.

३: भागवतभक्ति रसायन : प्रथम उल्लास श्लोक : २,३,४,८ तथा ३३ ३७ तक

कि उसमें दास्य के स्थान पर आत्मविलयन की प्रवृत्ति प्रधान हो उठती है। मानस में उच्च भक्त पात्रों यथा हनुमान, भरत, विभीषण तथा सुतीक्ष्ण के संदर्भ में ये तथ्य स्पष्टतः चरितार्थ होते हैं। सुतीक्ष्ण को राम के प्रति आसक्ति लोमप्रीति से सम्पृक्त है, वह कहता है –

हे विधि दीनबंधु रघुराया ! मो से सठ पर करिहहिं दाया।
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं ! मिलिहहिं निज सेवक की नाईं।
मोरे जिय भरोस दृढ नाहीं ! भगति विरति न ग्यान मन माहीं।
नहिं सतसंग जोग जप जागा ! नहिं दृढ चरन कमल अनुरागा।

भक्ति के इन साधनों के अतिरिक्त उसमें मात्र एक ही भाव है – वह है उच्चतम आसक्ति का।

एक बानि करुनानिधान की ! सो प्रिय जाके गति न आन की।
होइहैं सुफल आजु मम लोचन ! देखि बदन पंकज भवमोचन।

नारदभक्ति सूत्र में कथित तन्मय एवं परम विरहासक्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। राम को कवि मात्र के स्मरण से उसके सात्विक अनुभाव कितने स्पष्ट हो उठते हैं।

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी ! कहि न जाइ सो दसा भवानी।
दिसि अरु विदिस पंथ नहिं सूझा ! को मैं चलेउं कहां नहिं बूझा।
कबहुंक मुनि पाछे मुनि जाहीं ! कबहुंक नृत्य करहिं गुन गाहीं।

भक्त प्रेम की यह उत्कट मानसिक अनुभूति उसके इष्ट राम से छिपी न रही। वे स्वतः उसके कृत्य पर मुग्ध हो जाते हैं –

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई ! प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई।

स्वतः कवि को सुतीक्ष्ण की यह भक्ति अत्यधिक प्रिय है। यही कारण है कि वह उसे अविरल प्रेम भक्ति की संज्ञा देता है। सूर की भक्ति भी प्रेमलक्षणा प्रधान है। सूरसागर में अनेकानेक पद उनकी प्रेममूलक भक्ति की विलक्षणता के द्योतक हैं। सूर की भी तुलसी की भाँति दैन्य, आत्मनिवेदन आदि की भक्ति

.....

१ : रामचरित मानस : अरण्य काण्ड दोहा सं. ८, ९ .

प्रिय नहीं थी। क्योंकि आचार्य वल्लभ के शब्दों से उनका विधिमार्ग छूट चुका था। वे भक्ति के विषय में विशुद्ध प्रेममार्गी थे। 'चित् बुद्धि संवाद' उनकी भक्ति का प्रतिनिधि उदाहरण है। मिलन की ऐसी स्थिति होती है जहाँ न प्रेम है, न विरोध, जहाँ न भ्रम है न मोह। वह स्थल सात्विक प्रकाश का पुंज है। जहाँ जरामरण का भय नहीं है, निगम रूपी भृंग गुंजार करते रहते हैं। और जहाँ आत्मा भक्तिरूपी अमृत रस का पान करती रहती है। वह स्थान ऐसा है जहाँ निरन्तर लक्ष्मी के साथ विष्णु क्रीडा किया करते हैं। उस प्रेममूला भक्ति की तुलना में विषयरस तुच्छ है। इस प्रकार के संदर्भ में कवि ने प्राय: भौतिक विषय रसों से इसकी तुलना की है —

अब न सुहात विषयरस छीलर वा सुख का बास। ३३७
देखि नीर जु छिलछिलो जग, सुझि कछु मन माहिं।
सूर क्यों नहीं चले उडि तेह, बहुरि उडिबो नाहिं। ३३८

सुनि मधुकर प्रभ तजि अनुदिन, को राजिवदर को आस।
अब प्रेम सिंधि में मज्जित, तहँ तजि करै निवास। ३३९

सूर की यह भक्ति सात्विक प्रेम प्रधान थी उसकी तुलना में सांसारिक प्रेम तुच्छ, असंयत, अनस्थायी एवं गर्हित है।

सूरदास ने अपने पदों के अन्त में प्राय: इस प्रेममूला भक्ति की उत्कटता की ओर संकेत किया है। उनके ये कथन उनकी उच्च भक्ति विषयक मन: स्थिति की ओर संकेत करते हैं।

अब / तुम्हारो सब भक्तनिवारन, पावन पतित कहावत आने।
सूरदास प्रभु भाव भक्ति के अतिहित जुगति हाथ बिकाने।

अति अमृति, अब ज्ञान, कहत मुनि विचारा।
सूरदास प्रेम कथा सबहीं ते न्यारा।

.....

१: सूर सागर पद सं ३३७, ३३८, ३३९

धनि गोकुल धनि धनि ब्रज वनिता निरखत स्याम बधावै ॥
सूरदास प्रभु प्रेमहि के बस , सेवनि हू रस दिखावै ।[1]

इस प्रकार की प्रेममूला भक्ति कृष्ण की ओर पर आश्रित है। सौन्दर्य सिद्धान्त निरूपण के सम्बन्ध में इन कवियों की प्रेम सम्बन्धी धारणाओं का पुनः अध्ययन किया जावेगा -

सूरदास के अतिरिक्त नन्ददास , परमानन्ददास , हितहरिवंश तथा हरिराम व्यास विशेष रूप से इस प्रेम भक्ति का स्पष्टीकरण करते हैं। व्यास ने सिद्धान्त पदों में भक्ति को चार भागों में विभक्त किया है -उत्तम , मध्यम कनिष्ठ तथा अधम । उत्तम भक्ति साध्यमूलक प्रेमभक्ति है , जो भक्त कवियों के लिए एकमात्र उपास्य है[2] । रामभक्ति के रसिकोपासकों में प्रेम की धारणा अत्यधिक तीव्र है । नाभादास कृत भक्तिरसबोधिनी टीका तथा सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थों में भक्ति प्रेम का उत्कटता सिद्ध करके उसे रस की कोटि तक स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु की भाँति वहाँ भी भक्ति विग्रह में शान्त , दास्य , वात्सल्य , सख्य , शृंगार को भक्ति रस का प्रमुख अंग बताया गया है , तथा इसके विपरीत काव्य के सात रस वीर , रौद्र , अद्भुत , भयानक , करुण , वीभत्स तथा हास्य को गौण बताया गया है । रस निष्पत्ति , रसविरोध , मैत्री- रसों की तटस्थता तथा रसाभास आदि की सम्पूर्ण स्थितियाँ ठीक रूपगोस्वामी पर ही आधृत[3] हैं। हरिदासी तथा हरिव्यासी सम्प्रदाय तक पहुँचते पहुँचते यह प्रेम भौतिकता के स्तर पर पहुँच गया । हरिदास ने भक्तों के लिए प्रेम भौतिकता के समीप तक पहुँचा दिया। इस प्रकार पूर्वी कृष्ण एवं राम भक्ति साहित्य में भक्तिनिष्ठ प्रेम हीनस्तर का हो गया । उसकी सात्विकता को रक्षा इन कवियों द्वारा नहीं की जा सकी ।

.....

१: सूरसागर पृ. सं. ६६८ , १०१२, १०११

२: भक्त कवि व्यास जीवन तथा पदावली के सिद्धान्त के पद .

३: हिन्दी रामकाव्य में रसिकोपासना भगवतप्रसाद सिंह पृ. २५३

लीला

लीला शब्द की व्युत्पत्ति 'ली' धातु में 'किप' सम्पादनार्थ प्रत्यय शब्द से हुई है। जिसका वाच्यार्थ क्रीडा, विलास केलि, शृंगार भाव चेष्टा आदि से है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार लीला भारतीय मतों को सबसे ऊंची कल्पना है[1]। वस्तुत: लीला शब्द सगुणोपासना के साथ ही अधिक विकसित हुआ आरम्भ में ब्रह्म विषयक लीला का अर्थ प्रपंच से था मध्यकालीन काव्य में वर्णित लीलाएं भी ब्रह्म के प्रपंच के ही रूप में हैं, किन्तु उसका आधार अत्यधिक उदात्त है। भक्ति के संदर्भ में देखा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति का आरंभिक स्वरूप क्रियाकांडमूलक था। वही विकसित होकर आसक्ति का रूप बना। वैष्णव भक्ति के आरम्भिक स्वरूप में कर्मकांड के साथ साथ एक मनोवृत्ति को और भी प्रधानता मिली थी वह है शान्त। शान्त विषयक निर्वेद आदि के मनोविकार धार्मिकता के प्रभाव से अंकुरित होते हैं। फलत: इस निर्वेद को वैष्णवी क्रियाकांड में निहित भक्ति का आधार बनाया गया। आगे चलकर आसक्ति या रागमूलक भक्ति का विकास हुआ इस आसक्ति का तात्पर्य था इष्ट की अधिकाधिक सन्निकटता की प्राप्ति। इस सन्निकटता की प्राप्ति के लिए दास, माता, पिता, पुत्र, मित्र एवं कान्ता सभी सम्बन्धी लौकिक सम्बन्धों का अपने भक्ति का एक मात्र अंग बन गया। रूपगोस्वामी ने इसी सम्बन्ध के आधार पर भक्ति को भी सम्बन्ध स्वरूपा बताया। यह सम्बन्ध आराध्य को किस प्रकार लक्षित करके आराधना का विषय बनाया जाय इसी की पूर्ति के लिए लीला की योजना की गई.

लीला शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में ~~मिलता~~ हुआ है, यह आरम्भ में नाट्य रस के संदर्भ में मिलता है। जहां इसकी गणना अर्थालंकार के रूप में की गई है। लीला का दूसरा अर्थ विलास चेष्टा से है जिसका प्रयोग कामशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। लीला का तीसरा अर्थ क्रीडा से है, इस क्रीडा शब्द का प्रयोग पुराणों में श्रीकृष्ण की लीला के सम्पादन के अर्थ में है[2]। इस अर्थ में

.....

१: मध्यकालीन धर्म साधना पृ. १४३

२: डॉ० सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्त : पृ २७ प्रस्तुत प्रबन्ध

लीला शब्द का प्रयोग अत्यधिक गूढ़ है।प्रस्तुत विवेचन का सम्बन्ध लीला के इसी अर्थ से है।वैष्णव भक्ति काव्य के संदर्भ में लीला दो प्रकार की कही गई है-प्रत्यक्ष लीला तथा परोक्ष लीला।प्रत्यक्ष लीला का सम्बन्ध अवतार से है तथा परोक्ष का सम्बन्ध विष्णुलोक से। रूप गोस्वामी का विचार है कि प्रत्यक्ष लीला के अवसर पर परोक्ष लीला का भाव निहित रहता है।इसका आशय लीला के आध्यात्मीकरण से है।तात्पर्य यह कि कृष्ण के सन्दर्भ में परोक्ष गोलोक की लीला व्रज में सम्पन्न होती है। कृष्ण विष्णु एवं राधा लक्ष्मी हैं।कृष्ण के अष्ट सखा विष्णु के सहचर एवं लक्ष्मी की अष्टसखियाँ सहचरी हैं।वृन्दावन ही गोलोक है।इस प्रकार सम्पूर्ण लीला यहाँ आध्यात्मिक अर्थ में परिवर्तित हो जाती है।इस दृष्टि से प्रत्यक्ष लीला परोक्ष लीला की आभासक है।[2] परीक्षित को शुक के मुख से कृष्ण तथा गोपी की इस लीला को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ था उन्होंने आश्चर्य पूछा -

आप्तकाम यदुपति : कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं न: संशयं छिन्धि सुव्रत ॥[3]

हे सुव्रत ! मेरे संशय का विनाश करो कि आप्त काम यदुपति कृष्ण ने इतना गर्हित कार्य विलास लीला क्यों किया, इसका अभिप्राय क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेव ने बताया कि धर्म अभिप्राय में ईश्वर की लीला दूषित नहीं होती। वस्तुत: यह लीला धर्म के अभिप्राय से संपुटित थी।उन्होंने बताया कि सांसारिक सम्बन्धों से कृष्ण की प्राप्ति तो सहज है। फलत: गवार गोप बन्धुओं की मुक्ति का हेतु ज्ञानादि कैसे हो सकती है। यह ईश्वर का जीवों पर अनुग्रह है जिसके कि भक्ति को इतना सामान्य बनाकर समस्त लोकजनों के लिए सुगम कर दिया जो कृष्ण की इस लीला में तल्लीन होता है या श्रवण करके इसके रहस्य को समझता है, वह माया मोह में कभी भी नहीं पड़ता[4]। इस प्रकार कृष्ण की विलास लीला का आवरण आध्यात्मिकता से

.....

१: लक्ष्मीसहस्र सहित होत नित क्रीडा सोभित ब्रजदास

२ : अब न उहात विषय रस होरा वा सुख को आस .

३ : भागवत दशम स्कन्ध त्रयस्त्रिंशो अध्याय : श्लोक २६

४: भागवत दशम स्कन्ध : त्रयस्त्रिंशो अध्याय : श्लोक ३६ ३८ तक

आच्छादित था / उसमें किसी भी प्रकार की वासनात्मक गन्ध नहीं थी।
एस. के. डे. महोदय ने चैतन्य सम्प्रदाय की कृष्णलीला को इसी आध्यात्मिक परिवेश का प्रतिफल माना है। उनके अनुसार लीला की स्थिति में कृष्ण विष्णु के स्वरूप प्रगट होते हैं -

१ स्वयं रूप
२ तदेकात्मरूप
३ आवेश.

स्वयंरूप - की स्थिति में वे विष्णु लोक में रहते हैं। उनका तदेकात्मकरूप लीला की स्थिति में प्रगट होता है। यह स्वरूप विश्व के भरण पोषण एवं नियंत्रण में आवश्यक होता है। साथ ही अनेक आकृतियों के माध्यम से विश्व में प्रकट होता है कृष्ण राम आदि के अवतार इसी रूप में हैं। इसके दो भेद हैं-विलास तथा स्वांश। स्वांश की स्थिति में वे स्वतः अपने अंशों में ही सीमित रहते हैं किन्तु विलास की स्थिति में उनकी शृंगार लीलाएँ होती हैं। डे महोदय का कथन है कि परवर्ती चैतन्य सम्प्रदाय में यह लीला नित्य नन्द के नाम से पुकारी जाती थी। यह ब्रह्म के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला भक्त का मानसिक आवेश है। ज्ञान शक्ति तथा भक्ति में तीन आवेश भक्ति सम्प्रदाय में स्वीकृत हुए। इस प्रकार ब्रह्म की लीला उसके तदेकात्म रूप से पूर्ण होती है और भक्ति आवेश से पुष्ट। इसी लीला से सम्बन्धित विष्णु के अवतार भी होते हैं - जिन्हें लीलावतार कहा जा सकता है। भागवत में कथित विष्णु के २४ अवतार लीला से ही सम्बन्धित हैं।

ब्रज की कृष्ण लीला तथा उसके सम्पर्क में आने वाले विषयों को ध्यान में रखकर इस ४ भागों में विभक्त किया गया है - दास्य सख्य वात्सल्य तथा माधुर्य। इसमें मधुर लीला भक्त कवियों को अधिक प्रिय रही है लीला की दृष्टि से कृष्ण भक्तिकाव्य का वर्ण्य विषय इस प्रकार प्राप्त होता है।

.....

दास्य विषयक पद कवियों की आत्म विगर्हणा से अधिक सम्बन्धित है उसका सम्बन्ध अवतारों से है -

वात्सल्य इस भाव के अन्तर्गत निम्न श्रेणियों से पद प्राप्त होते हैं जन्म, बधाई, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णभेद, झूमनोत्थित, कलेऊ, पलना मुखदर्शन, बाललीला, मृत्तिका भक्षण, दधि मंथन, ऊखल बंधन आदि। इससे अधिक संख्या सख्य विषयक पदों की है गोचारण, हाक, खेल, यमुना तट पर कन्दुक क्रीडा, माखन चोरी, वेणु वादन, गोदोहन, वनचारण, विनोद आदि के पदों को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

मधुर : इस भाव से सम्बन्धित पदों की संख्या कृष्ण भक्ति काव्य में अधिक है। मिलन, दर्शन, प्रेम, कुंज केलि, मिलन विहार, दाम्पत्य प्रेम, नवविलास रति, प्रियमिलन, सुरतान्त, अंग प्रत्यंग वर्णन मान लेखा, वस्त्र स्पर्श शृंगार वर्णन, आदि से सम्बन्धित पद कृष्ण भक्ति काव्य के प्रमुख अंग हैं।

इन लीलाओं के अतिरिक्त व्रताचरण से सम्बन्धित पद भी प्रायः प्रत्येक कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय में मिल जाता है। आचरण के अंदर में इनका संकेत किया जा चुका है। लीला के अंदर में भी इनका अधिक महत्व है - फाग, होली गनगौर, राखी, वसंत, वर्षा विनोद आदि से सम्बन्धित पद मात्र आचरण परक न होकर कृष्ण की शृंगार लीला को भी पुष्टि करते हैं।

कृष्ण काव्य की भाँति रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत लीला विषयक यही भावना देखी जा सकती है। तुलसी के मानस में वात्सल्य का पूर्ण परिपाक मिलता है किन्तु वहाँ सख्य एवं मधुर भाव नहीं है। गीतावली में मधुर तथा सख्य भाव के संकेत मात्र मिलता है। रसिकोपासकों में मधुर भाव का उसी तरह विधान है जिस प्रकार कृष्ण काव्य में वे भी वर्षोत्सव तथा नित्यलीला के भावों को आधार बनाकर रामोपासना का समर्थन करते हैं। सम्प्रदाय मुक्त कवियों में मीरा के पदों की स्थिति कुछ भिन्न है। वे कृष्ण की सभी लीलाओं का उल्लेख करती हैं, मधुर को छोड़कर समस्त लीलाओं में भक्तिभाव प्रधान है किन्तु जहाँ मीरा में मधुर भाव का आवेश होता है वहाँ वह उनकी वैयक्तिक रति का अंग बन जाता है। यह स्थिति रहस्यवाद एवं लोकोत्तर आनन्द से भिन्न

है। रहस्यवाद के अन्तर्गत आराध्य सगुण नहीं है किन्तु मीरा सगुणोपासक हैं। अतः इस दृष्टि से मीरा वही भाव आरोपित करती हैं, जो रहस्यवादी कवि लीला जन्य आनन्द आरोपित आनन्द है। किन्तु मीरा का आनन्द उनकी प्रत्यक्ष ईश्वर विषयक ~~आरोपित आनन्द है~~ : रति से प्रेरित है।

इस प्रकार मध्यकालीन भक्ति काव्य में लीला एवं प्रेम विषयक अनेक विकसित एवं मार्जित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं इस प्रकार

~~इस प्रकार~~ मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में जहाँ तक मूल्यों का प्रश्न है वे तीन हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये भक्त कवि अपने मत की पुष्टि के लिए दार्शनिक आधार रखते हैं। यह दार्शनिक आधार विद्वज्जन के बीच प्रतिष्ठित होने के लिए सबल आधार था। इसी के आधार पर आचार्य वल्लभ ने दिग्विजय प्राप्त की थी। शेष अन्य आचार्य एवं भक्त अपने काव्य में तत्व चर्चा को अपने काव्य का स्पष्ट मूल्य घोषित करते हैं। इस रूप में सूर तुलसी नन्ददास, हरिदासी, हरिव्यासी, गौणीय संप्रदाय तथा सभी कवियों ने अपने काव्य में सिद्धान्त चर्चा अवश्य की है। इनके काव्य के दूसरे मूल्य नैतिक सदाचरण के हैं, नैतिक सदाचरण के सम्बन्ध सामाजिक एवं वैयक्तिक पवित्रता से है। इस पवित्रता के अभाव में धार्मिकता का अभ्युदय सम्भव नहीं है। इनका तीसरा मूल्य भक्ति एवं लीला है। भक्ति उनके दृष्टिकोण से ~~सर्वोच्चतम~~ सामाजिक वैयक्तिक मूल्य है इस मूल्य के अभाव में समाज एवं व्यक्ति दोनों मुक्ति एवं आत्मोद्धार से वंचित रह सकते हैं। इस प्रकार इनके ये मूल्य सामाजिक तथा वैयक्तिक हित से ही पूर्ण सम्बद्ध हैं।

काव्यदृष्टि

उद्देश्य धार्मिक, नैतिक एवं भक्ति विषयक धारणाओं के साथ साथ इन कवियों का काव्य विषयक दृष्टिकोण अधिक महत्वपूर्ण है यह सत्य है कि ये भक्त हैं, इनका मूल प्रतिपाद्य भक्ति से सम्बन्धित है किन्तु यह भी सत्य है कि अपने दृष्टिकोण को सर्वव्यापी बनाने के लिए इन्होंने काव्य का आधार लिया है वैदिक परम्परा से सम्बद्ध कार्यों के विषय में जो तर्क दिये गये हैं, वही इन पर भी चरितार्थ होते हैं इनकी काव्य दृष्टि कलावादी न होकर हितवादी है यह सत्य है कि कलावाद के प्रबल समर्थक इनके काव्य को मध्यम श्रेणी का काव्य कहेंगे किन्तु उनका मत एकांगी समझा जा

सकता है ।आज का साहित्य दो भागों में विभक्त है –
१ हितवादी या उपयोगितावादी साहित्य २ कलावादी साहित्य ।
१-उपयोगितावादी साहित्य का समर्थक मानव हित को काव्य का उच्चतम गुण स्वीकार करता है । इस दृष्टि से मानव कल्याण से सम्बन्धित सामाजिक आदर्श के पोषक मूल्य उपयोगितावादी साहित्य के प्रधान अंग हैं ।हिन्दी भक्त कवियों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके पहले कहा जा चुका है कि इस साहित्य में उच्चतम सामाजिक शुभ मूल्यों की स्थापना मिलती है। यह शुभ मूल्य धार्मिकता एवं नैतिकता से प्रेरित है। इनके काव्य का अधिक अंश इसी से सम्बन्धित है । २-कलावादी साहित्य का मूल उद्देश्य कला के द्वारा कलात्मक तत्वों का पोषण एवं कलाजन्य आनन्द से परितृप्ति प्राप्त करना है । इस दृष्टि से कलात्मक ~~आनन्द~~ आनन्द को कृति या अभिव्यक्ति के आनन्द से पृथक नहीं किया जा सकता वैष्णव भक्त कवि भी भाव एवं अभिव्यक्ति दोनों क्षेत्रों में आनन्द मूल्य के समर्थक हैं। लीला उनके आनन्द का मूल आधार है किन्तु वैष्णव भक्ति भक्तिकाव्य में स्वीकृत आनन्द कलानन्द से तीव्र एवं भिन्न है ।कला का आनन्द मात्र मानसिक सन्तोष है यह सन्तोष कला की क्रीडामूलक प्रक्रिया पर आधारित है । किन्तु भक्तिकाव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द है ।यह आनन्द क्रीडा से प्रेरित न होकर भक्त कवियों के मनन का अनिवार्य अंग है ,क्योंकि यह उनकी दैनिक चर्या एवं जीवन गत एकनिष्ठ लक्ष्य पर आधारित है ।

<u>अभिव्यक्ति</u> काव्य होने के लिए अभिव्यक्ति पक्ष की अनिवार्यता अपेक्षित है। इस दृष्टि से अभिव्यक्ति को सुष्ठु एवं मार्जित बनाने वाले मूल्य इसके लिए आवश्यक हो जाते हैं ।भक्ति काव्य में कला विषयक अतावधानता नहीं मिलती । कलात्मक सजगता का पूर्ण परिचय यहाँ प्राप्त है ।इनके काव्य का मुख्य विषय उपयोगिता या हितवाद है । फलतः ये अभिव्यक्ति पक्ष के लिए प्रयुक्त होने वाले काव्य अंगों को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं ।काव्य के बाह्य पक्ष रस , अलंकार , ध्वनि , रीति , वक्रोक्ति ,औचित्य , छन्द आदि सभी कुछ इनके काव्य में अभिव्यक्ति के अंग बनकर प्रयुक्त हुए हैं । यही नहीं इन कवियों ने अनेक स्थलों पर इनकी साधनभूतता की ओर संकेत भी किया है । तुलसी , सूर , नन्ददास , नाभादास , आदि अनेक कवि संस्कृत को

काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत मूल्यों की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। इस दृष्टि से इनका काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने आप में स्पष्ट एवं झुलझा हुआ प्रतीत होता है।

अभिव्यक्ति पक्ष में काव्यसाधनों के साथ इन कवियों ने एक और भी समस्या उठायी है। क्या लौकिक प्रेम के स्थान पर ईश्वर विषयक प्रेम को काव्य का विषय बनाया जा सकता है? फलतः इस दृष्टि से इनकी सारी काव्य सामग्री संस्कृत काव्य में प्रेम के लिए प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के बीच से गृहीत की गई है इसके अन्तर्गत लौकिक शृंगार की ही भाँति नायक नायिका, दूत, दूती, संयोग, वियोग, उसके समस्त भेद तथा इसमें प्रयुक्त होने वाले समस्त विभाव, अनुभाव, संचारिभाव को काव्य का वर्ण्यविषय बनाया। कलात्मक दृष्टि से इनके निरूपण में प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय परिभाषाओं के पालन में कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती। शृंगार के मान को संस्कृत साहित्य में उपलब्ध किसी मानजन्य विरह दशा से घटकर नहीं कहा जा सकता। विरह के अरति एवं अरत्यन्त वर्णनों में काव्यशास्त्रीय विदग्धता वर्तमान है। तुलसी तथा सूर के ऐसे प्रसंग वर्णन की तुलना संस्कृत के किसी भी सशक्त कवि से बिना झिझके की जा सकती है। फलतः उद्देश्य एवं अभिव्यक्ति सम्बन्धी मूल्यों की दृष्टि से सभी कवियों में काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को सम्पूर्ण समग्रता मिलती है। इसके विस्तार के लिए भक्तिकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन शीर्षक अध्याय द्रष्टव्य है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्पराएं एवं प्रवृत्तियां

भारत में काव्य सम्बन्धी व्यवस्था के नियोजन के हेतु जिस शास्त्र की उद्भावना की गई, उसे काव्य शास्त्र के नाम पुकारा जाता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इसका नाम 'साहित्य विद्या' बताया है। उनके अनुसार यह नाम यायावरीय आचार्य द्वारा दिया गया था। कतिपय विद्वान् इसकी उपाधि को ही यायावरीय बतलाते हैं। साहित्य विद्या के पूर्व इसका नाम अलंकार शास्त्र मिलता है। भामह दंडिन, एवं रुद्रट अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में करते हैं। उनके अनुसार काव्य के व्यवस्थासूचक शास्त्र को अलंकार शास्त्र कहना चाहिए। इसके पूर्व काव्यशास्त्र के लिए क्रियाकल्प शब्द का व्यवहार मिलता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार भारतीयों ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत नहीं की है। उनका विचार है कि भारत में काव्य की गणना कला के अन्तर्गत कभी भी नहीं की गई थी। किन्तु वात्स्यायन के कामसूत्र में क्रियाकल्प शब्द का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन के प्रसिद्ध टीकाकार जयमंगल ने क्रियाकल्प शब्द की इस प्रकार से व्याख्या की है। क्रियाकल्प इति व्याकरण विधि। काव्यालंकार इत्यर्थः[2]

इस क्रियाकल्प शब्द का प्रयोग अनेक आरम्भिक संस्कृत की रचनाओं यथा नाट्यशास्त्र, पाणिनीय व्याकरण, वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत आदि में मिलता है। ये समस्त ग्रंथ काव्यरचना प्रक्रिया का ही बोध कराते हैं। काव्यशास्त्र के लिए प्रयुक्त इन समस्त शब्दावलियों से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र भी अन्य शास्त्रों की भांति पूर्णरूपेण काव्य की वस्तुनिष्ठ व्यवस्था का नियोजक शास्त्र था भारतीय साहित्येतिहास के आरम्भ काल से लेकर अबतक किसी न किसी रूप में आधुनिक भारतीय काव्यों तक को भांति विधि नियोजित है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य पर इसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। फलतः इस काव्य के संदर्भ में संस्कृत की काव्यशास्त्रीय प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना आवश्यक है। संक्षेप में भारतीय काव्यशास्त्र को निम्नवत् तो दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१: काव्य की पृष्ठ भूमि का अध्ययन :

२: काव्य की मूलात्मा की खोज :

१: चिन्तामणि: भाग .२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ.१४० .

२: वात्स्यायन : कामसूत्र १ .३ .१६

समूची भारतीय काव्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताएं इन्हीं दो प्रयोजनों में समाविष्ट हैं। काव्य का सम्पूर्ण विषयवस्तु के सम्बन्ध में यशास्तिलक में इस प्रकार का श्लोक कहा गया है :

त्रिवर्गे वैद्यविद्यायां पंचशास्त्रे चतुरङ्गदम् ।
योगे मोक्षे नवच्छाये दशरूपे च काव्यकृत[१] ।

अर्थात् काव्यशास्त्र के अन्तर्गत त्रिवर्ग लोक वेद आध्यात्म विषयक प्रयोजन द्विसन्धोत्थाने शब्दार्थ रूप काव्य लक्षण पंचशास्त्रं पंचवृत्तियां, चतुरङ्गं अलंकारवादी ४ सम्प्रदाय, नवच्छा नवरस, दशरूपम् दशरूपम् अध्ययन के विषय हैं।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रयोजन, काव्यलक्षण, वृत्तियां, सम्प्रदाय, रसमीमांसा एवं गुणों का अध्ययन किया जाता है। इसमें प्रयोजन तथा काव्यलक्षण का सम्बन्ध काव्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है। उपरोक्त रूप में काव्यहेतु विषयक प्रश्न[२] नहीं उठाया गया है, जब कि भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि के लिए वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। वृत्तियां, सम्प्रदाय एवं गुण आदि का अध्ययन काव्य की मूलात्मा से सम्बन्ध रखता है।

क : काव्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन : काव्य की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्यमूल्यों एवं काव्यरचनाप्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्न उठाया : इसके अन्तर्गत रखे जाने वाले निम्न प्रश्न थे।

१: काव्य क्या है :
२: काव्य के प्रयोजन क्या है :
३: काव्य रूप कौन कौन से है :
४: काव्य रचना की प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण क्या है :
अर्थात् काव्य हेतुविषयक प्रश्न :

.....

१: उद्धृत : हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स पी० वी० काणे, पृ. ३४८ .
२: द डाक्ट्रिन आव प्रतिभा इन इंडियन पोएटिक्स . म. म. पं.गोपीनाथ कविराज, एनाल्स भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट .भाग ५

काव्य क्या है : काव्यशास्त्रियों ने मूलात्मा तथा परिभाषा का निर्देश करके प्राय: इसी प्रश्न को उठाया है। भामह के अनुसार शब्दार्थ सहित शब्दावली काव्य है[1]। शब्दार्थ सहित शब्दावली के ऊपर आक्षेप करते हुए डॉ० अशोक कुमार दे ने आक्षेप किया है कि यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। क्योंकि समस्त लिखित क्रियाएँ चाहे वे काव्य हों या न हों शब्दार्थ सहित ही हैं। वस्तुत: भारतीय अलंकार क्रिया की उत्पत्ति व्याकरण शास्त्र से हुई थी। यही कारण है कि काव्य की प्रारम्भिक परिभाषाएँ प्राय: पूर्णरूपेण वस्तुनिष्ठ व्याकरण के मूलतत्व शब्द एवं तत्सम्बन्धी अर्थ पर ही आधित हैं[2]। शब्द एवं अर्थ परस्पर वाच्य तथा वाचक सम्बन्धी अर्थसम्बन्ध से से युक्त हैं। समस्त क्रिया व्यापार वाच्य एवं वाचक के ही कौशल हैं। शब्दार्थ को काव्य कहने की परम्परा बहुत दिनों तक प्रचलित रही। रुद्रट तथा वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने भामह की ही परिभाषा दुहराई है। शब्दार्थ के सम्बन्धी काव्य परिभाषाओं को लेकर एक अत्यन्त रोचक निबन्ध इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ५ में प्रकाशित है[3]। भामह के परवर्ती आचार्यों ने उनकी परिभाषा के दोष को समझकर काव्य को मात्र शब्दार्थ न मानकर विशिष्ट शब्दार्थ युक्त बताया। तात्पर्य यह कि अन्य विधाओं से काव्य को पृथक रखने के लिए उसके पूर्व विशेषण का प्रयोग किया। सर्व प्रथम काव्यादर्श के प्रणेता आचार्य दंडी ने कहा कि इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली शब्दावली शरीर मात्र है। शरीरं तावदिष्टार्थ[4]: यह शरीर आत्मावान् तब होती है जब उसे रीति से संयुक्त किया जाय, और यह रीति विशिष्ट पद रचना है। इस प्रकार विशिष्ट पदरचना से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है। विशेष या विशिष्ट के लिए उन्होंने गुण शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार रीति की आत्मा गुण है। और यही गुण काव्यात्मा भी है। अग्निपुराण की परिभाषा भी इसी प्रकार की है। इष्टार्थ को प्रकट करने वाली शब्दावली से युक्त वाक्य जिसमें संक्षिप्त रूप से अलंकार हो तथा वह गुण एवं दोष से रहित हो काव्य है[5]। इस परम्परा में काव्य परिभाषा का विकास मम्मट एवं

.....

१: भामह १: १६

२: सम प्राब्लम्स इन संस्कृत पोएटिक्स एस. के. डे. पृ. २, ३, कलकत्ता १९५९.

३: देखिए इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली भाग पृष्ठ २०५ पर के आचार्य का निबन्ध : कॉलिन कार्ट्स :

४: काव्यादर्श १. १०.

५: अग्निपुराण : अध्याय ३३७ श्लोक ९०

जयदेव तक मिलता है । मम्मट के अनुसार दोषरहित शब्दार्थ काव्य है किन्तु कभी कभी वह अलंकार रहित हो सकता है । जयदेव ने अग्नि की उष्णता की भाँति शब्दार्थ युक्त अलंकार को काव्य का अनिवार्य गुण बताया है । मम्मट द्वारा कथित शब्दार्थ अपने पूर्व विशेषण जोड़ता हुआ चला गया हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में शब्दार्थ के तीन विशेषण गिनाये हैं अदोषौ , सगुणौ तथा सालंकारौ अर्थात् दोषरहित: गुण सहित एवं अलंकार युक्त ।

काव्य की ये परिभाषाएँ वस्तुनिष्ठतावादी आचार्यों द्वारा दी गई हैं । ये आचार्य काव्य के द्वारा व्यंजित अर्थ के ही पोषक थे । तथा काव्य को मात्र कलात्मक स्तर पर ही स्वीकार करना चाहते थे । इनके अनुसार काव्य में रीतिवृत्ति की प्रमुखता स्वीकृत थी । फलत: शब्दार्थ पोषक परिभाषाएँ अलंकार रीति एवं वक्रोक्ति सम्प्रदाय में ही मिलती हैं । इनके विपरीत संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में एक और भी सम्प्रदाय था जो काव्य को क्रीडा व्यापार न मानकर मानव मस्तिष्क की भावात्मक प्रक्रिया का फल स्वीकार करता था । इनमें ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त तथा रसवादी आचार्य विश्वनाथ कविराज एवं पंडितराज जगन्नाथ हैं । ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत दोनों सिद्धान्तों को समन्वित करते प्रतीत होते हैं ।

अभिनवगुप्त के अनुसार रसविहीन काव्य उत्तम कोटि के काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता । उन्होंने काव्य के अन्य सम्प्रदायों को मात्र रसाभिव्यक्ति का साधन बताया है । काव्य का साध्य रस है तथा अलंकार रीति गुण एवं वक्रोक्ति आदि उसके पोषक साधन[१] । कविराज विश्वनाथ की परिभाषा के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है । यद्यपि इस परिभाषा की अनेक टीका टिप्पणियाँ की गईं किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र में यह पहली परिभाषा थी जिसने काव्य का सम्बन्ध मानव मनोवेगों से जोड़ा । पंडितराज जगन्नाथ ने इस परिभाषा को और भी अधिक पुष्ट करते हुए रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दार्थ को काव्य कहा । रमणीयार्थ के अन्तर्गत वस्तु एवं रस दोनों की व्यंजनाएँ निहित हैं ।

इस प्रकार संस्कृत की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं में वस्तुनिष्ठता एवं व्यक्तिनिष्ठता दोनों तत्व प्राप्त हो जाते हैं । वस्तुनिष्ठ काव्यतत्वों के पोषक अलंकार , गुण , रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय है एवं व्यक्तिनिष्ठता के पोषक रस

.....

१: ध्वन्यालोकलोचन : द्वितीय उद्योत: कारिका २१ की व्याख्या

एवं ध्वनि सम्प्रदाय ; दंडिन् ने रस को अलंकार के ही अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है । किन्तु प्रेयस् रसवत् ऊर्जस्वत् आदि के द्वारा काव्य से प्रभावित होने वाले मानव मस्तिष्क के मनोवेगों को सुचित व्याख्या वे न कर सके । रसवादी आचार्यों ने काव्य के वस्तुनिष्ठ तत्वों को हेयदृष्टि से देखा है[1] : किन्तु इस दिशा में आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के प्रयत्न अधिक महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं । इस विषय के सम्बन्ध में उनका प्रतिपाद्य यही रहा है कि काव्य की आत्मा रस है, रस काव्य के अन्यवस्तुनिष्ठ तत्व सहायक कारणमात्र ।

काव्य प्रयोजन क्या है : काव्य परिभाषा के बाद इन आचार्यों ने काव्य प्रयोजन की चर्चा की है । काव्य का मुख्य प्रयोजन क्या हो । यह इस विषय का महत्वपूर्ण प्रश्न था । इसके विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा द्वितीय अध्याय में की गई है। संस्कृत के काव्य अधिकाधिक राजाश्रय में प्रणीत हुए हैं । राजाश्रय के अन्तर्गत किये जाने वाले काव्यों में सम्मान की प्राप्ति एवं प्रेक्षात्मक रुचि के लिए चमत्कारबहुल शब्दावली तथा क्रीडा सम्बन्धी प्रवृत्तियों की प्रधानता मिलती है। इसका स्पष्ट प्रभाव काव्य प्रयोजनों के ऊपर देखा जा सकता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के निम्न प्रयोजन प्राप्त होते हैं :

१: काव्य के द्वारा चतुर्वर्ग पुरुषार्थों की प्राप्ति ।
२: प्रीति की उद्भावना
३: कीर्ति या यशप्रचार की भावना ।
४: धनार्जन
५: शिवेतरक्षतियों से रक्षा
६: राजाश्रय की प्राप्ति तथा उनका कृपा पात्र बना रहना ।
७: सरसता की उद्भावना ।
८: कुछ सामान्य प्रयोजन भी थे, जिनको प्रति अकाव्य या धार्मिक काव्य किया करते थे : धर्म प्रचार, व्याधिरक्षा एवं दंड रक्षा इनका मुख्य प्रयोजन था ।[2]

अपने मूलरूप में संस्कृत के अधिकतर आचार्य कलावादी मूल्य के समर्थक थे: उनके काव्य का मुख्य प्रयोजन कलात्मकता का संरक्षण था । कीर्ति, धनार्जन, प्रीति तथा सरसता की उद्भावना उद्देश्य कलावादी मूल्यों से सम्बन्ध रखते हैं । धनार्जन एवं

.....

१: देखिए सम कान्सेप्ट्स आव अलंकार शास्त्र, वी० राघवन् का निबन्ध द्वय एन्ड इट्स रोल आव अलंकार इन संस्कृत :

२: भामह : काव्यालंकार : परिच्छेद १ श्लोक २

राजाश्रय की प्राप्ति सामन्तों की प्रसन्नता पर निर्भर करता है। मध्यकालीन भारतीय नरेशों के गुणों को दृष्टि में बाणभट्ट ने काव्यक्रिया का ज्ञान आवश्यक बताया है। कवियों के गुणों की ओर संकेत करते हुए राजशेखर ने उन्हें राजाश्रय प्राप्त की क्षमता से सम्पन्न होने की चर्चा की है। अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास विक्रमादित्य के सभासदों की ओर संकेत करके कहा है कि वह प्रयोगविज्ञान [नाटक] असफल है जिसको [वह] विद्वन्मंडली प्रशंसा न करे। यही कारण है कि संस्कृत के शुद्ध काव्यों में मध्यवर्गीय सामन्तीय विलासिता के अनेकानेक उदाहरण वर्तमान हैं। शृंगार निरूपण, नायक नायिका भेद तथा उदाहरण निर्धारण, प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत उद्यान, चन्द्र, सूर्य, मेघ, विद्युत, वर्षा वसन्त, संध्या, सूर्योदय, रजनी, प्रदोष आदि के वर्णन स्वयम्वर, युद्ध विजय, नगर, अट्टालिका आदि (तत्कालीन सामन्तवादी रुचि से सम्बन्ध रखते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र का यह तत्व हिन्दी के रीतिकाल के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ।

इसके अतिरिक्त उपयोगिता से सम्बन्धित सामान्य दृष्टिकोण यहाँ निहित है। शिवेतरक्षतयों से रक्षा, राजाश्रय तथा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति, वैयक्तिक एवं सामाजिक उपयोगिता के तत्व हैं। एक ओर राजाश्रय एवं अर्थप्राप्ति तथा शिवेतर क्षतयों से रक्षा आत्मसंरक्षण के लिए आवश्यक था: दूसरी ओर सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष एवं शिवेतर तत्वों से रक्षा को अनिवार्य बताया गया है। किन्तु काव्यमूलक प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण द्वितीय दृष्टिकोण गौण हो गया है।

निष्कर्ष रूप से (संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्राप्त काव्यप्रयोजनों में कलात्मक समग्रता अधिक है। हितसम्बन्धी भावना सामान्य है। काव्य हित या उपयोगिता का कितना समर्थक है, इसकी ओर आचार्यों की दृष्टि कम गई है।

काव्यरूप कौन कौन से हैं: काव्यरूप का तात्पर्य काव्यभेदों से है। काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत संस्कृत के आचार्यों ने इस तत्व पर भी विचार किया है। इसके विषय में स्वतंत्र रूप से अध्याय ६ के अन्तर्गत विचार किया गया है। इस संदर्भ में मात्र इतना कहना आवश्यक है कि इनमें भी कलात्मक समग्रता प्रत्येक दृष्टियों से मुखर दिखाई पड़ती है। इसी के फलस्वरूप संस्कृत के काव्यरूप अधिक नियमबद्ध हो गए थे। प्रत्येक काव्यरूप में कवि को स्वच्छन्दता का ह्रास मिलता है। एक ही प्रकार के रूप जैसे महाकाव्यों, नाटकों आदि में मिलने लगे। आचार्यों के अंकुश से कोई भी कवि काव्यरूप सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था।

वस्तुत: ये वर्णन इतने नियमबद्ध हो गए कि परवर्ती संस्कृत के काव्यमात्र नियमों के सांचे में ढले मिलते हैं। इसका एक मात्र कारण कलात्मक विशिष्टता ही है। जब संस्कृत के कवियों ने लक्षण निर्धारण की बँधी बँधाई लीक तोड़नी चाही तो क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा, लिखकर पुन: कड़ी चेतावनी दी। इस प्रकार की समग्रता काव्यरूप सम्बन्धी लक्षणों में भामह से लेकर १६ वीं शती के पंडितराज जगन्नाथ तक देखी जा सकती है।

काव्य का मूल हेतु क्या है :

काव्य की सृजन प्रक्रिया के मूल में कौन सा तत्व अधिक सक्रिय है, संस्कृत आचार्यों द्वारा इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विवेचना किया गया है। रुद्रट के अनुसार काव्य की प्रेरक दो शक्तियाँ हैं सहजा तथा उत्पाद्या : सहजा शक्ति ईश्वरप्रदत्त होने के कारण जन्मजात है तथा उत्पाद्या अभ्यास से अर्जित होती है[1] पुनश्च उन्होंने बताया है कि काव्य हेतु तीन हैं - शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। भामह ने काव्य को किसी किसी ही प्रतिभावान् व्यक्ति का गुण माना है जो शब्दार्थ का सम्यक् ज्ञान करके काव्य के रूप में उसका प्रयोग करता[2] है। दंडी ने काव्यादर्श के अन्तर्गत वह्निनिर्मल, नैसर्गिकी प्रतिभा को काव्य के लिए अनिवार्य माना[3] है। इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज ने भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा का सिद्धान्त नाम से एनाल्स भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट भाग ५ में महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। उनके अनुसार प्रतिभा जन्मजात वह निर्मल मानसिक शक्ति है जो निरन्तर काव्योन्मेष के रूप में स्फुरित होती रहती है।

It means that mental faculty which presents ever fresh flashes which ever fresh delineations of matters to be described.

रसगंगाधरकार के अनुसार काव्य का मूल कारण प्रतिभा है जो कविगत होता[4] है।

.....

१: क्रियादि व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास : रुद्रट: १:१४

२: काव्यालंकार : परिच्छेद : १.५ तथा १०

३: काव्यादर्श १. १०३.

४: रस गंगाधर पृष्ठ ८.

भारम्भट्ट ने बताया है कि काव्य का मूल कारण प्रतिभा है। व्युत्पत्ति तथा अभ्यास उसी के मार्जन के लिए है', वे काव्य हेतु नहीं हैं'। सभी का निष्कर्ष निकालते हुए मम्मट ने ५ काव्यहेतुओं' की ओर संकेत किया है, शक्ति, निपुणता, लोकशास्त्र काव्यान्वेक्षण, काव्यशिक्षा तथा अभ्यास। व्युत्पत्ति का अर्थ लोकशास्त्र तथा काव्य में' निपुणता की प्राप्ति से लिया जाता था। शक्ति को छोड़कर शेष तीन व्युत्पत्ति के ही अंग हैं'। अभ्यास इसके लिए साधन मूल तत्व है। इस प्रकार काव्य प्रक्रिया के संदर्भ में' प्रतिभा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसी प्रतिभा या संस्कार को पुष्ट एवं दृढ़ करने के लिए अन्य काव्यहेतुओं' की आवश्यकता पड़ती है। अतः काव्य प्रक्रिया के संदर्भ में' इन सबका होना अपेक्षित है।

पृष्ठभूमि विषयक इन तत्वों' के अतिरिक्त इसके अन्तर्गत सामान्य रूप से कहीं कहीं काव्य के आवश्यक उपकरण काव्य की आत्मा परम्परा का संकेत सहृदय की विशेषताओं' आदि का भी उल्लेख मिलता है।

प्रवृत्तियों' के सम्बन्ध में' पृष्ठभूमि विषयक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्टतापूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें' कलात्मक मूल्यों' का पोषण एवं संरक्षण का सिद्धान्त निहित है [सत] रसात्मकता भी कलात्मक सजगता का अंग है। संस्कृत काव्यशास्त्र में' रसतत्व भी कलात्मक सजगता के कारण इतना अधिक नियमबद्ध हो गया है आगे चलकर उसकी विषयनिष्ठता समाप्तप्राय हो गई। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे रस मानव मस्तिष्क का अंग न होकर काव्य में' संचित मनोवृत्तियों' का लेखा जोखा मात्र हो। इस प्रकार पृष्ठभूमि विषयक संदर्भ में' संस्कृत के आचार्यों' की कलात्मक मनोवृत्ति अधिक सक्रिय दिखाई देती है। उपयोगिता सम्बन्धी मनोवृत्ति गौण है।

ख : <u>काव्य की मूलात्मा का विवेचन</u> :

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों' ने काव्य की पृष्ठभूमि विषयक समस्याओं के उपरान्त काव्य की मूलात्मा के विषय में' विचार किया है। मूलात्मा विषयक प्रश्नों' या समाधानों' को दो भागों' में' विभक्त किया जा सकता है: प्रथम का सम्बन्ध काव्य के प्रतिवस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टिकोण से है तथा दूसरे का

.....

५: प्रतिभैव च कवीनां काव्यकर कारणम् : व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकौ न तु काव्यहेतू। अलंकार तिलक पृ०२

दृष्टिकोण विषयनिष्ठ (subjective) है। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के अन्तर्गत काव्य को शैली विषयक मान्यताएं आती हैं, जो वक्रोक्ति या प्रयासवश काव्य की मूलात्मा के नाम से पुकारी गईं। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। विषयनिष्ठ दृष्टिकोण के अन्तर्गत वह सिद्धान्त आता है, जो वस्तुतः काव्य का अनिवार्य अंग है। इसके अन्तर्गत रस सिद्धान्त को रखा जा सकता है। ध्वनि दोनों सिद्धान्तों को जोड़ने वाली कड़ी का कार्य करता है।

वस्तुनिष्ठदृष्टिकोण : इस सिद्धान्त का मूल प्रतिपाद्य यह रहा है कि काव्य भावना का व्यापार नहीं है। उसका सम्बन्ध शब्दार्थ नियोजन से है। शब्दार्थ को किस विशिष्टपद्धति में रखा जाय जिससे कि वह चमत्कार उत्पन्न करके आह्लादन कर सके। अलंकार रीति एवं वक्रोक्ति के मूलविषय शब्दार्थ, पद, अन्वय विषयक चमत्कार ही है।

काव्य के क्षेत्र में यह सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है। इसका आरम्भिक रूप काव्यशैया, काव्य पाक तथा काव्यलक्षण के अन्तर्गत देखा जा सकता है। काव्यशैया का उल्लेख वाग्भट्ट ने किया है। उनके अनुसार कलालाप से युक्त, विलास से कोमल हृदय में राग उत्पन्न करने वाली, कौतुकपूर्ण, मनोरंजन करनेवाली रुचिरवर्णों से युक्त आदि प्रवृत्ति काव्यशैया[1] है। इस प्रकार डॉ० डे ने अनुमान लगाया है कि इस प्रकार की शोभाप्रधान कोई काव्य पद्धति थी, जो लुप्त हो गई। इसी के साथ पाक का भी उल्लेख (मिलता) है। काव्य पाक का तात्पर्य काव्य सम्बन्धी परिपक्वता से है। वामन ने पाक सिद्धान्त की चर्चा की है :- पाक के दो विभेद हैं शब्द पाक एवं अर्थ पाक। राजशेखर ने परिणाम को पाक बताया है। इस पाक सिद्धान्त की व्याख्या काव्यमीमांसा में विस्तार से मिलती है। डॉ० डे. का अनुमान है कि आगे चलकर संस्कृत के अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रधान हो जाने से फलतः इन दोनों सिद्धान्तों को बहुत पहले ही समाप्त हो जाना पड़ा : "When another and more convincing theories were advanced the other one was almost शैया — पाक disappear from Sanskrit poetics."[2]

इसी पाक के साथ आचार्य वी० राघवन् ने लक्षण पद्धति का उल्लेख किया है जो गुण तथा अलंकार से पृथक काव्यशास्त्र के आरम्भिक सिद्धान्तों का अंग था।

.....

१: हर्षचरित: वाग्भट्ट आरम्भिक श्लोक ३ से ५ तक

2: Some problems in Sanskrit poetics, पृ० ६५

उन्होंने 'द कान्सेप्ट आव अलंकार शास्त्र' नामक पुस्तक में इसके इतिहास का परिचय दिया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में काव्य के ३६ लक्षणों को अनिवार्य बताया है। इस सम्प्रदाय का उल्लेख उद्भट, मट्टलोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त, मट्टतौत भोज आदि करते हैं। अभिनवगुप्त ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के लक्षण विषयक मतों का संख्या १० बताई है जिसके अनुसार काव्यपद्धति ही लक्षण है। इसका स्वरूप इस प्रकार है :

१: लक्षण का सम्बन्ध काव्यशरीर से है।

२: यह अलंकार से पृथक काव्य का सौन्दर्यविधायक तत्व है।

३: यह गुण तथा अलंकार से भिन्न है।

४: लक्षण काव्य की शोभा का वर्धन करता है जब कि अलंकार काव्य का बाह्य आरोपित गुण है। इस प्रकार लक्षण काव्य का अन्तरंग गुण है।

आचार्य राघवन् ने इसे कवि की सुन्दर भाषा के नाम से पुकारा है[१]। आचार्य भरत के अनुसार ३६ लक्षण इस प्रकार हैं - गुणा, अलंकारसंयात्, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्ट, उपदिष्ट विचार, तद्विपर्यय, प्रेश, अनुनय, मात्रा, दाक्षिन्य, गर्हण, अर्थापत्ति प्रसिद्धि, सारूप्य, मनोरथ, लेश, दोष, गुणकीर्तन, अनुक्तसिद्धि, प्रिय वचन ये तत्व पूर्णरूपेण काव्य को वस्तुप्रधान बनाने की ओर लगे हैं। किन्तु यह सम्प्रदाय कुछ दिनों के बाद ही समाप्त हो गया। लक्षणपद्धति के बाद अलंकार सिद्धान्त का योगदान इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वस्तुनिष्ठ प्रधान सिद्धान्तों में इसका महत्व सबसे अधिक है : अलंकार सम्बन्धी धारणा के विकास के तीन सोपान स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं।

१: शब्दार्थ मूलक दृष्टिकोण

२: शैली पर्याय मूलक दृष्टिकोण

३: अलंकार को साधन के रूप में स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण :

शब्दार्थ वाद : संस्कृत की आरम्भिक काव्यशास्त्रीय विचारधारा शब्द और अर्थ पर केन्द्रित थी। इसे तत्कालीन अलंकार काव्य की परिभाषाओं से पुष्ट किया जा सकता है। संस्कृत का आरम्भिक काव्य शब्दार्थ से प्रत्यक्ष सम्बद्ध था: इसका प्रमुख कारण

१: The लक्षण or the beautiful language of poets सरस्वती distinctly distinguish from the काव्य इ०एच० पृ०६

राजाश्रय एवं काव्य के प्रति रंजनात्मक दृष्टकोण का आग्रह है । विशेष रूप से अलंकारवादी आचार्य भामह ,वामन ,रुद्रट तथा वक्रोक्तिवादी कुन्तक के सिद्धान्तों में इस प्रवृत्ति का पूर्णत: समर्थन मिलता है ।

भामह ने काव्यालंकार में कहा है कि प्रलय पर्यन्त स्थिर रहने वाली कीर्ति की इच्छा रखने वाले कवि को उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिए[1] । इस उत्तम काव्य के तत्वों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने बताया है कि उपयुक्त पद विधान के प्रति सचेष्टता शुद्ध भावली ,कला में विलक्षणता आवश्यक है । भामह के अनुसार काव्य की मूलात्मा प्रीति[2] है । यह प्रीति रसवाद के आनन्द की भाँति लौकोत्तर आह्लाद न होकर क्रीडाजन्य आनन्द है ,जिसे आधुनिक शब्दावली में 'अनुभूति' के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है । भामह की भाँति वामन ने भी सुन्दर काव्य के लिए प्रीति उद्देश्य को अनिवार्य बताया है । इस प्रीति जन्य आनन्द से युक्त काव्य के लिए सालंकारता, दोषाभाव ,तथा निर्मल भावली काव्य के बाह्य रचना स्वरूप के समर्थक हैं । दंडी ने राजाओं के प्रिय कवि को अत्यधिक महत्ता देते हुए यश का भागी बताया है[3] ।

इस संदर्भ में दो ही प्रश्न प्रधान हैं । काव्य क्या है तथा उसमें कौन कौन से तत्व आवश्यक हैं । प्रथम के उत्तर में ये आरम्भिक काव्यशास्त्री शब्दार्थ का नाम लेते हैं । उनके अनुसार शब्दार्थ ही काव्य है । भामह ने काव्य की परिभाषा देते हुए उसे शब्द और अर्थ से सहित बताया है । उनके अनुसार इस शब्द और अर्थ की विशेषता निर्दोषिता तथा सालंकारिता है । दंडिन ने भी इस शब्दार्थ की चर्चा करते हुए उसे रूढ़ा तथा अलंकार से युक्त रीति का विस्तारक बताया है । काव्यादर्श में एक दूसरे स्थल पर ये शब्द तथा अर्थ को अधिक महत्वपूर्ण बताते हैं ।

ते: शरीरं च काव्यानालंकाराश्च दर्शिता:
शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली
काव्यं शुद्धं सदलंकार गुणवदोषा विवर्जितम्

१: काव्यालंकार : १ : २ ,६,७,८

२: भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका : डॉ० ~~नेमेन्द्र~~ नगेन्द्र पृ.१ .

३: भारतीय काव्य काल शास्त्र की परम्परा डा. नगेन्द्र पृ.७१ .

इस प्रकार काव्यादर्श के अनुसार अव्यवच्छिन्न पदावली , गुण तथा अलंकार से युक्त प्रकट होना काव्य का प्रमुख लक्षण है । रुद्रट तथा वक्रोक्तिकार कुन्तक ने काव्य में स्पष्टत: शब्दार्थ के अनिवार्यता की ओर संकेत किया है आगे चलकर यह शब्दार्थ वाक्य, पदावली , पद , शब्द आदि में केन्द्रित हो गया । किन्तु अलंकार के समर्थक हेमचन्द्र , मम्मट , विश्वनाथ आदि ने परवर्ती काल तक काव्य की परिभाषा में शब्दार्थ को ही दुहराते रहे । इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोच्यकाल में काव्य की परिभाषा शब्दार्थ पर ही केन्द्रित रही । काव्य की भाँति इस आलोच्यकाल में अलंकार को शब्द और अर्थनिष्ठ बताया गया । काव्य का प्रतिपादन शब्दार्थ से सम्बन्धित है और यही शब्दार्थ अलंकार का मूल आधार है । यही कारण है कि तत्कालीन काव्य के लिए अलंकार को अनिवार्य बताया गया है । इस दृष्टि से काव्य की मूल व्यंजना अलंकारमूलक है तथा अलंकारविहीन काव्य संभव नहीं है क्योंकि काव्य और अलंकार दोनों (शब्द तथा अर्थ) की सीमा एक ही है । फलत: काव्य सम्बन्धी आरम्भिक धारणा अलंकार प्रधान है ।

रुद्रदामन दूसरी शती के अभिलेख में अलंकार को सबसे पहले चर्चा मिलती है । वहाँ स्पष्ट रूप से अलंकृति शब्द का उल्लेख गद्य की वृद्धि के अर्थ में मिलता है ।

नाट्यशास्त्र में अनेक स्थलों पर अलंकार , भूषण एवं विभूषण शब्दों के प्रयोग मिलते हैं । भूषण एवं विभूषण शब्द अलंकार के समानार्थी हैं । नाट्यशास्त्र के अनुसार भूषण का अर्थ अनेकानेक अलंकारों एवं गुणों से अलंकृत (होना) बताया गया है: इस प्रकार यहाँ उपमा , दीपक , रूपक तथा यमक की महत्ता का उल्लेख मिलता है वामन ने काव्यालंकार का अर्थ सौन्दर्य से ग्रहण किया है। काव्य की शोभा वर्धन करने के कारण ही अलंकार ग्राह्य हैं । दंडी ने उन लक्षणों का और भी अधिक विकास किया है । उनके अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार है । वस्तुत: भामह , दंडी , वामन तीनों की दृष्टि रचना के बाह्य स्वरूप पर केन्द्रित थी ।

.....

१: विशेष के लिए देखिए : काव्य की परिभाषा:

२: नाट्यशास्त्र : अध्याय १५ तथा १६ : श्लोक से

३: काव्यालंकार सूत्र १ क १:१ सं २

४: दंडी : काव्यादर्श : २: ३६७

इसलिए तीनों आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य के सर्वस्व माने गए। इस प्रकार आरम्भिक शब्दार्थवादी आचार्य काव्य में मात्र अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हैं। यह अभिव्यक्ति काव्य के गुण एवं धर्म से सम्बन्धित था। काव्यधर्मवक्रत: उसका वाङ्मय शोभा से सम्बन्धित थे। इस काव्य का मूल उद्देश्य प्रीति था। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि :—

१: काव्य शब्दार्थ से ही अलंकृत होते हैं:

२: अलंकरण का मूलकारण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है :

३: इससे प्रीतिभाव की उन्नति होती है। काव्यालंकार इस प्रकार प्रीति का उद्भावक है। यह प्रीति आत्मरंजन के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार अलंकार सम्बन्धी धारणा जिन वृत्ति से पुष्ट है। प्रेषणीयता के संदर्भ में पाठक, श्रोता, तथा कवि के लिए यही प्रीति आवश्यक है।

शैलीगत सौन्दर्य वृद्धि के लिए अलंकार का प्रयोग

अलंकार सम्प्रदाय अपने विकास के मध्यकाल में शैली के पर्याय के रूप में स्वीकृत हुआ। भामह, दंडी तथा वामन में परस्पर अलंकार सम्बन्धी धारणा के विकास की क्रमिक स्थिति दिखाई पड़ती है। यह सत्य है कि शब्द एवं अर्थ से सम्बन्धित वाक्य ही काव्य है किन्तु प्रत्येक प्रकार के वाक्य काव्य नहीं होते। न्यायदर्शन तथा तर्क आदि के काव्य भी शब्दार्थ युक्त (ही) हैं। यही कारण है कि भामह एवं वामन के परवर्ती आचार्यों ने शब्द अर्थ के पूर्व अनेक विशेषणों का प्रयोग किया। ये विशेषण सालंकारता, विशेष, निर्दोष, सगुण या गुण, रसीयार्थ प्रतिपादक, रसात्मक आदि हैं। शब्द एवं अर्थ के साथ प्रयुक्त होने वाला यह विशेष शब्द अधिक महत्वपूर्ण है। इसी के फलस्वरूप अलंकार एवं काव्य सम्बन्धी परवर्ती मान्यताओं में अधिक परिवर्तन हुआ। इस विशेष शब्द से सिद्ध हो जाता है कि काव्य सामान्य वाणी व्यापार से उत्कृष्ट रचनारूप विशेष है। इसी विशेष के ही कारण गुण तथा रीति सम्बन्धी विचार काव्य क्षेत्र के क्षेत्र में उत्पन्न हुए। गुण के सम्बन्ध में वामन एवं दंडी के मत अधिक विशिष्ट समझे जाते हैं। कुन्तक ने मार्ग निरूपण के संदर्भ में गुणों की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त अन्य

परवर्ती आचार्यों ने संकेतात्मक रूप से गुण की चर्चा की है। रीति को परिभाषित करते हुए वामन ने सर्व प्रथम गुण का विस्तार किया। विशिष्ट पद रचना रीति की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस विशिष्ट को गुण के नाम से अभिहित किया, और इस गुण को काव्य की आत्मा बताया[1]। दंडी ने वामन पूर्व अलंकार की परिभाषा के अन्तर्गत शोभा कारक धर्म का उल्लेख किया था। यही धर्म ही वामन के द्वारा अलंकार के रूप में स्वीकृत हुआ[2]। गुण का संकेत सर्व प्रथम आचार्य भरत ने किया था : दंडी एवं भरत के मतों में भिन्नता कम है। इस सम्बन्ध में वामन की विशिष्टता यह है कि उन्होंने गुणों का दो भेद शब्द मूलक एवं अर्थमूलक किया है। इस प्रकार वामन के अनुसार गुणों की संख्या २० हो गई। आलोच्यकाल में ये गुण स्वीकृत थे श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, ओज, कान्ति एवं समाधि। ये वस्तुतः शब्दगत स्थित कोमल, मधुर, कर्कश आदि भावों के सूचक थे। इसलिए वामन की धारणा पूर्णरूपेण युक्ति संगत जान पड़ती है कि गुण काव्य के शोभाकारक धर्म हैं तथा अलंकार उत्कर्ष प्रदान करने वाले[3]। यद्यपि सत्य है कि वामन को दंडी की 'अलंकार सम्बन्धी परिभाषा पूर्णरूपेण स्वीकृत है, फिर भी वह अलंकारों को प्रमुखता न देकर गुणों को ही प्रमुख बताते हैं'। स्वतः अलंकार भी गुण के शोभावर्धक तत्व हैं'। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सौन्दर्य ही अलंकार है और सौन्दर्य गुण के ही कारण ग्राह्य है। अतः वह उपमा, रूपक आदि अलंकारों को प्रमुख न मानकर काव्य के आन्तरिक गुण, सौन्दर्य को जिसका सम्बन्ध गुण से है, प्रमुख बताता है। इस मत के अनुसार अलंकार काव्य का अनित्य तत्व है, गुण नित्य तत्व तथा रीति काव्य की आत्मा है। गुण रीति का भी धर्म है। फलतः गुण निश्चित रूप से काव्य का नित्य तत्व है। इस प्रकार गुण अलंकार को आत्मा में स्थित है। इस प्रकार गुण की निश्चित पद्धति ओजादि के विकास के लिए शैली के रूप में अलंकार का प्रयोग होता है।

.....

१: काव्यालंकार सूत्र वृत्ति : १: २ : ७: ८ .

२: काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता : काव्यादर्श : २:३ में उन्होंने गुण सम्प्रदाय की ओर संकेत किया है :

३: काव्यालंकार सूत्र वृत्ति : ३:१: १ = २ .

४: सम प्राब्लम्स आव संस्कृत पोएटिक्स पृष्ठ १० .

जहाँ तक रीति एवं अलंकार का सम्बन्ध है, यहाँ भी अलंकार को रीति का माध्यम बताया गया है। शैलीवादी सिद्धान्तों में रीति का अन्तिम स्थान आता है। वक्रोक्ति एवं ध्वनिवादी आचार्य भी शैली के अधिक निकट हैं किन्तु वे काव्य को बाह्य रूप संघटना पर आश्रित न होकर उसके आन्तरिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। वामन ने रीति का अर्थ, विशिष्ट पद रचना, से लिया है। भामह ने रीति के समानार्थी प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रवृत्ति शब्द ठीक शैली का पर्याय है। आचार्य दंडी रीति को मात्र शैली के ही रूप में नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार यही काव्य की मूलात्मा है। अलंकारादि काव्य के बाह्यशोभावर्द्धक तत्व रीति के ही पोषक हैं।

<u>काव्य साधन के रूप में अलंकार का प्रयोग</u> : आगे चलकर ध्वनिवादियों ने अलंकार सम्बन्धी धारणा में काफी परिवर्तन किया। उनके अनुसार अलंकार काव्य के साध्य पक्ष से सम्बन्धित न होकर मात्र साधन के रूप में प्रयुक्त होना चाहिए। इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट का है। रसवादी आचार्य इस अवस्था से पूर्णरूपेण सहमत हैं। उन्होंने केवल अलंकार को ही नहीं अपितु अलंकार के मूल में स्थित शब्दार्थ, गुण आदि को भी ध्वनि का पोषक तत्व सिद्ध किया है। आनन्दवर्धन का मत है कि काव्य में अलंकार का प्रयोग साधन के रूप में होता है। काव्य का मूल लक्ष्य, प्रबन्धध्वनि को पुष्ट करना है। इस प्रबन्ध ध्वनि की मूलात्मा असंलक्ष्य ध्वनि या रस है। कहीं कहीं उन्होंने प्रबन्ध ध्वनि तथा रस ध्वनि में अन्तर ही नहीं माना है। काव्य के बाह्य उपकरण अलंकार, रीति या मार्ग, वक्रोक्ति आदि सभी उसी प्रबन्ध ध्वनि रूप रस के ही पोषक हैं[1]। यही नहीं अलंकारादि रस के स्फुट प्रयोग का भी पोषण करते हैं।

<u>रीति सम्प्रदाय</u> : अलंकार सिद्धान्त के पश्चात् वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों में रीति का उल्लेख मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र में रीति विषयक तीन प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं। भौगोलिक रचना पर आश्रित रीति जो प्रदेशाभिधानवाद के नाम से

.....

१: ध्वन्यालोक : उद्योत: २ कारिका सं. १७, १८

पुकारा जाता है:

२: विन्यास अनुरूपता के अर्थ में[1];

३: अलंकार वृत्ति या स्वभावाभिधान के रूप में रीति का प्रयोग[2]।

संस्कृत काव्य शास्त्र में इस प्रकार रीति सम्बन्धी विकास की तीन परिस्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं।

रीति सिद्धान्त के आरम्भिक विकास काल में इसे अनेक नामों से पुकारा गया है[3] रीति, मार्ग, वर्त्मी, अवृत्ति, पन्थ आदि। इसके आरम्भिक नाम हैं: रीति का सर्व प्रथम उल्लेख भामह ने किया था[4]। उन्होंने वैदर्भी रीति में रचना करने वाले अश्मक देश विशेष का विरोध किया[5]। दंडी ने काव्यादर्श में अनेक स्थलों पर गौडीय तथा वैदर्भी रीतियों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार गौडीय रीति में शब्द समता का निरादर है तथा वैदर्भी रीति में अनुप्रास अधिक है[6]। रीति के प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके अनुसार काव्य के १० गुण इसी रीति का ही पोषण करते हैं। वामन ने दंडी तथा भामह की इस धारणा का खंडन कर विरोध किया कि रीति किसी देश या स्थान से सम्बन्धित है। इसका विभिन्न स्थानों से मात्र सम्बन्ध इतना है कि वहाँ रचना में शुद्ध रीति का दर्शन होता है। [तत्रत्यैः कविभिः यथार्थं स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्याः][7]। किन्तु स्थान सम्बन्धी धारणा का प्रबल समर्थन रुद्रट एवं राजशेखर के ग्रन्थों में मिलता है। वक्रोक्तिकार कुन्तक रीति की स्थान विषयक धारणा का प्रबल खंडन करते हैं। उनका सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि यदि देश के आधार पर रीति का नामकरण किया जाता है तो रीतियाँ अनन्त हो सकती हैं। कुन्तक रीति का अर्थ वामन की भाँति किसी देश की भाषागत व्यवहार की परम्परा से भी नहीं ग्रहण करते। इस विषय में उनका प्रधान तर्क यह है कि काव्य ईश्वर प्रदत्त शक्ति है किन्तु इस शक्ति का प्रतिभा द्वारा मार्जन किया जाता है। काव्य की ये वस्तुएँ वैयक्तिक

.....

१: देखिए सम कान्सेप्शन्स आव अलंकार शास्त्र डा. वी. राघवन् पृष्ठ १३८ तथा भारतीय काव्यांग, डा० सत्यदेव चौधरी पृ. २२६.
२: भारतीय काव्यांग पृ. २२३.
३: काव्यालंकार १: ३३.
४: काव्यादर्श. १:५४.
५: काव्यालंकार सूत्र वृत्ति: १:२:१०.

शक्ति से सम्बन्धित है', किसी देश विशेष से इनका सम्बन्ध नहीं है[1]। निष्कर्षत: कहा जा सकता है, नैसर्गिक विशेषता अनिवार्य है, प्रादेशिक निशेषता नहीं। यदि प्रादेशिक विशेषता अनिवार्य है तो किसी विशिष्ट रीति प्रधान देश के प्रत्येक व्यक्ति को कवि होना चाहिए। इस प्रकार वामन काव्यमार्ग को मानव स्वभाव पर आश्रित करते हैं'।

रीति कार्थ: वैदर्भी तथा गौडीय रीति के संदर्भ में भामह ने इनका निम्न लक्षण निर्धारित किया है वैदर्भी अक्लिष्टार्थ से युक्त, वक्रोक्ति रहित, प्रसन्न, श्लक्ष्ण, कोमल, गेय, पदावली से युक्त गेय एवं पेशल होती है। इसका और गौडीय वैदर्भी की तुलना में अलंकारत्व एवं अग्राम्यत्व गुणों से युक्त होती है। सांकेतिक रूप से दंडी भी रीतियों के संदर्भ में अपना मत प्रकट करते हैं', किन्तु काव्यादर्श में इस विषय में रीति की कोई परिभाषा नहीं मिलती। रीति की सर्वमान्य प्रथम परिभाषा आचार्य वामन की मानी जाती है। उनके अनुसार विशिष्ट पद रचना ही रीति है[2]। यह विशेष गुणात्मा है। इस प्रकार रीति एवं गुण का परस्पर सम्बन्ध है। आनन्दवर्धन के अनुसार रीति संघटना है, जो माधुर्यादि गुणों को काव्य बनाकर रस की अभिव्यक्ति में सहायक होती है[4] राजशेखर ने रीति को वचन विन्यास का क्रम के रूप में स्वीकार किया है[5]। अग्निपुराणकार के अनुसार रीति पृथक् पृथक् के निरूपण से सम्बन्धित है[6]। भोज ने इसे वचन विन्यास क्रम कहकर पुकारा है। उनके अनुसार रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीङ्: क्षरणे: से हुई है, जिसका प्रकारान्तर से अर्थ मार्ग या पद्धति है[7]। मम्मट के अनुसार यह रस विषयक व्यापार की पोषक है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे रस आदि भाव का उपकारी माना है[8]। एक अन्य स्थल रीति को परिभाषित करते हुए वह उसे काव्यांग संस्थानवत् कहता है। इस प्रकार रीति की इन परिभाषाओं से ये निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाले जा सकते हैं'।

.....

१: हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् १:२४

२: काव्यालंकार १:३४ . ३५

३: काव्यालंकारसूत्र . १:२:७ .

४: ध्वन्यालोक : उद्योत ३:६ .

५: वचनविन्यास क्रम: रीति: काव्यमीमांसा पृ.६ .

६: अग्निपुराण अध्याय ३४० . श्लोक .

७: सरस्वती कंठाभरण २:३७ .

८: साहित्य दर्पण : ६:१ .

१: रीति का आरम्भिक विकास प्रादेशिक गुणों का आधार पर हुआ था ।

२: वामन ने इस अर्थ को विकसित करके इसे मानव व्यक्तित्व के सहज अंग के रूप में स्वीकार किया ।

३: इस स्तर पर आकर वह रचना प्रकार के रूप में स्वीकृत हुई ।

४: अन्तिम स्थिति में यह रसादि की अभिव्यक्ति में सहायक साधन के रूप में माना जाने लगा । मम्मट ने इसे वाह्य अंग रचना की भाँति पूर्ण रूपेण वस्तु निष्ठ स्वीकार किया तथा आचार्य विश्वनाथ ने इसे रस विषयक व्यापार का उपकारक तत्व माना । इस प्रकार रीति पूर्ण रूपेण काव्य के शैली पक्ष का अभिन्न तत्व है ।

वक्रोक्ति सिद्धान्त । वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों में वक्रोक्ति का स्थान महत्वपूर्ण समझा जाता है वाणभट्ट ने कादम्बरी में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर क्रीडा एवं परिहास के अर्थ में दिया है[1] । इस शब्द का प्रयोग मम्मट तथा वामन ने भी किया है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति का अभिप्राय शब्द और अर्थ की वक्रता से है । यही वक्रोक्ति शब्दार्थ के मूल में रहकर उसे चमत्कृत बनाती है[2]। एक अन्य स्थल पर उन्होंने अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति को परस्पर पर्याय के रूप में स्वीकार किया है[3]। इस प्रकार भामह के अनुसार वक्रोक्ति का मूल गुण शब्दार्थ में वैचित्र्य उत्पन्न करना है तथा इसका मूलाधार है अर्थ के विविध रूप का भावन । इसके अभाव में काव्य अलंकृत नहीं हो सकता । भामह ने वाङ्मय का दो भेद किया है ।

स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति .

काव्यरूप वक्रोक्ति में सहज वर्णन न होकर वक्रता या चमत्कार निहित रहता है : इस चमत्कार में किसी न किसी रूप में श्लेष का योग अवश्य रहता है: So वक्रोक्ति is a striking mode of ~~expression~~ speech often based on श्लेष and differing from the plain matter of fact or ordinary mode of speech.[4]

वक्रोक्ति सम्बन्धी धारणाओं का पोषण वक्रोक्तिजीवत का लेखक कुन्तक करता है । संक्षेप में वक्रोक्ति के सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा इस प्रकार है:

१: हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स भाग २ पृ. ३८४ . ८५ .
२: काव्यालंकार १:६
३: काव्यालंकार २:८५ .
४: हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् : भूमिका . डा. नगेन्द्र पृ.४ .
५: संस्कृत पोएटिक्स की पृ. ३८५

उसके अनुसार यह स्वभावत: लोकोत्तर चमत्कार वैचित्र्य का समर्थक है । दूसरे शब्दों में यह लोकोत्तर चमत्कार का उद्भावक है । इस प्रकार वक्रोक्ति का भावन व्यापार अन्तश्चमत्कार या लोकोत्तर से सम्बन्धित है । वक्रोक्ति की परिभाषा देता हुआ वह कहता है कि –

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते का सी वक्रोक्तिरेव ;
कीदृशी , वैदग्ध्यभंगीभणिति: वैदग्ध्यं विदग्ध भाव: ,कवि कर्म कौशलं तस्य भंगी विच्छित्ति : तया भणिति विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।"[1]

चतुरतापूर्ण शैली से कथन रूप ही वक्रोक्ति है। यह कौन सा है प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की कौन शैली वक्रोक्ति है । वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि कर्म का कौशल उसकी भंगी या शोभा ,उससे भणिति अर्थात् कथन करना । अभिधा इस प्रकार की कौन शैली हो वक्रोक्ति कहलाती है । .–

इस कथन का निष्कर्ष इस प्रकार निकाला जा सकता है : -

१: वक्रोक्ति का अर्थ विचित्र अभिधा या उक्ति से है।

२: विचित्र शब्द का अभावात्मक अर्थ है प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न शैली ।
प्रसिद्ध कथन शैली का स्पष्टीकरण दो स्थलों पर किया[1] है ।

अ : प्रसिद्ध का अर्थ प्रचलित व्यवहारपरंपरा से है; वक्रोक्ति इसका अतिक्रमण करती है ।

आ : शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द अर्थ युक्त सामान्य प्रयोग

३: इसके अतिरिक्त वक्रोक्तिकार ने वक्रोक्ति का अर्थ वैदग्ध्यजन्य चारुता ,तथा कविकर्म कौशल से भी लिया है ।[2]

इस परिभाषा के अनन्तर उसने इसके व्यापक परिवेश की कल्पना की है; उसके अनुसार शब्दार्थमूलक काव्य के लिए वक्रोक्ति ही एक मात्र आधार है क्योंकि यह शब्दार्थ से युक्त वक्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं । शब्दार्थौ सहितौ वक्र: है । कवि इसके स्वभाव को लोकोत्तरचमत्कारक्षम बताकर इसे स्वभावोक्ति से उच्च सिद्ध करता है । वक्रोक्ति के भेद के अन्तर्गत शब्दार्थ की जितनी भी स्थितियाँ हो सकती हैं ,सभी प्राप्त हैं । वर्ण , पदपूर्व ,उत्तरार्ध , वाक्य ,प्रबन्ध,प्रकरण तथा प्रबन्ध

.....

१: हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् प्रथमोन्मेष : कारिका २ .
२: वक्रोक्तिजीवितम् पृ. ३१, ३२ .

काव्य का समस्त वाङ्मयस्वरूप इसमें अन्तर्भुक्त है । यही नहीं वह तत्कालीन प्रचलित समस्त वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों को तो इसमें समाहित करता ही है, सारे काव्य रूप भी इसके अंग बन जाते हैं। कुन्तक वक्रता को ६ भागों में विभक्त करके उसने काव्य के संपूर्ण स्वरूप को वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत समेटने का प्रयत्न किया । मात्र प्रवृत्ति, उत्पाद्यकथा, उपकार्य कारक आवृत्ति, प्रसंग, प्रकरण रस, अवान्तरवस्तु, नाटकान्तर प्रयुक्त संधि विनिवेश आदि प्रकरण भेद कथा संघटना से सम्बन्धित होने के कारण वक्रोक्ति को ही व्यंजना करते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य को भी इस परिवर्तन समाप्ति, कथाविच्छेद, आनुषंगिक फल, नामकरण, कथासाम्य इन ६ भेदों में विभक्त करके वक्रोक्ति का अंग बताया है ।

इस प्रकार वक्रोक्तिकार लोकोत्तर चमत्कार से युक्त शब्दार्थरूप में सन्निविष्ट इस तत्व को काव्य की मूलात्मा के समीप रखने का प्रयत्न करता है । आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त वक्रोक्ति को मात्र काव्य के शैली पक्ष का समर्थक स्वीकार करते हैं। अन्य वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों की भाँति यह भी काव्य के बाह्य पक्ष का ही समर्थन करता है । वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त की अन्तिम परणति औचित्यवाद में मिलती । क्षेमेन्द्र कृत औचित्य विचार चर्चा इस सम्प्रदाय का एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है । डॉ० पी० राघवन् ने इसके इतिहास को एक निश्चित रूपरेखा बनाई है । इस सम्प्रदाय का तात्पर्य कवि के लिए उपयोगी एवं आवश्यक उपकरणों को सुनिश्चित योजना बनाना है। कवि उनसे पृथक नहीं जा सकते । औचित्य विचार का विस्तृत उल्लेख सर्व प्रथम राजशेखर की काव्यमीमांसा में प्राप्त होता है। उनके अनुसार औचित्य का स्वरूप इस प्रकार है । रसादिरूप संदर्भों का परिपालन औचित्य के लिए आवश्यक है रति के प्रकरण में कोमलभाव एवं शब्दावली का प्रयोग उत्साह वर्धन के लिए प्रौढ़, क्रोध प्रकरण के लिए कठोर, शोक के लिए मृदु, विस्मय के लिए अद्भुतशब्द संदर्भ अनिवार्य है । इस प्रकार जो संघटना का औचित्य ही औचित्यवाद का विषय है । इस प्रकार औचित्यवाद पूर्णरूपेण कलावादी सिद्धान्त के प्रतिपादन में सहयोग देता है:

.....

१: ⓒ Some concepts of अलंकार शास्त्र : पृ. २०० .

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठावादी दृष्टिकोण मात्र काव्य के बाह्य रूप पर आधारित था। यही कारण है कि अलंकार को काव्य का बाह्य शोभाकारक धर्म कहा जाता है। इसकी तुलना कनक कुंडल से की जाती है। अभिनवगुप्त ने श्लिष्ट अलंकार को बालक्रीडावृत्ति का तथा अनुप्रासालंकार को भाँति विलासिता की वस्तु बताया भोज ने अलंकारों को कनक कुंडल की भाँति उन्हें कवि का बाह्य गुण बताया है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने अलंकारों को तीन भागों में विभक्त किया है। उनके अनुसार अलंकार के तीन भेद हैं बाह्य, अबाह्य एवं बाह्याभ्यन्तर। बाह्य अलंकार वस्त्र माल्य तथा विभूषण की भाँति है अभ्यान्तर दन्त परिकर्म नखच्छेद तथा अलक कल्पनादय की भाँति[1] एवं एवं बाह्याभ्यन्तर स्नान, धूप, विलेपन के समान[2]। इन दृष्टिकोणों से स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्य परवर्ती काल में इन सिद्धान्तों की वस्तुनिष्ठता से परिचित हो चुके थे।

विषयनिष्ठ सिद्धान्त : विषयनिष्ठ सिद्धान्त का आरम्भ रस के रूप में आचार्य भरत के समय या उनके पूर्व हो चुका था; किन्तु इसकी क्रमिक व्याख्या आचार्य भरत से ही प्राप्त होने लगती है : इस सिद्धान्त के पोषक संस्कृत साहित्य में ४ सम्प्रदाय हैं गुण स्वभावोक्ति ध्वनि तथा स्वतः रस : आरम्भ में भामह ने अलंकारवाद के अन्तर्गत रसवत् प्रेय ऊर्जस्वित् के रूप में इसे अलंकार में अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया था, किन्तु वे सफल न हो सके : फलतः इसका मूल्यांकन स्वतंत्र रीति से ही हुआ :

गुण : रीति के क्षेत्र में सबसे पहले वामन ने गुण सिद्धान्त को विकसित किया: वामन के पूर्व भरत, भामह, एवं दंडी की रचनाओं में गुण के विभेदों का कुछ उल्लेख मिलता है : भरत, भामह, एवं दंडी ने गुणों की संख्या दस मानी है इनके अनुसार गुणों के दो भेद हैं 'शब्द गुण एवं अर्थ गुण : ये गुण इस प्रकार हैं' श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता ओज कान्ति तथा समाधि इनमें प्रसाद समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता ओज एवं कान्ति भेदि ये भाषा के गुण होते हुए भी मानव मस्तिष्क के भावों से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है: इसीलिए अभिनवगुप्त ने इसे काव्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित बताते हुए कहा है कि ओज प्रसाद एवं माधुर्यादि मानसिक वृत्ति के अंग होने के कारण शैली या अलंकार से कहीं अधिक रस से सम्बन्धित है : इस परम्परा विकास की झलक काव्य प्रकाश में दिखाई पड़ती है:

१: ध्वन्यालोकलोचन पृ. ११७, ११८

२: उद्धृत सम कान्सेप्ट्स आफ अलंकार शास्त्र, पृ. ४९

काव्यप्रकाशकार ने इसे शौर्यादि की भाँति आत्मा का नित्य गुण स्वीकार किया है :

गुण की ही भाँति स्वभावोक्ति का उल्लेख आरम्भ से प्राप्त होने लगता है । वा. राघवन् का कथन है कि जाति के रूप में स्वभावोक्ति का ज्ञान भामह को था[1] । दंडिन् में काव्यादर्श में इसका सामान्य उल्लेख किया है । यह अलंकृति के रूप में स्वीकृत है[2] : यह द्रव्य के जाति, गुण, क्रिया तथा स्वभाव पर आश्रित है । भोज ने वाङ्मय को ३ भागों में विभक्त किया है : वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति । शृंगार प्रकाश में उन्होंने पुन: कहा है कि गुण की प्रधानता के कारण स्वभावोक्ति होती है । फलत: गुण से आश्रित होने के कारण स्वभावोक्ति विषयनिष्ठ काव्यसिद्धान्त के अधिक समीप है ।

ध्वनि सम्प्रदाय : ध्वनि सम्प्रदाय का मूल उद्देश्य व्यक्ति कल्पना शक्ति को प्राथमिकता प्रदान करना है, फिर भी यहाँ काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों अंगांगि सम्बन्ध का निरूपण प्राप्त होता है : उस निरूपण के अन्तर्गत आनन्दवर्धन रस को अंगी एवं अन्य सम्प्रदायों को अंग के रूप में स्वीकार करते हैं :

अलंकार : आनन्दवर्धन ने बताया है कि ध्वन्यात्म शृंगार में सीध समझ का प्रथमकिया गया रूपकादि अलंकार वही वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होता है । वास्तविक अलंकारता वस्तुत: अलंकार्य से सम्बन्धित है । इस दृष्टि से रस अलंकार्य है तथा अलंकार उसके पोषक साधन रूप । वाह्य आभूषण के समान प्रधानभूत [अंगी] रस के वाहुल्य हेतु होने से अलंकार साधन बनकर रह जाता है: इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस दृष्टि को प्रमुख बनाकर अलंकार अलंकार प्रयोग के औचित्य का भी उल्लेख किया है । ये संख्या में ६ हैं[3] :

१: रूपकादि की स्थिति सदैव रसपरक ही होनी चाहिए :

२: वे किसी भी दशा में 'प्रधान न होवें' होने पावें':

३: रस निष्पत्ति के उचित अवसर पर उनका प्रयोग होना चाहिए :

४: रस निष्पत्ति के अनुसार औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करके उनका त्याग भी कर देना चाहिए :

५: रस के अंदर में अलंकारों के प्रयोग का यत्न नहीं करना चाहिए :

६: अन्यास अलंकारों के प्रयोग हो जाने पर यह भी देख लेना चाहिए कि वह रस के लिए व्याघातक तो नहीं हो रहा है[4] । एक अन्य स्थल पर भी वे उन्हें रसादि रूप अंगीभूत तत्व का अंग धर्म स्वीकार करते हैं[5] ।

आनन्दवर्धन के इस कथन से स्पष्ट है कि वे रस सम्बन्धी मान्यता की प्रमुखता की ओर अग्रसर हैं । उन्होंने द्वितीय उद्योत के आरम्भ में ही कहा है कि शृंगार ही सबसे अधिक मधुर रस है : उस शृंगार मय काव्य के आश्रित हो गुण रहता है[6] :

1. Some Concepts of अलंकारशास्त्र, पृ ५८

२: काव्यादर्श : २: ८: ३: ध्वन्यालोक: द्वितीय उद्योत: कारिका १७ तथा १८

४: ध्वन्यालोक : द्वितीय उद्योत : कारिका ३३ तथा वृत्ति ८:

५: ध्वन्यालोक : द्वितीय उद्योत कारिका: ७

रस

इस विषय में अन्तिम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त रस का है। संस्कृत साहित्य में रस सम्बन्धी धारणा के विकास का एक निश्चित इतिहास संस्कृत साहित्य में प्राप्त है। अन्य सिद्धान्तों की ही भाँति इसमें भी एकरूपता नहीं वर्तमान है। आरम्भिक आचार्य भरत एवं पंडितराज जगन्नाथ की रस सम्बन्धी धारणा में निश्चित रूप से अनेक मौलिक अन्तर देखे जा सकते हैं।

रस की आरम्भिक स्थिति

आचार्य भरत पूर्व रस सिद्धान्त पूर्ण रूपेण स्थिर हो चुका था। भरत पूर्व रसाचार्यों के संदर्भ में तंडु, नन्दिकेश्वर, शेष या वासुकि के नाम लिए जाते हैं[1]। नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त अनुवंश्य श्लोकों वार्तिक अंश एवं शेष पाठ में अनेक शैलीगत अन्तरक वर्तमान है। इससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि भरत पूर्व रस सम्बन्धी धारणा का पूर्ण विकास हो चुका था। रस सम्बन्धी धारणा का आम्भिक बीज वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। यह धारणा विशेष रूप से छान्दोग्य, बृहदारन्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में विशेष रूप से प्राप्त होती है। यह रस तीन सन्दर्भों में प्राप्त है :-

आनन्द के अर्थ में

तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द एवं रस को पर्यायवाची बताया गया है। यहाँ इस सम्बन्ध में अनेक उक्तियाँ संकलित हैं। मधु के अर्थ में प्रयुक्त रस शब्द भी इसी धारणा का द्योतक है[2]।

मूलतत्व के रूप में

छान्दोग्य एवं बृहदारन्यक उपनिषद् में रस को मूलतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। विशेष रूप से छान्दोग्य उपनिषद् में रस को आठ प्रकार का बताया गया है। उन्हें क्रमशः पृथ्वीरस, आप रस, ओषधि रस, वाणीरस, अग्रस, सामरस, उद्गीथ रस आदि कहा गया है.

.....

१. इसके विशेष अध्ययन के लिए देखिए द नाट्यशास्त्र आव उसका प्रभाव पी० राघवन् अध्याय १

२. तैत्तिरीय उपनिषद् २:७ :१

की वाणी ,उदगीथ , ऋक् एवं साम से सम्बन्धित रस में काव्य रस का संकेत मिलता है । ये वस्तुत: वस्तु के सार तत्व के रूप में स्थित रहते हैं[१] ।

परम तत्व के रूप में

उपनिषदों में रस परमतत्व के रूप में भी स्वीकृत किया गया है । तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन 'रसो वै स:' अर्थात् ब्रह्म ही रस है , रस परम्परा में अनेक समयों तक उद्धृत होता रहा है । मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य में भी इससे सम्बन्धित धारणा प्राप्त है । इसी को प्रमाण मान कर रसेश्वर कृष्ण समस्त शृंगारिक लीलाओं का आध्यात्मीकरण किया गया है ।

काव्य रस सम्बन्धी आरम्भिक धारणा का विकास ई० की दूसरी शती के आस पास पूर्ण रूप से हो चुका था । नाट्य शास्त्र की व्याख्या , वात्स्यायन कालिदास , अश्वघोष ,भास के रस सम्बन्धी कथन इसके स्पष्ट प्रमाण हैं । आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र अध्याय ६ के अन्तर्गत ऐसा मेरे पूर्व कहा जा चुका है , अपि ऐसा कह चुके हैं; इस प्रकार का पूर्व कथन है आदि पदों का प्रयोग करते हैं वात्स्यायन की रस सम्बन्धी धारणा का आधार कामशास्त्र है । वे परस्पर सम्मिलन से उत्पन्न आनन्दावेश को रस मानते हैं । अश्वघोष ने बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द दोनों काव्यों में धार्मिक वातावरण में उत्पन्न होने वाले शान्तभाव एवं शान्तरस की चर्चा की है ।कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में आठ रसों को भरत प्रयोग कहकर सम्बोधित किया है । डा० वी० राघवन् ने भास के द्वारा किए गए रस विषयक संकेत का उल्लेख किया है । इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि मध्यकाल के आरम्भ में रस सिद्धान्त भारतीय काव्य के अन्तर्गत मुख्य रूप से चर्चा का विषय बन चुका था ।

आचार्य भरत तथा रस: आचार्य भरत नाटक के लिए रस की अनिवार्यता बतलाते हैं । उनका विचार है कि नाट्य योग का अर्थ रस के अभाव में पाठक या प्रेक्षक तक नहीं पहुंच सकता । रस नाटक की मूलात्मा है । उन्होंने विभावानुभाव एवं संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है ।उनके अनुसार निष्पत्ति उसी प्रकार होती है जैसे दाल आदि के रस से युक्त , नाना द्रव्यों के

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् १: १: २ . ३

संयोग से व्यंजन औषधियों को मिला देने से मानक रस आदि । विभिन्न भाव भी इसी प्रकार संयुक्त होकर रस रूप में निष्पन्न होते हैं। साथ ही रस के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वे आस्वादन के कारण को भी रस रूप मानते हैं । आस्वादन के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे पुन: कहते हैं। जिस प्रकार नाना व्यंजनों से युक्त संस्कृत अन्न को खाने वाले रसों का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार सामाजिक भी[1] । यही मान्यता सम्भवत: उनके पूर्व भी वर्तमान थी क्योंकि रसोत्पत्ति के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए उन्होंने वेशपरम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है । उनके अनुसार वेश परम्परा में रसोत्पत्ति के विषय में इस प्रकार का सिद्धान्त था।

जिस प्रकार अनेक द्रव्यों से संयुक्त व्यंजन को रसरूप में जानने वाले पुरुषों के सामान्य रूप से नहीं अपितु विशेष रूप से खाते हुए उसका आस्वादन करते है. इसी प्रकार नाटक के विषय में भी समझना चाहिए[2] । एक दूसरे स्थल पर भी रस निष्पत्ति के लिए पुन: व्यंजन का उदाहरण लिया है । एक तीसरे स्थल पर व्यंजन के साथ गुड़ विशेष का उल्लेख करते हैं[3]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी भाव तथा रस के सम्बन्ध को बताने के लिए बीज एवं वृक्ष का रूपक ग्रहण किया है[4]। भरत अपने पूर्व शृंगार की दस अवस्थाओं का चित्रण करते हुए अपने पूर्व के वैशिक शास्त्रकार [काम कला के प्रणेता] की चर्चा की है। एक अन्य स्थल पर माली के द्वारा पुष्प के गूँथे जाने के भाव को रसोत्पत्ति के समान बताया गया है।

भरत के इन कथनों से स्पष्ट है कि रस सम्बन्धी आरम्भिक धारणा अति सामान्य थी। परवर्तीकाल में रस के जिस उदात्त स्वरूप एवं स्वभाव की कल्पना की गई है भरत पूर्व या उनके समकाल में वैसी नहीं थी । इसमें रस विषयक तात्विक उत्कृष्टता का संकेत अतिसामान्य है । व्यंजन पानक, औषधि, वृक्ष आदि के उदाहरण सामान्य जन को समझाने के लिए साधारण कथन के रूप में है . यही कारण है कि रससम्बन्धी सिद्धान्त को और अधिक पुष्ट एवं उच्चस्तर का बनाने के लिए परवर्ती काल में अनेक प्रकार के प्रयास किए गए ।

१: अभिनव भारती : अध्याय ६ पृ. ४६७
२: अभिनव भारती : अध्याय ६: पृ. उत्तरार्द्ध ५०१
३: अभिनव भारती : अध्याय ६ पृ. ५१० ,५११, ५६०
४: नाट्य शास्त्र अध्याय . २६: १०६

~~यही कारण है कि उनके संयोग एवं तत्सम्बन्धी उदाहरण को और अधिक स्पष्ट तथा उच्चस्तरीय बनाने के लिए परवर्ती काल में अनेक प्रयास किए गए।~~

मट्टलौल्लट, शंकुक तथा मट्टनायक के रस सम्बन्धी मत। इन मतों का उल्लेख अभिनवगुप्त, पंडित राज जगन्नाथ, विश्वनाथाचार्य, मम्मट आदि ने किया है। इनमें अभिनवगुप्त की व्याख्या तथा उद्धरण अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। फलतः उनके आधार पर इनकी रस दृष्टि का परिचय दिया जा सकता है।

मट्टलौल्लट। इनके अनुसार रस की स्थिति इस प्रकार है। विभावादि का जो संयोग स्थायी भाव के साथ होता है उससे रस की निष्पत्ति होती है, उनमें से विभाव स्थायिभाव रूप विकृति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रस जन्य अनुभाव विवक्षित नहीं है क्योंकि उनकी गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती अपितु भावों के अनुभाव, अर्थात् इस के कारण भूत अनुभावों में रत्यादि स्थायी भाव से उत्पन्न होने के कारण अनुभाव कहलाते हैं, और व्यभिचारी भाव विकृति स्वरूप होने से यद्यपि स्थायिभाव के साथ नहीं रह सकते किन्तु यहाँ रस के संस्कार रूप से विवक्षित हैं। इसलिए विभाव अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है। अभिनवगुप्त की इस व्याख्या में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने थोड़ा संशोधन किया है। मम्मट के अनुसार मट्टलौल्लट का मत इस प्रकार है।

विभावों अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारण भूत [1] लक्षणा आलम्बन विभाव और उद्यानादि उद्दीपन विभावों से रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न रति आदि को।

.....

१: विभावादिभिः संयोगो यात् स्थायिनोस्तत: रस निष्पत्ति:। तत्र विभावाश्चित्तवृत्तेः स्थायात्मिकायाः उत्पत्तौ कारणम् अनुभावाश्च न रस जन्या अत्र विवक्षिताः तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् अपितु भावानामेव हेतुभावः। तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। हिन्दी अभिनवभारती। षष्ठो अध्याय। पृष्ठ ४४२-४३: ..... तेन स्थायीत्र विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः।

२: विभावैरात्मनोधानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः।

का० प्र० चतु: उल्लास, पृ० १०१

उत्पत्ति के [कार्यभूत कटाक्ष अनादीप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया ,और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारियों से पुष्ट मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि में, और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में प्रतीयमान अर्थात् आरोप्यमाण इत्यादि स्थायीभाव ही रस है[1]।

आचार्य लोल्लट का मत उत्पत्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है .उनके अनुसार विभावादि की परिपुष्टि से अनुकार्य राम में रस की निष्पत्ति होती है .उन्होंने भावों एवं स्थायी भाव के परस्पर सम्बन्ध की तीन कोटियां निर्धारित की है

१ स्थायीभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य सम्बन्ध है ।

२ स्थायीभाव तथा अनुभावों का गम्यगमक सम्बन्ध है।

३ स्थायीभाव तथा व्यभिचारी भाव का पोष्यपोषक सम्बन्ध है ।यही कारण है कि काव्य के अन्तर्गत आलम्बनोद्दीपन विभावों से जनित अनुभावों से प्रतीति योग्य कृत तथा व्यभिचारी भावों से उपचित (पुष्ट) होने पर ही रस निष्पन्न होता है । इसके अनुसार रस की मूल स्थिति ऐतिहासिक पात्रों में रहती है , वह गौण रूप से नटों में पाई जाती है ।

निष्कर्ष . विभाव अनुभाव एवं संचारी भावों के परिपक्व हो जाने पर रस की निष्पत्ति होती है । स्थायिभाव स्वत: में अनुपचित रहता है किन्तु विभाव, अनुभाव एवं संचारिभावों के संसर्ग में आने पर ही उपचित होता है । उपचित होने के बाद वह रस में परिणत हो जाता है ।भावों की उपचितावस्था तक भाव को पहुँचने के लिए मम्मट ने तीन सम्बन्ध बताए है; उनके द्वारा ही स्थायी भाव उपचित होते है। लोल्लट के अनुसार रस की उत्पत्ति ऐतिहासिक पात्र में ही होती है ।नट उसका अनुकरण मात्र करते है ।

शंकुक . अभिनव भारती में शंकुक का मत इस प्रकार दिया हुआ है । उनके सिद्धान्त को अनुमितिवाद के नाम से पुकारा जाता है।

कारण रूप विभावों कार्य रूप अनुभावों तथा सहकारी रूप व्यभिचारी भावों द्वारा कृत्रिम प्रयत्न जन्य होने पर भी उस प्रकार के न प्रतीत होने वाले लिंग [कालीन] की सामर्थ्य से अनुकर्ता [नट] में प्रतीत होने वाला तथा राम आदि में रहने वाला स्थायिभाव का अनुकरण रूप भाव नटगत स्थायीभाव ही रस

.....

१: काव्यप्रकाश: चतुर्थ उल्लास : पृष्ठ १०२

होता है। अनुकरण रूप होने के कारण ही वह स्थायीभाव नाम से न कहा जाकर उससे भिन्न रस नाम से व्यवहृत होता है[१]।

१ लोल्लट की व्याख्या और इनमें अन्तर आरोप एवं अनुमिति का की है। लोल्लट के अनुसार दर्शक राम में नट का आरोप कर लेते हैं जब कि इनके द्वारा अनुमान। इनका प्रसिद्धि चित्र तुरग न्याय अनुमितिवाद का प्रसिद्ध उदाहरण है।

२ इनके अनुसार भरत सूत्र के संयोग शब्द का अर्थ गम्यगमकभाव सम्बन्धात् है। विभावादि शब्द से व्यवहृत होने वाले कारण, कार्य और सहकारी भावों के साथ संयोग अर्थात् गम्य गमक भाव रूप सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप में ममाक्यमान रति आदि भाव वहाँ नट के वास्तविक रूप में न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से स्वात्मतत्वेन रस रूप में आस्वाद होते हैं। यह शंकुक का मत है।

३ इस मत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है; प्रेक्षक के द्वारा रस का अनुमान किया जाना। ~~इसमें प्रेक्षकों में रस के अनुमान का तथ्य महत्वपूर्ण है।~~

.....

१: तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावाख्यैः, सहकारिभिश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जितत्वया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगभूतैः प्रतीयमानः स्थायिभावोऽनुस्थरामादिगत स्थायानुकरणरूपः अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः हिन्दी अभिनव भारती। षष्ठ अध्याय पृ. ४४६.

२ कार्यकारण सहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथा नभिमन्यमानैर्विभावादिशब्द व्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमकभाव रूपात् अनुमीयमानोपि वस्तुसौन्दर्यबलात् रसनीयत्वेन नान्यामीयमान विलक्षणः स्थायित्वेन ममाक्यमानो रत्यादिर्भावस्तद्वास्वन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्वमाणो रस इति श्री शंकुक :.

काव्यप्रकाश: चतुर्थ उल्लास पृ. १०३

भट्टनायक — इनके मत को भोगवाद के नाम से पुकारा जाता है। इनके अनुसार रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न और न अभिव्यक्त। अपितु काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षण के कारण और नाटक में चार प्रकार के अभिनय से सामाजिक के भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा के बाद द्वितीय क्षण में होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान साधारणीकृत रस, अनुभव स्मृति आदि से भिन्न प्रकार के रजोगुण तथा तमोगुण के मिथ्या के कारण द्रवीभाव विस्तार, तथा विकास रूप सत्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्तिरूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोग भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभूत भोग किए जाते हैं। यह भट्टनायक का सिद्धान्त है।[2] इनके मत को काव्यप्रकारकार ने अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार दुहराया है — न तटस्थेन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावनाभावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविदविश्रान्तिलक्षणेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायक।[3] न तटस्थ रूप से रस की प्रतीति होती है और न उत्पत्ति होती है न अभिव्यक्ति होती है किन्तु काव्य अथवा नाटक में अभिधा से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण स्वरूप भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकृत स्थायीभाव योगाभ्यास काल में सत्व के उद्रेक से ब्रह्मानन्द सदृश प्रकाश तथा आनन्दमय अनुभूति की स्थिति के सदृश भोग से आस्वादित किया जाता है।

.....

१ रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते पृ. ४६२, हिन्दी अभिनव,

२. तत्काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वेन नाट्यं चतुर्विधाभिनयरूपेण निरवच्छिन्नसमोह संकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृति आदि विलक्षणेन रजस्तमोनुवेध वैचित्र्यवलाद् इति विस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमया निजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति : हिन्दी अभिनव भारती: पृ. ४६४. ३५.

३. काव्यप्रकाश : चतुर्थ उल्लास पृ. १०७

अभिनवगुप्त : इनके मत को अभिव्यक्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है। अभिनवगुप्त के रसोत्पत्ति सम्बन्धी मत अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक लोचन में निहित हैं। इसके अतिरिक्त मम्मट ने इनके मत को अत्यधिक सरलता से काव्यप्रकाश में व्यक्त किया है। रस के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की धारणा इस प्रकार है

१ काव्य में रसों की भावना या अनुभूति की जाती है। इस भावना का अर्थ भोग से नहीं है अपितु संवेदन नाम से व्यंग्य आत्मसाक्षात्कारात्मकप्रतीति: का विषय और आस्वादनरूप है। फलत: यह अनुभव काल में अनुभूत होने वाला संवेदना का विषय है[1]।

२. रस का स्वभाव अलौकिक है वह देश काल प्रभाव आदि के बन्धन से पृथक होने के ही कारण साधारणीकरण का विषय बनता है। यदि देश काल आदि के बन्धन में वह बँधा रहता तो रस की एक सी अनुभूति पाठकों या श्रोताओं को न होती। फलत: साधारणीकरण के संदर्भ में भी रस देश काल की सीमा से निर्मुक्त है।

३. रस वासना या संस्कार के रूप में सामाजिकों में वर्तमान रहता है। साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय के प्रभाव से यह संस्कार जागृत होता है। फलत: रस वासना के रूप में निरन्तर स्थायी रहने वाला तत्व है[3]।

४. अभिनवगुप्त ने रस के साधारणीकरण में व्यापारक तत्वों का उल्लेख किया है। रस प्रक्रिया के संदर्भ में मात्र किसी एक तत्व के आ जाने से रस खंडित हो जाता है[4]। व्यापारक तत्व.

.....

१: हिन्दी अभिनव भारती : पृष्ठ ४३७

२: हिन्दी अभिनवगुप्त भारती : पृष्ठ ४८

३: हिन्दी अभिनव भारती : पृष्ठ. ४३० , ३१.

४: हिन्दी अभिनव भारती : पृ० ४३४

मम्मट तथा परवर्ती आचार्य .

रस सम्बन्धी यह मान्यता पहले से किंचित् भिन्न है : यहाँ रस की अलौकिकता का प्रतिपादन अनेक रूपों में मिलता है विषयनिष्ठ सिद्धान्त को यहाँ चरम उत्कर्ष प्राप्त है रस के माहात्म्य की ओर उल्लेख करते हुए मम्मट ने कहा है यह लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं मितज्ञान प्राप्त करनेवाले योगियों की अनुभूति से विलक्षण अलौकिक संवेदन का विषय है : इसी के साथ उन्होंने पुन: कहा है कि इस रस का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है क्योंकि उसमें विभावादि के सम्बन्ध की प्रधानता रहती है वह सविकल्प नहीं है क्योंकि स्वानुभूति से उस ज्ञान की सिद्धि हो जाती है इस प्रकार रस अपूर्व लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण है[1]. अभिनवगुप्त ने बताया है कि रस अलौकिक चमत्कार स्वरूप स्मृति अनुमान एवं लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञानों से पूर्ण भिन्न है[2]. रस का ज्ञान किसी भी स्थिति में सम्भवन नहीं है . वह समूचत: अनुभूति का विषय है क्योंकि वह मानसिक द्रवता का अंग है उसका आस्वादन मात्र प्रतीति से होता है अत: अभिनवगुप्त के अनुसार भी यह अलौकिक मानसिक व्यापार का अंग है . पंडित राज जगन्नाथ ने रस की परिभाषा देतेहुए उसके विभावादि को अलौकिक कहा है[3]. यही नहीं उनके अनुसार रस व्यापार भी अलौकिक है . वह शीघ्र ही प्रमाणादि को अपने आनन्द से प्रभावित करके विगलित कर देता है . कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के अन्तर्गत इसे पूर्ण रूपेण ब्रह्म स्वाद सहोदर सिद्ध किया है उनके अनुसार रस सत्त्वोद्रेक . अखंड .प्रकाशानन्द चिन्मय वेद्यान्तर स्पर्शशून्य एवं लोकोत्तर चमत्कार से पूर्ण है . अल्लराज ने रस रत्न प्रदीपिका में रस को नित्य ब्रह्म स्वरूप बताया है[4].

.....

१ : मम्मट काव्यप्रकाश : चतुर्थ उल्लास : श्लोक २८ की कारिका : .

२ : अभिनव भारती : अध्याय ६ पृ. ४८२ . प्रकाशक हिन्दी विभाग .विश्व ० दिल्ली १९६० .

३: रस गंगाधर पृ. २१ तथा २२ काव्यमाला सीरीज . १८८८

४: रस रत्न प्रदीपिका : १ . २० . १३ तक

इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि रस मानव मस्तिष्क का केन्द्र है। मानव मस्तिष्क काव्य के सम्पर्क में आकर एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है जिसे रस कहा जाता है। इस प्रकार यह व्याख्या पूर्णरूपेण विषय निष्ठ है। निष्कर्ष रूप से रस भारतीय काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की चरम परिणति का द्योतक है। सौन्दर्य शास्त्र की आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं ने रस की सार्थकता पर पूर्णरूपेण विचार किया है। उनके अनुसार काव्यानन्द का सिद्धान्त पूर्णरूपेण तर्कसंगत ज्ञात होता है[1]।

निष्कर्ष : उपर्युक्त: कहा जा सकता है कि भारतीय काव्य शास्त्र में कलात्मक सजगता को और अधिक स्थान दिया गया है। इस कलात्मक सजगता के दो पक्ष है : एक शैली पक्ष जो कला का मुख्य निर्धारण स्वीकार करता है। इस दृष्टि से अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को एक ओर रखा जा सकता है। दूसरा काव्य के अनुभूति पक्ष का समर्थन करता है। उसके अनुसार काव्य में आनन्द को प्रमुखता दी जानी चाहिए। यह आनन्द ही कलात्मक सजगता का केन्द्र है। इसके पोषक गुण स्वभावोक्ति एवं रस सम्प्रदाय हैं।

.....

१ रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण : आनन्द प्रकाश दीक्षित पृ. २२४

भक्तिकाव्य की समीक्षा इन मूल्यों का उपयोगिता का परीक्षण

काव्यशास्त्रीय इन मूल्यों के संदर्भ में देखा जा चुका है कि इनकी दृष्टि कलावादी रही है। ये कलात्मक परितोष को काव्य का उद्देश्य स्वीकार करते हैं। वस्तुनिष्ठ समस्त मूल्य प्रायः शैली या काव्य के बाह्य पक्ष के समर्थक हैं। अलंकार भाषा का सौन्दर्य है रीति एक विशिष्ट प्रकार की पदयोजना एवं वक्रोक्ति उक्ति वैचित्र्य से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के विषय वस्तु से हटकर शैली या शब्दार्थ से सम्बन्धित है। अलंकार रीति एवं वक्रोक्ति को प्रधान या एक मात्र तत्व के रूप में स्वीकार करके प्रणीत काव्य मात्र चमत्कार या कौतूहल प्रकट करता है। यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्य काव्य में इनके स्वतंत्र प्रयोग की अवहेलना करते हैं। उनके अनुसार वक्रोक्ति, अलंकार, एवं रीति सम्बन्धी सिद्धान्त काव्य की मूलात्मा वक्रोक्ति रस के पोषक हैं।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य के संदर्भ में वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु उसी रूप में जिसका ध्वनिवादी आचार्य संकेत करते हैं अर्थात् भक्ति काव्य में भी साधन के रूप में वस्तुनिष्ठ काव्य सिद्धान्तों का प्रयोग किया जा सकता है। भक्तिकाव्य की आत्मा एक मात्र रस नहीं है। उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी मूलात्मा में निहित है क्योंकि इस काव्य का मूल ध्येय नैतिक संरक्षण है, जिसके कारण वह लौकिक काव्य से पृथक दिखाई देता है। इस दृष्टि से नैतिक संरक्षण एवं रस दोनों की मान्यताओं का पोषण काव्यशास्त्र के इन मूल्यों को करना होगा। इस दृष्टि से इसमें निम्न सावधानी अपेक्षित है।

१. कवि अलंकार रीति एवं वक्रोक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त कर सकता है।
२. जहाँ इस साधन पक्ष को प्रमुखता मिलेगी उसका प्रमुख काव्य मूल्य गौण हो जाता है।
३. यह आवश्यक नहीं है कि अलंकार, रीति या वक्रोक्ति का प्रयोग हो ही यदि कवि का कार्य बिना इसके सहारे रूप में चल जाता है तो उसे इसके प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।
४. अलंकार रीति तथा गुण के प्रयोग का उद्देश्य अलंकरण न होकर विषय का स्पष्टीकरण हो।

इस प्रकार भक्ति काव्य के लिए रीति, अलंकार एवं ध्वनि की अनिवार्यता नहीं है। यदि काव्य के साधन के रूप में कहीं इसका प्रयोग हो जाता है,

तो कवि करने के लिए तैयार है। विषयनिष्ठ सिद्धान्त के अन्तर्गत रस सम्प्रदाय को लिया जा सकता है। रस का सम्बन्ध भक्ति काव्य से है इसी के फलस्वरूप भक्त आचार्यों ने भक्ति काव्य के लिए भक्ति रस नाम से एक पृथक् रस स्वीकार किया भक्ति रस अपनी प्रकृति में काव्यरस से पृथक है। रस सामान्य मानव मस्तिष्क का अंग है, किन्तु भक्ति रस इससे भिन्न अलौकिक सम्बन्धों में अनुभूति प्रयत्न उज्वल एवं पवित्र है किन्तु रस की पृष्ठभूमि काव्यरस की पीठिका पर ही आधारित है। काव्यरस की ही भाँति इसमें भी विभाव, अनुभाव, एवं संचारियों की स्थिति वर्तमान है। साधारणीकरण तथा रस बोध की ही भाँति इसका भी अपना पृथक रसबोध सिद्धान्त है। जिस प्रकार रस का स्वभाव सत्, प्रकाशानन्द एवं चिन्मय है उसी प्रकार भक्ति रस का स्वभाव भी है किन्तु इसके होते हुए भी संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्राप्त रस सिद्धान्त से इस सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती। इसमें विभावानुभाव एवं संचारियों की प्रकृति लौकिक जगत के भावों की भाँति नहीं है। भक्तों का मानसिक भावन व्यापार भी सामान्य प्रमाताओं से भिन्न है सामान्य प्रमाता उस स्तर पर पहुँच ही नहीं सकता। फलतः रसबोध के सिद्धान्त की प्रकृति भी यहाँ बदल जाती है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के रस सिद्धान्त से भक्ति रस या भक्ति काव्य की व्याख्या सम्पूर्णतः नहीं की जा सकती।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रयुक्त रस सिद्धान्त की सार्थकता प्राकृतिक संवेदनों को इसी रूप में स्वीकार करने में है। तात्पर्य यह कि यहाँ किसी रस की व्यंजना तत्सम्बन्धी भाव की ही पुष्टि करने में होती है। किसी कवि का शृंगार वर्णन मात्र शृंगार की ही पुष्टि के लिए होता है, किन्तु वैष्णव भक्ति काव्य में रस के उदात्तीकरण की प्रवृत्ति प्रधान है। यहाँ वर्णित शृंगार रस की मूल व्यंजना शृंगार न होकर आध्यात्मिकता की व्यंजना से सम्बन्धित है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकृति का निरूपण रसाभास या भाव के अन्तर्गत किया गया है; किन्तु हिन्दी भक्ति काव्य में यही दृष्टि प्रमुख है और उसका समुचित विवेचन रसाभास या भाव आदि के द्वारा नहीं किया जा सकता।

रस के क्रम में एक तीसरी बात और भी द्रष्टव्य है संस्कृत के काव्यशास्त्री भयानक, रौद्र एवं अद्भुत को सामान्य उदात्त निरूपण की ही परिधि तक सीमित रखते हैं। भक्ति काव्य में भयानक, रौद्र एवं अद्भुत का व्यापक चित्रण

मिलता है, इनसे सम्बन्धित समस्त भावों को भयानक रौद्र एवं अद्भुत के सामान्य लक्षण क्रमों के अंतर्गत कर देना उचित नहीं है। इस दृष्टि से इसका व्यापक विवेचन अपेक्षित है। इनको रस सम्बन्धी संकीर्णता से बचने के लिए भक्ति काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है।

पहले कहा जा चुका है कि भक्ति काव्य का प्रयुक्त अंग उपयोगितावाद से सम्बन्धित है। भारतीय काव्यशास्त्र में उपयोगिता सम्बन्धी दृष्टि अति सामान्य है। फलतः तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन इसीके प्राप्त नहीं है इस दृष्टि से भक्ति काव्य के अध्ययन के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र का पूर्वक पैमा आधार ग्रहण करना समीचीन नहीं है।

इसके अतिरिक्त काव्य के अनेक ऐसे तत्व है, जिनके विषय में संस्कृत के काव्यशास्त्री निषेध करते हैं। काव्यरूपों के सम्बन्ध में ऐसी अनेक बातें आती हैं। आचार्यों द्वारा कथित प्रबन्धकाव्य में अंगीरस की समस्या, नायक, नायिका, कौन वस्तु मुक्तक के वर्ण्यविषय आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त आवश्यक नहीं हैं कि भक्ति काव्य पर चरितार्थ हो। काव्यरूपों के सम्बन्ध में इनकी पृथक दृष्टि ही मिलती है। भक्ति काव्य क्षेत्र में अनेक ऐसे काव्यरूप मिलते हैं, जो संस्कृत साहित्य में हैं ही नहीं। फलतः उनके लक्षण का निर्धारण प्राप्त भक्ति काव्य के आधार पर ही किया जा सकता है। दोष के विषय में भी यही स्थिति है। संस्कृत काव्यशास्त्र में अनेक ऐसे दोष हैं, जो भक्ति काव्य में उच्चतम गुण के रूप में स्वीकृत है। भक्तिरस को देवताविषयक रति कहकर आचार्यों ने निषिद्ध बताया था किन्तु हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि उसी को अपना आधार बनाते हैं।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की वास्तविक समीक्षा में वह कुछ रूपों सहायक नहीं है। वैष्णव भक्ति काव्य का अपना पृथक काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण आवश्यक है रूपगोस्वामी आदि भक्ति के आचार्यों ने इस दिशा में बहुत पहले ही प्रयत्न करके दिखा दिया था कि भक्ति काव्य का अपना पृथक शास्त्र होना चाहिए।

अध्याय २

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्श का

सैद्धान्तिक अध्ययन

काव्यमूल्य . काव्यादर्श .काव्य प्रयोजन

मूल्य शब्द वस्तुत: अर्थशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली का एक अंग है। साहित्य के क्षेत्र में इसका आगमन साहित्य में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के आगमन से हुआ है। इसलिए मूल्य शब्द को कलावादी आलोचक साहित्य के क्षेत्र में रखना नहीं चाहते। जैसा कि गुलाबराय जी का विचार है " अंग्रेजी भाषा में "वेल्यू" शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है; किन्तु वहाँ भी यह आर्थिक व्यंजना से निर्मुक्त नहीं हुआ है और शायद इसी से विशुद्ध कलावादी जो कला को सब मूल्यों से परे मानते हैं साहित्य के साथ मूल्य शब्द जुटा देखकर चौंक उठते हैं"१। यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि आज साहित्य के क्षेत्र में यह शब्द मूर्तिया व्यवहृत हो रहा है। इस प्रचलन ने मूल्य के अर्थ में प्रयुक्त समस्त शब्दावलियों का बहिष्कार सा कर दिया है। इसकी अर्थ व्यापकता ने ही आज आलोचना प्रक्रिया को मूल्यांकन की प्रक्रिया बना दिया है। इस मूल्यांकन के प्रश्न को उठाते हुये आई० ए० रिचर्ड्स ने मूल्य को आलोचना क्षेत्र में एक मात्र स्थायी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है।२ प्रसिद्ध दार्शनिक बी० बोसांके ने स्वीकार किया है कि यह एक ऐसा तथ्य जो निश्चित रूप से जीवन के व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक पदों में केन्द्रबिन्दु के रूप में निहित है।३ इस प्रकार अर्थशास्त्रीय शब्दावली में प्रयुक्त यह मूल्य शब्द आज व्यापक अर्थ में आलोचना दर्शन, नीति शास्त्र आदि क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रहा है।

इस स्थिति में काव्यमूल्य के विषय में भी प्रश्न उठना आवश्यक है। गुलाबराय ने इस मूल्य शब्द को व्यावहारिक एकांगिता एवं कला के क्षेत्र में इसकी अतिशय आलोचना की आवश्यकता और सदैव को नीति को उद्धृत करते हुये सम्यक: लिखा है कि "

---

१. अध्ययन और आस्वाद . साहित्य के मूल्य पृ० १

२. प्रिंसिपल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म . पृष्ठ ४०

३. द प्रिंसिपल्स आव इंडिविजुअलिटी एन्ड वेल्यू . पृष्ठ २३

शायद ऐसा ही आपत्तियों से बचने के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयोजन शब्द का व्यवहार हुआ।"१ अतः मूल्य एवं प्रयोजन प्रायः एक ही अर्थ को व्यक्त देते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के चतुष्टय अनुबन्धों में प्रयोजन को सर्वप्रथम स्थान मिला है। कुन्तक का विचार है कि समस्त अनुबन्धों से युक्त काव्य ही धर्मादि सिद्धि का मार्ग है।२. प्रयोजन की अनिवार्यता को स्वीकार करके कहा हुआ श्लोक "यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।" निश्चय ही इस बात का सूचक है कि बिना प्रयोजन के अभीष्ट का ज्ञान दुर्लभ हो जाता है। अतः संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने प्रत्येक शास्त्र के १ प्रयोजन २ अधिकारी ३ सम्बन्ध तथा ४ विषय। ये चार अनिवार्य अनुबन्ध स्वीकार किये हैं। आज की आलोचनात्मक शब्दावली में जिस अर्थ का बोध मूल्य शब्द से होता है। भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में उसे प्रयोजन शब्द से अभिहित किया जाता था। इस प्रयोजन के समानान्तर हिन्दी में हेतु शब्द का भी व्यवहार होता है किन्तु वह हेतु काव्य का आन्तरिक कारण बताया गया है। इसके लिए प्रतिभा, अभ्यास, व्युत्पन्नता आदि अनिवार्य कारण माने गये हैं। अतः हमारा तात्पर्य यहाँ काव्य हेतु से नहीं है।

काव्यमूल्य के साथ एक शब्द और भी स्वीकृत हो सकता है, वह है आदर्श। आदर्श को समानान्तर अंग्रेजी का (Ideal) शब्द है। यह भी मूल्य शब्द से संकीर्ण है। मूल्य वस्तुतः एक स्थायी गुण है। किसी निश्चित सिद्धान्तों को लेकर जब एक प्रकार के निश्चित मूल्यों की स्थापना की जाती है तो उसे आदर्श कहते हैं। इसीलिए आदर्श शब्द मूल्य का वह रूप है जो किसी निश्चित देशकाल के नियम से सम्बद्ध होकर प्रचलन में व्यवहृत होता है।

.....

१. अध्ययन और आस्वाद पृ० २
२. वक्रोक्ति जीवितक १:३ :

इस अर्थ में ही हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के काव्यादर्शों की समस्या निश्चित हो उनके उस काव्यमूल्य की समस्या है जो एक निश्चित साम्प्रदायिक धारा में बंधकर निश्चित लक्ष्य की ओर गतिशील हुई थी।

हिन्दी में वस्तुतः इस मूल्य आदर्श एवं प्रयोजन आदि के लिए एक निश्चित शब्दावली का व्यवहार नहीं है। सम्भवतः इसी भ्रान्ति से बचाने के लिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है कि 'प्रयोजन शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है कभी फल या कर्म का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोग की बड़ी विभिन्नता है।' १ : वस्तुतः प्रयोजन शब्द अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है। उसके अन्तर्गत कर्म, फल, उद्देश्य, हेतु, आदर्श तथा मूल्य सभी अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। अतः इस काव्य प्रयोजन को काव्यादर्श कहना ही उचित है।

यद्यपि इस काव्यादर्श में भी भ्रान्ति की संभावना कही हो सकती है। काव्य जीवन के अन्य सामाजिक मूल्यों से चालित होता है क्योंकि वह स्वतः सामाजिक अस्तित्वों के बीच स्थित है। अतः बाह्य रूप से इसमें सामाजिक के आदर्श भी आ जाते हैं। इसके साथ ही साथ रचनाकार साम्प्रदायिक प्रेरणाओं को भी आदर्श के रूप में स्वीकार कर सकता है। यहां नहीं काव्य स्वतः एक कला का रूप है क्योंकि उसका अपना कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। अतः उसमें कला के आदर्शों का अनिवार्यता अपेक्षित हो जाता है। अतः प्रश्न उठ सकता है कि इन जीवन और कला के आदर्शों में किसका चुनाव करें क्योंकि एक जीवन का आदर्श है दूसरा कला का आदर्श जिसे रचनादर्श कह सकते हैं। किन्तु काव्य के आदर्शों के सम्बन्ध में यह दुविधा उसके स्वभाव के भेद का है। कला के वस्तुतः दो आदर्श है, प्रथम कला के आदर्श और द्वितीय जीवन के आदर्श। जिसे वह व्यवहार क्षेत्र से ग्रहण कर अपना अनिवार्य अंग बना लेता है, अतः यहां दोनों आदर्शों का अध्ययन करना आवश्यक है। ये दोनों परस्पर भ्रान्ति के द्योतक नहीं हैं।

.....

१. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृष्ठ. ५६८.

शास्त्रीय क्षेत्र में अनेकानेक मूल्य प्रचलित हैं. सामान्यत: उन्हें भौतिक (physical) तात्त्विक (Metaphysical) तथा सामाजिक (Social) तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है. काव्य मानव मस्तिष्क की एक प्रक्रिया है जो सामाजिक व्यवहारों की अपेक्षा करती है, अत: उसे सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत रखा जाता है, लेकिन काव्य अपनी कलात्मकता के कारण अन्य सामाजिक मानव मूल्यों (Social Human values) से अलग हो जाता है, अत: काव्य के आदर्श का मूल्य सामाजिक मूल्य है, किन्तु दूसरी ओर काव्य अपनी कलात्मकता के कारण अन्य सामाजिक मूल्यों से पृथक हो जाता है। अत: काव्य अपनी प्रक्रिया में उन समस्त विषयों से पृथक है जो सामाजिक मूल्यों का अध्ययन करते हैं। इस रूप में काव्य वाणी व्यापारों से युक्त अपनी एक निश्चित पद्धति में सामाजिक मूल्यों को आदर्श बनाकर चलने वाला भावात्मक कला प्रक्रिया है। इसी आधार पर हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के काव्यों में 'काव्यादर्शों' का खोज करना इस निबंध का लक्ष्य है। इनके काव्यादर्शों या काव्यमूल्यों के अध्ययन के लिए उनके पूर्वकालीन संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में 'काम्य आदर्शों' का अध्ययन करना अपेक्षित है।

संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रीय आदर्श और परम्परा

यह सत्य है कि काव्यशास्त्रीय संकेत आचार्य भरत के पूर्व ही प्राप्त होने लगते हैं किन्तु इस विषय का प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह धर्मसापेक्ष सामन्तवादी वातावरण की रचना है।[१] इस युग तक प्राय: आर्य एवं अनार्य संस्कृतियाँ मनोरंजन के स्तर पर मिल चुकी थीं और वैदिक यज्ञीयम से समन्वित जीवन मूल्य समाज में पूर्ण रूपेण स्वीकृत होकर चल रहे थे। इसके अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि लौकिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा था। इस लौकिक संदर्भ को वैदिक जीवन संदर्भों के साथ जोड़कर उन्हें एक नया क्रम दिया गया था। ठीक उसी

---

१ भरत के नाट्यशास्त्र में नृत्य, नृत्त, रंगमंच आदि के संदर्भ में अनेक सामंतवादी परम्पराओं का सूचना मिलता है :

तरह नाट्य शास्त्र का उत्पत्ति मा हुई । वह चतुर्थ वेदो'के संयोजन से निर्मित पंचम वेद के नाम से पुकारा जाने लगा जिसका उद्देश्य लोकोपदेशजननता[१] तथा लोक विश्राम बताया गया । भारतीय कला सिद्धान्त अपना मूल स्थिति मे' कलापरक है ।कला को आनन्द मूलक प्रकृति मन की संवेदनशीलता पर आश्रित न होकर कला द्वारा सम्पादित क्रिया का उस विशिष्ट पद्धति पर आश्रित है जो अनुरंजनात्मक है । आरम्भ मे'ठीक ऐसा ही कुछ उद्देश्य नाट्य शास्त्र का भी था .—

वेदविद्येतिहासानामाख्यान परिकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।[२]

वस्तुत: जहां नाट्यशास्त्र लोक विश्राम का उद्देश्य लेकर व्यवहार जगत मे'आया था वहीं विनोदशीलता की प्रकृति मा उसके साथ जुट गई .

लोकजीवन का इस मान्यता के साथ आचार्य भरत ने एक विशिष्टवर्गके लिए भी अपना रचना का उद्देश्य बताया .वह वर्ग है तपास्वियो'का .उनके अनुसार दु:खार्त .शोकार्त . श्रमार्त . तपस्वियो'के श्रम के परिहारार्थ इस नाट्यवेद का रचना का गई था[३]. एक स्थल पर उन्होने तत्कालीन समाज प्रचलित मूल्यो'को भी नाट्यवेद का लक्ष्य बताया है ।

धर्म यशस्यमायुष्यं हित बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।[४].

नाट्यशास्त्र उनके अनुसार धर्म यश का प्रचारक आयु का साधक . हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेष्टा होगा . निष्कर्षत: भरत के अनुसार नाट्यशास्त्र के ये आदर्श होते है'. धर्म .यश .आयु .बुद्धि .हित . और उपदेश .

इन आदर्शों'का यदि विश्लेषण करे'तो ज्ञात होगा कि इनका दृष्टि वस्तुपरकता का ओर अधिक झुकाव है .दूसरे शब्दो' मे'ये वस्तुगत है' .ये समस्त नैतिक .सामाजिक एवं व्यक्तिगत आदर्श प्रेरक के लिए है'। इसमे'

.....

१: नाट्यशास्त्र अध्याय १ . १ श्लोक .११७: .
२ : " " ११६ :
३ : नाट्यशास्त्र अध्याय १ ११४ :
४ : " " ११५: : :

नाटककार को क्या प्राप्त होगा । इसकी कहीं चर्चा नहीं मिलती । इसका कारण सम्भवत: यही है कि आचार्य भरत तक लिखे गए नाटक वस्तुत: धार्मिक परम्परा से ही सम्बद्ध थे । उनका अनेक व्यक्तियों के द्वारा संकलन हुआ था त्रिपुरदाह, अब्धिमंथन, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया गया है, वे एक व्यक्ति की कृति नहीं है। उनके बीच रचयिता के प्रति निर्दिष्ट किए गए प्रयोजनों का यहाँ अभाव मिलता है। अधिक से अधिक यदि रचयिता को ध्यान में रखकर इन प्रयोजनों को निश्चित किया जाय तो वह विनोदजननता के अतिरिक्त और क्या होगा । नाट्यकाव्य के रचयिता सामूहिक संयोजक मात्र थे, और ऐसे संयोजकों को जिन्होंने कथोपकथन ऋक् से, रस अथर्व से, गीत साम से तथा कला यजुष से ली हो, उन्हें विनोद के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है। इसलिए काव्य को मूल प्रवृत्ति आनन्द या विनोद रचनाकार की संवेदनशील प्रवृत्ति का द्योतक है। यही कारण है कि इसी क्रम में को ध्यान में रखकर इन प्रयोजनों की टीका करते हुए अभिनवगुप्त को कहना पड़ा :

तथापि प्रीतिरेव प्रधानं .... प्राधान्येनानन्द एवोक्त:[१]

'इस प्रकार पूर्व कथित आनन्द प्रयोजन में प्रीति ही प्रधान है। यह प्रीति कला की अनुरंजनात्मक प्रकृति है न कि रसमन्य संवेदनशील आनन्द . अभिनवगुप्त अभिनवभारती में आनन्द और प्रीति दोनों प्रयोजनों का ही समर्थन करते हैं .

इस प्रकार आचार्य भरत के द्वारा निश्चित किए गए नाट्यादर्श वस्तुपरक ही अधिक ठहरते हैं.

अलंकार एवं रीति सम्प्रदाय

आचार्य भरत के पश्चात् भारतीय काव्यशास्त्र की एक प्रशस्त परम्परा

१: ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १४ :

प्राप्त होने लगता है । यह अपना दिशा में विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से चालित है । इस दिशा में दो सम्प्रदाय आते हैं , प्रथम रीतिवादी तथा दूसरा अलंकार वादी । अलंकारवाद निश्चित रुप से अलंकार्य विषय वस्तु के रुप में , क्रिया आदि के उत्कर्षी विधायक तत्वों का और अधिक संपुष्ट रहने के कारण (क्या) आनन्द, जिसका सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ रसात्मक सत्ता के प्रति संवेदनशील प्रवृत्ति के घोतन से है , का तिरस्कार कर अलंकृति के माध्यम से चित्त का चमत्कृति का विधान करता है । यह स्थिति उस समाज की है जहां की आर्थिक व्यवस्था प्राय: इस स्तर की होती है कि मानव समुदाय की आरम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता । काव्यशास्त्र का यह युग चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा हर्षवर्धन (के) काल तक (अर्थात् ईस्वीय) रहता है । यही भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है । इस युग में मानवीय आवश्यकताएं लोक जीवन के लिए स्थिर हो गई थीं । जीवन रक्षक मूल्य यथा लोकरक्षा , आत्मरक्षा , पारस्परिक मैत्री आदि मूल्य स्वत: सुलभ हो चुके थे , तथा उनके स्थान पर विनोद के मूल्य स्थापित (हो) गए थे । ठीक इसी स्थिति में अलंकार एवं रीतिवाद का पोषण हुआ . जिनमें वात्स्यायन भामह , दंडी , वामन जैसे कलावादी आचार्य हुए और जिनका समय विक्रम की दूसरी शती से लेकर आठवीं तक निर्धारित किया जाता है . इसी संदर्भ में इनके काव्यादर्शों का अध्ययन करना अपेक्षित है .

काल की दृष्टि से सबसे प्राचीन आचार्य भामह हैं । उन्होंने अपने 'काव्यालंकार . नामक ग्रन्थ में प्रयोजन विषयक चार श्लोक लिखे हैं वे ये हैं ।१

१ उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवंगत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य शरीर चन्द्रमा की तरह संसार में स्थित रहता है ।

२ . जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भूमंडल तथा आकाश में स्थित रहती है , वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते हैं ।

.....

१ . काव्यालंकार प्रथम परिच्छेद . श्लोक सं: २ . ७ . ८ . ९ . १० .

३ . इसलिए प्रलय पर्यन्त स्थिर रहने वाला कीर्ति की इच्छा करने वाले कवि को उसके समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

४ . काव्य में 'एक भी असुपयुक्त पद न आवे'. इसके प्रति कवि को सचेष्ट रहना चाहिये । बुरे काव्य का रचना करने से कवि का उसी प्रकार निन्दा होता है जैसे कुपुत्र से पिता का ।

५ . कुकवि बनने की अपेक्षा तो अकवि होना अच्छा है क्योंकि अकवित्व से तो धर्मप्रचार . व्याधिरक्षा । एवं देह रक्षा भी हो सकता है किन्तु . कुकवित्व को विद्वान् साधारण मृत्यु ही कहते हैं' ।

भामह ने एक अन्य स्थल पर समस्त प्रयोजनों का निष्कर्ष निकाल कर इस प्रकार कहा भी था ।

धर्मादि साधनोपायः सुखादाप्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम् ।।[1]

भामह के इन प्रयोजनों से इस प्रकार के निष्कर्ष निकलते हैं' ।

१ . काव्य के द्वारा जीवन के चरमतम पुरुषार्थों , अर्थ , धर्म , काम , मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

२ . काव्य प्रीति का उद्भावक है ।

३ . काव्य अन्ततया कीर्ति के प्रयोजन से ही प्रेरित है । कीर्ति प्रयोजन की व्याख्या के संदर्भ में उन्होंने कविकी यशःकाया का विस्तृत चर्चा की है। सत्कवियों का कीर्ति , वस्तुतः उनके दिवंगत हो जाने पर यावच्चन्द्रदिवाकरौ स्थिर रहती है । तथा मृत्यु के बाद भी कवि उसके द्वारा देवपद का भोग करते हैं' । इसलिए काव्य की कलापेक्षित शिक्षा ले लेना कवि के लिए अनिवार्य है ।

४ . इसी प्रसंग में उन्होंने अकवियों के काव्य प्रयोजनों का भी संकेत कर दिया है , वे ये हैं' .—

क . धर्म प्रचार
ख . व्याधि रक्षा .
ग . दन्ड से रक्षा .

पहले कहा जा चुका है कि भामह उस कलावादी विचारधारा के स

.....

१ . काव्यालंकार : प्रथम परिच्छेद . श्लोक सं. २ :

समर्थक हैं, जहाँ कला का मूल उद्देश्य प्रीति से सम्बन्धित ज्ञात होता है। जीवन के परम पुरुषार्थों का प्राप्ति से इस कलावादी उद्देश्य का लक्षण नहीं होता, भारतीय संस्कृति आरम्भ से ही आदर्शपरक रहा है। जीवन के ये ही चार पुरुषार्थ प्राय: अन्य कलाओं के लक्ष्य के रूप में मिलते हैं। वात्स्यायन के काम सूत्र का भी प्रयोजन इन्हीं चतुर्थ पुरुषार्थों का प्राप्ति ही है। भामह का मूल प्रयोजन कला के माध्यम से जीवन रक्षक मूल्यों का समर्थन करना नहीं है। काव्य का तीसरा प्रयोजन कीर्ति को भी काव्य का आन्तरिक प्रयोजन नहीं स्वीकार किया जा सकता। यश जीवन गत मूल्य न होकर एक वैयक्तिक धारणा है जिनका अस्तित्व रचना प्रक्रिया में न होकर रचना की मानसिक स्थिति में है। यह रचना प्रक्रिया, स्वरूप, शिल्प, आदि को न प्रेरित कर कवि की प्रेरणा को आगे बढ़ाता है। इसीलिए सम्भवत: डा० नगेन्द्र का विचार है कि "इसमें सन्देह नहीं कि कीर्ति के प्रति बहुत बड़ा रुझान रहता है और कवि के लिए भी वह बाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है फिर भी वह काव्य का आधारभूत प्रयोजन नहीं है ....

.... कीर्ति को प्रयोजन मानकर महान् काव्य की रचना सम्भव नहीं है. १

भामह द्वारा प्रयुक्त प्रीति शब्द ही तत्कालीन काव्यवृत्ति के उद्घाटन के लिए पर्याप्त है। यह प्रीति आनन्दमूलकता है। यह आनन्द मूलकता कला के स्वभाव का अंग है। इस स्वभाव का संरक्षण ही काव्य कला के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य का संरक्षण है। इस प्रीति को ही परवर्ती अनेक आचार्यों ने एक मात्र काव्य का स्वभाव बताया है। काव्य के वस्तुवादी समर्थक विशेषत: दन्डी, रुद्रट, उद्भट - एवं वक्रोक्तिवादी कुन्तक इसी प्रीति को ही स्वीकृत देते हैं।

वामन ने अलंकार काव्य के काव्य प्रयोजनों की चर्चा उठाते हुए कहा है. सुन्दर काव्य प्रीति एवं कीर्ति का हेतु होने के कारण दृष्ट [ऐहिक] और अदृष्ट [आमुष्मिक] फल का प्रसारक होता है। २. इसी सम्बन्ध में उन्होंने चार और श्लोक कहे हैं, इन श्लोकों के निष्कर्ष ऊपर की मान्यताओं का समर्थन करते हैं। ३.

.....

१ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका पृ० १५.

२. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १: १ : ५ : .

प्राप्ति एवं कीर्ति का हेतु होने के कारण दृष्ट [ऐहिक] और अदृष्ट [आमुष्मिक] फल का प्रवारक होता है । इसी सम्बन्ध में उन्होंने चार और श्लोक कहे हैं[2]। इन श्लोकों के निष्कर्ष भी ऊपर की मान्यताओं का समर्थन करते हैं[3]। काव्य प्रयोजनों का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होंने कहा है कि इस काव्यालंकार सूत्र के विषय को अच्छी तरह हृदयंगम करने के बाद काव्य रचना में प्रवृत्त होने वाले कवि उत्तम काव्य की रचना में समर्थ होकर कीर्ति का भाजन बनेंगे और कुकवित्व के दोष से बच जायेंगे[4]। इस प्रकार वामन अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह तथा दंडी के मतों का अनुसन्धान भी करते हैं। निष्कर्षतः ये भी कलावादी आचार्य ठहरते हैं। अलंकारवादी रुद्रट ठीक इसी परम्परा का समर्थन करते हैं। सालंकारता के कारण देदीप्यमान और [दोषाभाव के कारण] निर्मलरचना का निर्माता महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ अपने तथा अपने नायक के प्रत्यक्ष युगान्त तक रहने वाले जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है । इसी के साथ उन्होंने काव्यादर्श सम्बन्धी १० श्लोकों में इन धारणाओं की पुष्टि की है[4]।

१: कवि चिरस्थायी महान् निर्मल आह्लादिक समस्त जनों को प्रिय राजादि के यश का विस्तार करता है ।

२: रुचिर देवस्तुति की रचना करने वाला कवि धन , विपत्तियों का विनाश असाधारण आनन्द अथवा मनोवांछित फल का भोक्ता होता है ।

३: राजाओं का विनाश हो जाता है किन्तु उत्तम कवियों का विनाश नहीं होता।

४: कवियों को पुरुषार्थ सिद्धि की कामना रखना चाहिए । क्योंकि रसिक जन नारसभाष्यों से मर जाते हैं। अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है । रुद्रट भामह दंडी वामन द्वारा कथित काव्यादर्शों का किंचित् विस्तार करते दिखाई पड़ते हैं। रुचिर देवस्तुति का

.....

१: काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १:१:५:

२: ,, ,, कारिका के बाद के ४ श्लोक :

३: भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा पृ.७१:

४: काव्यालंकार १:४

उन्होंने एक अन्य प्रयोजन असाधारण आनन्द बताया है । वह असाधारण आनन्द आराध्य की इष्ट के प्रति संवेदनशीलता है जो भक्ति के अन्य आनन्द के अधिक निकट है । इस स्तुतिपरक काव्य को मामह ने अकवित्व का गुण माना है । किन्तु रुद्रट इसे `विरचित रुचिरस्तुति ` कहते हैं । तात्पर्य यह कि इन सारस स्तुतियों को काव्य का सामा के अन्तर्गत रखने में उन्हें किंचित् मात्र भी असन्तोष नहीं है ।

इनका दूसरा विशेषता है राजादि के यश के विस्तार के प्रयोजनों की चर्चा करना । इनके पूर्व के आलंकारिकों ने इस विषय में संकेत मात्र किया था । रुद्रट उसका विस्तार करते हुए इनके गुणों को निम्न विशेषताएं बतलाते हैं निर्मलता चिरस्थायित्व तथा आनन्दमूलकता । ये महान् चरित्र निश्चित ही पाठक में महानता निर्मलता तथा आह्लादिकता का संचरण करने में समर्थ हो सकते हैं । अतः रुद्रट तक पहुँचते पहुँचते काव्य का उद्देश्य निर्मल महान् एवं आह्लादिक चरित्रों का निर्माण करना सिद्ध हो चुका था । व्यवहारिक दृष्टि से महाकाव्य के शिल्प में `उदात्तता ` को नायक का सर्वश्रेष्ठ गुण स्वीकार कर अश्वघोष और कालिदास से लेकर अब तक इसी आदर्शों के अनुसार महाकाव्य का प्रणयन होता रहा है ।

रुद्रट की एक अन्य विशेषता है `रसिक नीरस भावों को न पढ़कर भावानुमोदित विषयों का ज्ञान सरस काव्यों के करते हैं ।[1] इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि नीरसता भावों का गुण है तथा इसके प्रतिकूल काव्य का गुण है सरसता । इसी के प्रतिपादन के लिए काव्य का प्रयोग होना चाहिए।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुन्तक ने चार श्लोकों में काव्यादर्शों की अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या की है। उनके कथन का निष्कर्ष इस प्रकार रखा जा सकता है :

१: काव्य का उद्देश्य उच्चकुल में उत्पन्न मन्दबुद्धि राजकुमारों के हृदय को आह्लादित करके धर्मादि चतुर्थ परम पुरुषार्थों का ज्ञान कराना है।

२: नित्य प्रति लौकिक पुरुषों के लिए नूतन व्यवहार का बोध कराने वाले साधन के रूप में काव्य प्रयोग अभीष्ट है।

३: वह काव्यामृत को समझने वाले पुरुषों के अन्तःकरण में चतुर्थ वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करने वाला एक साधन[1] है।

कुन्तक का समय ११वीं शती के आरम्भ का है। इस युग की उच्च कलाएं संगीत स्थापत्य मूर्ति एवं काव्य [एक कला की भाँति] प्रायः सामन्त वर्ग में अधिकृत हो चुका था। लौकिक रचना के लिए काव्य के माध्यम एवं उनकी भाषा का आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। इस युग की लिखी गई रचना अधिकाधिक सामन्तवर्ग की ओर उन्मुख होने लगा था। प्रायः इनके चरित्र सामन्तवर्ग के होते थे तथा रचनाएं सामन्तवादी व्यवस्था तत्सम्बन्धी नीति एवं क्रिया व्यवहार तथा राजपुत्रों के व्यवहार ज्ञान से प्रत्यक्षतः अभिप्रेत थीं। प्रसादी राजपुत्रों के लिए नीरस जटिल शास्त्रोक्तनीति का ज्ञान थोरे थोरे दुर्बोध एवं क्लिष्ट होता जा रहा था। अतः उनके व्यवहार, नीति, शासन सम्बन्धी ज्ञान के लिए काव्य रचनाएं निर्मित होने लगा था। कथा साहित्य में हितोपदेश की रचना का यही कारण है। ठीक इसी तरह के प्रयास हिन्दी के रीतिकाल में भी हुए हैं।

इसके अतिरिक्त जैसा कि डा० नगेन्द्र का विचार है[2] कि काव्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र में राजवंश राजकुमार आदि का प्रयोग प्रतीकार्थ में किया जाता था। उनके अनुसार अभिजात शब्द से एक ध्वनि निकलती है वह है संस्कारशीलता की। दूसरी बात यह कि काव्य आदि के द्वारा उन्हें शिक्षा का ज्ञान सरलता से दिया जा सकता है। अतः यहाँ राजकुमार का अर्थ अभिजात्य समाज से ही निकालना चाहिए। अतः यहाँ भी राजकुमार आदि को प्रतीक अथवा उपलक्षण मानकर सहृदय समाज ही ग्रहण करना चाहिये[3]। है किन्तु

.....

१: वक्रोक्ति जीवितम् १:३ १:५ १:६

२: भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका डा० नगेन्द्र पृ० २०५, २०६, २०७ :

३: भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका डा० नगेन्द्र पृ० २०५ :

डा० नगेन्द्र का यह विचार यदि इस प्रकार होता तो और भी स्पष्ट था । यद्यपि राजकुमार आदि आभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के कारण निश्चित ही उच्च संस्कार युक्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु प्रमादी राजकुमारों को शिक्षा देने का अर्थ है संस्कारच्युत अभिजात्य वर्ग को पुन: संस्कार युक्त बनाना। इस प्रकार डा० नगेन्द्र के ही शब्दों में यदि कहा जाय तो इसका अर्थ होगा कि संस्कारच्युत समाज को सहृदयता के माध्यम से पुन: संस्कारयुक्त बनाना इनके काव्य का एक स्पष्ट मूल था । अत: इस प्रयोजन का तात्पर्य मात्र इतना ही हो सकता है कि संस्कारच्युत मद्र पुरुषों को ~~पुनर्संस्कार~~ पुनर्संस्कृत करना इनका स्वीकृत आदर्श था :

प्रथम प्रयोजन संस्कृत वर्ग के लिए था किन्तु दूसरा प्रयोजन नित्य लौकिक पुरुषों के लिए है । एक ओर काव्य राजकुमारों के संस्कारों का मार्जन करता था तो दूसरी ओर लोक व्यवहार की जटिलताओं का समाधान करने का साधन भी । इसका उद्देश्य लोक को मार्जित करने एवं उसे लोकनीति से पुष्ट सामाजिकता के बीच प्रतिष्ठ बनाने से है । अत: काव्य एक ओर जहाँ उच्च सामंतवर्ग को नीति का शिक्षा देता है वहीं लौकिक जनों को लोकनीति के ज्ञान से शून्य भी रखता है ।

कुन्तक का तीसरा प्रयोजन अपेक्षाकृत प्रौढ़ है । उनके अनुसार काव्य का अन्तिम प्रयोजन चतुर्थ पुरुषार्थों [अर्थ धर्म काम मोक्ष] के ऊपर महत्वपूर्ण सहृदयों में अन्तश्चमत्कार की सृष्टि करना है । इस 'अन्तश्चमत्कार' को नाट्य शास्त्र में 'विनोदजननता' की संज्ञा दी गई है । अलंकारवादी भामह, रुद्रट वामन उद्भट आदि इसे 'प्रीति' की संज्ञा देते हैं । ध्वनि एवं रसवादी इसे 'आनन्द' कहकर पुकारते हैं । वक्रोक्तिवादी वस्तुत: रूपवादी या वस्तुनिष्ठ (objective) शास्त्रकार हैं । वे अन्तर्वेदना को काव्य के लिए इतना आवश्यक नहीं मानते जितना कि रस या ध्वनि वादी । इस वक्रोक्ति सिद्धान्त के द्वारा काव्य रस या उसके विषयारूप (Subjective Aspect) का व्याख्या नहीं की जा सकती । काव्य का स्वभाव आनन्दमूलक है यह तथ्य अस्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके बिना काव्य संभव नहीं है । अत: काव्य के इस आनन्द को वस्तुनिष्ठ बनाते हुए रीति एवं अलंकारवादियों ने इसके लिए 'प्रीति' की संज्ञा दी

इसी संदर्भ में 'वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने इसे 'अन्तश्चमत्कार' कहकर पुकारा है। इसका तात्पर्य कदाचित् यह है कि अर्थबोध से चित्त में जो चमत्कृति उत्पन्न होता है, वही इस आनन्द का मूल कारण है, किन्तु यह धारणा असंगत है। अन्तश्चमत्कार एक ज्ञानवृत्ति है वह रसबोध नहीं करा सकता क्योंकि रसबोध एक निश्चित क्रम में होता है जो मात्र अनुमेयगम्य है जिसे ध्वनिवादी आचार्यों ने असंलक्ष्यक्रम कहा है। अतः यह अन्तश्चमत्कार प्रीति प्राप्ति या आनन्द का समकक्षता तक नहीं पहुंच सकता।

परवर्ती रस वादी तथा ध्वनि वादी सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय की अन्तिम मान्यता है काव्य में रसवत्ता की प्रधानता स्वीकार कर काव्य के समस्त मूल्यों में एक मात्र उसी का स्थापना करना। रस मूलतः आस्वादनशीलता, हृदयस्पर्शिता एवं द्रवणशीलता का द्योतक है। ध्वनि वादी आचार्यों के अनुसार ध्वनि ही काव्य की मूलात्मा है। किन्तु ध्वनि की मूलात्मा रस है। इसलिए ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में रसयिता को ही सर्वोत्कृष्ट माना है नियोगमार्गी एवं बोद्धा अपेक्षाकृत गौण महत्व के हैं[1]। रसवादी एवं ध्वनि वादी आचार्यों के काव्य प्रयोजनों में विशेष अन्तर नहीं है। रस वादी आचार्यों में भरत का सर्व प्रथम नाम आता है किन्तु भरत ने 'आनन्द' को काव्य का प्रयोजन नहीं माना है। किन्तु रस का स्वभाव उन्होंने आनन्द मूलक अवश्य बताया है। इस आनन्द को उन्होंने लौकिक धरातल पर ही स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोक में 'आनन्द' का भूमिका के लिए आनन्दवर्धन सर्व प्रथम 'तेन क्रमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्[2]' के द्वारा संकेत किया है। उन्होंने सहृदय की व्याख्या करते हुए बताया है कि येषां काव्यानुशीलनाभ्यास वशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयं तन्मयी भवनयोग्यता से सहृदय संवाद भाजः सहृदयाः।

१: ध्वन्यालोक श्लोक सं : २:
२: ध्वन्यालोक श्लोक सं. २:

यो धौ हृदयसंवादो तस्यभावो रसोद्भव।
शरीरं व्याप्तं तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना

अर्थ :

इनके अनुसार काव्य के वर्ण्य विषय में 'तन्मयीभावयोग्यता जो 'सहृदय संवाद भाजता 'अर्थात् तत् विषयरसमयता या तन्मयता [साधारणी करण] से युक्त होने के कारण सहृदय में 'आनन्द की उपलब्धि कराता है, + उसकी मूलात्मा है। सहृदय ही रसिक है। निश्चित ही भाव अपनी हृदय संवादता के कारण रस निष्पत्ति में 'सहायता होता है। इस प्रकार सहृदय ही रसभोक्ता होता है। इस कथन में 'निश्चित रूप से आनन्द को चित का एक द्रावक गुण स्वीकार किया है जो आचार्य भरत के पानक रस या 'व्यंजन रस से अधिक व्यापक है।

आनन्दवर्धन के व्याख्याता अभिनवगुप्त इसी आनन्द को काव्य की मूलात्मा स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि चतुर्वर्ग फलों की प्राप्ति में 'आनन्द प्रयोजन ही सर्वोत्कृष्ट है ['चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पर्यन्तिकम् मुख्यम् फलम्]। तथा इस 'आनन्द 'को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि –

आनन्द इति रस चर्वणात्मन: प्राधान्यदर्शनम् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मात्वं दर्शयति[1]। इसके साथ ही साथ उन्होंने मामह द्वारा कथित कीर्ति एवं प्रीति प्रयोजनों की भी व्याख्या की है। किन्तु वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। अभिनवगुप्त की रस सम्बन्धी प्रमुख धारणा शान्तिरस की प्रतिष्ठा करने में है। अत: उनका आनन्द मात्र आनन्दवर्धन के भाष्य तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। ध्वनिवादियों में 'काव्यादर्श की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्या आचार्य मम्मट की है। इसका कारण यह नहीं कि उन्होंने काव्य प्रयोजनों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है अपितु इसका कारण मात्र इतना ही है कि उन्होंने परम्परा से चले आते हुए समस्त प्रयोजनों को स्पष्टत: कवि और श्रोता की दृष्टि से विभक्त कर इन्हें अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट कर दिया।

.....

१: ध्वन्यालोकलोचन: रश्मिलोचनोक्त: आशाक्ता: प्रथम उद्योत पृ २८

मम्मट के काव्यप्रयोजन यश, अर्थप्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, शिवेतरक्षति, कान्तासम्मित उपदेश, सद्यः परिनिवृत्ति, वस्तुतः परम्परा से चले आते हुए प्रयोजनों के संकलन मात्र हैं[1]। इन प्रयोजनों में उनका मूलदृष्टिकोण सद्यः परिनिवृत्ति का ओर था जिसे उन्होंने सकल प्रयोजनों का मूलभूतता के नाम से स्वीकार किया। यह सद्यः परिनिवृत्ति काव्यानन्द है। इसकी दूसरी विशेषता है 'रसास्वादनसमुद्भूत विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्'[2] कहकर उन्हें उपनिषदादि में स्वीकृत आत्मा के गुण आनन्द के समानान्तर स्वीकार करना। यह वस्तुतः आचार्य मम्मट का ही प्रयास था जिसका विस्तार कर साहित्य दर्पणकार ने इसे ब्रह्मानन्द सहोदर की संज्ञा दी।

साहित्यदर्पण के अनुसार काव्य प्रयोजनों की सूची इसी प्रकार मिलती है :-

चतुर्वर्ग फल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।

इसकी व्याख्या करते हुए डॉ० सत्यव्रत सिंह के कथन विचार है कि "काव्य प्रयोजनों का निरूपण आलंकारिक आचार्य परम्परा से करते चले आ रहे थे, किन्तु काव्य समीक्षा के प्रयोजनों का विचार सम्भवतः विश्वनाथ कविराज ने ही किया। काव्य और काव्यसमीक्षा की विभिन्न कृतियों में एकरूपता का अनुसंधान कर जो प्रयोजनैक्य सिद्ध किया है वह एक लौकिक कृत्य है।"[3] किन्तु इस प्रशंसा में अधिक बल नहीं है। शायद डॉ० सिंह का विचार है कि चतुर्वर्ग फल प्राप्ति के अन्तर्गत ही मम्मट के षट् प्रयोजन आ गए हैं। यही उनका प्रयोजनैक्य है। इसी दृष्टि से उन्होंने आगे स्वीकार भी किया है। इस प्रकार पंडित राज विश्वनाथ परम्परा से चले आते हुए प्रयोजनों का कथन मात्र दिया है। चूंकि उनकी आस्था रस पर अधिक थी अतः उन्होंने काव्यानन्द को ब्रह्मसहोदर की संज्ञा दी मात्र यही इनकी मौलिकता कही जा सकती है।

.....

१: काव्यप्रकाश श्लोक सं. ३ :
२: साहित्य दर्पण श्लोक सं. २:
३: साहित्य दर्पण: विमर्शटीका : पृ० ३ तथा ४

सच्चीदेक से निष्पन्न,, प्रकाशानन्द ,सहज ,चिन्मय,, वेदान्तस्पर्शशून्य।ये समस्त विशेषण उपनिषदों में ब्रह्म के लिए दिए गए हैं ब्रह्म के उन विशेषणों को ब्रह्मानन्द सहोदर में समाहित कर देना अपने आप में विशेष मौलिकता नहीं है। इस प्रकार प्रयोजन विषयक धारणा में उनकी मौलिकता अस्पष्ट है। इसी प्रकार पंडितराज जगन्नाथ भी प्रयोजनों में आनन्द की ही प्रमुखता स्वीकार करते हैं किन्तु उसमें परम्परानुमोदन मात्र मिलता है। परवर्ती अन्य काव्यशास्त्रियों हेमचन्द्र ,भोज ,मम्मट महाराज शिशुपाल आदि के द्वारा परम्परा से चले आते हुए इन्हीं प्रयोजनों का स्वीकरण मिलता है। वस्तुत: संस्कृत का काव्यशास्त्र का ह्रासोन्मुखी काल था। ऐसी अवस्था में प्राय: मौलिकता का अभाव पाया जाना अधिक आश्चर्यजनक नहीं है।

सम्पूर्ण व्याख्या से ये निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाले जा सकते हैं।

१ काव्य का मूलादर्श आनन्द की सृष्टि करना है। यही आनन्द लौकिक दृष्टि से विनोदजननता तथा आलंकारिक दृष्टि से प्रीति है। वक्रोक्तिवादी इसे अन्तश्चमत्कार की संज्ञा देते हैं।परवर्ती रस एवं ध्वनिवादी आचार्यों ने इस आनन्द को लौकिक धरातल से उच्च ब्रह्मानन्द सहोदर के समकक्ष रखकर उपनिषद् कथित आनन्द के समानान्तर ठहराया है।

२ काव्य का दूसरा प्रयोजन यश या कीर्ति की प्राप्ति को माना गया है यह दो प्रकार से व्यवहृत हुआ : क : अक्षुण्य रहनेवाली निर्मल कीर्ति वर्णन
ख : अक्षुण्य यश प्राप्ति के लिए गुणानुवाद

३: राजकुमारों को शिक्षा देना - जिसका तात्पर्य है संस्कारच्युत को संस्कृत करना।

४ लोक व्यवहार की प्राप्ति जिससे लोकनीति की शिक्षा मिले व्यक्ति जिससे यह सोच सके कि वे राम की भाँति आचरण करें, रावण की भाँति नहीं

५: दैविक मधुर स्तुति स्तुतियों द्वारा अनिष्ट का विनाश द्रव्य की प्राप्ति तथा मनोकामनाओं की पूर्ति ।

६: राजाओं का प्रशंसा द्वारा उनका विश्वासपात्र बने रहना तथा उनसे द्रव्यार्जन ।

७: धर्म अर्थ काम मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति ।

८: शिवेतर तत्वों से रक्षा के लिए काव्य सृष्टि ।

९: अकाव्य के संदर्भ में ये प्रयोजन अपेक्षाकृत गौण हैं ।

क : धर्मप्रचारार्थ काव्य की सृष्टि ।

ख : व्याधि से रक्षार्थ काव्य की सृष्टि

ग : दंड से रक्षार्थ काव्य की सृष्टि

इस प्रकार संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रियों ने अनेक रूपों में काव्य मूल्यों को व्याख्या करके काव्य की जीवन्तता का परिचय दिया है ।

••

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों के काव्यादर्श

पहले कहा जा चुका है कि आदर्श और मूल्य वस्तुतः एक ही हैं। वैष्णव भक्त काव्यों में अन्तर्व्याप्त मूल्यों की खोज के लिए हमें उनके काव्यों में निहित काव्यादर्शों का अध्ययन करना आवश्यक है। रचना के अन्तस्साक्ष्यों, उद्धरणों एवं उसकी प्रकृति को इसके अन्वेषण का माध्यम बनाया जा सकता है। रचना के अन्तस्साक्ष्यों के सम्बन्ध में सबसे भारी कठिनाई यह पड़ती है कि ये रचनाएँ मूलतः काव्य के रूप में ही प्राप्त हैं। साथ ही इनकी दृष्टि शास्त्रीय न होकर काव्यपरक है। ये शास्त्रकार न होकर कवि हैं। उन्होंने अपने काव्यों के लिए अलग से काव्यशास्त्र नहीं लिखा है जो कुछ सामग्री है स्फुट रूप से कवि मुक्त मनोवृत्तियों से परिपूर्ण उद्धरण रूप में ही। यद्यपि परवर्तीकाल में भक्तिकाव्य को लेकर शास्त्र का स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया किन्तु उसके बाद भी उसके विश्लेषण की अनिवार्यता बनी रही है। अतः कवियों द्वारा कथित यत्र तत्र कथित उक्तियों को ही आधार मानकर इसकी खोज की जा सकती है। इन रचनाओं के उद्धरणों को तर्क की कसौटी पर कसने के लिए इन कवियों की रचनाएँ तथा काव्यप्रकृति पर्याप्त है। जिन रचनादर्शों का इन कवियों ने सूत्र रूप में संकेत किया है प्रायः उन समस्त आदर्शों की स्वीकृति उनके काव्य से हो जाती है। अतः इसको इस विषय में एक पुष्ट आधार माना जा सकता है। अन्तस्साक्ष्य के आधार पर वैष्णव भक्त कवियों के काव्यादर्श इस प्रकार हैं -

क लोक मंगल की उद्भावना तथा रामनाम की अनिवार्यता

ये कवि काव्य का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य लोकमंगल की भावना को ही मानते हैं काव्य निःश्रेयस् की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। इस निःश्रेयस के लिए इन्होंने वाणी विनायक की स्तुति को अनिवार्य बताया है[१]।

.....

१: रामचरित मानस बालकान्ड दो० सं. ६. २. ९१ :

काव्य और काव्य के अभेद परमार्थ के साधन स्वरूप है[1]। व्यास आदि अनेकानेक कवि पुंगवों ने अपने काव्य के द्वारा पुनीता सरस्वती की महिमा बढ़ाई है। वे कवि वंदनीय हैं जिन्होंने राम के चारु चरित्र का गान कर लोक में उनके विमल यश का प्रसार किया है[2]। काव्य स्वयं पावन है क्योंकि वह 'राम नाम' से मंडित है। इसके श्रोता एवं वाचक दोनों ही पुनीत पद के अधिकारी हैं। यह 'रामनाम' काव्य के लिए अनिवार्य तत्व है। इस रामनाम से शून्य काव्य मूल्यहीन है[3]। यथा अलंकृत नायिका नग्न होने पर निरादृत होती है तथैव काव्य राम नाम के बिना उच्च पद का अधिकारी नहीं हो सकता। समस्त गुणों से युक्त किन्तु रामनाम से रिक्त काव्य समस्त सन्तों के लिए मधु मधुकरवत् ग्राह्य है। क्योंकि 'रामनाम' से युक्त काव्य ही विश्वमंगल के लिए अनिवार्य साधन है[4]। इस रामनाम से ही भक्त कवि के पास सरस्वती स्वतः दौड़ी आती है। उसके स्मरण से ही सरस्वती मानस से निकल कर मुख पंकज में आ कर विमल विवेक की उद्भावना करती है। वह राम चरित्र के मानस में मज्जन कर अपने श्रम का परिहार करती है[5]। इसीलिए उसके द्वारा प्रणीत होने वाला काव्य निश्चित रूप से समस्त दोषों का विनाश करता है। कवि तथा विद्वान गुणों निःसन्देह कलिमल के प्रक्षालनार्थ हरि का यश गान करते हैं[6]। अतः कविता वही श्रेयस्कर है जो 'रामनाम' से मंडित हो। वह गंगा की भांति सर्व जन हितार्थ प्रसूता होने वाली एक कृति है[7]।

.....

१: नन्द अनेकार्थ ८० स. ३४

२: राम० बा० का० दो० सं० १४

३: राम दो० सं. ६ की चौ. सं. ६

४: राम० दो० सं० ६

५: रामचरित मानस बालकान्ड दो० सं० २६० : चौ० ७.८.

६: रामचरित मानस : बालकान्ड : दो० सं० ११ की चौ०

७: रामचरित मानस: बालकान्ड दो० सं० १४ की चौ०

राम का चरित्र सर्वथा पवित्र मनोहर एवं मंगलमय है । इन कवियों ने इसे एक मानस के समान बताया है जिसमें सुमति भूमि है, वेद और पुराण उदधि है, साधु जन मेघ है। इनसे प्रभावित काव्य ही समाज में मंगलमय जल की वर्षा करता है । भगवान् की यह सुन्दर लीला जिसका गान ये कवि करते हैं, कलिमल का विनाश कर सात्विकता का संचार करती है । राममक्ति जलवत् है, उसके प्रति अर्पित प्रेम उस जल की शीतलता है, इसी जल से ही 'पुन्य' सम्मक्तों के लाधान्न उत्पन्न हो सकते हैं। यही 'पुन्य' राम मक्तों के लिए एक मात्र आधेय है : यह शीतल जल श्रवण रन्ध्रों से मेधा में एकत्रित होकर मंगलमय व्यक्तित्व की रचना करता है । यह सत्य है कि अपना काव्य किसे अच्छा नहीं लगता, काव्य तो वह है जो सर्वजन हितग्राही हो[1] । जिस प्रकार मणि, माणिक्य, मुक्ता क्रमशः अहि, गिरि, गज में उतनी शोभा नहीं पाते जितना कि नृप किरीट तथा तरुणी के शरीर पर उसी प्रकार काव्यसहृदयों के बीच ही मंडित होते हैं[2]। यदि हृदय सिन्धु है, तो मति सीप है; सरस्वती स्वाति जल है। सरस्वती की कृपा होने पर ही चारु कवित्व के मुक्ता का वपन होता है अन्यथा काव्य असंभव है इस सूक्ष्म काव्य का सहृदय सामान्य जन नहीं हो सकता, सज्जन ही इसे युक्ति पूर्वक पिरो कर पहन सकते हैं; जिसके भोक्ता सज्जन हैं, जिसकी अभिव्यक्ति समस्त मानवीय उच्च भूमिकाओं से ही सम्भव है, वह काव्य सामान्य उद्देश्य के लिए कभी भी नहीं निर्मित हो सकता । प्राकृत जनों के काव्य लोक कल्याण के लक्ष्य को पूर्ण नहीं करते इसीलिए उनके काव्य के प्रति साक्षात् सरस्वती को सर धुन कर पछताना पड़ता है[3] ।

.....

१: रामचरित मानस: बालकांड दो० सं० ३८ को ३ . ६ अर्धाली

२: रामचरित मानस: बालकांड दो० सं० ११ की ३ चौपाई

३: रामचरित मानस: बालकांड दो० सं. ११ की चौ०

४: रामचरित मानस: बालकांड दो० सं० ११ की चौ० .

वैष्णव भक्त कवियों के इन संकेतों से इस प्रकार निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

१: काव्य के लिए रामनाम या हरिनाम अनिवार्य है।

२: उसकी उद्भावना उदात्त पृष्ठ भूमि में ही संभव है।

३: अन्ततः वह काव्य लोकमंगल की भावना का उद्भावक होता है।

: काव्य से समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति :

इन कवियों के अनुसार काव्य समस्त पुण्यों का एक मात्र आधार है क्योंकि यह राम के पावन चरित्र ~~में अवगाहन करते हैं~~ से पूर्ण है। यदि सामान्य जन भी प्रेम पूर्वक इस चरित्र में अवगाहन करते हैं तो निःसन्देह वे चतुर्थ परम पुरुषार्थों के भोक्ता होंगे[1]; जहाँ हरि कथा होती है, समस्त तीर्थों का वहाँ निवास होता है[2] यही नहीं उसकी ~~पुण्यता~~ पवित्रता के कारण समस्त तीर्थ वहाँ दौड़े चले आते हैं। हरि कथा स्वतः तीर्थ स्थान है, हरिहरकथा तीर्थ राज प्रयाग की गंगा यमुना की दो धाराएँ हैं, जिसका श्रवण मात्र समस्त पुण्यों का दाता है। इस काव्यावगाहन से त्रितापों का शमन होता है[3]: उनके काव्य में निहित विज्ञानक मत निश्चित रूप से अर्थ धर्मादिरूप चतुर्फलों के उद्भावक है[4]। इस प्रकार निश्चित रूप से इन काव्यों के द्वारा ही समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति संभव है।

निष्कर्ष :

वैष्णव भक्त कवियों के काव्य धर्म, काम, मोक्ष इन परम पुरुषार्थों के हेतु हैं। अधीजन की प्रेक्षा उनसे नहीं मिलती। इनके द्वारा कथित चतुर्थ पुरुषार्थ को धार्मिकता का ही पूरक समझना चाहिए।

ग: इन दो प्रयोजनों के अनानान्तर आत्मशुद्धि एवं कलि कलुष से पीड़ित मानवों के उद्धार की भावना का उदात्त रूप इन काव्यों में प्राप्त है:

....

१: रामचरित मानस बालकांड दो० सं. २ की चौपाइयाँ

२: सूरसागर प्रथम स्कन्ध : पद सं. २२४

३: रामचरित मानस बालकांड दो सं. ३६ की चौपाइयाँ

४: रामचरित मानस बालकांड दो: सं. ३७ की चौपाइयाँ

रघुनाथ का चरित्र गान स्वान्त:तम के विनाश का प्रबल कारण है ; राम की विमल कथा के आरम्भ मात्र से काम मद एवं दंभ का विनाश हो जाता है[1] ; विनयपत्रिका के समस्त पद प्राय: आत्म पीड़ा से ही लिखे गये हैं ; बाहुक एवं कवितावली के अन्तिम अंश सोरठ काव्य की पुष्टि करते हैं : कवि अनेकानेक बार अपनी वैयक्तिक पीड़ा से बचने के लिए राम की दुहाई देता है । उसकी देह कलि की असह्य यातनाओं से जर्जर हो चुकी है । अनेकानेक दोषों से वह गल चुका है । असंख्य पीड़ाएं उसे नष्ट कर चुकी हैं ; यही नहीं समस्त कवियों के विनय पद वैयक्तिक संदर्भ से ही लिखे गये हैं । उनमें आत्मपीड़ा एवं सांकीरिक क्लेश की तीव्र अनुभूति एवं उनसे बचने की टपफटाहट तथा आकुलता का बार बार संकेत मिलता है । कवि काव्यकी परम्परा के लिए पौराणिक देवताओं का आश्रय ग्रहण करने के लिए बार बार ज़ोर देता है ; कलियुग में योग यज्ञ तप दान नहीं अपितु रामनाम ही पाप नाशक है[2] । कलि के कुटिल जीवों के निर्वाह के लिए राम का गान अनिवार्य है[3], क्योंकि चक्रधारी विष्णु के चरण कमल की बन्दना के बिना संसार का उद्धार असंभव है । इन कवियों का दावा है कि वे जन्म से ही खोटे हैं, इस 'खोटेपन' से छुटकारा प्राप्त करने के लिए लीलागान ही एक मात्र आधेय है[3] । प्रभु की विरुदावली सर्वतोभावेन भव भार हरने वाली है : अत: उसके गान से कब न उद्धार होगा ; उन्हें अपने उद्धार के प्रति पूर्ण रूपेण आशान्वित है[4] । क्योंकि इनका विश्वास है कि जो मात्र 'हरिकथा' का स्मरण कर लेते हैं उनका उद्धार ध्रुव है । परम्परा में अनेकानेक ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं जिन्होंने मात्र हरियश गान से 'आत्मोद्धार' कर लिया[5] । इसलिए कलि में रामचरित्र कल्पतरु है । यह 'कल्पतरु' अनेकानेक कल्पित ग्रन्थों

.....

१: अयो० बालकान्ड दो० स १०३:५

२: नाभादास : भक्त माल छ सं.१११:

३: गोविन्दस्वामी : पद सं.१

४: सूर सागर : प्र० स्क० प० स. १३२ . २१५:

५: सूर सागर : प्र. स्क. प. स. ३८२ . १०१० :

का प्रसारक है । इस प्रकार इन कवियों ने अनेकानेक बार आत्मोद्धार एवं संसार को कलिमल संताप से मुक्त होने के लिए अपने काव्य को एक मात्र आश्रय सिद्ध किया है ।[1] उन्होंने स्पष्टत: कहा है कि उनके काव्य के अध्यायों का जो श्रवण करेगा उसके पाप शीघ्र ही नष्ट हो जायेंगे । इस पुनीत चरित्र को जो सुनता, सुनाता है, वह महान् पुण्य का अधिकारी समझा जाता है।[2] इन समस्त कथनों से इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

१: काव्य के द्वारा ही वैयक्तिक पीड़ा, आत्मोद्धार तथा समाज के लिए कलिमल शमन सम्भव है ।

२: यह मात्र कलिमलशमन ही नहीं करता अपितु अन्य भवताप जन्य क्लेशों का भी निवारण करता है;

३: आत्मरक्षा एवं आत्मोद्धार के लिए इससे बढ़कर और दूसरा कोई साधन नहीं है ।

घ : रामचरित्र या कृष्णलीला को इन कवियों ने स्वत: भक्ति का अंग माना है इनके द्वारा भक्ति साध्य और साधन दोनों रूपों में स्वीकृत है । इस दृष्टि से इन्होंने रामचरित्र का गान ही, अपने काव्य का एक मात्र प्रयोजन माना है । रामचरित्र का गान या तो रामचरित्र के लिए है या तो भक्ति के लिए: इसके अतिरिक्त इसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है । इसके द्वारा स्वत: भगवान् प्रसन्न होते हैं अत: मात्र उन्हीं को प्रसन्न करना काव्य का अन्तिम प्रयोजन है ।[3] इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि जो उन्हें अच्छा लगेगा वह सबको अच्छा लगेगा, जो उन्हें अप्रिय है, वह सभी को अप्रिय है ।[4] पार्वती मंगल में तुलसी कहते हैं कि कवि बुद्धि रूपा मृगाक्षि ने अपने मंगल हार से इसकी रचना की है । अत: इसे अलौकिक सौन्दर्य सार समझ कर धारण

.....

१: भागवत भाषा दशमस्कन्ध: नन्ददास : दो० सं. २८:

२: निर्देश आवश्यक नहीं है क्योंकि प्राय: प्रत्येक काव्यों के अन्त में फलश्रुति मिल जाती है:

३: रुक्मिणी मंगल : १३२: १३३ :

४: पार्वती मंगल : हा० १६

करना प्रत्येक का कर्तव्य है। इस प्रकार जो इन काव्यों का गान करता है वह ईश्वर को प्रिय है। इसीलिए कवि का आग्रह है कि निश्चित ही वही कवि है, वही एक मात्र गुणी है जो समस्त छलों का त्याग कर मात्र राम का गुणगान करते हैं[1]। इस ब्रह्म का लीला रूप आनन्द प्रोत है। इस रसमय गुण के अभिभूत होकर रस विह्वल कवि यदि उसे प्रसन्न नहीं कर पाता तो उसकी रचना व्यर्थ है[2]। इन कवियों का अनेक दृष्टियों से वर्गीकरण किया गया है। इनमें श्रेष्ठ कवि सूक्ष्म अन्तर्दर्शी हैं। वे मात्र कृष्ण की लीला का गान करते हैं[3]। इन कवियों को इस लीलागान के द्वारा और कुछ न चाहिए। वह ईश्वर के माहात्म्य से भली भाँति परिचित है। वह उनसे भौतिक साधन नहीं मान सकता क्योंकि उससे उसका क्या नाता है। उसके पास तो भक्ति पथ मात्र है। उसे 'ठकुराई' नहीं चाहिए उसे तो केवल भक्ति चाहिए जिसके द्वारा आराध्य गुणगान किया जा सके[4]। वह इस भक्ति के लिए किसी की शरण नहीं जाना चाहता। उसके लिए मात्र भक्ति ही शरण है। अतः इन कवियों ने आराध्य को प्रसन्न करने के लिए ही अपने काव्य की रचना की है[5]। उनके अनुसार माधुर्य रस स्वतः दधि है। अमोघ वृन्दावन छाछ है। गोपियों ने अद्भुत [काव्य] कथन रूपी मथानी से मथकर नवनीत प्रिय को भक्ति रूपी अमृत को निकाला है[6]। भला यह किसे त्याज्य हो सकता है। इस प्रकार इन कवियों का इष्ट इसी भक्ति को प्राप्ति है। उसे निर्माण नहीं चाहिए, अन्य प्रयोजन भी त्याज्य हैं, उसे तो जब तक भवद्भक्ति हो चाहिए ताकि इस

.....

१: रा० च० मा० उ० का० दो० १२७ की अर्धाली ८

२: ध्यान मंजरी : बाल लीला : पद सं. १

३: रस मंजरी : दो. सं. २७ की १६. २१ अर्धाली

४: सूर सागर प्रथम स्कन्ध प. सं. ६३.

५: सूर सागर प्रथम स्कन्ध प. सं. ७४७

६: भक्त कवि व्यास नीलस रवी की उक्ति :

भक्ति का वह प्रेम पूर्वक गान कर सके[1]।

निष्कर्ष :

१: काठ का एक मात्र उद्देश्य इष्ट या आराध्य को प्रसन्न करना है।

२: इसका कारण यह है कि वह प्रसन्न होकर भक्ति प्राप्ति का आशीर्वाद दे ताकि वह पुन: भक्ति और उनके पावन चरित्र का गान कर सके।

३: इस काव्य का प्रयोजन भक्ति या हरिभजन मात्र है।

ह. : राधा कृष्ण की लीला का गान या राम का यश गान

राधा कृष्ण का लीलागान इनके प्रमुख प्रयोजनों में है। इनका विश्वास है कि कृष्ण कथा, कृष्ण नाम और कृष्ण भक्ति के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ ही व्यतीत होता जा रहा है। ये व्यक्ति क्यों जीवित हैं जो कृष्ण चर्चा छोड़कर अन्य चर्चाओं की ओर उन्मुख होते हैं[2]। वह श्रवण श्रवण नहीं है जिसमें कृष्ण लीला तथा कृष्ण कथा का श्रवण न हो। जो हरि की कथा का श्रवण नहीं करता उसके श्रवणरन्ध्र अहिभवन के सदृश हैं। राधाकृष्ण और सीताराम भेद सूचक न होकर अभेद सूचक हैं। एक निश्चित कालावधि में ये राम थे अब कृष्ण हैं: अत: भेद रहित लीला का गान इनका परम इष्ट है। कृष्ण आनन्द निधि है, परम रसिक है। अत: लीलामूलक काव्य कृष्ण रस रीति पर आधारित है: उनकी लीला का और कोई स्वरूप नहीं है, वह निश्चित ही सुख रूप है। इस लीलागान में आराध्य के रूप एवं कृत्यों का ही वर्णन है।

कवि बाललीला से काव्य का आरम्भ करता है। कृष्ण या राम जन्म के अवसर पर वह बधाई देने के लिए "भाटों" का स्वांग भरता है। कृष्ण का वृन्दावन प्रवेश अघासुर का मर्दन एवं बाललीला निश्चित ही भक्तों को इष्ट है। इस बाल प्रेम को देखकर गोप गोपी ब्रज की गलियों में प्रसन्न होकर गाते फिरते हैं। वे इस समय आनन्द विह्वल हैं, कोई किसी को सुन नहीं रहा है: यह तो हुई बाललीला। इस लीला से कहीं अधिक बल प्रौढ लीला को दिया है कवि राधा कृष्ण केलि में दूर परस्पर मातावस्था के विनोद को गाकर धन्य

.....

१: मानस अरन्यकांड दो: सं. ११ की चौपाइयां

२: परमानन्दसागर परिशिष्ट पद: सं. १३६५, १३०६ :

हुआ जा रहा है। कृष्ण अपनी लीला के नृत्य, गान में निपुण रास रस को वर्णा कर रहे हैं। ~~समलीलादि मुग्धभाव से उन्मत्त हैं~~। समस्त कलाओं में प्रवीण कृष्ण मुग्ध भाव से गोपियों को रस मग्न कर रहे हैं। ब्रजबालाओं के इस नृत्य पर सुर मुनि दोनों मग्न हैं[1]। गोवर्धन की यह लीला भक्तों की रक्षक रक्षक है। यद्यपि ~~यह कोमल है~~ यह रास एवं अत्यन्त क्योंकि वृन्दाविपिन के पुष्पकुंज एवं मलय समीरण की छाया में यह ~~रास~~ रास विलसित था। गोपाल कृष्ण नट का वेष धारण किए हैं, राधिका की बांह उनके गले में है, यह युगल लीला प्रीति: आनन्दात्मक और भक्तरक्षक है[2]। इस लीला का गान ही नहीं अपितु श्रवण दोनों समस्त पापों को नाशक एवं आनन्दकर है। इस लीला की अलौकिकता जन साधारण की समझ के परे है। इसकी अतिशयता का गान शुक, शनक, नारद, सरस्वती आदि ने किया है। फिर भी वे नहीं समझ पाते। यह उनकी समझ के परे है[3]। यद्यपि कमला निरन्तर उनके चरणों के पास रहो हुई उनकी सेवा में संलग्न हैं किन्तु वे भी इस लीला का रहस्य नहीं समझ पातीं। वे पुन: कहते हैं यह रास लीला रास रस है और रास रस नित्य है गोपी एवं गोप बल्लभ कृष्ण नित्य हैं। नित्य देव कहते हैं कि नित्य नव शरीर नहीं मिलते। अत: नव शरीर से ब्रह्म की नित्य लीला गान करना ही भक्तों का एक मात्र इष्ट है। दूसरी ओर यह गोपाल की लीला परम अवधि तक वर्तमान, शिव, शुक, नारद आदि के लिए महानिधि स्वरूप है। इन नवल नागरियों का यश गान भक्तों को स्वत: प्रेमान्ध कर देता है। सांसारिक वासना में डूबे व्यक्ति इनकी मन्द मुसकान, कटाक्ष एवं हास्यमुद्राओं को क्या समझ सकते हैं। इसके ज्ञान के लिए हरिदासों का संग अनिवार्य है तभी परम कान्तिमती एकान्त भक्ति सम्भव है[4]।

....

१: कुम्भनदास : पद: स. १
२: चतुर्भुजदास: पैचम अध्याय : ३० . ४०
३: रास पंचाध्यायी : अध्याय : ३० . ४० .
४: रास पंचाध्यायी अध्याय : टिप्पणी : ११ .१२८ तक :

कृष्णरसिक भक्तों ने कृष्ण चरित्र को लीला कहा[1] और उसके गान को लीलागान। प्रेम उसका आधार है आलम्बन कृष्ण की क्रीडाएं एवं विषय गोपिकाएं हैं। उद्दीपन, मलयमन्द मारुत, वृन्दावन के कुंज कुटीर एवं तमाल पंक्ति से आच्छादित यमुना तट है। परम आनन्द इस लीला का फल है।

किन्तु इसके विपरीत राम भक्ति परम्परा में राम के चरित्र को लीला तो कहा गया किन्तु राम के शौर्य पूर्ण कृत्य में दैन्य एवं दास्य भाव की प्रधानता है। इस दैन्य एवं दास्य के पीछे करुणा एवं शान्ति की मनोभावना निहित है। इसलिए कवि कहता है कि उसका उद्देश्य ग्राम्य गिरा में सीताराम के यश का गान करना है[1]। इस यश गान का कारण उन्होंने रामचरित्र की पावनता, शक्ति महत्ता तथा अतिशय कारुण्य बताया है। इसी यश गान के द्वारा गायकों एवं श्रोताओं के कुल पवित्र हो जाते हैं उनकी वाणी पुनीत हो जाती है तथा अपार भव सागर का संस्तरण हो जाता है[2]। अत: रामभक्त कवि लीला गान की अपेक्षा यशगान को अधिक महत्व देते हैं।

निष्कर्ष

१: कृष्ण कवियों द्वारा लीला गान तथा राम भक्त कवियों द्वारा यश गान इनके काव्य का प्रयोजन है:

२: दोनों इसके द्वारा आत्मोद्धार एवं पवित्रता चाहते हैं:

३: पृथकता इस बात में है कि एक इस लीलागान के द्वारा आनन्द चाहता है तथा दूसरा इसके द्वारा लोक मंगल:

४: लीला गान रस रूप है किन्तु यश गान शील रूप:

आनन्द: इन कवियों ने अनेक विधि 'आनन्द' प्रयोजन को अपने काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है: इनका विचार है कि इस रस का आस्वादन करने पर अन्य रसों का विस्मरण हो जाता है। इसके आस्वाद से मन विह्वल हो जाता है[3]

.....

१: रामचरित मानस: दो० सं. १०

२: रामचरितमानस: दो: सं. १ तथा ३ ६१ की ७ वीं ८ वीं अर्धाली.

३: भक्त कवि व्यास जी प. स. ५६: २. सूर सागर प्र० सं० प. स. ३३६.

यह सदैव एक रस है। श्याम रुपी कमल रस में भक्त मन भ्रंगो निरन्तर लीन रहती है: नवधा भक्ति उस कमल का किंजल्क है। वहां काम और ज्ञान एक रस हो जाते हैं और जहां निगम, शनक, शुक, नारद, शारदा तथा अनेकानेक मुनि भ्रंग रुप में निवास करते हैं। भला यह रस कब किसे अग्राह्य है। इस रस की कल्पना मात्र से स्वर गद्गद् हो उठता है। रोम पुलकित हो जाता है, अंग अंग प्रेम से भीग जाते हैं[1]। ऐसे हरि का चरित्र गान करते हुए सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देना इन भक्त कवियों का इष्ट था। कृष्ण चरण अम्बुज रस है और बुद्धि पात्र: भक्त अपने प्रेम से पूर्ण करता है[2]। इस रस के विचार से भक्त सदैव अन्य सांसारिक रसों का त्याग करके इसी का पान करता है[3]। इस रस के विचार से भक्त सदैव अन्य सांसारिक रसों का त्याग कर देते हैं तथा इसी का मधुर गान करते हैं[4]। इस रस के आलम्बन एक मात्र कृष्ण हैं जो आनन्द रस विभोर हैं[5]। वही रस के कारण एवं आदि रस के रसिक भी हैं[6]। अंग अंग की शोभा पर अमृत सिन्धु को न्यौछावर किया जा सकता है फिर उनके स्वरुप को परिमित कैसे: गान करना तो और दूर की बात है। उनकी समस्त क्रीडाएं इसी रस से पूर्ण हैं[7]। उनकी लीला का दर्शन मात्र ही इस आनन्द का कारण बन जाता है:, भला मन ऐसी लीला को छोड़कर कहां जा सकता है[8]। इस रस का वर्णन निश्चित ही असम्भव है क्योंकि यह स्वत: अपने आप में अगाध है। इस रस की सीमा का अनुमान शिव, शेष, विधि एवं श्रुति तक नहीं लगा सकते[9]। भक्त उस भक्ति आनन्द के सरोवर में डुबकी लगाने के लिए आकुल[10] है। इस आनन्द सरोवर के कमल को रात्रि के कारण संकुचन का भय नहीं है: यह आनन्द मुक्ति के सुभग मुक्ताफल से अलंकृत है। पुन्य का यही अमृत रस भक्तों का पय है। इस रस का त्याग कर कुछ ही सांसारिक रस में लीन रह सकता है। निश्चित ही इस रस की तुलना में भौतिक रस

१: सूर सागर प.स. ३३६ : २: सूर सागर प्र.स्क. ३३८ :
३: सूर सागर प.स. ६२ तथा ३०६.
४: परमानंद दास सागर प.स. ४४५: पृ:
५: नन्द दास भ्रमरगीत ४६ तथा छीत स्वामी प.स. ५३ एवं छीत स्वामी .प.स.
६: भक्त कवि व्यास जी पद सं. २५:

ौकिक रस है। लौकिक रस का त्याग एवं मधुर रस का ग्रहण ही भक्ति का अभीष्ट है।[1]

निष्कर्ष :

१: भक्ति रस की तुलना में अन्य रस गौण है।

२: भक्ति रस का स्वभाव आनन्द मूलक है।

३: यह आनन्द आत्मिक गुण है न कि चित्त का।

४: यह रस परम्परागत है तथा इसका आस्वाद निगम, शुक, शेष, सनक, नारद एवं अन्य मुनि कर चुके हैं: लौकिक कवियों में व्यास, जयदेव, वल्लभ, सूरदास, मीरा एवं हरिदास आदि ने भी इसके आनन्द का आस्वाद लिया है।[2]

६^ कृष्णरस का गान :

लीला और आनन्द के समानान्तर इन कवियों में एक और भी प्रयोजन मिलता है, वह है कृष्ण रस का वर्णन : इन कवियों ने प्राय: इसे लीला का फल बताया है। इसको आनन्द और लीला में अन्तर्भुक्त करना उचित नहीं है। क्योंकि लीला का फल आनन्द है, तथा कृष्ण रस भी आनन्दमूलक है किन्तु यह आनन्द नहीं है अपितु आनन्द का कारण है। वस्तुत: लीला, रस एवं आनन्द प्रतिफलन से सिद्ध होती है।

इन कवियों का विश्वास है कि राधा कृष्ण परस्पर लुब्ध हैं। लुब्ध होने का कारण उनकी रसपूर्ण रति क्रीडा है। इस क्रीडा के द्वारा ये कृष्ण रस की वर्षा कर रहे हैं।[3] इस स्थान पर इन कवियों ने कृष्ण रस को लीला का कारण बताया है।[4] कृष्ण को इन कवियों ने रसिक रूप में स्वीकार किया है। ये कवि इसी रस रूप को देखते देखते अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देने के लिए कृत संकल्प हैं क्योंकि इस रसिक रूप का दर्शन आनन्द प्रद है

.....

१: सूरसागर प्र० स्क० प.स. ३३७

२: भक्त कवि व्यास जी प.स.६

३: परमानन्ददास सागर : प.स.५६०

४: परमानन्ददास सागर प. सं. ३८०

जो वस्तुत: कृष्ण रस ही से निष्पन्न है । इन कवियों को प्रतिज्ञा है कि वे निरन्तर श्याम रस का ही पान करेंगे । उनके अनुसार कृष्ण रस भोग में ही जीवन्तता है । जो श्याम रस पीता है वही तृप्त रहता है और बावला बनकर उसी आनन्द में छका छका घूमता फिरता है[1]। कृष्ण रस शुद्ध बुद्ध की भाँति है तथा भक्तों की आँखें बकोरिनी की भाँति इसी रस के पान में लिप्त रहती है[2]। इसी कृष्ण रस को इन कवियों ने उज्ज्वल रस की संज्ञा दी है । जिस प्रकार ये कृष्ण उदार चैतन्य रूप एवं अखंड हैं वैसे ही उनका उज्ज्वल रस भी अखंड है[3] ।

निश्चित ही उज्ज्वल रस का स्वभाव वैकेम : बाँका , अद्भुत : है : उसके प्रभाव से अद्भुत ग्राह्यता , अद्भुत कथनशैली निःसृत होकर काव्य रस का वर्धन करती है[4] । इस प्रकार उज्ज्वल रस की मात्रा अनेक यत्नों से विरोहित हुई है । ये भक्त रसिकों को इसके पान के लिए सदैव सावधान करते रहते हैं । कहीं रस पान करते करते यह माला टूट न जाय[5] । सांसारिकता का आकर्षण पथभ्रष्ट न कर दे इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देना है । यहाँ वाणी व्यापार का सार कृष्ण रस को स्वीकार किया है । उनके अनुसार श्रवण एवं स्मरण का सार कीर्तन है , ज्ञान का सार हरि ध्यान है और हरि ध्यान कृष्ण रस से संयुक्त है क्योंकि यह शुद्ध और प्रेम का प्रचारक है । इस प्रकार यह समस्त भक्तों के लिए प्रिय है: इन वैष्णव कवियों के काव्यों में यह कृष्ण रस अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

निष्कर्ष :

१: कृष्ण रस ही एक मात्र लीला का सार या तत्व है:

२ : भक्तों को निरन्तर इसी कृष्ण रस का पान करना चाहिए :

३ : यही कृष्ण रस उज्वल या लीला रस है :

.....

१: भक्त कवि व्यास जी प.स.२३३

२: चतुर्भुजदास प.स.८

३: कृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी रा० स.६१

४: रास पंचाध्यायी रा. स.७१ प्रथम स्कन्ध .

५: रास पंचाध्यायी प्रथम अध्याय : ४० .४१ .४२ :

ज - यथामतिगान : इन काव्यादर्शों के साथ एक और भी आदर्श मिलता है : इसे हम इन सब की अपेक्षाकृत अस्पष्ट प्रयोजन कह सकते हैं। वह है यथामति का प्रयोजन। तुलसीदास ने कहा है कि यद्यपि राम जानकी प्रेरणा रूप में (वस्तुतः) स्थित हैं, किन्तु इस राम कथा का गान वह यथामति ही करेंगे। पतितों, एवं जड़ों का उद्धारक यह हरिनाम जिसका गान श्रुति पुराण करते हैं वे कवि भी करते हैं किन्तु उसके साथ यथामति का विशेषण जोड़कर। हरिचरित्र का सर्व प्रथम गान व्यास ने किया था। ये कवि उलाहना देते हुए कहते हैं कि ~~सभी जगह इन्हीं का विशेषण~~ मिलता है मैं तो नन्द के लाड़ले का गान 'यथामति' ही करूंगा। जिस कृष्ण को चरण रज ब्रह्मादिक को भी दुर्लभ है उस रज को ब्रज की गोपिकाएं अपने रास्ते और द्वार पर बुहारती हैं। यह कितना हास्यास्पद है। आखिर क्यों। इसी के लिए ये कवि हरि चरित्र गान के साथ यथामति शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि कृष्ण का चरित्र वैसा ही है जिसका परीक्षित ने प्रेम पूर्वक पान किया था, सुदामा जिसको चारु चरित्र चिन्तामणि को अपनी हृदय मंजूषा में सुरक्षित रखा थाऽतथा अब इस चरित्र के पाठ से भक्त सहज ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे चरित्र के गान को इन कवियों ने 'यथामति' ही किया है। ये कवि स्वीकार करते हैं कि भागवत अपने आप में एक पूर्ण एवं फलदायिनी रचना है : उसका दसम स्कन्ध प्राण स्वरूप है। किन्तु मात्र उसके अनुवाद से ही वे तुष्ट नहीं ~~[illegible]~~ वे उसकी कथा को 'यथामति' कहना चाहते हैं, और कहते ही हैं। नन्ददास ने इस तरह यथामति का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है : उन्होंने नायक नायिका भेद, रस सम्बन्धी ग्रन्थ, कोष की रचना की

.....

१: रामचरित मानस : बालकांड दो. सं. ३६ अर्धाली १:२ :

२: उत्तर कांड दोहा सं. १३० की ४,७ अर्धाली तथा हरिगीतिका

३: परमानन्ददास सागर प. स. १०१४

४: सूरदास मदन मोहन प स. ३ :

५: सुदामा चरित्र : नन्ददास अन्तिम अर्धाली :

किन्तु यथामति प्रेरित होकर वे सर्वत्र अपनी मौलिकता दिखाने का और लग रहे हैं। उन्होंने रस मंजरी को अपनी यथामति का फल माना है। वे कहते हैं कि उनकी तत्कालिक काव्य परम्परा में प्रेम पद्धति काव्य की एक विशिष्ट परम्परा वर्तमान है। यद्यपि मैं मक्त हूँ फिर भी उस कथा गान स्वमति से ही करूंगा। इसी स्वमति के साथ इनका स्वान्तः सुख भी आता है। स्वान्तःसुख में स्वमति से अधिक स्वच्छन्दता है।

वे मानते हैं कि कृष्ण चरित्र अपने आप में अनन्त है, अनन्त विधाएं एवं उसके लिए अनन्त दृष्टिकोण हैं। किन्तु उन काव्य परम्पराओं में मैं स्वमति को विस्मृत नहीं करूंगा। इस प्रकार इन कवियों ने, जहां उन्हें अपने काव्यादर्श के विषय में खुल कर कहने का अवसर मिला, स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय अवश्य दिया। उलसी का स्वान्तः सुख इसी का द्योतक है।

निष्कर्ष : १: काव्य के मूल में इनके अनुसार स्वच्छन्दता आवश्यक है। ये परम्परा के पिष्टपेषण मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं थे।

२: इसका कारण वैयक्तिक स्वच्छन्दता है।

३: ये परम्परा से चली आती हुई काव्य रूढ़ि के पक्षपाती नहीं थे।

४: कहीं कहीं अपने इसे उद्देश्य के कथन के लिए यथामति शब्द का भी प्रयोग किया है।

इतर गौण काव्यादर्श :

हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य में उपर्युक्त प्रयोजनों के साथ साथ कुछ ऐसे भी प्रयोजन मिलते हैं जो या तो काव्य स्वभाव के कारण आ गये हैं, या भक्ति के कारण। ये परम्परा से चलते चलते इनके काव्य में घिस पिट कर चले आये हैं। ये हैं अचेतन वासनाओं की तृप्ति, सत्संग, ज्ञान की प्राप्ति, हरिदासों का भजन, अपने पूर्व गुरु परम्परा को स्तुत आदि।

.....

१: रस मंजरी २४

२: रामचरित मानस : बालकांड : श्लोक सं. ७

३: रस मंजरी दो० सं. ३३६

४: सूर सागर : प्रथम स्कन्ध प. सं. ४०५

अनुशीलन/विवेचन : इन कवियों का शालीनता एवं मौलिकता प्रायः इन्हें भौतिक बाधाओं से पृथक् रखती है। ये विरागी हैं अतः अर्थप्राप्ति की बात इनके लिए उठ नहीं सकती। किन्तु भक्ति की भावना अप्रत्यक्ष रूप से इनके काव्य में अवश्य मिल जाती है। इनका विचार है कि बिना प्रबन्ध रचना का विधान आदर नहीं करते वह श्रम निरर्थक है। वह प्रयत्न मात्र बालिश है। कविता इतनी सरल और हृदयग्राहिणी हो कि मानव अपने सहज द्वेष को विस्मृत करके उसकी प्रशंसा करने लगे[1]। व्यास आदि उसकी कवि परम्परा में हैं। कवि के कवि भी किंचित् उसमें दोष नहीं पाते। वह अपनी पूर्ववर्ती परम्परा में प्राकृत कवियों का भी स्मरण कर लेता है। इसका कारण वह केवल यह बताता है कि जिससे उसकी भक्ति का समाज में भी आदर हो[2]। एकाध बार वह भक्ति के आवेश एवं आदर्श मंडित शालीनता के वशीभूत होकर कह बैठता है कि अरे क्या वह कवि नहीं है वह तो मात्र भक्त है। कहाँ काव्य और कहाँ रामकथा वह तो समस्त कलाओं और काव्य विधाओं से हीन है काव्य तो वर्ण, अर्थ, अलंकृति, छन्द अनेक भाव विधानों, भाव भेदों, रसभेदों अनेकानेक गुणों से पाठकों एवं श्रोताओं से युक्त होता है। इस साधारण कवि की इतनी पहुँच कहाँ? वह कौरे कागज पर लिखने के लिए तैयार है कि उसके अन्दर कवित्व विवेक नहीं है। किन्तु वह ठीक इसी के आगे एक विशाल रूपक बाँधता हुआ कहता है कि राम और सीता का यश अमृत के सदृश है, मनोरम वीचि विलास इस काव्य की उपमाएँ हैं[3]।

बारह चौपाइयों सघन सुरभित पंक्ति हैं। काव्योक्तियाँ पंखुरियाँ हैं: सरस दोहे सौरभ तथा छन्द बहुरंग कमल हैं। अनुपम अर्थ सौन्दर्याभास है, वही पराग है, वही अनाविल मकरन्द है। ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्यरीति एवं गुण इसके मीन हैं। धर्मादि चतुर्थ काव्य प्रयोजन विचार पूर्वक कहे गये ज्ञान तत्व हैं। रस, भाव, विराग नवरस, इस बारह तड़ाग के विभिन्न जलचर हैं।

.....

१: रामचरित मानस दो सं. १४ की चौपाइयाँ
२: रामचरित मानस : दो. सं. १४ की चौपाइयाँ
३: रामचरित मानस : दोहा सं. ३७ की चौपाइयाँ

इस प्रकार कवि समस्त भक्ति के उपकरणों को काव्य की पंक्ति देता है। उसे भक्ति और काव्य दोनों प्रिय हैं और दोनों के समुचित प्रयोग से अपने काव्य को मंडित करना चाहते हैं। इस प्रकार अपनी बुद्धि के प्रयोग से सुन्दर काव्य का निर्माण कर वह अपने काव्य ज्ञान का शिष्ट भाषा में परिचय देता है। इन्होंने ध्वनि, गुण, रीति, रस, वक्रोक्ति आदि समस्त सम्प्रदायों का एक साथ साधन रूप में उपयोग करने की बात कही है। फिर ऐसा कवि यश प्रिय क्यों न होगा। अनेक स्थलों पर वे स्वयं कहते हैं कि अनुचित कथन से कुकवि कहे जाकर जो अपयश के अधिकारी होंगे। अपने आराध्य के सौन्दर्य निरूपण के संदर्भ में वे अनेक बार चुनौती देते हैं कि उनके काव्य से कौन तुलना कर सकता है। इन कवियों के ये समस्त कथन इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं वे काव्य से मानसिक तृप्ति प्राप्त करते थे हो साथ साथ कवि सुलभ यश लिप्सा की भावना भी इनमें निहित थी।

अन्य छोटे प्रयोजनों में सत्संग, ज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति आदि हैं। वे इस प्रकार हैं[1]।

हरिदास का भजन : यह काव्य का प्रयोजन न होकर प्रीति: भक्ति एवं नैतिक आचार का प्रयोजन है: उनके अनुसार इससे काव्य के किसी लक्ष्य की प्राप्ति न होकर मात्र मुक्ति की प्राप्ति होती है। सत्संग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, कवि, कोविद, संत, श्रुति, पुराण, सद्ग्रन्थ इसकी महिमा का गान करते हैं, अत: इनके काव्य का यह भी एक सामान्य प्रयोजन है।

ज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति

ज्ञान एवं भक्ति इनके लिए जीवन गत आदर्शों में थी। इनके प्रत्येक कृत्य भक्ति के आराध्य को दृष्टि में रखकर किये जाते हैं। इनके अनुसार ज्ञान और भक्ति दोनों लोकों के सुख के लिए एक मात्र आधार है तथा दु:ख दूर करने वाले पंथ हैं। यह भक्ति मार्ग प्रेम पंथ से युक्त है। यही सर्वोपरि सिद्धान्त तत्व है। इस सिद्धान्त तत्व के ज्ञान के बिना भक्त भक्त नहीं हो सकता : ठीक इसी का प्रचार करना इन भक्ति काव्यों का उद्देश्य है[3]।

.....

१: दोहावली दो सं. ३४० : क : भक्तमाल छ. ३

२: विरह मंजरी दो. सं. १०२

३: हरि गुरु दिवतीय स्क० प. स. ३७५

इसके साथ साथ कहीं कहीं पर पाठकों के लिए भी ये फलश्रुति का निर्देश मनो कामना की पूर्ति, प्रेम पदार्थ की प्राप्ति, परलोक की प्राप्ति, यश की प्राप्ति, आदि उद्देश्य बताते हैं, किन्तु ये प्रयोजन गौण हैं।

अन्तस्साक्ष्य के आधार पर इन कवियों के ये काव्यादर्श हैं, जिनके आधार पर इनके काव्य रचे गये हैं, संक्षेपत: इन काव्यादर्शों को हम इस प्रकार रखा जा सकता है :

१: मानव मंगल की भावना : काव्य परमार्थ एवं लोकहित का सर्वाधिक महत्व पूर्ण साधन है: मानव मंगल का स्रष्टा कवि मानव हित का नियोजना कर अमर पद का अधिकारी हो जाता है।

२: काव्य के द्वारा चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति एवं क्लेशों का विनाश होता है :

३: भक्ति काव्य का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है वह स्वत: केवल भक्ति के लिए है;

४: कलिमल शमन के लिए भक्ति काव्य ही एक मात्र अनिवार्य है। इसलिए इस काव्य के द्वारा भक्ति का प्रचार एवं भक्ति के प्रचार से कलि के पापों का शमन इसका अभीष्ट है :

५: कृष्ण कवियों ने लीलागान तथा राममक्त कवियों ने राम के यश गान को अपना मुख्य आदर्श बताया है :

६: यह लीलागान भक्ति रस के लिए है क्योंकि इसकी तुलना में अन्य रस गौण हैं; इस भक्ति रस का स्वभाव आनन्दात्मक है : अत: इनके का लक्ष्य आनन्द का प्रचार एवं उसकी प्राप्ति करना है।

७: काव्य का अन्तिम लक्ष्य कृष्ण रस का गान है। यही समस्त भक्ति एवं काव्य रस के लिए सारतत्व है:

८: यथामति गान द्वारा ये परम्परा से चले आते हुए प्रयोजनों का तिरस्कार करते हैं :

९: इनके गौण प्रयोजनों में निम्न इसप्रकार हैं:

१: यश की प्राप्ति के लिए काव्य रचना :

२: काव्य रचना के द्वारा सत्संग एवं मनोकामना की पूर्ति का :

३: ज्ञान के लिए काव्य श्रवण :

४: हरिदास के भवन के लिए काव्य रचना :

इन आदर्शों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं

काव्य के आदर्श या सम्प्रदायमुक्त आदर्श .

१: चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति .
२: आत्मनिवेदन
३: यश की प्राप्ति
४: कृष्णरस का गान .

भक्ति के आदर्श या साम्प्रदायिक आदर्श

१: कलिमलशमन .
२: सत्संग , मनोकामना की पूर्ति , हरिदासों का भजन .
३: भक्ति का प्रचार .

उभयगत आदर्श या मिश्रित काव्य प्रयोजन

१: मानव मंगल की भावना .
२: लीलागान तथा यशगान .

संस्कृत साहित्य में पाठक और कवि की दृष्टि से प्रयोजनों का विभाजन किया गया है। इनका भी इस दृष्टि से विभाजन किया जा सकता है। पाठक के लिए ये प्रयोजन क्रमश: चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति , कलिकल्मषमन , सत्संग , मनोकामना की पूर्ति , हरिदासों का भजन , है। दूसरी ओर कवि की दृष्टि से आत्मनिवेदन यश की प्राप्ति , कृष्णरस का गान , भक्ति का प्रचार , लीलागान या यशगान आदि प्रयोजन आते हैं।

किन्तु इन कवियों का दृष्टिकोण इतना विस्तृत है कि ये मात्र पाठक तथा स्वत: तक अपने काव्य को सीमित नहीं रखना चाहते थे। मानव मंगल का हित पाठक एवं कवि की सीमा से ऊपर सामान्य मानव के लिए है। इसके अतिरिक्त इनकी वैयक्तिक मनोभावना स्वार्थ परायण न होकर परार्थपरायण थी .

कविगत् भक्तिगत् एवं उभयगत् प्रयोजनों का तात्पर्य इतना ही है कि इनसे इन कवियों द्वारा निर्दिष्ट काव्यादर्शों की परम्पराओं की खोज की जा सके . इस दृष्टि से भक्ति एवं काव्य के परम्परागत प्रयोजनों पर विचार किया जा सकता है।

भक्ति के प्रयोजनों के स्रोत एवं उनकी परम्परा

मध्यकालीन भक्ति साहित्य के आधार राम और कृष्ण रहे हैं। इन कवियों ने मात्र इन्हीं के चरित्र गान में जो जान डाल दी। राम और कृष्ण पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य पर भी रूपों में व्याप्त रहे हैं। वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत से लेकर संस्कृत साहित्य की अन्तिम कड़ी तक इनको लेकर अनेक काव्य प्रणीत होते रहे। यही नहीं भारतीय धार्मिक साहित्य इन्हीं के अवतारों की लीला गाकर सन्तुष्ट होता रहा है। राम और कृष्ण से सम्बन्धित पूर्ववर्ती साहित्य परम्परा को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :

१: महाभारत और रामायण :

२: पौराणिक साहित्य

३: पौराणिक साहित्य से प्रभावित विभिन्न रामायणों तथा उपनिषद् :

४: संस्कृत का लौकिक साहित्य :

~~इन कवियों के पूर्व~~ राम और कृष्ण काव्य की प्रशस्त परम्परा की ओर वैष्णव कवि अनेक स्थलों पर ~~अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का~~ संकेत करते हैं। तुलसी ने राम कथा को अनन्त कहा है[1]। इसकी परम्परा में उन्होंने शेषु, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, कागभुशुन्डि, नारद, व्यास, प्राकृत कवि, कलि के कवि, वेद, पुराण, उपनिषद् सन्त का निर्देश किया है[2]। कृष्ण भक्त कवियों ने भागवत पुराण की महिमा अनेकानेक स्थलों पर गाकर उसके अनुवाद तक करने की प्रतिज्ञा की है। जहां तक इनके काव्य व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, इन्होंने सम्भवतः उसका तात्पर्य प्राकृत कवि या कलि के कवि से लगाया है। क्योंकि उनके वर्णन का स्वर भक्त्योन्मुख न होकर प्राकृतोन्मुख ही था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन्होंने प्राकृतोन्मुख काव्य से कम ही प्रेरणा ली होगी। इनके मुख्य आधेय आदर्श परक ग्रन्थ पौराणिक एवं धार्मिक परम्परा के ही रहे होंगे।

.....

१: मानस बालकान्ड दोहा सं ६

२: मानस बालकान्ड दोहा स.३० की चौपाइयां तथा १४ : घ :

महाभारत में तीन स्थलों पर राम कथा आती है। आरम्भ द्रोण तथा शान्ति पर्व। द्रोण पर्व की कथा संक्षेप में राम का स्मरण करती है। इन कथाओं से एक महत्वपूर्ण संकेत यह मिलता है कि पुराण विद् जन राम कथा का आज भी गान करते हैं[1]। आरम्भ पर्व की कथा में एक और भी संकेत मिलता है कि राम भक्तिमान हैं तथा भक्तों पर कृपा करते हैं[2]। शान्ति पर्व में राम को दश अवतारों मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, बलराम, कृष्ण, कल्कि के साथ गिनाया गया है[3]। इसमें इस अवतार का कारण रावण वध बताया गया है[4]। ~~इसमें इस अवतार का कारण~~ इसी शान्ति पर्व में भक्तियोग की चर्चा आती है। इस भक्ति योग के ज्ञान द्वारा परम तत्वों के प्राप्ति की चर्चा की गई है[5]। शान्ति पर्व में भक्ति का माहात्म्य अनेक रूपों में कहा गया है[6]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आरम्भ से ही राम और कृष्ण के चरित्र के साथ भक्ति की स्थापना तथा राक्षसों का वध जुड़ा हुआ था। ठीक यही बात वाल्मीकि रामायण में भी मिलती है। वाल्मीकि रामायण में राम के आदर्श निष्ठ गुणों की स्थापना की गई है। आरम्भ में राम समस्त नरों से श्रेष्ठ कहे गये हैं[7]। इनको यद्यपि आरम्भ में विष्णु सदृश कहा गया है किन्तु बाद में विष्णु ही स्वीकार कर लिया गया है। ये सुर मुनि गंधर्वों की रक्षा तथा पृथ्वी के पीड़ित होने पर राक्षसों के विनाश के लिए स्वतः अवतार धारण करते हैं; इनके हृदय में लोक मंगल की भावना का भी दायित्व वर्तमान है[8]। वाल्मीकि रामायण में धर्मसभा के अवसर पर एक महत्वपूर्ण तथ्य का संकेत मिलता है वह है वैष्णव धर्म का प्रचार। इसका पुष्टि परशुराम संवाद से होती है।

.....

१: महाभारत द्रोण पर्व ७ : ५६ : श्लोक सं. २७ .

२: महाभारत आरण्य पर्व ३ . १२२ : १३ :

३: महाभारत शान्ति पर्व ३२० : २:

४: महाभारत शान्ति पर्व ४१६ : महाभारत का शान्ति पर्व

५: महाभारत शान्ति पर्व सं. दुर्गाकर मंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट/३३२ श्लोक सं. २ से २० तक :

६: वाल्मीकि रामायण : बालकान्ड प्रथम सर्ग २ . ४ :

७: वाल्मीकि रामायण गीता प्रेस बालकान्ड पंचदश सर्ग श्लोक सं. १८: १६

८: वाल्मीकि रामायण गीता प्रेस बालकान्ड षट्सप्ततितम: सर्ग : श्लोक:१. २४सक

बाल कांड में राम के मनुज रूप में विष्णुत्व का आरोपण किया गया है और वहां ६ अवतारों विष्वक्सेन, कृष्ण, वामन, नृसिंह, परशुराम, कल्कि का उल्लेख किया मिलता है। इन समस्त अवतारों को भी मात्र लोकहित की भावना का प्रचार और असुरों के विनाश से ही सम्बन्धित रखा गया है[1]। वाल्मीकि रामायण में भी राम के चरित्र की विशेषता बताते हुए उन्हें पुराण पुरुषोत्तम[2] कहा गया गया है। यह विशेषण राम चरित्र की लोक प्रसिद्धि की सूचना देता है। इसी प्रसंग में पुनः रामचरित्र के फलों का संकेत निम्न रूपों में किया गया है। इनके चरित्र का गान करने से मनोरथों की पूर्ति, तथा परलोक में सर्व अमोघता की प्राप्ति होती है। इसी स्थल पर राम के चरित्र के कीर्तन करने का उल्लेख मिलता है। इस कीर्तन का फल रामायणकार अपराभव[3] की प्राप्ति बताता है। इस प्रकार रामायण और महाभारत के कृष्ण तथा राम चरित्रों के फल निम्न प्रकार से कहे जा सकते हैं: —

१: असुरों के विनाश द्वारा लोकमंगल की स्थापना :
२: भक्तों को भक्ति की प्राप्ति :
३: मनोरथों की पूर्ति तथा अमोघता की प्राप्ति :
४: अपराभव की प्राप्ति :

इन्हीं राम और कृष्ण के चरित्रों का विकास पौराणिक परम्परा के रूप में हुआ। अठारह पुराणों में विष्णु, पद्म, कूर्म, ब्रह्म, ब्रह्मांड, गरुड, भागवत, वायु, मत्स्य, अग्नि, देवीभागवत इनको अधिक महत्व दिया गया। आगे चलकर हरिवंश, विष्णु, भागवत, देवी भागवत भक्तों की परम्परा में अधिक स्वीकृत हुए। मध्यकाल की पृष्ठ भूमि में प्रायः समस्त पुराण गौण पड़ गये। उनमें सर्वाधिक महत्ता भागवत को मिली और इसको समाधिभाषा को ब्रह्मसूत्र के समकक्ष रखा गया। मध्यकालीन कृष्णभक्तों ने ठीक इसी को अपना शास्त्रीय ग्रन्थ स्वीकार किया है। प्रायः समस्त पुराणों का दृष्टिकोण कृष्ण की लीला का विस्तार करना है। भागवत भी इससे पीछे नहीं रहता। वह एक मात्र कृष्ण के चरित्र का गान गाना ही अपना लक्ष्य स्वीकार करता है। अन्य अवतारों

.....

१: वाल्मीकि रामायण गीता प्रेस बाल कांड, ११७ श्लोक सं. १३ .१८ तक
२: वाल्मीकि रामायण गीता प्रेस बाल कांड, ६६ श्लोक वां ३२.
३: वाल्मीकि रामायण बाल कांड ११७ श्लोक . ३० .३१ .३२:

की चर्चा या तो पुराणोक्त लक्षण में 'वंशानुचरित' के संदर्भ में आई है, या अवतारवाद क्रम में। भागवत में प्राय: निम्न प्रयोजनों की चर्चा मिलती है।

भागवत माहात्म्य के संदर्भ में भागवतकार भागवत चर्चा को जीवन के लिए एक मात्र आश्रय मानता है। वह भक्ति को अज्ञान ध्वान्त का विध्वंसक एवं कोटि सूर्य प्रभा के सदृश प्रकाशमान स्वीकार करता है। भक्ति विवेक विवेक वर्धन का महत्वपूर्ण साधन तथा मायामोह का निरासक तत्व है। वह जंतु में एक मात्र श्रेय तथा पावनों में एक मात्र पावन है[1]। शौनक और सूत की वार्ता के प्रसंग में सूत शौनक के भागवत प्रेम की मुक्त का एक मात्र पुण्य बताते हैं। वह भागवत के प्रति प्रेम को इतर जन्मों का पुण्य स्वीकार करते हैं[2]।

भागवत में कलियुग के पापों के शमनार्थ ही भक्ति का प्रचार बताया गया है। नारद और सिसकती, रोती एवं अपने चारों ओर उग्र पुत्रों: ज्ञान तथा वैराग्य। के लिए व्याकुल भक्तियुवती की कथा कलियुग में भक्ति प्रचार का द्योतक है : नारद के पूछने पर भक्ति युवती उत्तर देती है कि मैं भक्ति हूँ तथा ये दोनों मेरे पुत्र हैं जो कलियुग के प्रभाव से जर्जर हो गये हैं। इस कलियुग के प्रभाव से द्रविड में उत्पन्न होने वाली, कर्नाटक में वृद्धि पाने वाली तथा कहीं कहीं महाराष्ट्र में रहने वाली गुर्जर प्रदेश में जाकर क्षीण हो गई। घोर कलियुग के पाखंडों से मैं दुर्बल हो गई हूँ तथा इन दोनों पुत्रों के साथ मैं मन्द पड़ गई हूँ। वृन्दावन के सान्निध्य से मैं पुन: युवती हो गई, किन्तु मेरे ये दोनों पुत्र अब भी जीर्ण हैं[3]। इस प्रकार नारद इस कलि के प्रभाव को दूर करने के लिए मात्र भक्ति का प्रचार ही अनिवार्य बताते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि वे उसका प्रचार करके ही छोड़ेंगे। वे भक्ति के माहात्म्य को बताते हुए कहते हैं कि सत्युग आदि में ज्ञान एवं वैराग्य मुक्ति के साधन स्वीकृत थे किन्तु सायुज्य मुक्ति के लिए कलि में केवल भक्ति ही है। कलि में कृष्ण के सम्मुख होकर एक मात्र भक्ति ही आवश्यक है इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन नहीं है।

.....

१: श्रीमद्भागवत माहात्म्य अध्याय १ श्लोक सं. ४ से ८ तक
२: श्रीमद्भागवत माहात्म्य अध्याय १ श्लोक सं. १२:
३: भागवत माहात्म्य अध्याय १ श्लोक सं. ४५ . ४८ . ४९ . ५० :

नृणां जन्म सहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते ।
कलौ भक्ति कलौ भक्ति , भक्त्या कृष्ण पुरः स्थितः[1]।

इस प्रकार भागवत एवं अन्यान्य पुराण कल्मिल शमन के लिएभक्ति को एक मात्र अनिवार्य बताते हैं। इसी अनिवार्यता को पुष्टि शाडिल्य ,भक्ति नारदभक्ति सूत्र , भागवद्भक्ति रसायन तथा श्री हरिभक्तिरसामृत सिन्धु प्राप्त होता है। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को कर्म ज्ञान और योग से श्रेष्ठ गया है । उसके अनुसार कर्म ,ज्ञान ,और योग साधन है तथा भक्ति साध्य भक्ति की इच्छा रखने वाले को एक मात्र भक्ति की ही उपासना करनी चा [तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः][2] मधु सूदन सरस्वती का विचार है कि सभ रस मिल कर एक ही रस को रचना करते हैं ,वह है भक्ति वह भक्ति मुकु विहारी की है । चतुर्थ योगों कर्म ,ज्ञान ,अष्टांग योगों में भक्ति योग श्रेष्ठ है[3] । भागवत परम्परा के संदर्भ में इसी भक्ति योग मुक्ति ज्ञान के लिए श्रीधरस्वामी के प्रति कही गई यह उक्ति बड़ी ही मार्मिक है ।

अहं वेद्मि शुको वेत्ति ,व्यासो वेत्ति च नारद ।
श्रीधर सकलं वेत्ति नृसिंह प्रसादतः[4] ॥ इससे स्पष्ट है कि भक्त कवियों द्वारा व्यास ,नारद ,शुक आदि की परम्परा का पालन करने का अभीष्ट क्या था ।

शाडिल्य भक्ति सूत्र[5] भी भक्ति को कलियुग के लिए एक मात्र आधा मानकर ज्ञान ,योग तथा कर्म से श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। किन्तु श्रीहरिभक्ति श्री हरिभक्तिरसामृत सिन्धु भक्ति का प्रबल समर्थक ग्रन्थ है ; सिन्धुकार भक्ति को अनेक भागों में विभक्त कर उसका अनेक अवस्थाओं के फल का निर करता है । इसमें उन्होंने कृष्णकृपा को भक्ति को सबसे उत्तम बताई है। यह स्वतः भगवान को अपने वश में कर लेती है।

.....

१: भागवत माहात्म्य अध्याय २ श्लोक ४ .१६ ,२०
२: नारद भक्ति सूत्र : सूत्र सं. २५ .२६ .३५ :
३: श्रीमद्भागवद्भक्ति रसायन श्लोक सं.१
४: भागवद्भक्तिरसायन पृ०३ की पाद टिप्पणी :
५: शाडिल्य भक्ति सूत्र सू. सं.३ .

परवर्ती आचार्यों ने कलियुग के प्रभाव को नष्ट करने के लिए सीधी सीधी भक्ति का प्रयोग अनिवार्य नहीं बताया है। उनके अनुसार वह तो मात्र हरि के नाम से दूर हो जाती है उनके अनुसार कलियुग की आसक्तियों का प्रभाव मात्र आसक्तियों का प्रभाव-मात्र से ही दूर किया जा सकता है। आसक्तियों का मूल पैरणाएं मित्र, पुत्र, नारी, भक्तों द्वारा कृष्ण के प्रति समर्पित होकर सख्य, वात्सल्य एवं कान्तारति में परिवर्तित हो गईं। इन्होंने एक मात्र इन रागात्मक सम्बन्धों को ब्रजवासियों पर उपलक्षित किया। इस इच्छा को उन्होंने कामेच्छा तथा संभोगेच्छा या भावेच्छा को संज्ञा दी। यह कामेच्छा कामानुगाभक्ति तथा संभोगेच्छा भावानुगाभक्ति है जो कृष्ण के माधुर्य भाव से समर्थित, माधुरी मूर्ति में निमज्जित तथा उनकी लीला श्रवण से प्रेरित होती है। इसी भावभक्ति से मंडित होना ही भक्ति की अन्तिम सिद्धि है[1]। भक्ति सूत्र भी प्राय: इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्टत: ज्ञान, कर्म तथा योग का तिरस्कार किया है क्योंकि उसके अनुसार इन रागात्मक सम्बन्धों का हनन होता है; व्यक्ति शुष्क होकर रसशून्य हो जाता है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु कार कहता है कि ज्ञान व्यक्ति के मनस् जगत को शून्य बना देता है; अत: ज्ञान आदि से भक्ति उत्तम है वह भक्ति को श्रेष्ठता भाव के क्रम में ही स्वीकार करते हैं। सामान्य भक्ति को वे आरम्भिक भक्ति भूमिका बताते हैं, इससे उच्च साधन रूपाभक्ति है, भावाश्रिता भक्ति श्रेष्ठतर है किन्तु प्रेमनिरूपिका भक्ति श्रेष्ठतम है[2]। नारदभक्तिसूत्रकार यद्यपि भक्ति के द्वारा समस्त कामनाओं का विरोध स्वीकार करता है किन्तु ब्रजगोपांगनाओं की भांति कामनाओं से कृष्णासक्ति ही सर्वोत्कृष्ट भक्ति मानता है। क्योंकि उस प्रेम में उन ब्रज गोपिकाओं के ऊपर भगवान के माहात्म्य को भूल जाने का अपवाद कभी भी लगा। माधुर्य भक्ति और प्रेम में अपने प्रियतम के सुख से स्वयं सुखी होना नहीं है किन्तु अपने प्रेम के सुख का स्वयं ही अनुभव करना है।

.....

१: श्री हरिभक्तिरसामृत सिन्धु : पूर्व विभागे लहरी २ श्लोक सं. ८१ से ८३

२: श्रीहरिभगवतभक्तिसामृत सिन्धु : पूर्व विभागे प्रथम लहरी श्लोक सं. ६:

इसलिए भक्ति ,ज्ञान ,कर्म ,योग तीनों से श्रेष्ठ[1] है । ठीक इसी क्रम में उन्होंने भक्ति को एकादश आसक्तियों में परिणत कर दिया । इन आसक्तियों में प्राथमिकता दास्य, सख्य ,वात्सल्य ,कान्ता ,आत्मनिवेदन ,तन्मय एवं परम विरहासक्ति को मिलती है। इस प्रकार निश्चित है कि भक्ति का दृष्टिकोण कलिकृत के पापों का शमन है किन्तु यह मात्र प्रत्यक्ष रूप से ही भक्त अप्रत्यक्षतः समस्त रागों को आधार बनाकर उन्हें संशोधित करते हैं तथा उन्हीं को एक मात्र भक्ति का साधन स्वीकार करते हैं।

भागवत इस भक्ति को परम प्रेममूलक बताता है। इसका स्वभाव रसात्मक है। रसात्मक होने के कारण आनन्दमूलक है: इसके स्वाद से कंठ गद्गद् हो उठता है, स्वर रोग जाते हैं तथा लोचनों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। इसके रसपान के लिए एकत्रित ज्ञानियों को भागवतकार 'रसलम्पट' की संज्ञा देता है[2]। वैष्णव भक्त व्याकुल होकर इसके रस को पीने के लिए दौड़े चले आते हैं। इसलिए निःसन्देह रूप से भागवतरस ही सेव्य है । यह भागवतरस जिसके कंठ तक ही पहुंच जाय वह मोक्ष का अधिकारी होता है। इसलिए भागवतकार कहता है कि इस भागवत रस का ही पान करो । यही एक मात्र उपास्य है । श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है । शुकरूप तोते से इसका सम्बन्ध हो जाने के कारण यह परमानन्दमयी सुधा में परिपूर्ण हो गया है[3]। इस फल में छिलका, गुठली आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह मूर्तिमान रस है: जब तक शरीर में चेतना रहे ,इस दिव्य भागवतरस का निरन्तर पान करते रहना चाहिए। यह पृथ्वी पर ही मात्र सुलभ है ,अन्यत्र नहीं ।

निष्कर्ष : भागवत तथा भक्ति के अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार कलिमलशमन का एक मात्र उपाय भक्ति है।

भक्ति अप्रत्यक्ष रूप से मानव के रागादि सम्बन्धों को आधार बनाकर भागवत सान्निध्य का साधन बनती है।

भक्ति भागवत आनन्द का पर्याय है इस रूप में वह एक मात्र साध्य है।

.....

१: नारदभक्ति सूत्र : सूत्र सं. २० .२१ .२२ .२३

२: भागवत माहात्म्य : अध्याय .३:१२: २४.२५,२६

३: भागवत पुराण: प्रथम अध्याय श्लोक सं. ३ अध्यात्म रामायण : माहात्म्यश्लोक सं. ३० .३१:

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृत द्रव संयुतम् .

पिबतभागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिकाभुविभावुका ::

राम काव्य की परम्परा के संदर्भ में

साम्प्रदायिक रामायणों में राम काव्य विशेष का तुलसीपर अध्यात्म रामायण का अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है। अध्यात्म रामायण के अनुसार रामावतार दो कारणों से हुआ था।

१: पृथ्वी का भार उतारने तथा राक्षसों के वध के लिए।

२: कश्यप अदिति की तपस्या से प्रसन्न होकर पुत्र रूप में उत्पन्न होने के लिए[१] अध्यात्म रामायण के माहात्म्यों का उल्लेख करता हुआ ग्रन्थकार इसका निम्नफल बताता है;

जीवन्मुक्ति, पातकमुक्ति, देवत्व प्राप्ति का फल की प्राप्ति, चित्तशुद्धि, विष्णु पद की प्राप्ति, ब्रह्महत्या के पापों से मुक्ति, अश्वमेध फल प्राप्ति, भक्ति की प्राप्ति[२]।

निष्कर्ष : राम का अवतार लोकमंगल के लिए होता है तथा उनका चरित्र सामाजिक व्यवस्था का एक मात्र आधार। उससे जीवन के अन्य आदर्शों का जो समाज के लिए आवश्यक है, प्राप्ति होती है तथा पुरुष समृद्धि का विकास होता है।

विभिन्न निष्कर्षों से प्राप्त भक्ति काव्य के आदर्शों का तुलना करने पर ज्ञात होता है कि इन आदर्शों की मूल पीठिका भक्ति की है। इसमें भक्तिगत आदर्श तो निःसन्देह रूप से आ ही जाते हैं, साथ ही उभयगत आदर्श भी प्रीति: इसी का और भक्ति के ज्ञात होते हैं। काव्य की और उनका भक्ति काव्य का है। स्वत: काव्य के प्रयोजनों में प्राप्त आनन्दतत्व भक्ति और भक्ति काव्य दोनों का गुण हो जाता है। कृष्ण रस एवं चतुर्थ पुरुषार्थ स्वत: भक्ति काव्य के भक्तिमूलक आदर्श हैं। इनकी यश भावना को इस संदर्भ में किंचित् महत्व ही नहीं दिया जा सकता। इसीलिए इन कवियों के लिए भक्तकवि की अभिधा ही समीचीन ज्ञात होती है।

किन्तु हम इनका अध्ययन भक्त रूप में कम करते हैं, कवि रूप में अधिक: भक्ति तो हम इनके परिवेश के अध्ययन के लिए लेते हैं। इनके आदर्शों एवं मूल्यों में काव्य के उच्च गुणों का समर्थन मिलता है। इनमें भक्ति तो है ही किन्तु काव्य की अनेक उच्च संभावनाएं निहित हैं। इन्हीं संभावनाओं के कारण आलोचक इन्हें भक्त कवि न कहकर कवि भक्त कहने का अधिकार रखते हैं। अत: काव्यशास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से इन कवियों के प्रयोजनों का तुलनात्मक अनुशीलन अनिवार्य हो जाता है।

१: अध्यात्म रामायण सर्ग २, श्लोक सं. २५:

२: अध्यात्म रामायण : माहात्म्य : श्लोक सं. ३०: ३१

काव्य परम्परा और पृष्ठ भूमि :

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के काव्य प्रयोजनों से निश्चित हो जाता है कि ये सहृदय कवि थे। इनके काव्य प्रयोजनों में भक्ति और काव्य के मिश्रित प्रयोजनों को देखकर यह ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में भक्ति और काव्य दोनों प्रायः समस्तरीय सिद्ध हो चुके थे। भक्ति में कीर्तन एवं भजनों को प्रमुखता मिल चुकी थी। ये आराध्य को रिझाने तथा आत्माभिव्यक्ति के लिए कीर्तन को अनिवार्य बताते हैं; चौरासी वैष्णवों की वार्ता में इन भक्तों को कीर्तनिया कवि कहा गया है। भक्तमाल में सूर, तुलसी, नन्ददास, चैतन्य आदि को कवि कह कर पुकारा गया है तथा साथ ही साथ उनके काव्योचित गुणों (उक्ति चोज, अनुप्रास, अर्थ, वक्रधारा, रस प्रयोक्ता, वाल्मीकि के अवतार आदि नामों से पुकारा गया है। रीतिकालीन अनेक काव्यप्रशस्तियों में तुलसी और सूर को कवियों का सरदार कहा जाता है। तानसेन और सूर की जिस वार्ता का उल्लेख मिलता है उसमें तानसेन ने सूर की कवित्व शक्ति की मार्मिकता का स्वीकार किया है : इस प्रकार निश्चित हो ये भक्त और कवि दोनों साथ ही साथ थे।

यही नहीं तत्कालीन काव्य परम्परा में काव्य के लिए भक्ति को अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया जाने जा रहा था। भक्त कवि गंग तथा केशवदास जो सामन्तीय वर्ग के बीच अपनी उर्जना किया करते थे भक्ति के अनेक तत्वों को आत्मसात कर लिये हैं। रामचन्द्रिका आलंकारिक कृति होते हुए भी भक्ति पूर्ण कथनों से पुष्ट है। विज्ञान गीता वस्तुतः कवि की तत्कालीन धार्मिक अभिरुचि की ही प्रतिफलन है; गंग के प्राप्त कवित्तों में अनेक स्थलों पर राम के प्रति पूर्ण दैन्य निवेदन की भावना मिलती है। हमें तत्कालीन भाषा भाषी कोई भी कवि नहीं मिलता जिसके ऊपर मध्यकाल की धार्मिक वृत्ति का प्रभाव न हो। इस प्रकार मध्यकालीन वातावरण में कवि और भक्ति व्यक्तित्व दोनों जैसे घुल मिल गए हों।

मध्यकालीन कवियों की परम्परा विशाल संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध थी; हिन्दी का वैष्णव भक्ति काव्य संस्कृत काव्य शास्त्र के विघटन का काल था : इसमें अनेक प्रशस्त आचार्य, विश्वनाथ, जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित, भानुदत्त एक विशिष्ट परिपाटी के अन्तिम समर्थक आचार्य थे : काव्य शास्त्रियों के बीच मम्मट, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन,

.....

१: भक्त माल में काव्यशास्त्रीय शब्दावली का संकेत इन भक्त कवियों के संदर्भ में निम्न पदों में मिलते हैं: ३६, ४३, ६०, ७०, ७२, ७३, ८८, ९३, ११०

भट्टनायक , शंकुक , भट्टलोल्लट , तथा भरत आदि चर्चा के विषय थे । उनमें परस्पर अपने सिद्धान्तों की स्थापना का प्राबल्य मिलता है । यही नहीं पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों पर अनेकानेक भाष्य लिखे जाने लगे थे । इसी समय मम्मट के काव्य प्रकाश पर लगभग एक दर्जन भाष्य लिखे गये । इनकी देखा देखी हिन्दी में भी भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत रस मंजरी , विरहमंजरी , कूट कविप्रिया तथा संस्कृत में उज्वल नील मणि , श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु , भक्तिरसायन, शृंगाररसमंडन आदि जैसे ग्रन्थ निर्मित होने लगे थे ।

.....

वैष्णव भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्शों तथा संस्कृत के काव्यशास्त्रीय प्रयोजनों का तुलनात्मक अध्ययन

इस तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में कृष्ण काव्यधाराओं के आदर्शों से उनके काव्य स्वभाव का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। भक्ति काव्य के अनेक तथ्य तो पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यधारा में पूर्णत: अप्राप्य है। साथ ही संस्कृत काव्यधारा में प्राप्त कतिपय मूल्य हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में नहीं मिलते, किन्तु न मिलने वाले मूल्यों की संख्या कम ही है। इन साध्य एवं वैषम्यों के कारण स्पष्ट है, संस्कृत के काव्य की मूल दृष्टि कलात्मक सजगता थी। कला के कलात्मक वृत्ति के संस्कार संरक्षण की भावना की प्रधानता ने जीवन के अन्य आदर्शों को गौण बना दिया है। यही कारण है कि मम्मट तथा साहित्यदर्पणकार काव्य के प्रयोजनों में अन्य प्रयोजनों को गौण तथा यश को आत्यन्तिक काव्य का प्रधान प्रयोजन स्वीकार किया है। किन्तु वैष्णव भक्ति काव्य में निहित प्रयोजनों के संदर्भ में दिखाया जा चुका है कि इनके काव्य प्रयोजन तीन भागों में विभक्त किए जा सकते है

१. वैयक्तिक रुचि पर निर्भर काव्य प्रयोजन
२. सामाजिक काव्य प्रयोजन
३. काव्यात्मक प्रयोजन,

इन कवियों ने काव्यात्मक प्रयोजनों को वैयक्तिक एवं सामाजिक भावनाओं के अंश के रूप में समेटने का प्रयत्न किया है। वस्तुत: यहाँ काव्य एक माध्यम बन गया है, काव्यात्मक उद्देश्य वैयक्तिक एवं सामाजिक रुचियों को अभिव्यक्त करने का साधन बन गया है। दूसरी ओर, संस्कृत के काव्यशास्त्र में एकमात्र साध्य कलात्मक मूल्य है। कला को मात्र सौन्दर्य एवं अभिव्यक्ति निरुपण का अंश माना गया है। सौन्दर्य एवं अभिव्यक्ति निरुपण मानवीय संवेदनाओं पर आश्रित है, जो कला की सजगता पर आश्रित है किन्तु हिन्दी के भक्ति काव्य के काव्यादर्श जीवन, तत्सम्बन्धी समस्याओं एवं सिद्धान्तों के अधिक निकट है। पृथक-पृथक दोनों काव्यादर्शों का

तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है .

१. मंगलवाद , वैष्णव भक्ति काव्य में लोकमंगल की भावना , उसकी पहली समस्या है । अवतारवाद के संदर्भ में इस धारणा का समर्थन सभी कवि एकमत से करते है कि असुरविनाश एवं धर्म की प्रतिष्ठा इसका प्रमुख कारण है । रावण या कंस वध के पश्चात् राम राज्य या कृष्ण राज्य की कल्पना पीड़ित लोक के उच्चतम सुखमूलक आदर्श की कल्पना है । राम कथा के बाद ये भक्त कवि लवकुश कथा से अपने काव्य की समाप्ति न करके राम राज्य का वैदान्तिक कथन से करते है । कथा आने ही नहीं पाती अष्टछापी कवियों की रचनाओं की भी ठीक यही प्रकृति है । भागवत को आधार बनाने का लक्ष्य असुरों का विनाश और उसके द्वारा लोकमंगल की स्थापना है राम के आदर्शों की अन्तिम स्थापना रामराज्य में होती है तो कृष्ण की द्वारिका की स्वर्ण पुरी (आभा) के आदर्श राज्य में सूर के वर्ण्य विषय का लगभग एक तिहाई भाग असुरों के विनाश के लिए ही लिखा गया है । इनके काव्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

१.प्रबंधात्मक २. मुक्तक .

प्रबंधात्मक रचनाओं के अनेक क्रम निर्दिष्ट किए जा सकते हैं किन्तु विषय वस्तु एक ही प्रकार का है । शिल्प क्रम में दो विशिष्ट प्रधान पात्र आते है .एक तामसिक वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है दूसरा सात्विक .तामसिक प्रवृत्तियां जगत को अपने प्रभाव से आतंकित कर सामाजिक एवं वैयक्तिक चेतना को गर्हित कर देती है .ठीक इसी चेतना से मुक्त करने के लिए सात्विक आदेशों की स्थापना होती है .राम,कृष्ण या अन्य पात्र सात्विकता के उच्चतम स्तर से सम्बन्ध रखते है । दूसरी ओर विरोधी पात्र अपनी स्थिति में क्षुद्रतम प्रवृत्ति का । इस प्रकार इसी क्षुद्रतम आसुरी वृत्ति के ऊपर सात्विक मनोवृत्ति की विजय इनके काव्यों का अन्तिम आदर्श है । इसी को इनकी रचनाओं की लोक मंगल मूलक प्रवृत्ति कहा जा सकता है मुक्तक काव्यों में इसका सर्वथा अभाव नहीं मिलेगा (यहाँ भी) कवि स्थल स्थल पर इसका संकेत करते चलते है ।

संस्कृत साहित्य में यह आदर्श धार्मिक दृष्टिकोण से प्रभावित रचनाओं में ही मिलता है । राम कथा से सम्बन्धित महाकाव्य जैसी कलापरक दृष्टिकोण से

प्रणीत कृतियाँ भी इस आदर्श की स्थापना नहीं कर सकी है। नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत आचार्य भरत ने इसकी ओर सामान्य संकेत किया है। पूर्णतः उसे पुष्ट नहीं कर पाते। आगे चलकर लोक व्यवहार की चर्चा भी इसी लोक मंगल के संदर्भ में ही की गई किन्तु वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी। उस समय तक चतुर्थ पुरुषार्थों की ही लोग चर्चा करते रहे है। बाद में मम्मट ने शिवेतर रक्षतये कह कर उसकी प्रच्छन्न पुष्टि की इस प्रकार काव्य शास्त्रीय परम्परा में लोकमंगल की भावना सामान्य रुप में मिलती है। जहाँ तक काव्यों का प्रश्न है संस्कृत साहित्य के प्रबन्धात्मक काव्य प्रायः इसका समर्थन करते है किन्तु उनकी प्रकृति भिन्न है। रघुवंश किरातार्जुनीय शिशुपालबध, अपनी स्थिति में निश्चित ही इसी आदर्श प्रकार के सम्बद्ध है। प्रबंधकाव्य के लक्षणों में चतुर्वर्ग की प्राप्ति, रसों का नाश, उपदेशों की युक्तता तथा उदात्त चरित्रों का संदर्भ प्रायः इसी का समर्थन करते है। किन्तु भक्तिकाव्य एवं संस्कृत काव्य की एतद्सम्बन्धी दृष्टियों के मूल में अन्तर वर्तमान है। भक्ति काव्य की मूल प्रेरणा भक्ति की है तो उसमें लोक मंगल के संदर्भ काव्य के आदर्श से प्रेरित न होकर लोकनिष्ठा तथा धर्मनिष्ठा से है। दूसरे शब्दों में यह धार्मिक काव्य है जो लोकहित को अपना अनिवार्य लक्षण बताता है किन्तु संस्कृत का काव्य काव्यदृष्टि को प्रमुख मानकर चलता है। वह काव्य दृष्टि को सामान्य साधन के रुप में स्वीकार करता है। इस लिए दोनों की अभिव्यक्तियों में अन्तर आ गया है।

भक्ति काव्य में जहाँ धार्मिक आदर्श, पौराणिक कथनों दार्शनिक गूढ रहस्यों का प्रतिबिम्बन है, वहीं संस्कृत काव्य में श्लेषवर्णन, रुपक योजना, ध्वनिवैचित्र्य व्यावहारिक निर्देशन, संध्या चन्द्रेन्दु, रजनी, शैल, वन, आदि के वर्णन प्राप्त होते है. इस दृष्टि का प्रभाव पात्रों के स्वभाव एवं चरित्रों पर पड़ता है. तुलसी और रघुवंश की रामकथा को तुलनात्मक दृष्टि में रख कर इस तथ्य को भोका जा सकता है. इस प्रकार यद्यपि इन भक्त कवियों की लोकमंगल की भावना तथा आदर्श की परम्परा पूर्व पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में मिल जाती है किन्तु दोनों में संदर्भों का अन्तर है.

काव्य के द्वारा चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति तथा त्रिवर्गों का नाश:

यह आदर्श आदर्शमूलक उपयोगितावादी काव्य का दूसरा लक्षण है. काव्य का अभिव्यक्ति पक्ष वस्तुतः इस दृष्टिकोण से निर्मित हो कि उसके अध्ययन एवं

अवश्य से उज्ज्वल चरित्र एवं समाज के सत्प्रेरक तत्वों का सृजन हो(.इसी प्रकार चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए संस्कृत के कई काव्य शास्त्रियों ने चर्चा की है, महाकाव्य और नाटकों के लक्षणों में अनेक बार इस परमपुरुषार्थ को दुहराया गया है ।वस्तुत: इसका कारण है भारतीय आदर्शमूलक समाजनीति ,संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने इसी क्रम में इसका पालन किया है ।यह अपने आप में सिद्ध है कि भारतीय पुरुषार्थ मध्यकाल तक आते आते भक्त कवियों द्वारा लक्ष्य के रूप में स्वीकृत होते गए। अत: इनके काव्य में यह भावना प्रत्यक्ष धर्म प्रेरणा के रूप में आई है(और एकमात्र इनके लक्ष्य ने रूप में स्वीकृत थी ।संस्कृत के काव्य के समक्ष इस प्रेरणा का प्रत्यक्ष: विशिष्ट महत्व नहीं था मात्र परम्परा ,पालन के रूप में ये स्वीकृत हुए थे चतुर्थ पुरुषार्थों ,को यदि पृथक पृथक मूल्यों के रूप में रखा जाय तो वे इस प्रकार होंगे ।

क: अर्थ (अर्थ) प्राप्ति का प्रयोजन इन वैष्णव भक्त कवियों को पूर्णत: अस्वीकृत था क्योंकि उसे आसक्ति का साधन अता कर ये उससे वैराग्य ले चुके थे, दूसरी ओर संस्कृत के लौकिक कवियों ने छूकर इसका सम्मान किया है , और राजाश्रय का अवलम्बन ठीक इसी के लिए किया भी किया है ।

ख / धर्म (धर्म) , संस्कृत के कवियों के लिए धर्म की भावना साधन के रूप में थी .यह काव्य का एक मात्र लक्ष्य न होकर ,लोकादर्श से मण्डित काव्य में उपकरण के रूप में स्वीकृत था क्योंकि उनकी काव्य वृत्ति क्रीडापरक थी उपयोगितावादी नहीं इन कवियों ने इस धर्म को भक्ति का साधन बनाया और काव्य में उसके व्यवहार के लिए उसके रसात्मक स्वरूप का अनिवार्यता के साथ आग्रह किया इसी लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी क्रम में भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति कहा है ।

ग ,काम: काम वस्तुत: कामेच्छा है , जो आसक्ति या वस्तु के प्रति राग उत्पन्न करती है .यह राग इच्छा के माध्यम से मन को विषयासक्त बनाती है . लौकिक कवियों को इस राग से अधिकाधिक प्रेरणा मिली है .यह राग उनकी भौतिक स्तर पर प्राय: नायक नायिकाओं अलंकरणों , भोग सामग्रियों के रूप में प्रेरित करता रहा है ,किन्तु ये कवि अकाम थे .उनकी इच्छा ईश्वर में ही समर्पित थी .इस क्रम में उन्होंने जो कुछ कहा भी है उसमें उनका वैयक्तिक स्व,

नहीं है । वे उसे ईश्वरनिष्ठ मानते हैं किन्तु संस्कृत के कवियों ने इसे स्वनिष्ठ स्वीकार किया है .

घ मोक्ष भारतीय आदर्शवादी परम्परा में जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष स्वीकार किया गया है। संस्कृत के कवियों ने चतुर्थ पुरुषार्थों में मोक्ष को भी काव्य के लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। उनके सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन का मात्र यही अन्तिम लक्ष्य रहा है। भक्त कवि इसे अन्तिम लक्ष्य सामाजिक संदर्भ में ही स्वीकार करते हैं। मोक्ष सम्बन्धी धारणा के विषय में भी संस्कृत और वैष्णव भक्त कवियों में पर्याप्त अन्तर है। उनके अनुसार भक्त जीवन का अन्तिम लक्ष्य मात्र भक्ति है। अपने काव्य का मूल लक्ष्य उन्होंने भक्ति ही बताया है किन्तु यदि समाज भक्ति को नहीं स्वीकार करता तो उसको अन्तिम लक्ष्य मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है .

इस प्रकार संस्कृत और हिन्दी के मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों के इस दृष्टिकोण में स्पष्ट भेद दृष्टिगोचर होता है।

भक्ति भक्त कवियों के काव्य का उद्देश्य मात्र भक्ति का संस्थापन है। यह वस्तुत: साम्प्रदायिक चेष्टा है। इन कवियों ने इस साम्प्रदायिक चेष्टा का पूर्णत: पालन किया है। इस प्रकार उनके काव्यों की प्रकृति भक्तिमूलक है यह प्रयोजन संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा कहीं भी नहीं निर्दिष्ट है। इससे अपने आप एक प्रयोजन निकलता है वह है कृष्णरस का गान। कृष्णकथा अपने आप में एक दूसरी वस्तु है जिसका लक्ष्य कृष्ण की वीरता, शान्ति की स्थापना [महाभारत कृष्णाङ्गनीय, शिशुपाल वध आदि काव्यों में निर्दिष्ट] है आदि हो सकते हैं। किन्तु इन प्रसंगों में भी ये कवि लीलाभाव के पक्षपाती मिलते हैं। वे कृष्ण व्यक्तित्व की विराटता की ओर उन्मुख न होकर उनकी दास्य, करुण आदि का आलम्बन बनाने की ओर लगे हैं इसकी पुष्टि के लिए उनके काव्य विषयों का अध्ययन किया जा सकता है। ये पद इस प्रकार हैं

१. आचार्य या गुरु सम्बन्धी पद .
२. विभिन्न पर्व या उत्सव सम्बन्धी पद.
३. लीला विषयक पद .

१. आचार्य या गुरु सम्बन्धी पद प्राय: अत्यल्पतम है इनमें काव्य की विशिष्टताएं भी न्यूनतम है ।

२. इनसे अधिक संख्या पर्व या उत्सव विषयक पदों की है ।ये निम्न प्रकार के से है जन्माष्टमी, वसंत पंचमी, दशहरा, अन्नकूट की बधाई, पवित्रा, राधाष्टमी, कुंज एकादशी, वामन जयन्ती, दानएकादशी.उत्सव होला को गनगौर, अक्षय तृतीया, गंगा दशहरा, हरियारी अमावस्या, ठकुरानी तीज आदि है ।इन पर्वों में राधा कृष्ण और चन्द्रावली सम्बन्धित कुछ ही पद काव्य सीमा में लाए जा सकते है ।

३. लीला विषयक पदों की संख्या (अधिकता) वस्तुत: इन वैष्णव भक्ति काव्यों का प्रतिनिधित्व करती है ।ये लीला विषयक पद अनेक भागों में विभक्त किये जा सकते है ।

१. वीरभाव विषयक पद , कृष्ण के द्वारा असुरों का विनाश, नाग पाश लीला आदि के पद इसमें आते है ।
२. दास्यभाव के पद, प्राय: समस्त वैष्णव भक्त कवियों के विनय सम्बन्धी पदों को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है ।
३. वात्सल्य भाव के पद, इसमें बाल लीला, अन्नप्राशन, कर्णवेध, मुंडन शयनोत्थित, कलेऊ, मंगल आरती, प्रातर्भोजन, मक्खनचोरी, मक्खनबंधन, आदि लीलाएं आती है ।
४. सख्य भाव के पद, गोपी उलाहना, राधा एवं सखियों के साथ क्रीडा, यमुना तीर मिलन, गोचारण , भोजन, हाक, आवनी गोदोहन, आदि के पद इससे सम्बद्ध है ।

मधुरभाव के पद, इनकी संख्या प्राय: सर्वाधिक है ।इसमें आसक्ति, सख्य स्वरूप शोभा, रास, मान, अन्तर्ध्यान, महारास, जलक्रीडा, युगलरस वर्णन, सुरतांत, सन्धिता, युगलगीत, विरह गीत, भ्रमरगीत, आदि हैं।

पदों की दृष्टि से इनका यदि विभाजन किया जाय तो सबसे कम पद वीरभाव के, उससे अधिक दास्य के, वात्सल्य एवं सख्यभाव के पद प्राय: बराबर हैं तथा सबसे अधिक पद मधुरभाव के हैं।

ये विभिन्न पद शोणिक विभिन्न भक्ति रस भावों के द्योतक हैं।दास्यभक्तिरस के पद अल्प, वात्सल्य भक्ति रस के पद उससे अधिक, सख्यभक्तिरस के पद प्राय: उससे अधिक और सर्वाधिक पद मधुर रस के हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि इन कवियों की मनोवृत्ति प्राय: दास्य से मधुर भाव की ओर उन्मुख हुई है। ये दास्य को छोड़कर एक मात्र मधुर रस का ही आख्यान करते हैं। यही मधुररस कृष्णरस है तथा इसका स्वाद आनन्दमूलक बताया गया है। इस प्रकार हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों द्वारा निरूपित आनन्द[1] एक विशिष्ट क्रम में रखा जा सकता है वह इस प्रकार है।

भक्तिभाव, सख्य, वात्सल्य तथा मधुररस का उद्भावक तत्व है। ये काव्यरस के आनन्द तत्व को अपने काव्य का प्रयोजन न बताकर कृष्णरस के आनन्द को अपना अभीष्ट बनाते हैं। संस्कृत के काव्य शास्त्री आनन्द को काव्य का एकमात्र आधार तत्व स्वीकार करते हैं। कलात्मक स्तर पर वह बुद्धि का विलास व्यापार तृप्ति, विनोदशीलता, अन्तश्चमत्कार है। उससे उच्च धरातल आनन्द का है किन्तु उसे और उच्च कर देने पर वह ब्रह्मानन्द सहोदर हो जाता है। उनके अनुसार काव्य का अन्तिम मूल्य ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की प्राप्ति है किन्तु वैष्णव भक्त कवि कृष्ण ब्रह्मानन्द को अपने काव्य का अन्तिम मूल्य स्वीकार करते हैं।इस प्रकार यदि आनन्द काव्य का ब्रह्मानन्द सहोदर है तो दूसरे का स्वत: ब्रह्मानन्द।

.....

१: देखिए . अध्याय ४ सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त: आनन्दतत्व .

यह अपने आप में एक अस्पष्ट मूल्य है क्योंकि यह अपने प्रयोजन के बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। उसके कारणों की खोज हम उन धारणाओं से कर सकते हैं जिसकी प्रतिक्रिया में यथामति शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसा कि यथामति प्रयोजन के संदर्भ में स्वीकार किया जा चुका है इन्होंने अपनी भक्ति को काव्य दोनों के लिए यथामति विशेषण का प्रयोग किया है। काव्य की दृष्टि से, यथामति का तात्पर्य है स्वत: निर्मित काव्यादर्श का प्रयोग। हरि चरित्र प्राकृत काव्य का विषय बनता जा रहा था। काव्य के मानदन्ड प्राय: स्थिर हो चुके थे। ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, रस, अलंकार आदि को काव्य के लिए एक मात्र आवश्यक बताया जाने लगा था। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय तत्वों के अभाव में इस प्रकार कविता सम्भव नहीं थी। किन्तु इन कवियों ने अपने यथामति प्रयोजन द्वारा इस मत का खंडन किया उनके अनुसार काव्य का सर्वप्रथम तत्व हरियश का कथन है। यदि हरियश, या हरिलीला काव्य में आ गई है तो काव्यशास्त्रीय तत्वों के अभाव में भी वह काव्य सहृदयों के बीच मूल्य होगा। रामनाम के अभाव में काव्य का कोई मूल्य नहीं है[१]।

यथामति का दूसरा प्रयोग इन्होंने भाषा के क्षेत्र में किया है। काव्य परिपाटी में संस्कृत भाषा को काव्य का उच्चतम आदर्श प्राप्त था। यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश में भी रचनाएं होती थी किन्तु वे समादृत नहीं थी। इस लिए व्यवहारिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर भाषा के क्षेत्र में इन्होंने यथामति प्रयोजन का प्रयोग किया है[२]।

यथामति प्रयोजन भक्तिकाव्य की परम्परा के अन्धानुकरण की भी अवहेलना करता है। वे नाना पुराण निगम आगम सम्मत क्वचित् अन्यत्र प्राप्त कथा को आधार बनाने की चर्चा करते हैं किन्तु उनका स्वान्त:सुख या यथामति एक मात्र उसी का समर्थन करता है। उसमें अन्धानुकरण की प्राप्ति नहीं है :

.....

१: मानस: बालकान्ड : दोहा सं ११ .

२ : वही

इस यथागति के साथ स्वान्त: सुख की भावना निश्चित ही उनकी वैयक्तिक स्वतंत्रता का परिचय देती है। वे किसी के आश्रय में रह कर परत: सुख के लिए अपने काव्य की रचना नहीं करते। उनके मूल में मात्र स्वान्त : सुख है, यह यथामति, प्रयोजन संस्कृत के काव्य शास्त्रियों द्वारा अनिर्दिष्ट है। संस्कृत के काव्यशास्त्री अनेक बार काव्य की एक निश्चित परिपाटी पर चलने के लिए कवियों को बाध्य करते हैं। इसी बाध्यता को लेकर बाद में एक पृथक औचित्यवादी सम्प्रदाय की रचना कर ली गई, जो मात्र कवि परिपाटी में बंधकर काव्यक्रम की मान्यता देता है। इस प्रकार संस्कृत और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों का यह आदर्श वस्तुत: परम्परा से चले आते हुए काव्य की प्रतिक्रिया का फल ज्ञात होता है।

कलिमलशमन और लीलागान पूर्व कथित प्रयोजनों के पूरक हैं लीलागान आनन्द का तथा कलिमलशमन लोक मंगल का पूरक है। इन कवियों द्वारा यश का गान प्राय: प्रच्छन्न प्रयोजनों में है। ये कवि यश की लीला में आए आराध्य के यश तक ही सम्बद्ध रखते हैं। यह यश संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट, नायक के उदात्तचरित्र के समानान्तर है दूसरी ओर व्यक्तिगत यश की भावना इन कवियों में प्रच्छन्नरूप में मिलती है। संस्कृत के काव्यशास्त्री पग पग पर आत्मयश के लिए काव्य की अनिवार्यता सिद्ध करते चलते हैं। उनकी दृष्टि में लोक विश्रुति कवि के लिए यश अपेक्षित है। वैष्णव कवि आत्मविसर्जन की भावना से प्रेरित होने के कारण अपने काव्य में इसका स्पष्ट रूप से समर्थन नहीं कर सकते।

संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के प्रयोजनों का अन्तर्भाव न्यूनाल्प ही हो पाता है। स्पष्ट है दोनों काव्यों की परम्पराएँ अपने मूल में ही भिन्न हैं एक की शुद्ध काव्य की प्रेरणा है और दूसरे की भक्ति मिश्रित। काव्य के धरातल पर दोनों की थोड़ी बहुत संगति बैठ जाती है किन्तु यह भक्ति का आधार इनके काव्य को उस परम्परा से पृथक कर देता है। संस्कृत कवियों के महत्त्वपूर्ण अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों का यहाँ कोई निर्देश ही नहीं मिलता राजाओं की प्रशंसा, उनका किसी विश्वासपात्र बने रहना, मनोकामना की पूर्ति, लोक व्यवहार का ज्ञान, राजकुमारों की शिक्षा ये सब काव्य के प्रयोजन वैष्णव भक्त कवियों में नहीं प्राप्त होते। संस्कृत

काव्यशास्त्र में लक्ष्य की उदात्तता का प्रबल समर्थन मिलता है। इसी उदात्तता के माध्यम से यदि कहीं उदात्तता आ जाती है तो वह दूसरी बात है किन्तु ये प्राथमिकता कला को ही देते हैं। किन्तु भक्त कवि दृष्टि लोकहित, भक्ति प्रचार एवं लीलागान आदि विषयों की ओर अधिक सजग है। कलात्मक सजगता इसमें गौण है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के काव्य मूल्य अपनी मूलस्थिति में संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट काव्यादर्शों से मूलतः पृथक है।

इन काव्यमूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है

१ वैयक्तिक काव्यादर्श

यशप्राप्ति
सत्संगप्राप्ति
ज्ञान या भक्ति की प्राप्ति.
भजन के लिए काव्य

२ सामाजिक काव्यादर्श

मानवमंगल
चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति
कलिमल शमन.

३ कलात्मक काव्यादर्श

कृष्णरस का गान
आनन्द का गान
लीलागान.

इन आदर्शों का यदि विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि उनका दृष्टिकोण उतना ही उपयोगितावादी है जितना की कलात्मक। हम यहाँ भक्ति के प्रयोजनों को किंचित् छोड़ दें तो ज्ञात होगा कि इनका कवि व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्णताओं से ही चालित है। उनके उपयोगितावाद में वैयक्तिक आवश्यकताओं एवं वैयक्तिक उपभोग की आकांक्षा का पूर्ण अभाव है धर्म, काम, मोक्ष इसका मूलमंत्र है। संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रियों का उपयोगितावाद अर्थप्राप्ति प्रयोजन पर

आश्रित था। एक आत्मसन्तोष एवं लोकव्यवस्था के लिए काव्यसृजन करता है दूसरा आर्थिक सन्तुष्टि के लिए। संस्कृत कवियों में सामाजिक सन्तोष एवं सुख का प्रयोजन प्राय: गौण पड़ गया है। सन्तों ने अपने लिए मात्र भक्ति की कामना की है और समाज के लिए भी किन्तु इस भक्ति के द्वारा वे सामाजिक व्यवस्था का ही निर्देश करना चाहते थे। इसीलिए इसी संदर्भ में उन्होंने अनेक बार समाजमूलक उपयोगितावाद का पुनराख्यान किया है। उनके सामाजिकतामूलक आदर्श इसी के मूलक हैं। सन्तों का व्यवहारिक अनिवार्यताओं से सम्बन्ध न था मौलिक आवश्यकताओं के निर्देश इसीलिए उनके काव्य में अप्राप्य हैं।

कलात्मक अनिवार्यता का जहाँ तक प्रश्न है ये कवि मूलत: आनन्दवादी ज्ञात होते हैं। इसका आधार आनन्द, कृष्णरस या रामसीता यशगान है। वे काव्यशास्त्रीय आनन्द या रस की भी चर्चा करते हैं किन्तु यह भक्तिरस पर ही आधृत है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने जिस आनन्द की चर्चा की है। वह मूलत: काव्यजनित आनन्द है। किन्तु इन कवियों का आनन्द भक्तिजनित होने के कारण भक्ति का समर्थन अधिक करता है।

इन काव्यादर्शों के संदर्भ में देखा जा सकता है कि काव्य सदैव दो मूल्यों से प्रभावित रहता है। प्रथम यह कि कवि का मस्तिष्क भी मानव मस्तिष्क है और अन्यमस्तिष्कों की भाँति ठीक उन्हीं सामाजिक घटनों, वैयक्तिक मान्यताओं, एवं शास्त्रीयविचार धाराओं से प्रभावित होता है, जिस प्रकार एक अन्य मस्तिष्क। इसलिए काव्य के बीच निश्चित रूप से सामाजिक मूल्यों की स्थापना अनिवार्य समझी जाती है। इसी संदर्भ में इन कवियों द्वारा नैतिक मूल्यों का स्वीकरण हुआ है। इसके साथ ही काव्य अन्य सामाजिक मूल्यों की भाँति अपनी पृथकसत्ता रखता है। दूसरा यह कि रचना एवं अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य की एक विशिष्ट प्रकृति होती है- यह प्रकृति है कलात्मक मूल्यों के सुरक्षा की। यह विशिष्ट प्रकृति ही काव्य को उन काव्यमूल्यों, जिनका लगाव अन्य सामाजिक शास्त्रों से है से अलग कर देती है।

इस प्रकार हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के दो मूल्य निश्चित होते हैं- प्रथम कला के मूल्य एवं द्वितीय उपयोगिता के। इस प्रकार वैष्णव भक्त कवियों के सामाजिक एवं वैयक्तिक मूल्यों की उपयोगिता तथा आनन्द एवं लीला सम्बन्धी धारणाओं को कला विषयक मूल्यों के अन्तर्गत रखा जा सकता है.

पाश्चात्य काव्य शास्त्र : पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के क्षेत्र में आज दो प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं : उपयोगितावादी और कलावादी । आरम्भिक समालोचक दोनों मूल्यों को एक में मिला कर रखने के पक्षपाती थे, किन्तु लगभग १८ वीं शती से दोनों मूल्यों में पार्थक्य किया जाने लगा । इसी संदर्भ में अनेक साहित्यिक वैमत्य भी उठ खड़े हुए और उनका समाधान भी असंभव ज्ञात होता है। अतः विवादों में न जाकर मात्र दोनों मूल्यों के संदर्भ में वैष्णव भक्त कवियों के काव्य प्रयोजनों का ~~तुलनात्मक~~ तुलनात्मक अध्ययन करना ही यहाँ अपेक्षित है ।

वैष्णव भक्त कवियों के सामाजिक उपयोगितावादी मूल्यों में लोकमंगल, कलिमलशमन एवं चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति है। यदि सामाजिकता के संदर्भ में इनकी व्याख्या की जाय तो इनका अन्तर्भाव लोकमंगल में ही हो जाता है । कलिमलशमन एक परम्परागत मूल्य है जो भक्ति के क्षेत्र में एक विशिष्ट साम्प्रदायिक विश्वास के कारण स्वीकृत हुआ है । इस साम्प्रदायिक विश्वास के पृथक यदि इसकी व्याख्या की जाय तो उसका अर्थ सामाजिक अनाचार से ही होगा क्योंकि कलि की पुराण कथित मत्सनाएँ सामाजिक एवं वैयक्तिक अनाचारकी ही सूचक हैं। अतः साम्प्रदायिक विचार से मुक्त कलिमलशमन का अर्थ सामाजिक तथा वैयक्तिक अनाचार के उच्छेद से ही लिया जा सकता है । यह वस्तुतः लोक मंगल का निषेधात्मक मूल्य है । धर्मार्थकाममोक्ष जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ हैं, जिनका सम्बन्ध मानव सुख एवं परितोष से है । ये चतुर्थ पुरुषार्थ वैयक्तिक मूल्य होकर भी प्रायः सामाजिक व्यवस्था की रक्षा हैं, क्योंकि इनका लक्ष्य समाजनिष्ठा की ओर है । अतः ये भी सामाजिक मूल्यों के पर्याय हैं। अतः वैष्णव भक्ति काव्य में प्राप्त मूल्यों को नैतिक उपयोगितावादी मूल्य कहा जा सकता है।

नैतिक उपयोगितावाद

पाश्चात्य दर्शन में सुखवाद के संदर्भ में नैतिक उपयोगितावाद का जन्म हुआ था : इसका प्रवर्तक जान स्टुअर्ट मिल था । ऐपिक्यूरस के भौतिक

सुखवाद तथा हाब्स स्पेंसर के प्राकृतिक सुखवाद का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य पर पड़ चुका था। उपयोगितावादी मिल के सिद्धान्त का भी प्रभाव साहित्य पर पड़ा होगा किन्तु इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

हम काव्यशास्त्र के संदर्भ में इसका सूत्र खोजना चाहें तो इसको कहीं निश्चित ही प्राचीन ज्ञात होती है। इसका आरम्भिक स्वरूप यूनानी काव्यशास्त्र के आदि प्रवर्तकों विशेषकर अरस्तू, प्लेटो, प्लाटीनस, लोंजाइनस के काव्य सिद्धान्तों में अच्छी तरह देखा जा सकता है। अरस्तू काव्य का अन्तिम मूल्य आनन्द स्वीकार करता है[1]। किन्तु बाद में हाडसन [१६३१ई० से १७००] ने इस आनन्द को रूपान्तरित करके काव्य का प्रयोजन प्रीति पूर्वक शिक्षा देना स्वीकार किया। उसका प्रसिद्ध वाक्य "काव्य प्रयोजन मूलतः प्रीतिपूर्वक शिक्षा देना है"[2], बहुत ही प्रसिद्ध रहा है। यह उपयोगितावादी सिद्धान्त अवश्य है किन्तु लोक मंगल या सार्वभौतिक उपयोगिता सिद्धान्त का इसमें संकेत नहीं मिलता। सत्य तो यह है कि हाडसन ने गंभीरतापूर्वक इस प्रयोजन पर विचार नहीं किया था। इस शिक्षा देने के प्रयोजन का सर्व प्रथम समर्थक रोमी काव्य शास्त्री होरेस [६५ई० पू० ८ई० पू०] था[3]। उसका विचार है कि काव्य का मूल उद्देश्य शिक्षा देना तथा मनोरंजन है। यह शिक्षा सामाजिक संस्कारों की है। अतः वह सामाजिकता के मूल उद्देश्य का मूलतः समर्थन करता है। बाद में चलकर इस उपयोगितावादी मूल्य का प्रबल समर्थन सर फिलिप सिडनी [१६ वीं शती] के द्वारा हुआ। उनका सिद्धान्त मूलतः नैतिक उपयोगितावाद पर आधारित है। इनकी प्रसिद्ध पद्यात्मक आलोचनाकृति [द डिफेन्स आव पोएसी] [कविता की वकालत] इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। सिडनी काव्य के मूल्यों में सर्वाधिक महत्ता नैतिक मूल्यों को देता है। सिडनी के पूर्व पाश्चात्य काव्य शास्त्र के अन्धकार युग में कैथोलिक धर्म प्रचारकों के कारण कवियों अभिनेताओं

१: अरस्तू का काव्य शास्त्र भूमिका पृ० ८:
२: आलोचना के सिद्धान्त शिवदान सिंह पृ० १०७

३. काव्यकला: हौरेस: अनु० नेहन्द्रपकुमार्वेदी पृ० ११ - एकादमि, दिल्ली

विद्रूपकों आदि को शैतान का प्रतिनिधि समझा जाने लगा था[1] । दूसरी ओर अरस्तू के आनन्दवादी सिद्धान्त ने परवर्ती काव्य परम्परा को अच्छी तरह प्रभावित कर लिया था । ठीक इन्हीं दो संदर्भों में सिडनी ने अपने नैतिक काव्य मूल्य की स्थापना की । उसके अनुसार काव्य मूल्य कैथोलिक धर्म प्रचार के विरोधी तत्व न होकर सहायक तथा दूसरी ओर आनन्दवादी मूल्य काव्य के लिए मात्र आवश्यक नहीं है । इस संदर्भ में सिडनी ने प्लेटो के उस कथन का खंडन किया जिसमें उसने काव्य को झूठी अनाचारवर्धन क्रिया माना था ; सिडनी का विचार है कि कविता नैतिक उपदेशक के सदृश ही इतिहास और दर्शन से पवित्र वस्तु है क्योंकि वह मात्र दर्शन की भाँति कोरे तात्विक प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न नहीं करती और न इतिहास की भाँति किसी तथ्य के सत्यासत्य निरूपण का लेखा जोखा ही तैयार करती है[2] ।

इस प्रकार काव्य नैतिकता की शिक्षा देने में साधारण वक्तव्यों से अधिक प्रभावशाली होता है । सिडनी निश्चित करता है कि काव्य नैतिक स्थापनाओं की ओर अधिक सजग रहकर सामान्यजन को सामाजिक उपयोगिताओं की ओर आकृष्ट करता है । इसका मूल उद्देश्य मानव कल्याण है । पाश्चात्य समालोचना के इस पुनर्जागरण युग के बाद नवशास्त्रीय युग आता है जिसमें मालर्ब, ~~डेसाल्टे~~ बोइलो, रापे आदि इटली के कलावादी शास्त्रीय आलोचक इंगलैन्ड के ड्राइडन, एडिसन, जानसन, पोप आदि को प्रभावित करते हैं[3] । ये समालोचक कला की ओर अधिक सजग रहे हैं । सार्वभौमिक उपयोगितावादी मूल्य स्वच्छन्दतावादी युग में परस्पर वैयक्तिक मूल्यों से प्रभावित होकर एकांगी हो गया । इस शास्त्रीय संक्रान्ति युग में गेटे का व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण है । गेटे के साहित्यिक निबन्धों का संकलन ई० जे० स्पिंगार्न ने किया है । गेटे वस्तुत: विश्व साहित्य सिद्धान्त नियम के अन्तर्गत भावों और विचारों की नैतिक एकता को और बल देता है[3] । किन्तु वह काव्य को एक मात्र सौन्दर्यबोध का साधन बताता है । अत: इन्हें पूर्णरूपेण उपयोगितावादी

.....

1- Critical Approaches to literature, David. Daiches. पृ ३४४
2- वही
३: पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा पृ० १३२

आलोचक नहीं कहा जा सकता । रोमांटिक कवियों कीट्स ,शैली ,कोलरिज आदि मानव नैतिकवाद का संकेत मात्र करके शान्त रह जाते हैं। उनकी वैयक्तिक पीड़ा उन्हें विस्तार में जाने से रोक देती है। रोमांटिक कवियों के ठीक बाद ही पाश्चात्य दर्शन में मार्क्स का स्थान आता है जो मूलत: सामाजिक यथार्थ की पृष्ठ भूमि पर मानव कल्याण का चर्चा करता है। वह प्रत्येक कलाओं को आर्थिक प्रक्रिया से चालित मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त साधन के रूप में स्वीकार करता है। उसका इस विचारधारा के समर्थक आलोचकों में बेलेस्की , हर्जन , चर्नीशेवस्की , दोब्रोल्युबोव आदि हैं । यह सामाजिक यथार्थमूलक उपयोगितावाद है किन्तु नैतिकउपयोगितावाद की प्राय प्रतिष्ठा मूल: ईसाइयत के ही प्रभाव से टालस्टाय के द्वारा हुई : टालस्टाय के इस नैतिक उपयोगितावाद का खंडन करके बाद में आई० ए० रिचर्ड्स ने कला के क्षेत्र में सार्वभौमिक या मनोवैज्ञानिक उपयोगिता का समर्थन किया :

बेलेस्की सामाजिक यथार्थवाद का समर्थक था : एक ओर वह कला की प्रकृति को अक्षुण्ण रखने के लिए इसका तात्पर्य चित्रित करने शब्दों, ध्वनियों रेखाओं और रंगों में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को मूर्त करने से ~~लगाता है~~ ; किन्तु दूसरी ओर ठीक इसके प्रतिकूल कला का दूसरा अर्थ मानव जीवन लगाता है[1] । कला का उद्देश्य उसके अनुसार ऐसी संवेदनशीलता प्रदान करना है जिससे वह उस विश्वास का अनुभव कर सके जो विश्व में व्याप्त है । इस प्रकार बेलेस्की नैतिकता विहीन मानव कल्याण की बात साहित्य के माध्यम से सोचता है । इसके अनुयायियों में चर्नी शेवस्की अधिक ख्यात रहा है। उसने कला का लक्षण जीवन में मानव की दिलचस्पी को हर एक चीज को पुनर्जीवित करना बताया है । उसके अनुसार यह इसलिए है कि कला को सदैव मानव जीवन के साथ रहता है । इसी प्रकार हर्जन और दोब्रोल्युबोव ने भी कला को मानव जीवन के केंद्र में देखा है ।

.....

१: पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा पृ० ३१० :

मार्क्स ने काव्य के ऊपर स्वतंत्र रुप से कोई ग्रन्थ नहीं लिखा था किन्तु उसकी यत्र तत्र की प्राप्त टिप्पणियां कला के संदर्भ में काव्य के उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करती हैं। इसके अनुयायियों में सौन्दर्यवादी आलोचक काडवेल ने मध्यवर्गीय कला सिद्धान्तों का उपयोगिता के संदर्भ में अनेक बार खंडन किया है। मार्क्स कला को जीवन का एक प्रबुद्ध दर्शन स्वीकार करता है। वह इस संदर्भ में वह विश्व साहित्य की भूमिका प्रस्तुत करता है: उसके अनुसार मानव की अर्थमूलक आवश्यकतायें उनसे निर्मित संवेदनायें विश्वजनीन हैं इसलिए इन्हीं आवश्यकताओं पर निर्मित साहित्य विश्वव्यापी बन सकता है। उसका विचार है कि काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त बौद्धिक दृष्टि राष्ट्र की सामान्य सम्पत्ति है। इसी के क्रमशः विकास से साहित्य की सृष्टि होती है। क्योंकि विकास के इस स्तर पर राष्ट्रीय एकांगिता और संकीर्णता उत्तरोत्तर संकीर्ण होती जाती है और आगत स्थानीय एवं राष्ट्रीय साहित्यों में से एक विश्व साहित्य का अभ्युदय होता है। यही विश्वसाहित्य की पृष्ठभूमि है। वह प्राकृतिक रुप से मानव यथार्थ की ओर आकृष्ट होता है।[1]

इस संदर्भ में वैष्णव भक्त कवियों का सिद्धान्त इनसे पृथक हो जाता है। इनमें यथार्थ के प्रति मोह न होकर नैतिक विवेकों की प्रतिष्ठा की ओर लगता है। उनके अनुसार समाजनीति अर्थ व्यवस्था से न चालित होकर धर्म व्यवस्था से, जिसका तात्पर्य वे भक्ति से लेते हैं, चालित है।

इस नैतिकता का पूर्ण अभ्युदय टालस्टाय के निबन्धों में मिलता है। उसके कला विषयक निबंधों के संकलन में जिस नैतिक विवेक की चर्चा मिलती है वह वैष्णव भक्त कवियों के सिद्धान्त से प्रायः मेल खा जाती है। टालस्टाय कला को चार सूत्रों में परिभाषित करता है:

.....

१: पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा पृ० ३१० :

१: कलाकार किसी अनुभूति को स्वयं प्राप्त कर फिर उसी को दूसरे की अनुभूति बनाने के लिए उसे प्रेषणीय बनाता है ।

२: कला का बाह्यरूप, विषयवस्तु भाव के पूर्ण अनुकूल होना चाहिए ।

३: यह आवश्यक है कि कला के द्वारा ऐसे भावों का संचार किया जाय जो सात्विक हों, और जिनसे संसार का कल्याण हो सके । कला का जीवन से गहरा सम्बन्ध है तथा जीवन पर उसका अधिकाधिक प्रभाव पड़ता है ।

४: चूंकि कला का जीवन से सम्बन्ध है । अतः स्वतंत्र रूप से उसका मूल्य नहीं है । विज्ञान के समान और उसके साथ कला भी मानव जीवन के विकास का अभिन्न अंग है[१] ।

लियो टालस्टाय मानव जीवन की उपयोगिताओं का तीन प्रेरणा बताता है:

क : मानव जीवन की उपयोगिता मूलक भावना अंध विश्वास धार्मिक रूढ़ि या धार्मिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है ।

ख : सामाजिक उपयोगितावादी विचारों से चालित होती है ।

ग : ईसाइयत के प्रचार से इस भावना का विकास होता है[२] ।

रूढ़िगत विचार धारा मात्र एक सम्प्रदाय को सन्तुष्ट कर सकती है। सामाजिक उपयोगितावाद परिवार कुटुम्ब जाति तथा राष्ट्र को सन्तुष्ट कर सकते हैं । किन्तु जहां तक ईसाइयत का प्रश्न है वह ईश्वर एवं जीव प्रेम पर निहित है । अतः वह समस्त मानवता का प्रतिनिधित्व करती है[३] । इस प्रकार साहित्य का मूल उद्देश्य ईसाइयत के प्रेम का प्रचार करना है । इसीलिए वह कला को न मात्र आनन्द मानता है न सन्तोष और न मात्र मनोरंजन ही, अपितु इन सबसे ऊपर एक उदात्त प्रक्रिया स्वीकार करता है । इस प्रकार टालस्टाय कला के द्वारा मंगलवाद की पुष्टि तो चाहता है और उसके अनेक तत्व हिन्दी

.....

१: समालोचक पत्रिका : सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक : निबन्ध: अंग्रेजी आलोचना में सौन्दर्य चिन्तन ।

२: टालस्टाय फ्रिशलैंडर पृष्ठ १७:

३: " " पृष्ठ ३६

पादटिप्पणी

वैष्णव भक्त कवियों के समानान्तर ही है। किन्तु टालस्टाय और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों में अन्तर मूल प्रेरणाओं एवं प्रयोजनों का है। ये वैष्णव कवि अपने मंगलवाद के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक एवं भक्ति सम्बन्धी मान्यताओं का समर्थन करते हैं किन्तु टालस्टाय के काव्य सिद्धान्तों में इतना विस्तार नहीं है। उसका नैतिकवाद ईसाधर्म का प्रचार मात्र करता है जिसकी प्रेरणाएँ, अहिंसा, भलाई तथा उदारता पर टिकी है किन्तु वैष्णव भक्त कवि इसके ऊपर जाकर मानव मंगल के उस तत्व का समर्थन करते हैं, जिसकी प्रेरणा में समस्त उपयोगितावादी सिद्धान्त निहित हैं। आई० ए० रिचर्ड्स[१] का सिद्धान्त यद्यपि उपयोगितावाद का है किन्तु उससे हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों से कोई तुलना नहीं की जा सकती। वह उपयोगितावाद को कला का मनोवैज्ञानिक गुण मानता है तथा स्वीकार करता है कि इसके पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह कला का तात्त्विक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को हमारे वैष्णव कवियों ने अपनी आत्मा में बैठा लिया था। उनके काव्य मात्र उनके वैयक्तिक आनन्द के उपभोग एवं विश्व मंगल के लिए थे। ये कवि कोई शास्त्रीय आलोचक नहीं थे। इनके सिद्धान्त रचना प्रक्रिया काल में स्वतः इनकी मनसु चेतना के अंग थे। अतः हम इन्हें सैद्धान्तिक शास्त्रकार न स्वीकार कर प्रत्येक उपयोगितावादी कवियों की भाँति व्यावहारिक शास्त्रकार कह सकते हैं।

आनन्दवादी दृष्टिकोण

ठीक इसी उपयोगितावाद के विरोध में पाश्चात्य देशों में आनन्दवाद का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ था और आज भी कलावादी तथा सौन्दर्यवादियों द्वारा इसका प्रबल समर्थन हो रहा है। सौन्दर्यवादी सिद्धान्त को तुलनात्मक पृष्ट भूमि में वैष्णव भक्त कवियों के आनन्दवाद की मौलिकता का परीक्षण हम कर सकते हैं। पाश्चात्य आनन्दवाद को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

.....

१: principles of Literary Criticism, I. A. Richards, 1925

१: कला के क्षेत्र में स्वीकृत आरम्भिक आनन्दवाद जो एक ओर विनोदशीलता पर बल देता है दूसरी ओर उदात्तता पर ।
२: स्वच्छन्दतावादी आनन्दवाद जो रोमांटिक कवियों द्वारा स्वीकृत हुआ है मांसल प्रेम के उदात्तीकरण पर बल देता है ।
३: शुद्धकलावादी आनन्द ।

क : कला के क्षेत्र में स्वीकृत आरम्भिक आनन्दवाद का सर्व प्रथम समर्थन अरस्तू करते हैं[१]। उनके अनुसार यह अनुकरण जन्य प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है[२]। यहाँ अनुकरण का तात्पर्य भावकल्पनात्मक पुनर्निर्मिति से है । उसके द्वारा प्रत्यभिज्ञान का अपेक्षा उसमें प्रत्यक्ष अनुभव कम भावना और कल्पना का योग अधिक रहता है । यह पुनः स्मरण किसी वस्तु या घटना का होता है जो वस्तुतः भौतिक स्तर पर है अतः यह आनन्द भौतिक पर प्रत्यक्षों का आनन्द है: ठीक अरस्तू की भाँति प्लेटो ने इस काव्यानन्द को अधिक उत्कृष्ट नहीं बताया है[१]; वह सोक्रेतस तथा कल्लिक्लेस के कथोपकथनों से काव्यानन्द को और प्रकाश डालता है त्रासदी के परिणाम को और संकेत करके वह कल्लिक्लेस से कहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि त्रासदी सामाजिक को आनन्द और परितोष को और उन्मुख होती है (किन्तु इस आनन्द का स्वरूप क्या है)

सा० और कल्लिक्लेस क्या यह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हमने अभी अभी नाट्यक्रिया के मिथ्या परितोष के शब्द से अभिहित किया ?
क० सत्य है[२] ।

निश्चित ही प्लेटो काव्य के आनन्द को मिथ्या परितोषण की संज्ञा देता है । वह काव्य के सौष्ठवों की ओर संकेत करता हुआ कहता है कि यदि उसे गीत लय और छन्द आदि से विमुक्त कर दें तो वह मात्र भाषा ही रह जायगी। अतः इस आनन्दवाद को वह मात्र मिथ्या आनन्द स्वीकार करता है: आरंभिक कलावादियों में मात्र लोगाइनस ही ऐसा है जो कला के आनन्द को उत्कृष्ट

.....

१: अरस्तू का काव्य शास्त्र, भूमिका पृ० ३६
२: पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० ४ :

तत्व के रुप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार काव्य अपनी उदात्तता के ही कारण मान्य होता है। यह उदात्तता शैली के आवेश का गुण है। जो आनन्ददायक है : यह आनन्द उसका मानदंड है। अत: वह अरस्तू और प्लेटो के आनन्द से भिन्न है। काव्य के इसी आनन्द का समर्थक ह्यूडन है। वह कला का सबसे महत्वपूर्ण गुण आनन्द ही बताता है। किन्तु वह कोरा कलावादी मात्र नहीं है।

इन आरम्भिक आनन्दवादियों से स्पष्ट है वैष्णव भक्त कवियों के काव्यानन्द से कोई तुलना नहीं है: अरस्तू आनन्द को क्रीडाजन्य आनन्द मानते हैं और प्लेटो उसे ~~मानसिक~~ शारीरिक आनन्द ~~स्वीकार करता है~~ मान्य। किन्तु वैष्णव भक्त कवि अपने आराध्य का स्वरुप ही आनन्दमय स्वीकार करते हैं। उनके काव्य का एक मात्र लक्ष्य इसी स्वरुप की अभिव्यक्ति तथा तन्मयता है। उनके अनुसार काव्य की सर्वोच्चात्मा आनन्द है। लोंजाइनस यद्यपि आनन्द को उत्कृष्ट मानता है किन्तु उसे शैली का गुण स्वीकार करता है। ये वैष्णव कवि आनन्द को शैली का गुण न मानकर अपने काव्य और भक्ति का एक मात्र प्रयोजन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार काव्य कला की कोई सार्थकता नहीं है यदि वह भक्ति से मंडित न हो। उस भक्ति का कोई अस्तित्व नहीं, जो चित्त को विह्वल न बना दे, और यही विह्वलता काव्य का अनिवार्य अंग है, जिसे रसवाद का अनिवार्य तत्व बताया गया है। अत: इनका आनन्दवाद विश्वव्यापी होने के कारण शुद्ध काव्यानन्द से भी उच्चकोटि का ठहरता है।

ख : अठारहवीं १९ वीं शती के पाश्चात्य रोमांटिक काव्यानन्द के संस्थापकों में शैली, बायरन, कीट्स, कोलरिज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र ठोकर दी। उसी समय औद्योगिक क्रान्तियों ने सामाजिक चेतना को खंडित कर दिया। दो विश्वव्यापी युद्धों ने मानव प्रेम स्वार्थ सत्ता आदि को टुक टुक कर दिया।

.....

१: काव्य में उदात्त तत्व पृ० १४ भूमिका :

इसके फलस्वरूप वैयक्तिक चेतना प्रकृति के प्रति मोह, वैज्ञानिक चेतना के प्रति द्रोह आदि प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य काव्य एवं दर्शन के क्षेत्र में मध्यकाल के दौरान उठाई जाने लगी। रूसो के एमिली ग्रन्थ ने अपने युटोपिया के आदर्शवाद के माध्यम से एक काल्पनिक रामराज्य की स्थापना की। प्रकृति की ओर लौटो का नारा सर्वप्रथम वर्डसवर्थ को प्रभावित करता है जो काव्य को मात्र प्रकृति के सहचर में उत्पन्न मानते हैं। बाद में वैयक्तिक प्रेम और कुंठा से पीड़ित शेली और कीट्स प्रेमालाप के गीत गाने लगे। देखादेखी रोमांटिक आनन्दवाद का प्रसार पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ऊपर पूर्णतः छा गया। शेली ने अपना प्रसिद्ध निबन्ध The Defence of poetry लिख कर उसने काव्य के आनन्द के गुण के स्थायित्व की माँग की। उसका विचार है कि वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के विकास से मानव चेतना विचारोन्मुखता की ओर बढ़ने लगेगी। फलतः यह वैचारिक जगत काव्य की भावनामूलक प्रक्रिया को विध्वंस कर देगा। अतः व्यक्ति को वैचारिक दुनियाँ से पृथक कल्पना और प्रकृति के क्षेत्र में रमना है। इस प्रकार काव्य की सुरक्षा हो सकेगी अन्यथा काव्य के ह्रास का युग उत्पन्न होगा। ठीक इसी का समर्थन वायरन, कीट्स एवं कोलरिज भी करते दीख पड़ते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों का आनन्द भी प्रेम मूलक है जैसा कि इन कवियों का है किन्तु उनका आनन्द अपनी प्रकृति में इनसे भिन्न है। वह भौतिक सांसारिक प्रेम का पक्षपाती नहीं है; वह भौतिक प्रेम में डूबना नहीं चाहता जैसा कि रोमांटिक कवि चाहते हैं। वह अपने इस प्रेमानन्द के द्वारा भौतिक लिप्साओं एवं वासनाओं से मुक्ति चाहता है; वह अपने आराध्य के प्रेम क्रीड़ा का आनन्द चाहता है जब कि ये कवि अपनी वैयक्तिक भौतिक प्रेम लीला का स्वाद लेना चाहते हैं। इस प्रकार दोनों की प्रेम परक प्रवृत्तियाँ विपक्षता दृष्टिगत होती हैं।

ग : कला के क्षेत्र में तीसरा आनन्दवाद सौन्दर्यशास्त्रियों द्वारा ~~आरम्भ काल से ही~~ उठाया गया है। सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास लेखक बरडुड

के पूर्व से ही इसका सूत्रपात मानते हैं किन्तु इसका प्रबल समर्थन शास्त्रीयकाल Classical age में हुआ। सौन्दर्यशास्त्र आरम्भ से ही दर्शन का विषय माना जाने लगा था। रोमांटिक कवियों के साथ ही साथ होगेल ने सर्वप्रथम कला काव्य और दर्शन की एकान्विति की ओर जोर दिया था। आरम्भ में प्लेटो आदि दार्शनिक दर्शन को मात्र विचारजगत की तथा काव्यकला को मात्र काव्यकला के जगत की वस्तु स्वीकार करते थे। अपने क्षेत्र के पृथक वे अपना प्रसार नहीं कर सकते थे किन्तु होगेल की मान्यताओं ने इस दार्शनिक रुख को ही बदल दिया इसका परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकों में काट, क्रोचे, साट्यना, बोसांके आदि ने काव्यकला के सौन्दर्य वादी सिद्धान्त की समीक्षा की। कलासिद्धान्त के इस आनन्दवाद का पूर्ण विकास वाल्टरपैटर [सन १८३९ १८३४] के द्वारा किया गया तथा इस आनन्दवाद को पूर्ण परिभाषा हॉ० ब्रैडले[१] द्वारा मिली। हॉ० ब्रैडले काव्यानन्द को काव्य का एक मात्र मूल्य स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उनकी दृष्टि विशिष्ट रुप से उपयोगितावादियों पर गई है। उनकी आलोचना के साथ साथ उन्होंने वर्ण्यविषय, नैतिकता, धार्मिकता, शैली आदि को काव्य का गौण विषय मानकर मात्र आनन्द को उसका अन्तिम मूल्य निर्धारित किया।

हिन्दी के वैष्णव कवियों के आनन्दवाद से इस आनन्दवाद की भी तुलना नहीं की जा सकती। यह आनन्दवाद काव्य के अन्य उद्देश्यों को स्वीकार नहीं करता किन्तु वैष्णव कवि व्यावहारिक रुप से इसका समर्थन करते हैं। पुनश्च इनके द्वारा प्रतिपादित आनन्द मात्र काव्य का आनन्द है जो उसका अन्तिम लक्ष्य है। वैष्णव कवियों का लक्ष्य एवं साधन दोनों आनन्दवादी है। यह एक मात्र कला का ही गुण न होकर कला और भक्ति दोनों का गुण सिद्ध होता है।

इस प्रकार वैष्णव भक्त कवियों का आनन्द अपनी दृष्टि में पूर्णतः पाश्चात्य काव्य के आनन्दवादी सिद्धान्तों से भिन्न एवं मौलिक है। इस

.....

१: आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोएट्री हा० ब्रैडले दे० कला कला के लिए.

दृष्टि से हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के काव्य प्रयोजनों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

१: उपयोगितावादी प्रयोजन

१: चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति :
२: यथामतिगान
३: यश की प्राप्ति :
४: कल्मिल शमन :
५: सत्संग, मनोकामना की पूर्ति, हरिदासों का भजन :
६: भक्ति प्रचार
७: मानव मंगल

२: आनन्दवादी प्रयोजन

१: कृष्ण रस का गान
२: आनन्द का गान
३: लीला का गान

इस प्रकार हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि काव्यादर्श की दृष्टि से अत्यधिक मौलिक ज्ञात होते हैं। उनका काव्य मानव को उच्चतम नैतिक आख्याओं एवं धार्मिक विश्वासों पर आधृत है। किन्तु वह मात्र हितवादी ही नहीं है, भारतीय अध्यात्म दर्शन का उच्चतम मूल्य आनन्द उनका अन्तिम मूल्य है। इस दृष्टि से उनके काव्य सिद्धान्तों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आनन्दवादी काव्य सिद्धान्त तथा हितवादी। प्रथम का सम्बन्ध रस वाद एवं सौन्दर्य शास्त्र से है तथा दूसरे का नैतिक उपयोगितावाद से। अगले अध्यायों में इन्हीं काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन मिलेगा।

.....

अध्याय ३

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा रससिद्धान्त

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य एवं रस विषयक सिद्धान्त

वैष्णव काव्य की रस विषयक पृष्ठभूमि

वैष्णव भक्तिकाव्य के शास्त्रीय संदर्भ में रस सम्बन्धी मान्यता का आगमन कैसे हुआ यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। शान्तरस की चर्चा वैष्णव भक्तिकाव्य के पूर्व काव्यशास्त्र में बहुत पहले से मिलती है। इसी संदर्भ में भक्ति या इससे पृथक पारंपरिक काव्यशास्त्रीय वातावरण में भक्ति को भी रस स्वीकार किया जाने लगा था मध्यकाल में आकर भक्ति का काव्यशास्त्रीय परिवेश अत्यधिक विस्तृत हो गया। इस संदर्भ में देखना है कि भक्तिरस के विकास की कौन कौन सी परिस्थितियाँ हैं, जो मध्यकाल में आकर एक विशाल काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि के संयोजन में सहायक सिद्ध हुई।

भक्तिरस का बीजपात काव्यशास्त्रीय परम्परा में सम्भवतः शान्तरस के ही रूप में हुआ था। शान्तरस का मूलस्रोत आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का प्रक्षिप्त अंश ही समझा जाता है। किन्तु इस प्रक्षिप्त अंश से पृथक आनन्दवर्धन के द्वारा शान्तरस का सर्वाधिक प्रबल समर्थन मिलता है। आनन्दवर्धन के पूर्व तथा शान्तरस सम्बन्धी प्रक्षिप्त अंश से पृथक आचार्य भरत काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी धारणा का संकेत करते हैं। उन्होंने रसदेव निरूपण में संदर्भ में वैष्णव भक्ति काव्य में स्वीकृत विष्णु, महेन्द्र, ~~ब्रह्म~~ प्रजापति, यम, ब्रह्मा आदि को विभिन्न रसों का देव स्वीकार किया है। तत्कालीन परम्परा में उदात्त रूप में स्वीकृत विष्णु की महत्ता की सूचना वे रसराज शृंगार का अधिदेव स्वीकार करके देते हैं। नाट्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुए उन्होंने इस प्रकार का श्लोक कहा है

क्वचिद्धर्मः, क्वचित्क्रीडा, क्वचिदर्थः, क्वचिच्छमः।
दुःखार्तानां, श्रमार्तानां, शोकार्तानां तपस्विनाम्[1] ॥

इस श्लोक में निर्दिष्ट शम को नाटक का एक निश्चित प्रयोजन स्वीकार किया गया है और यह शम शान्तरस का स्थायीभाव भी है। इसी भाव के नाट्यशास्त्र में लगभग ५ श्लोक मिलते हैं। आचार्य भरत ने संचारी भाव निरूपण के संदर्भ में

.....

१: नाट्यशास्त्र: अध्याय ६ श्लोक सं. १०६

धृति एवं मति नामक भावों को चर्चा करते हुए इनका स्वरूप इस प्रकार बताया है।

मति यह मति नामक संचारी भाव नाना शास्त्रों के चिन्तनादि विभावों तथा विकल्प बुद्धि से उत्पन्न भ्रम एवं संशयमूलक भावों को नष्ट करने वाले अनुभावों से उत्पन्न होता है[1]।

धृति यह विज्ञान श्रुति, विभव, शौच, आचार, गुरुभक्ति आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उन्होंने दो श्लोकों में इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है।

भय, शोक विषाद आदि विभावों से रहित विज्ञान शौच, विभव श्रुति आदि विभावों से उत्पन्न होने वाला भाव धृति संचारी है[2]।

आचार्य भरत द्वारा दिए गए इन विवरणों से स्पष्ट है कि उनके मस्तिष्क में धर्ममूलक काव्यों एवं नाटकों को रस विषयक सम्भावनाएं निहित थीं। आचार्य भरत के पश्चात् दंडी ने प्रेयस् और रसवत् अलंकारों के द्वारा प्रीति निष्ठा भक्ति की चर्चा की जिसमें उन्होंने कृष्ण के प्रति विदुर के प्रेम, शंकर एवं वैदिक देवताओं के स्तुतिमूलक काव्यों को इसके अन्तर्गत रखा[3]। किन्तु दंडी की इस धारणा का विकास मामह रुद्रट आदि आलंकारिक आचार्यों तक ही सीमित रह गया। अतः भक्तिरस के विकास का श्रेय इन्हें नहीं दिया जा सकता किन्तु इन धारणाओं से इतना स्पष्ट अवश्य है कि धार्मिक वातावरण का प्रभाव काव्यशास्त्र पर पूर्णरूपेण पड़ चुका था। रस एक मानसिक मूलप्रवृत्ति है। वैराग्य आदि की एक विशिष्ट अवस्था में मानसिक वृत्ति का स्वरूप क्या होगा यही शान्तरस का प्रतिपाद्य विषय है। अतः इससे इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि तत्कालीन सामाजिक वैराग्यमूलक भावना का आरोप काव्य में करके या उस अनुभूति को काव्यानुभूति की संज्ञा देकर काव्य में स्वीकृत शृंगार, हास्य आदि अन्य मानसिक वृत्तियों के समकक्ष शान्त रस को भी रखा। अभिनवगुप्त के पूर्व शान्तरस के संकेत विरल हैं। कालिदास आठ रस का ही संकेत करते हैं और उनमें शान्तरस नहीं है।

१: नाट्यशास्त्र अध्याय ७ श्लोक सं. ७४

२: नाट्यशास्त्र अध्याय ७ श्लोक सं. ७५

३: दंडी काव्यादर्श परिच्छेद २: २७५

डा० वी० राघवन् ने संकेत किया है कि वररुचि के उभयाभिसारिका[1] में भी आठ रस को चर्चा मिलती है। दंडी, काव्यादर्श[2] में मात्र अष्टरसों को काव्य रस को मान्यता देते हैं इस प्रकार रस सम्बन्धी आरम्भिक संकेत मात्र अष्टरस के लिए ही है और उनमें शान्तरस नहीं है। शांतरस का सर्व प्रथम समर्थन आनन्दवर्द्धन[3], ध्वन्यालोक में करते हैं। रस प्रबन्धध्वनि को चर्चा करते हुए आनन्दवर्द्धन ने बताया है कि काव्य में निश्चित ही एक अंगीरस होता है और शेष उसके समर्थक। इसी प्रसंग में उन्होंने महाभारत एवं रामायण का उल्लेख किया है उनके अनुसार महाभारत में शान्तरस एवं रामायण में करुणरस है शान्तरस के संदर्भ में कहा है कि यह पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का पोषक है। इन्होंने मोक्ष को शान्ति का अन्तिम लक्ष्य मानकर इसे भक्ति के प्रयोजन के समीप स्थित कर दिया है[4]। शान्तरस की निष्पत्ति को उन्होंने भगवान वासुदेव के संकीर्तन का फल बताया है –

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन : ।

अर्थात् इसी शान्तरस के लिए भक्त सनातन से भगवान् वासुदेव का कीर्तन करते चले आए हैं। आनन्दवर्द्धन ने महाभारत के निष्पन्न शान्तरस को अत्यन्त गूढ़ एवं मोक्ष अर्थ का प्रतिपादक बताया है। उनके अनुसार इसकी समाप्ति हरिवंश में होती है। उनका स्पष्ट कथन है कि हरिवंश में कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने संसार के उद्धारार्थ भक्ति का अतिशय प्रवर्तन करके सांसारिकों के व्यवहार को वैराग्योन्मुख कर दिया। यही नहीं गीता का प्रतिपाद्य विषय भी शान्तरस का समर्थक है। महाभारतेय एवं हरिवंश के कृष्ण इन दोनों व्यक्तित्व को एक करते हुए आनन्दवर्द्धन ने पुन: कहा है कि वासुदेव संज्ञा से गीता में अभिहित अस्मिन् अपरिमित शक्ति से युक्त कृष्ण ने मथुरा में उत्पन्न होकर अनेक क्रीड़ाएं की जो शान्तरस को ही पोषक है[5]।

.....

१:
२: दंडी काव्यादर्श पृ. १
३: हिन्दी ध्वन्यालोक पृ. ४६५, ४६६.
४: ततश्च शान्तो रसो रसान्तरं : मोक्ष एवास्य पुरुषार्थ :पुरुषार्थान्तरंसो परत्वाच्च मुख्यमानो ऽयं त्वेन विवक्षा विषया इति महाभारत तात्पर्यं पृ. ४६६
५: हिन्दी ध्वन्यालोक पृ. ४७०.

शान्तरस के निष्कर्ष को निकालते हुए उन्होंने कहा है कि इस प्रकार भगवान को छोड़कर अन्य समस्त वस्तुओं की अनित्यता प्रकाशित करने वाले शास्त्रदृष्टि से केवल मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ तथा काव्यदृष्टि से तृष्णाक्षयजन्य सुख का परिपोषक शान्त ही महाभारत का प्रधान रस है।[1] निष्कर्षतः काव्य में शान्तरस का स्थायी भाव तृष्णाक्षय सुख है जो व्यवहारिक दृष्टि से परम पुरुषार्थ का जनक है।

आनन्दवर्द्धन के इस कथन से स्पष्ट है कि महाभारत, गीता एवं हरिवंश में कृष्ण का चरित्र काव्यदृष्टि से तृष्णाक्षय सुख का उत्पादक शान्तरस से ही पूर्ण है। हरिवंश में भक्ति के स्वरूप का गवेषणात्मक अनुशीलन करते हुए डॉ० प्रभुदयाल वर्मा ने बताया है कि इसका स्वभाव शान्तोन्मुख है।[2] यह भक्ति की उस स्थिति की रचना है जब कि वैराग्यमूलक भक्ति माधुर्य भक्ति में प्रवेश करने जा रही थी। इस प्रकार आनन्दवर्धन की शान्तरस विषयक धारणा भक्तिरस की समीपवर्तिनी ज्ञात होती है।

आनन्दवर्धन के उपरान्त भट्टतौत के शिष्य ध्वनि सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शान्तरस प्रकरण के अन्तर्गत इसकी विस्तृत चर्चा की है। अभिनव भारती में उन्होंने उन मतों का निर्देश किया है जो शान्त को रस न मानने का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ये मत संख्या में सात हैं। इन सातों में सम्भवतः चन्द्रिकाकार सर्वाधिक प्रबल के ज्ञात होते हैं[3]। किन्तु इनकी रचना अनुपलब्ध है। शान्तरस सम्बन्धी इन चर्चाओं का आधार नाट्यशास्त्र का प्रतिषिद्ध अंश ही था। इनके अनुसार शान्त का स्थायीभाव शम है। यह मोक्ष का सम्पादक एवं तत्वज्ञान वैराग्य चित्तशुद्धि आदि विभावों से निष्पन्न होता है- यम, नियम, अध्यात्मध्यान धारणा उपासना सब प्राणियों पर दया, सन्यास आदि अनुभावों द्वारा इसका ग्रहण होता है। निर्वेद, धृति,

.....

१: हिन्दी ध्वन्यालोक पृ. ४७०

२: पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ हरिवंश और हिन्दी वैष्णव काव्य: लेखक डॉ. प्र. वर्मा

३: ध्वन्यालोकलोचन पृ. १७८.

स्मृति, शौच, स्तम्भ, रोमांच आदि इनके संचारी भाव है[1]। इस शान्त रस का विस्तृत चर्चा का श्रेय सर्वप्रथम अभिनवगुप्त को ही है अभिनवगुप्त ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के ७ मतों का खंडन करते हुए शान्तरस की प्राधानिकता एवं रसोत्कटता का समर्थन प्रबल शब्दों में किया है। अभिनवगुप्त ने शान्तरस के अन्य भावों का उल्लेख भी किया है जो वस्तुतः इसी से पृथक् न होकर इसी के अवान्तरभेद मात्र हैं। ये क्रमशः दयावीर और धर्मवीर हैं। उन्होंने नागानन्द नाटक को दयावीरता का प्रबल समर्थक स्वीकारकेके शान्तरस को अभिनेयता को भी सिद्ध किया है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अपनी समस्तपूर्ववर्ती परम्पराओं की जिनमें शान्तरस का विरोध मिलता है। खंडन करके शान्तरस की स्थापना की अभिनवगुप्त के पश्चात् शान्त रस की मान्यता में स्थिरता आ गई और परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने इसका समर्थन रस के रूप में ही किया।

धार्मिक वातावरण और भक्तिरस.

जैसा कि पहले कहा जा चुका है। रस के रूप में शान्त रस काव्य के अन्तर्गत बाद में स्वीकृत हुआ। इसका मूल आरम्भ में काव्यशास्त्र में न मिल कर धार्मिक ग्रन्थों में ही प्राप्त होता है। बाद में जब काव्यशास्त्र में इसकी स्वीकृति हुई तब वे सारी धार्मिक मान्यताएं जो शान्तरस के साथ थीं, इसमें अवतरित हो गईं। इस प्रकार शान्तरस को काव्य के अन्तर्भूत करने का कारण स्पष्ट है जैन, बौद्ध एवं पौराणिक साहित्य की काव्यशास्त्रीय परम्परा में पृथक एक विशाल काव्यधारा निर्मित हो रही थी जिसकी प्रवृत्ति कलात्मक न होकर धार्मिक थी। उसका वातावरण, उद्देश्य, रचनात्मकता, धार्मिक प्रचार के साधन रूप में व्यवहृत थी। डा० राघवन् ने शान्तरस के संदर्भ में जिन ग्रन्थों के नाम गिनाए हैं, वे ये हैं—

अश्वघोष रचित बुद्धचरित.
सौन्दरनन्द
शारिपुत्र प्रकरण[2]

.....

१: अभिनवभारती पृ० ४०६

२: द नम्बर आव रसाज पृ. २२.

इसमें बुद्धचरित महाकाव्य तथा सौन्दरनन्द एवं शारिपुत्र प्रकरण नाटक हैं। जैन ग्रन्थों में डॉ० राघवन् ने अध्यात्म कल्पद्रुम का नाम बताया है। इसमें शान्तरस के स्थान पर एक स्थल पर शान्तरसभाव तथा एक दूसरे श्लोक में शान्तमाहात्म्य का उल्लेख मिलता है। इसी के एक भाष्य में शान्त को रसाधिराज तथा सर्वरससार कहा गया है। इसी श्लोक में उन्होंने जैनियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र को भी चर्चा की है[1]। उनके अनुसार अनुयोगद्वार सूत्र में आए 'नव काव्य रसा'[2] अर्थात् काव्य के नौ रस में शान्त का भी कथन हो जाता है। आनन्दवर्द्धन ने शान्तरस की पुष्टि के लिए महाभारत, गीता एवं हरिवंश का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने इसकी पुष्टि के लिए शान्तरस प्रकरण में योगदर्शन सूत्र तापस वत्सराज, नागानन्द, गौतम धर्मसूत्र, ईश्वर कृष्णकृत सांख्यकारिका एवं हितोपदेश की चर्चा की है। इसमें हितोपदेश को छोड़ कर शेष रचनाएं धार्मिक हैं।

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त शान्तरस की अनेक संभावनाएं महाभारत एवं वैष्णव पुराणों में वर्तमान हैं। महाभारत में शान्तिपर्व नामक एक पृथक पर्व है जिसका इस मात्र लक्ष्य मोक्ष कथन है इस शान्तिपर्व में प्रमुख रूप से नारायणीय मत का आख्यान मिलता है। यह नारायणीय मत मूलतः वैष्णव धर्म ही है शान्तिपर्व के अन्तर्गत माहात्म्य निरूपण के क्रम में इसे महाफल की संज्ञा दी गई है। यही नहीं आदिपर्व में व्यास द्वारा कथित महाभारत को मोक्षशास्त्र के नाम से स्वीकार किया गया है। संस्कृत के अनेकानेक काव्यशास्त्रियों आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त क्षेमेन्द्र, भोज विश्वनाथ पंडितराज जगन्नाथ आदि के द्वारा यह शान्तरस का एक मात्र प्रमाण ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है।

वैष्णव धर्म की आरम्भिक प्रवृत्ति शान्तरसपरक रही है। इस धर्म का

१: द नम्बर आव रसाज पाद टिप्पणी क्रम. २३.

२: द नम्बर आव रसाज पाद टिप्पणी क्रम. २२.

३: महाभारत आदि पर्व श्लोक. ६२, २५

मूलाधार कृष्णकथा पर आधारित है। फलत: कृष्ण कथा के विकास के साथ साथ रस सम्बन्धी धारणा में भी विकास होता गया। इसके लिए महाभारत से लेकर भागवतपुराण की कथावस्तु का गठन विशेष दृष्टव्य है। महाभारत की कथा में अवतारवाद के तत्व को है उसमें कृष्ण का योद्धा या नायक का रूप प्राप्त है। महाभारत के खिल रूप हरिवंश में अनेक लौकिक तत्वों को मिला कर राजनीतिक कृष्ण के बालजीवन का ढांचा तैयार किया गया है। असुरवध एवं अवतार सम्बन्धी धारणा को मुख्य कारण बताकर कृष्ण की बाललीला से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। हरिवंश के पश्चात् ब्रह्मवैवर्त विष्णु, वायु में अवतारविषयक धारणा असुरवध एवं लीला की भावना को और अधिक महत्व दिया गया है। भागवत तथा देवी भागवत में अवतारवाद एवं असुरों के विनाश की भावना से कहीं अधिक महत्ता कृष्ण के लीलारूप को दी गई है। इस प्रकार कृष्ण का राजनीतिक व्यक्तित्व पौराणिक संदर्भ पाकर अधिक मानवोन्मुख हो उठा। इसी विकास क्रम में बालजीवन के भाव को वात्सल्यमूलक, असुरों के विनाश कथा को उदात्त एवं वीरभाव का मूलक भक्तिभाव के दृष्टिकोण को दास्य का मूलक तथा लीलाविषयक भाव को सख्य एवं माधुर्य भाव के रूप में स्वीकार किया गया। शेष चरित्र शान्तपरक है। इस प्रकार कृष्ण का शान्तपरक व्यक्तित्व इस विकास परम्परा में बढ़कर अनेक भावों में परिवर्तित हो गया।

रससम्बन्धी इस दृष्टिकोण के विकास का समर्थन धार्मिक सम्प्रदायों में आरम्भिक समय से ही मिलने लगता है। आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी[१] में अनेक स्थलों पर शान्त रस की चर्चा की है नौ रस के संदर्भ में उसके व्याख्याता लक्ष्मीधर ने कहा है कि शान्तरस प्रधान है तथा अन्य गौण है। उक्त श्लोक के आगे दो श्लोकों में आचार्य शंकर ने शान्तरस को वैराग्य से पुष्ट मानकर उसे शृंगार रस का विघातक विद्रावक कहा है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य शंकर तत्वज्ञानजन्य वैराग्य एवं शम को रस के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर के बाद रामानुज ने ब्रह्म को अनेक संवेदनशील गुणों से विशिष्ट मानकर उसकी दया, करुणा आदि को जीव के लिए अनिवार्य बताया दास्य भाव की यह भक्ति रामानुज की एक मात्र स्थापना है। आचार्य वल्लभ ने अपने भाष्यों में मुख्यत: ब्रह्म के संवेदनशील गुणों को जीव के लिए

.....

१: सौन्दर्यलहरी : आचार्य शंकर, पृ० २१५ श्लोक ११, प्र० गनेश एन्ड को० मद्रास.

एकमात्र अनिवार्यता मानकर दास्य, वात्सल्य एवं गोपी भाव की उपासना को ही जीव का धर्म बताया है। बाद में चलकर मध्व एवं निम्बार्क ने शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य एवं मधुर इन पाँच भावों की उपासना अनिवार्य बताई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैसे जैसे कृष्ण के स्वरूप का विकास होता गया वैसे ही वैसे विभिन्न वैष्णव साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन के फलस्वरूप विभिन्न रस एवं भाव की भी कल्पना होती गई। किन्तु उनमें मूलतः शान्त रस ही प्रमुख था। इस शान्तरस की प्रधानता के साथ साथ स्वीकृत अन्य रस धीरे धीरे अपनी मान्यता में प्रमुख होते गये। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्तिरस की आरम्भिक पृष्ठभूमि शान्तरस प्रधान की थी। यही शान्त रस धीरे धीरे विकसित होता हुआ कृष्णचरित्र के अनेक भावों का योजक बन गया। परवर्तीकाल में शान्तरस को गौणमहत्व का स्वीकार किया जाने लगा और अन्त में चैतन्य, राधावल्लभ, तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों द्वारा इसको गौणतम स्थान दिया गया।

शान्तरस के अतिरिक्त लगभग १२वीं शती विक्रमी से लेकर आचार्य जगन्नाथ तक काव्यशास्त्रीय परम्परा में भक्तिरस का निरूपण मिलता है। इस परम्परा में भक्तिरस के विषय में चर्चा करने वाले आचार्य अभिनवगुप्त, भोज, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी तथा जगन्नाथ हैं। इस परम्परा से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि इन आचार्यों के समय तक भक्ति और शान्तरस के रूप भेद में अन्तर समझा जाने लगा था या फिर भक्ति को शान्तरस का अंग स्वीकार किया गया था। इसमें प्रायः दोनों ही संभावनाएँ मान्य हो सकती हैं। इसके साथ ही साथ भक्तिरस की चर्चा करने वाले सभी आचार्य शान्तरस की महत्ता का प्रतिपादन जोर देकर करते हैं। भूपालसरस्वती[1] का मत इस इसके विपरीत है उन्होंने रसों की संख्या तेरह मानी है। उनके अनुसार भरत द्वारा स्वीकृत आठ रस तथा वात्सल्य, शान्त, संभोग, विप्रलम्भ एवं ब्राह्म ये कुल तेरह रस हैं। ये रस वस्तुतः इसी परम्परा के विकास की कड़ी हैं यही ब्राह्मरस वैष्णव भक्त कवियों का भक्तिरस है इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में भक्तिरस शान्तरस का अंग ही था।

भक्तिरस को पृथक रूप से रस मानने का तीसरा कारण है। उपनिषदादि में ब्रह्मस्वभावनिरूपण के क्रम में उसका आनन्दमय कहा जाना वैष्णव सम्प्रदायों के उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्यों में इस आनन्दमयस्वरूप का पुनः प्रतिपादन

१: दे०, द नम्बर आव रसाज, पृ० १४५

मिलता है ब्रह्मसूत्र के आनन्दाधिकरण[1] का उल्लेख करते हुए समस्त आचार्यों ने यहां कथित 'रसोवैसः' का उद्धरण दिया है ब्रह्म का यह रसात्मक स्वरूप जब अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वीकृत हुआ तो उसकी लीलाओं में रसमता का आग्रह अनिवार्य समझा गया यही कारण है कि भागवत आदि पुराणों में भक्ति का मधुर रूप ही प्रधान मिलता है। रूपगोस्वामी ने भी शान्तरस को गौण मानकर सर्वोच्च रसत्व मधुर भाव में ही स्वीकार किया है। मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस में प्रीति को प्रमुखता देकर वात्सल्य, प्रेयस् एवं मधुर इन्हीं तीनों को शुद्ध भक्तिरस के अन्तर्गत मानते हैं। रूपगोस्वामी ने शान्त और भक्ति के आलम्बन में भेद खड़ा करके उन्हें परस्पर पृथक स्थितियों का द्योतक बताया है। उनके अनुसार शान्तरस के आलम्बन चतुर्भुज विष्णु कृष्ण राम के प्रतिनिधि हैं किन्तु अन्य भक्तिरस के आलम्बन द्विभुज कृष्ण हैं जो प्रीति के प्रतिनिधि हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर ये ही सांसारिक सम्बन्धों के चार रूप रहे हैं। विष्णु से सम्बन्धित करके इन्हें क्रमशः दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव का द्योतक माना गया दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव उपासनाओं के माध्यम से भक्त अपनी सांसारिक रागमूलकता को ब्रह्म में तिरोहित कर देता है। इस प्रकार उपनिषद् में कथित ब्रह्म का रसात्मक स्वरूप करुण, दास्य, वात्सल्य सख्य, एवं मधुर भावों में विभक्त हो गया। किन्तु इसका प्रयोजन क्रमशः दया, शरण्य पौत्र, मित्र एवं कान्ताविषयक भावों की प्राप्ति न होकर वैराग्य एवं आनन्द की ही प्राप्ति है जो उपनिषद् आदि में कथित रसोवैसः के ब्रह्म का भी फल था। इस प्रकार उपनिषद् आदि ग्रन्थों में कथित आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप परवर्तीकाल में कृष्णादर्शन एवं आसक्तिजन्यआनन्द का उद्भावक हुआ वैष्णव ग्रन्थों में निर्दिष्ट ब्रह्म का यह स्वभाव केवल रसमय ही नहीं स्वीकृत हुआ अपितु उसकी लीलाएं भी रसमय मानी गईं। इन लीलाओं में माधुर्य भाव की प्रधानता के ही कारण भक्ति के क्षेत्र में इनकी रसरूप में कल्पना की गई। इस प्रकार भक्तिरस की व्यवस्था एवं प्रधानता में इन वैष्णवग्रन्थों का महत्वपूर्ण योग रहा है।

मध्यकालीन भक्ति का स्वभाव पूर्णरूपेण रागमूलक है। वैष्णवभक्तिसूत्रों में विशेष रूप से नारदभक्तिसूत्र भक्तिरस की आरम्भिक भूमिका प्रस्तुत करता है। इसमें भक्ति को परम प्रेमरूपा कहकर उसके विलक्षणस्वभाव का उल्लेख किया गया है। इसकार के अनुसार इस भक्ति को प्राप्त कर भक्त न इच्छा करता है, न द्वेष करता है

.....

१: दे० ब्रह्मसूत्र : आनन्दाधिकरण पर शंकर, रामानुज एवं आचार्यवल्लभ के भाष्य.

न आगे देखता है, न पीछे देखता है, अपितु उसी में उन्मत्त, विह्वल तथा आत्माराम रहता है रस की तादात्मीकरण की स्थिति में रसज्ञों ने रसभोक्ता की यही दशा बताई है। इसी संदर्भ में काव्यशास्त्र के अन्तर्गत मधुमतीभूमिका एवं चित्तावरणभंग आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

यही नहीं नारदभक्तिसूत्र[१] में प्रमुख एकादश आसक्तियों के संदर्भ में त्रैधीभूतक गुण, माहात्म्य, रूप, पूजा, एवं स्मरण, को गौण तथा आसक्तिमूलक दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कान्ताविषयक रति को प्रमुख बताया गया है। इसके बाद की आत्मनिवेदन तन्मय एवं परमविरहासक्ति कान्तासक्ति से ही सम्बन्धित है। ठीक इसी क्रम में आचार्य निम्बार्क दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्ताविषयक भक्तिभाव को क्रमशः दास्य रति, सख्य रति, वात्सल्यरति एवं कान्तारति की संज्ञा देते हैं। रूपगोस्वामी कथित भक्तिरस इसी परम्परा क्रम से सम्बन्धित है।

नारदभक्तिसूत्र	दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति
आचार्य निम्बार्क	दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति, उज्ज्वलरति
रूपगोस्वामी	दास्यभक्तिरस, सख्यभक्तिरस, वात्सल्यभक्तिरस उज्ज्वलरस या मधुरभक्तिरस।

इस क्रम से स्पष्ट है कि भक्तिरस की परवर्तीमान्यता अपने पीछे एक प्रबल धारणा लेकर चली है। भक्तिरस में स्वीकृत शान्त का संदर्भ दिया ही जा चुका है। इससे सम्बन्धित काव्यशास्त्रियों के मतों का उल्लेख करना अधिक समीचीन नहीं ज्ञात होता सख्य को स्नेह एवं लौल्य रूप में पहले से ही स्वीकार किया जाता रहा है। अभिनवगुप्त ने शान्तरस के संदर्भ में स्नेह या सख्य के रसत्व का संकेत किया है आगे चलकर भोज, हेमचन्द्र तथा भानुदत्त आदि ने भी इसकी चर्चा की है किन्तु यह स्नेह या लौल्यरस परस्पर लौकिक वातावरण में प्राप्त समवयस्क मित्रता के प्रेम का द्योतक है। इसी प्रकार रूपगोस्वामी के पूर्व वात्सल्यरस की चर्चा सर्वप्रथम कविराज विश्वनाथ 'मुनीन्द्रसम्मत' कहकर करते हैं। उनका मुनीन्द्र से तात्पर्य सम्भवतया आचार्य भरत से है। किन्तु आचार्य भरत ने वात्सल्य रस का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। कान्ता या मधुर रस वस्तुतः सैद्धान्तिक रागात्मकवृत्ति, से पुष्ट शृंगार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन वातावरण के पूर्व धार्मिक काव्यों में भक्तिरस के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी। हिन्दी के वैष्णवभक्त आचार्यों एवं कवियों ने इसी दिशा में विकास किया है।

१: नारदभक्तिसूत्र : सूत्र संख्या ८२

भक्त आचार्यों द्वारा कथित भक्तिरस का स्वरूप

भक्ति रस के व्याख्याता आचार्य

सामान्यरस से भक्तिरस के प्रवर्तन का श्रेय रूपगोस्वामी को दिया जाता है। रूपगोस्वामी सम्प्रदाय भक्तिरस के सर्वप्रथम सर्वप्रमुख व्यवस्थापक आचार्य मधुसूदन सरस्वती, आचार्य वल्लभ एवं कवि कर्णपूरगोस्वामी को भक्तिरस सम्बन्धी मान्यताएँ उसकी व्यापक स्वीकृति के लिए स्पष्ट प्रमाण हैं। पुराणों में विशेषकर भागवत के वेणुगीत एवं रासप्रकरण में रस का अनेक बार उल्लेख हुआ है। रूपगोस्वामी ने स्वयं गोधरा की चन्द्रिका का उल्लेख किया है किन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में उन्होंने ध्वनिवाद एवं आचार्य भरत का भी नाम लिया है[2]। यह एक ऐसी परम्परा है जो शुद्ध काव्यशास्त्र से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। मधुसूदन सरस्वती का प्रयत्न इस दिशा में निश्चित ही रूपगोस्वामी से अधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत है। रस निरूपण की प्रक्रिया के क्रम में उन्होंने शुद्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, व्यंजना आदि को भक्तिरस का पोषक एवं सहायक स्वीकार किया है। उनके अनुसार भक्तिकाव्य में व्यवहृत काव्य के ये तत्व भक्तिरस का ~~वर्धन~~ एवं वर्धन एवं पोषण करते हैं। आचार्य वल्लभ भी प्रायः काव्य के समानान्तर ही भक्तिरस की व्याख्या करते हैं[3]। उनके अनुसार काव्य में स्वीकृत रस शुद्धरस है। एवं भक्तिकाव्यों का रस धर्ममूलक है कवि कर्णपूरगोस्वामी आलंकारिक आचार्य हैं। उन्होंने भक्तिरस की व्याख्या काव्यरस के संदर्भ में की है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में भक्तिरस की व्याख्या हरिव्यासदेव ने सिद्धान्त रत्नावली में की है। किन्तु उसका आधार रूपगोस्वामी कृत श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धु ही रहा है। आचार्य वल्लभ की परम्परा में हिन्दी के कवियों में नन्ददास का उल्लेख महत्वपूर्ण है। उन्होंने रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी

१: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः पश्चिमविभागे मुख्य भक्तिरस, पंचक रूप निरूपणे प्रीतिभक्ति रस लहरी श्लोक सं. १.

२: पंचमस्थायीभावलहरी : श्लोक सं. ७५ से ८४ तक :

३: रास पंचाध्यायी एवं वेणुगीत का भाष्य : आचार्य वल्लभ.

तथा रसमंजरी में भक्तिरस की चर्चा की है। रूद्रट से इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस सम्बन्धी उल्लेख एवं व्याख्याएं रघुनाथ शिवा जी कृत वल्लभपुष्टिप्रकाश, विद्वन्मंडनम्, आचार्य वल्लभ रचित सिद्धान्त रहस्यम् के हरिरामकृत भाष्य बालकृष्णभट्ट विरचित प्रमेयरत्नार्णव, विट्ठलनाथकृत, शृंगाररसमंडनम् तथा गिरिधरजी कृत शुद्धाद्वैतमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में मिल जाती हैं दूसरी ओर रूपगोस्वामी के उज्ज्वलनीलमणि एवं भक्तिरसामृतसिन्धु पर जीवगोस्वामी की टीका उपलब्ध है। ~~चैतन्यचरि~~ चैतन्यचरितामृत मध्यभाग की व्याख्या में कवि कृष्णदास एवं वृन्दावनदास अलग भक्तिरस की व्याख्या करते हैं किन्तु इनका आधार रूपगोस्वामी का ही मत रहा है भक्तिरस की उत्पत्तिविषयक धारणा में कवि कृष्णदास किंचित मौलिकता दिखाते हैं, किन्तु वह मौलिकता असंगत है। आधुनिक लेखकों में बंगाल के वैष्णव भक्तकवियों को लेकर भक्तिरस की उसी क्रम में व्याख्या श्री दिनेशचन्द्रसेन, डॉ० सुकुमारसेन, डॉ० एस० के० डे[1] आदि ने की है। इनमें डॉ० डे. का मत विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने भक्तिरस की विस्तृत व्याख्या हिस्टारिकल क्वार्टरली में की है[2]। इसके अतिरिक्त उनकी वैष्णव फेथ एंड मूवमेन्ट भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हिन्दी में भक्तिरस के समर्थन की ओर पं. रामदहिन मिश्र का प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है[3]। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत सूरसाहित्य में भक्तिरस के प्रयोग की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

भक्तिरस: स्वरूप तथा स्वभाव

आलंकारिक काव्यशास्त्रियों की रस एवं भक्तिरस सम्बन्धी व्याख्याएं मूलतः स्पष्ट हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि मध्यकालीन वैष्णव भक्तिकाव्य उनकी भक्तिविषयक अभिव्यक्ति का प्रबल साधन रहा है। काव्य की इस साधनभूतता ने इन कवियों को काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोणों को भी आत्मसात् करने के लिए बाध्य किया क्योंकि बिना निश्चित मानदंड के इनके काव्य की व्याख्या का कोई स्पष्ट आधार नहीं था। इसी क्रम में जब भक्ति और काव्य एकमेव हो

.....

१: आ० एच० क्यू० भाग ८ : १९३२

२: रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण : रस प्रकाश :

गए तो भक्ति भक्ति न रहकर भक्तिरस हो गई अन्यथा भक्ति को रस मानने का कोई भी स्पष्ट प्रयोजन नहीं है। चूंकि रस की व्याख्या एक निश्चित पृष्ठभूमि में हो चुकी थी, अत: इन भक्त आचार्यों ने भी ठीक उसी पृष्ठभूमि को ग्रहण कर भक्तिरस की व्याख्या की उनके लक्षणों, आलम्बन उद्दीपन, कार्य कारणों आदि के ठीक वही क्रम रहे जो काव्यशास्त्रीय परम्परा में पहले से मान्य थे। इस प्रकार इन आचार्यों ने अपनी पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा का इस क्षेत्र में सम्यक् उपयोग किया है।

मधुसूदन सरस्वती एवं भक्तिरस

भक्तिरस स्वरूप एवं उसकी परिभाषा के सम्बन्ध में इन भक्त्याचार्यों में मतैक्य नहीं है। प्राय: उसके स्वरूप के ही स्थिरीकरण में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। अत: इन मतों में परस्पर वैमत्य होना आश्चर्यजनक नहीं है। मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस को इस प्रकार परिभाषित करते हैं।

भक्तिविषयक विभाव अनुभाव एवं संचारीभावों के संयोग से सुखमूलक स्थायीभाव निर्मित होकर भक्तिरस की व्यंजना करते हैं[1]।

इस परिभाषा में दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं-प्रथम विभावानुभावसंचारी के संयोग से सुखमूलक स्थायीभावों की सृष्टि एवं द्वितीय भक्तिरस का व्यंजित होना। भरत के प्रसिद्ध रसोत्पत्ति के सूत्र में सुखमूलकता का संकेत नहीं है परवर्ती आचार्यों में भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ही रसनिष्पत्ति के क्रम में सुखमूलकता का संकेत करते हैं। मधुसूदन सरस्वती का यह विचार पूर्णस्पष्ट है। उन्होंने भक्ति की आनन्दमूलक भूमिका को स्पष्ट करने के लिए इसे सुखमूलक स्वीकार किया है। भक्ति काव्य में विरतिमूलक रस करुण, वीभत्स, भयानक एवं रौद्र के लिए सम्भवतया कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि इनके अनुसार रसभाव चार हैं- शुद्ध, मिश्रित सैकीय तथा सैकीय मिश्रित[2]। शुद्ध रस उनके अनुसार भक्ति ही है जो संख्या में तीन हैं- ये वत्सल, प्रेयस एवं मधुर हैं। सैकीय भावों में उनके अनुसार सख्य अत्यल्प है क्योंकि उसमें सुखमूलकता भी अत्यल्प ही है। ये भाव रौद्र, भयानक वीभत्स, अद्भुत एवं शान्त हैं। इनसे अधिक रस प्रेयोभाव सैकीय मिश्रित हैं।

.....

१: भक्तिरसायन : तृतीय उल्लास श्लोक सं. २ :

२: भक्तिरसायन : द्वितीय उल्लास श्लोक सं. ३४, ३५ :

जिनमें शृंगार, हास्य आदि आते हैं। यही शृंगार, हास्य आदि जब भक्तिकाव्य में प्रयुक्त होकर भक्तिरस के अंग बन जाते हैं, तब इन्हें केवल मिश्रित कहा जाता है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस का स्वभाव आनन्दमूलक मानते हैं।[१]

मधुसूदन सरस्वती की दूसरी धारणा है कि रस व्यंजित होता है। यह वस्तुतः उनकी मौलिक स्थापना न होकर आनन्दवर्धन के मत का पुनरास्थान मात्र है आनन्दवर्धन ने रस को असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध करके इसका व्यंजकता का प्रबल समर्थन किया है। बाद में, अभिनवगुप्त ने इसी व्यंजनाशक्ति के आधार पर अपने साधारणीकरण के प्रसिद्ध सिद्धान्त, अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया। जिससे प्रकट रस को अनुमिति का अनुमिति की अवस्था में ज्ञान/स्वशब्दवाच्यत्वदोष कहलाता है। ठीक उसी प्रकार भक्तिरस को अनुमिति भी है। वह न तो दृश्य है, न श्रव्य है न ज्ञाप्य, अपितु तीनों से पृथक मात्र अनुभूतिपरक ही है। अतः न उसका प्रत्यक्ष आस्वाद हो सकता है, न अनुमानगम्य ही अपितु वह विभावादि के माध्यम से व्यंजित होकर भक्त को अनुभूत होता है। यह वस्तुतः भक्तिरस की उत्कटता का प्रमाण है दूसरे शब्दों में मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भी भक्तिरस की अनुभूतिमूलक अनुभूति उत्कट होने के कारण ही व्यंग्य है <अर्थात् भक्तिरस दुख की एक चरम सीमा स्थित स्थिति है।

इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस के दो लक्षण हैं

१ : यह अनुभूतिमूलक मानसिक स्थिति है।

२ : साधारणीकरण या अनुभूति के स्तर पर यह अत्यधिक उत्कट होती है मधुसूदन सरस्वती की दूसरी धारणा का विकास आगे नहीं हो सका।

गौडीय सम्प्रदाय रूपगोस्वामी तथा भक्तिरस

रूपगोस्वामी की परिभाषा मधुसूदन सरस्वती से किंचित् भिन्न है। यदि मधुसूदन सरस्वती आनन्दवर्धन का समर्थन करते हैं तो रूपगोस्वामी आचार्य भरत का उनके अनुसार भक्तिरस की परिभाषा इस प्रकार है।

विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं व्यभिचारीभाव से परिपुष्ट सामग्री रसरूपता को प्राप्त होती है। यही रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के

१: द्रुता च वत्सलरतिः प्रीतिरिति त्रयी
भावान्तराभिश्चित्वादमिश्रा रतिरुच्यते :३: ३४ :

साधनों द्वारा संयुक्त होकर भक्तों के मनस् में पुष्ट होता है इस प्रकार इसका स्थायीभाव कृष्णरति है इसी कृष्ण रति स्थायीभाव से निष्पन्न होने वाला रस भक्तिरस है।[1]

इस परिभाषा में चार तत्व हैं किन्तु परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं वे ये हैं।

१: समस्त विभावादि में को सामग्री पुष्ट होकर रसता को प्राप्त होती है
२: यह भक्तों के हृदय में आस्वाद्य होता है।
३: इसके लिए कृष्णरति अनिवार्य है।
४: यह कृष्णरति श्रवणादि साधनों से पुष्ट होता है।

विभावों का पुष्ट होना काव्यशास्त्रीय रस परम्परा में उसकी निष्पन्नता के लिए सर्वथा मौलिक तत्व है। भरत ने रसनिष्पत्ति के लिए संयोग तथा भट्टलोल्लट ने विभावादि का सम्बन्ध अनिवार्य बताया था। शंकुक के अनुसार रस निष्पत्ति के लिए अनुमान अपेक्षित है। भट्टनायक साधारणीकरण द्वारा भोग किए जाने पर रसानुभूति को अनिवार्य बताते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार विभावादि के व्यंजन से रस निष्पन्न होता है किन्तु रूपगोस्वामी इन सबके विपरीत विभावादि की पुष्टि को रसास्वाद का कारण स्वीकार करते हैं। इस पुष्टि के लिए उन्होंने जिन साधनों का प्रयोग अनिवार्य बताया है वे नवधा भक्ति के श्रवणादि साधन हैं। अतः भक्तिरस प्रक्रिया में नवधा भक्ति रस को पुष्ट करने का प्रथम साधन है किन्तु रस प्रक्रिया के साधनों में विभावादि परम्परा से ही चले आ रहे हैं। रूपगोस्वामी ने उनमें सात्विक भावों को और भी जोड़ दिया है जो अनुभाव के अन्तर्गत है इन साधनों के द्वारा ही भक्ति रस की निष्पत्ति सम्भव है। भक्ति रस के विषय में उनका भक्तिमूलक होना अनिवार्य है किन्तु इस परिभाषा के अंश में रूपगोस्वामी इसका कोई संकेत न करके अनन्यभक्ति के साधनों को भक्तिरस की निष्पत्ति का साधन मानते हैं जो सर्वथा अनुभाव है। उनके अनुसार भक्ति के साधन ही कृष्ण रस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं किन्तु इनका प्रयोग इन्हीं विभावादि में ही किया जाना अनिवार्य है। भक्तिरसों के पृथक पृथक निरूपण में वे इसी का समर्थन भी करते हैं। अतः श्रवणादि साधनों को विभावानुभाव आदि से पृथक नहीं रखा जा सकता रूपगोस्वामी के अनुसार

१: दक्षिण विभागे विभाव लहरी श्लोक सं. ५, ६

यही भक्ति के भाव पुष्ट होकर रस बनते हैं। यहाँ पुष्टि का अर्थ है भक्तों को मनोवृत्ति एक मात्र ईश्वरोन्मुख हो जाना। इसी वृत्ति के फलस्वरूप कृष्णरति का जन्म होता है। यही कृष्णरति अन्ततः भक्तों के हृदय में पुष्ट होकर भक्तिरस बन जाती है। इस प्रकार रूपगोस्वामी के अनुसार बिना ईश्वरोन्मुख मनोवृत्ति के भक्तिरस की निष्पत्ति असंभव है।[1]

रूपगोस्वामी के अनुयायियों में जीवगोस्वामी, कृष्णदास तथा वृन्दावन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जीवगोस्वामी का मत रूपगोस्वामी से भिन्न नहीं है। भिन्नता वस्तुतः कृष्णदास के मत में है उनके अनुसार सौभाग्यवश व्यक्तियों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसी श्रद्धा के कारण साधुओं की संगति मिलती है साधुसंग से भक्त श्रवण कीर्तन आदि का अनुशीलन करते हैं। इसी क्रम से कृष्णरति का उदय होता है अधिकारभेद से यही कृष्णरति अन्ततः रसरूप में परिणत होकर शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रूपों परिवर्तित हो जाती है[2]। श्री वृन्दावनदास के अनुसार दास्य एवं सख्य रस को ही महत्ता बताई गई है उन्होंने मधुर वात्सल्य को गौण सा बना दिया है[3]। किन्तु कृष्णदास एवं वृन्दावनदास के मतों में विशेष मौलिकता नहीं दृष्टिगोचर होती। कृष्णदास के द्वारा निर्दिष्ट भक्तिरस की निष्पत्ति सम्बन्धी धारणा पूर्णतः असंगत है। उनके अनुसार सौभाग्यवश ही भक्तिरस की निष्पत्ति होती है किन्तु रस एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है उसके लिए किसी भाग्य की अपेक्षा नहीं है।

आचार्य वल्लभ तथा उनके अनुयायी

भक्तिरस की निष्पत्ति के विषय में वल्लभ सम्प्रदाय में भी प्रयत्न किया गया है किन्तु यह अपेक्षाकृत अस्पष्ट है क्योंकि भक्तिरस पर स्वतंत्र रूप से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वल्लभाचार्य ने भक्तिरस का महत्व श्रीमद भागवत की सुबोधिनी टीका के रासपंचाध्यायी एवं वेणुगीत प्रसंग में किया है। वेणुगीत के

१: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्वविभागे भावभक्तिलहरी।

२: अधिकार भेदे रति पंच प्रकार। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आर।
एइ पंचस्थायीभाव इय पंच रस। ये रसे भक्त पुनी कृष्ण इय वश। काव्यतत्व — समीक्षा २४२

३: ~~अधिकार भेदे रति पंच प्रकार शान्तदास्य, सख्य वात्सल्य मधुर आर।~~
~~एइ पंचस्थायीभाव इय पंचरस ये रसे भक्त पुनी कृष्णइयवश : काव्यतत्वसमीक्षा~~
पृ. २४४

श्लोक संख्या ४ में उन्होंने लीलारस को नाट्यरस के समान बताया है। इस प्रसंग में उन्होंने भक्तिरस को धर्मसहित कहा है उनके अनुसार काव्यरस केवल रस है जो नाटकों में प्राप्त होता है। इस धर्मसहित रस की निष्पत्ति उनके अनुसार इस प्रकार होती है।[1]

काव्यरस की भाँति भक्तिरस के फल के बोधार्थ सर्वप्रथम भक्तिचेतना का स्फुरण होता है। शास्त्रज्ञान के फलस्वरूप यही अंकुर आगे बढ़कर कलिका रूप में हो जाता है। जब संस्कार रूपी रात्रि भक्त चेतना को आच्छन्न कर लेती है तब इस गूढ़ स्थिति में अभिव्यक्ति रूप भक्ति रस की निष्पत्ति होती है। यदि आलंकारिक भाषा को निकाल कर कहा जाय तो यह इस प्रकार है शास्त्रज्ञान से भक्ति चेतना जो वासना रूप में भक्तों में स्थित है अपने आवेग की अवस्था में भक्तिरस में परिणत हो जाती है। इस प्रकार उनके अनुसार भक्तिरस की निष्पत्ति का निम्नक्रम है। प्रथम शास्त्रार्थ ज्ञान से भक्त अपने संस्कार को जागृत करता है। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि एक ओर वह माया का तिरस्कार करता है एवं दूसरी ओर आत्मा का कृष्णार्पण। इसके अभाव में भक्तिरस की निष्पत्ति असम्भव है कृष्णार्पण के पश्चात् भक्ति के संस्कार जागृत होकर भक्तिरस को निष्पत्ति कराते हैं। अतः यह पहले से अधिक महत्वपूर्ण तथ्य है। भक्त के मस्तिष्क में कृष्ण प्रेम की वासना उत्कट एवं आह्लादक होने के कारण रस बन जाती है। यह वस्तुतः भक्ति के द्वारा भक्तों को प्राप्त होने वाला आनन्द है। उनके अनुसार यही आनन्द ही भक्तिरस है। इन्होंने भक्ति के दो भेदों का पृथक से उल्लेख नहीं किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में भक्तिरस का कथन मिलता है। वल्लभ दृष्टिप्रकाश में श्रीकृष्ण को चतुर्दशरसलीला का कर्ता माना गया है।[2] इसमें भक्तिरस का स्थायिभाव रति बताया गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि कृष्ण

.....

१: वस्तुनिर्देश मात्रेण श्रोतृणां काव्यवद् रस : तस्य फलबोधाय प्रथमं तत्त्वमतम्
बहोरात्रं वासना स्यात् ततोच्छन्नं सुतम् : एतदुत्पत्तौ मेतावान् निरूपितमिति
स्थिति :
वेणुगीतश्लोकानं.२:
वल्लभभाष्य:

२: सो वन में चतुर्दश लीला किये सो स्थायी भाव को प्रत्येक रसन में प्रकट करि प्रकट विषय उद्बोधक करनो, नव रस को स्थायी भाव तो नव होय भक्तिरस को स्थायी भाव रति है ' पृ. २२४

के दक्षिण भाग में राधा विराजमान है जिनका स्वरूप शृंगारात्मक है यहां शृंगारात्मक वेष धारण कृष्ण का उद्दीपन विभाव है और कृष्ण का स्वरूप इस शृंगार रस का उद्भावक है[1] भक्तिरस की निष्पत्ति का एक विचित्र उल्लेख इसमें मिलता है कृष्ण और गोपिका थी के साथ प्रकट क्रीडा निम्न भागों में विभक्त है। कृष्ण रूप को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम श्वेत है - जो निर्गुण है। द्वितीय स्वरूप है जो नीलवर्ण युक्त है। दूसरी ओर कृष्णप्रिया राधा का रूप है इसमें निर्गुण प्रथम विभाव, स्वयं प्रथम अनुभाव तथा क्रिया का रूप व्यभिचारी भाव है। इन सभी के संयोग से भक्ति रस की निष्पत्ति होती है। ऊपर कही हुई २८ रस की लीला को स्पष्ट करते हुए वल्लभ पुष्टि प्रकाशकार ने बताया है कि चतुर्थ पुरुषार्थ चार रस है इनका स्वरूप भी विलक्षण है।

१ वृन्दावने वैमान धर्मरस
२ क्वचिद् गायन्ति अर्थरस
३ क्वचिच्च कलहायना कामरस
४ मेघगंभीरताभाव: मोक्षरस

इन चार रसों के अतिरिक्त शेष १० रस ये हैं।

१ चकोर शृंगार रस
२ क्रौंच वीररस
३ चक्र करुणरस
४ मण्डूक अद्भुत रस अद्भुतरस
५ वोहे हास्यरस
६ व्याघ्रसिंह भयानकरस
७ कोहा वीभत्स
८ नृत्यन्ते रौद्र
९ क्वचित परत्व शान्ति
१० अमरै इलनेक्षित : भक्तिरस[2]

इस व्याख्या से इतना स्पष्ट है कि रस सम्बन्धी धारणा की पुष्टि

१: वल्लभ पुष्टि प्रकाश पृ. २३३
२: वल्लभ पुष्टि प्रकाश पृ० २७५
३: वल्लभ पुष्टि प्रकाश पृ. २७७

इनके काव्यों में अवश्य मिलती है, चाहे इनकी व्याख्या अतार्किक एवं अशुद्ध ही क्यों न हो। इनके अतिरिक्त हरिराय[1] वालकृष्णभट्ट के मत किंचित उल्लेखनीय ज्ञात होते हैं। सिद्धान्त रहस्य में हरिराय ने कृष्णावतार को रसरूप बताया है उनके अनुसार यह रसरूप अवतार त्रिधा है

१ संयोगरसात्मक २ मुलरसात्मक ३ विप्रयोगरसात्मक

इस अवतार में ब्रह्म का आनन्द रूप प्रकट रहता है यही आनन्दात्मकता ही रस है। इस संदर्भ में उन्होंने रूपगोस्वामी की परिभाषा दुहराई है। उन्होंने भक्तिरस की इन तीन अवस्थाओं के लिए कृष्ण की तीन लीलाओं को दुहराया है[2]। उनके अनुसार कृष्ण बालावस्था स्थायीभाव, कैशोर अवस्था संयोग और प्रौढावस्था वियोग है। विप्रयोग ही रस की पूर्ण और प्रौढ अवस्था है। अतः वह मूलरूप कहीं जाय है। ये अवस्थाएं कृष्ण के तीन आनन्दात्मक स्वरूपों को समर्पक है —

१ अतीर्ण कृष्णानन्द

२ संयोगानन्द

३ विप्रयोगानन्द या कान्तानन्द[3]

इस प्रकार हरिराय के अनुसार वात्सल्य, सख्य और मधुर विषयक भाव ही रस है क्योंकि वे ही सच्चे अर्थों में कृष्णानन्द के उद्भावक है।

वल्लभ सम्प्रदाय की शृंगार रसात्मकता के मौलिक भाव की व्याख्या प्रमेय रत्नार्णव में भी मिलता है। लेखक के अनुसार भाव और रति में अन्तर है ही नहीं कृष्ण के प्रति सर्वात्मभाव ही कृष्णरति है। ब्रज की गोपियां सर्वात्मभाव से ही कृष्ण में लीन हुई थीं। इसलिए कृष्णलीला में शृंगाररस की संभावना अधिक है यही कारण है कि यहां विरहभाव को अधिक प्रगाढता मिलती है इसी प्रगाढता में ही भक्तिरस की निष्पत्ति सम्भव है[4]।

.....

१ सिद्धान्त रहस्यम् हरिरायगोस्वामी पृ. ४

२ साहित्यदर्पणकार ने रस को इस तरह से वर्णन किया है

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः :

एषाकृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत् पृ० ५

३: " " पृ० ५ तथा ६.

४: " " प्रमेय रत्नार्णव पृ. ३१, ३२.

निम्बार्क सम्प्रदाय में आचार्य हरिव्यासदेव ने सिद्धान्तरत्नावली में भक्तिरस की व्याख्या की है। इसके साथ ही राधिकोपासक रामभक्तों में 'आनन्दरामायण' नामक ग्रन्थ भी भक्तिरस विषयक मान्यता का सशक्त आधार माना जाता है किन्तु इन ग्रन्थों में भक्तिरस विषयक मौलिक विवेचना प्राप्त नहीं है। रूप गोस्वामी की एतद्विषयक मान्यताओं का यहाँ उल्लेख मात्र मिलता है।

कविकर्णपुर गोस्वामी

भक्तिरस के विषय में कविकर्णपुर गोस्वामी का मत भी उल्लेखनीय समझा जाता है। 'अलंकार कौस्तुभ' के पंचम किरण में उन्होंने रस की व्याख्या करते हुए समस्त रसों को प्रेम से निष्पन्न बताया है। उनके अनुसार भक्तिरस शेष १० रसों में अपना पृथक स्थान रखता है। उनके अनुसार भक्तिरस के आचार्यों का कथन कि भक्ति श्रृंगार रस है अनुचित है क्योंकि राधाकृष्ण का शृंगार भी वस्तुतः प्रेम ही है। भक्ति के क्षेत्र में यह मधुर रस के नाम से पुकारा जाता है। अतः यह मधुर रस भी प्रेम से निष्पन्न होता है। भक्तिरस का स्वरूप उनके अनुसार शृंगारात्मक या प्रेमपरक है। शेष भक्तिरस के विषय में इनका विशेष योगदान नहीं है। वस्तुतः ये भक्त आचार्य न होकर आलंकारिक ठहरते हैं।[१]

निष्कर्ष

इस प्रकार भक्तिरस की निष्पत्ति एवं स्वरूप विषयक धारणाएँ स्पष्ट हैं। मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी एवं वल्लभाचार्य तथा उनके अनुयायी सभी ब्रह्मानन्द को भक्तिरस की संज्ञा देते हैं। प्रायः सभी इस आनन्द के लिए

.....

१: अलंकार कौस्तुभ: पंचम किरण पृ. १४८, १४९ .

प्रेमरसे सर्वरसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महोदधावेव प्रपंच : केषांचिन्मते राधाकृष्णयोः शृंगार एव रस : शृंगारोज्ज्वलो प्रेमाग, अद्यत्वापि क्वचिद्विद्वत्ता वर्य तु प्रेमागो शृंगारो न इति विशेष: ,तथा च

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यस्मिन्रसत्वत:
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ .

कृष्णरति अनिवार्य बताते हैं। कृष्णरति के लिए श्रद्धाभक्ति भगवद्स्वरूप ज्ञान, भक्ति के साधनों द्वारा आत्मशोधन आदि इस दिशा में अनिवार्य बताये गये हैं। इनके विभावों, भावों एवं स्थायीभावों के विषय में प्रायः मतैक्य है। इस दिशा में मधुसूदन सरस्वती एवं रूप गोस्वामी ने ही इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। रूप गोस्वामी ने संचारियों की संख्या ३३ मानी है। ये तैंतीस संचारीभाव आलंकारिक काव्यशास्त्रीय परम्परा से लेकर उन्हीं के त्यों उद्धृत कर लिए हैं। स्थायीभावों को शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य एवं प्रियरति के अन्तर्गत रखा गया है। विभावों में आलम्बन तथा उद्दीपन दो हैं। आलम्बन के अन्तर्गत कृष्ण, कृष्ण के भक्त तथा विद्वान गए हैं-गोपियाँ, वृन्दावन एवं लीलायें उद्दीपन के अन्तर्गत हैं। अनुभावों को मुख्य तथा गौण दो भेदों में विभक्त किया गया है। सात्त्विक अनुभावों का कथन काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुरूप ही है। इस प्रकार पूर्व परम्परा से चली आती हुई रस सम्बन्धी सामग्री को योजना भक्तिरसामृतसिन्धु में विस्तार से मिलती है।

..

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों की रस सम्बन्धी धारणाएं

वैष्णव काव्य की पृष्ठभूमि में स्वीकृत रस सम्बन्धी ये सिद्धान्त निश्चित ही अपना पृथक अस्तित्व रखते हैं। इन धारणाओं से दो निष्कर्ष सहजतापूर्वक निकाले जा सकते हैं। प्रथम यह कि इस काव्य का मूल दृष्टिकोण अन्य मापदंडों से पृथक मात्र रसकेन्द्रित ही था मधुसूदन सरस्वती ने स्पष्ट कह दिया है कि काव्य के अन्य मापदंड रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि भाव के वर्धक साधनमात्र हैं, अतः ये गौण हैं। प्रधानता रस की है। ये समस्त मानदंड इसी रस को प्रशस्त करते हैं।[१]

इससे एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकलता है कि इस रस सिद्धान्त में मधुर को अधिकाधिक महत्व दिया गया है। मधुसूदन सरस्वती प्रियता को भक्तिकाव्य का प्रमुख स्थायीभाव मानकर शुद्ध भक्तिरस की सत्ता विशुद्ध प्रेयस एवं वत्सल भाव में स्वीकार करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के वियोग आनन्द की महत्ता स्वीकार करके उसे सर्वतोधिक उत्कट गोपितानन्द की संज्ञा दी गई है। रूपगोस्वामी इस मधुर रस के सर्वप्रबल समर्थक ठहरते हैं। उन्होंने मधुर रस की व्याख्या करते हुए उसे भक्तिरसराट् की संज्ञा दी है। आचार्य निम्बार्क भागवत भावभक्तियों में कान्तारति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताकर उसे उज्ज्वलरति के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन वैष्णव काव्य की रसपरक दृष्टि मधुरता की ओर अत्यधिक सजग थी। हिन्दी के वैष्णव भक्तकवि भी रस शब्द का प्रयोग इसी संदर्भ में करते हैं। वैष्णव आचार्यों द्वारा कथित भक्तिरस सम्बन्धी दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों की रस सम्बन्धी धारणा का अध्ययन आवश्यक है।

.....

१: भक्तिरसामृत : तृतीय उल्लास श्लोक सं. २०, २१

हिन्दी के वैष्णवभक्तिकाव्य में भक्ति की प्रधानता होने के कारण इसके विषय में अनेक धारणाएं दृष्टिगत होती है; कोई इनके काव्यत्व के ऊपर संदेह करता हुआ इन्हें मात्र पौराणिक कथाकार मानता है और किसी ने तो इन्हें मात्र साम्प्रदायिक कवि ठहराया है। आज भी भक्त समाज इनके कवि व्यक्तित्व को अधिक महत्वपूर्ण कहां समझता। वस्तुतः ऐसे कवि कहां यह तथ्य सम्पूर्णतः ठीक नहीं है रस को काव्य की सर्वोच्च कसौटी स्वीकार की जाती है तो ये काव्य के सबसे उदात्त तत्व के समर्थक तत्वद्रष्टा कवि ज्ञात होते हैं। उन्होंने अपने काव्य का अन्तिम मूल्य रस को ही स्वीकार किया है। चाहे वह काव्यरस हो या भक्तिरस। तुलसीदास ने मानसरूपक के संदर्भ में काव्य के नव रस को चारु उद्यान का जलधर कहा है[1]। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने शान्त भावभेद तथा रसभेदों की चर्चा की है[2]। धनुषभंग के प्रसंग में राम के उदात्त व्यक्तित्व में शान्त, वात्सल्य, वीर, अद्भुत, भयानक, शृंगार के समाहित होने की बात कही है[3]। लक्ष्मण मूर्च्छा के प्रसंग में उन्होंने करुण और वीर का परस्पर रस मैत्री का भी संकेत किया है[4]। ये मानस के उत्तरकाण्ड में राम और भरत के पारस्परिक मिलन को प्रेम और शृंगार रस का मिलन स्वीकार करते हैं[5]। काव्य की रचना प्रक्रिया का उद्घाटन उन्होंने दो स्थलों पर किया है। वे ये हैं —

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जौ बरसइ बर बारि बिचारू। होहिं कवित मुकुता मनिचारू।

श्रुति बेधि पुनि पोए हैं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।

इस रूपक को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —

.....

१: मानसदर्शन : श्री कृष्णलाल पृ. १८८
२: रामचरित मानस : बालकाण्ड : दोहा सं. ३७ की १० वीं पंक्ति
३: रामचरित मानस : बालकाण्ड : दो : सं. ६ अर्धाली १०
४: मानस बालकाण्ड: दो सं. २४१ तथा २४२.
५: मानस उत्तराकाण्ड दो. सं. ६१.
६: मानस उत्तर काण्ड छन्द सं. १.

१ कवि हृदय ——→ सिन्धु
२ काव्यमति ——→ सीप
३ शारदा ——→ स्वाति
४ विचार ——→ स्वातिजल
५ कवित्व ——→ मुक्ता

इस प्रकार इस रूपक में 'कवि हृदय, काव्यमति, शारदा एवं विचार काव्यत्व की सृष्टि करते हैं'। तुलसी का अपना विचार है कि काव्य रचयिता को सहृदय होना चाहिए। सहृदयता के बिना उसके कवित्व मुक्ता का कहीं असम्भव है काव्यप्रक्रिया को [एक स्थल पर भी उन्होंने संकेत किया है।

मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।

इसके ऊपर टिप्पणी लिखते हुए आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है 'किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था, यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकती उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए[१]।'

इसमें 'काव्य के साधारणीकरण की ओर कवि का प्रबल आग्रह मिलता है। बालकीला की अलौकिकता की ओर संकेत करते हुए सूर ने कहा है जिस रस का उपभोग नन्द और यशोदा करते हैं वह त्रिभुवन दुर्लभ है[२]। रस मंजरी नन्ददास की रस सम्बन्धी अनूठी रचना है। रस चर्चा के पूर्व उन्होंने स्तवन में कहा है कि समस्त विश्व में व्याप्त प्रेम रस से निष्पन्न आनन्द के अधिष्ठान एक मात्र गिरिधरदेव ही हैं[३]। रस की महत्ता बताते हुए उन्होंने कहा है

.....

१: गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७५
२: सूरसागर पद सं. ८५६
३: रस मंजरी दो . सं. ७

में रसमय सरस्वती की वन्दना करता हूँ कि क्योंकि उन्हीं से ऐसे चमत्कारों की प्राप्ति सम्भव है जो रसमय होगें कवियों ने कोमल वर्णों की प्रशंसा की है; किन्तु उसके श्रृंगार रसहीन कोमल वाक्य निरर्थक है, जैसे कि रसात्मक वाक्य के अभाव में शुद्ध तत्व उसी प्रकार प्रच्छन्न रहता है यथा महाराष्ट्र प्रदेश की सुन्दरियों के स्तन[1]। इसीलिए रसहीन शृंगारों के श्रोता को शीघ्र ऊब का पछताना पड़ता है। सूरदास ने अनेक स्थलों पर कृष्णकथा को भागवतरस एवं हरिरस कहा है। इनका दृष्टिकोण है कि हरिरस ही एक मात्र उपभोग्य है क्योंकि उसके उपभोग से आनन्द की उपलब्धि होती है। कृष्ण की बालक्रीड़ा के संदर्भ में उन्होंने वात्सल्यरस को स्वाभाविक उत्पन्न कहा है। भक्तमाल में कृष्णभक्त कवियों के संदर्भ में सूरदास, चैतन्य, वल्लभ, नन्ददास को रस का स्रष्टा कहा गया है। चैतन्य सम्प्रदाय के सभी कवियों ने सहमत होकर कृष्णरस को अपनी अन्तिम गति बताई है। हरिदासी, हरिव्यासी एवं राधावल्लभी सम्प्रदाय के सभी समस्त कवि प्रेममूलक शृंगार या मधुर भक्तिरस के प्रबल समर्थक ज्ञात होते हैं। इनके अब दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उनकी रस सम्बन्धी धारणा का पृथक रूप से अध्ययन करना अपेक्षित है इन कवियों की रस विषयक धारणाएँ निम्न हैं।

कृष्णरस — ये कवि काव्यशास्त्री नहीं थे। इन्होंने भाव, विभाव एवं अनुभावों की सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं की है। किन्तु भक्ति के आवेश में आकर रस-शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इस कृष्णरस का संकेत प्रायः राधावल्लभी, हरिदासी हरिव्यासी एवं यत्किंचित् वल्लभ सम्प्रदाय में हुआ है। सूरदास इस रस की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि जिस व्यक्ति का मन इस रस में लग जाता है। उसे अन्य रस फीके लगते हैं। उसकी उन्मादपूर्ण मानसिक विलुप्ति उसे पागल बना देती है। वह इस सुख संवाद का निर्देश नहीं कर पाता क्योंकि वह रस तो अनिर्वचनीय है।

१: रस मञ्जरी दोहा सं०२०

२: भक्तमाल कृष्णा सं..

गुणे का गुह है[1] । इस कृष्णरस का दूसरा नाम हरिरस है। रस मंजरी के आरम्भ में नन्ददास कृष्ण को आनन्दघन मानकर उन्हें परम रसमय, रस का ज्ञ एवं रसिक कहे हैं[2]। यहां नहीं आगे उन्होंने यह भी कहा है कि प्रेमरूप आनन्द रस जो इस विश्व में है, वह सब गिरिधरदेव का ही है। उनसे पृथक यह रस है ही नहीं[3] लौकिक रस उन्हीं के उच्छिष्ट मात्र हैं। अतः इसी रस का गान करना इनका इष्ट था। परमानन्ददास ने इस कृष्णरस का कारण राधा एवं कृष्ण की परस्पर केलि को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि राधा और कृष्ण परस्पर केलि क्रीड़ा से कृष्णरस की वर्षा कर रहे हैं[4]। कृष्णरस की उत्कृष्टता का समर्थन राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवि हरिराम व्यास करते हैं। व्यास जी के अनुसार जो निरन्तर श्यामरस का पान करता है वही जीवन्तता प्राप्त करता है। जो श्यामरस का रसिक न्याकर बनकर जीवित रहता है। वही पुष्ट रहता है और कृष्णरसासव का पानकर बावला बना घूमता फिरता है[5]। चतुर्भुजदास के अनुसार कृष्णरस शरदशशि की भांति है और भक्त श्रोताओं को चकोरिनी बनाकर जीवित रहता है[6]। परमानन्ददास तथा भक्त कवि व्यास के अनुसार कृष्णरस शरदशशि की भांति है और श्रोताओं को चकोरिनी बनाकर उसके पान को और प्रेरित कर देना चाहिए। इन कथनों से इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृष्णरस इनके मुक्तक काव्य एवं भक्ति साधनाका मूलरस है। उसका स्वभाव आनन्दपरक एवं उसका स्थायीभाव कृष्णरति है सात्विक अनुभावों में विह्वलता, एकाग्रता, उन्माद एवं उद्दीपन कृष्णकेलि हैं गोपिकाएं भी उद्दीपन स्वरूप ही हैं।

.....

१: सूरसागर : द्वितीय स्कन्ध प. सं. ३५३

२: रासपंचाध्यायी प्र० क०, रो० सं. ६५

३: रसमंजरी दोहा सं. १

४: रस मंजरी दो० सं. ७

५: चतुर्भुजदास प. सं. ३.८०.

६: परमानन्दसागर प. स. ५६० तथा भक्तकवि व्यास जी प. सं. ८०

प्रेमरस कृष्णरस के बाद इन कवियों ने प्रेमरस की चर्चा की है। इस प्रेमरस को उन्होंने दो प्रकार का माना है- १ साधन रूप प्रेमरस - २ साध्यरूप प्रेमरस

साधनरूप प्रेमरस :

निम्बार्क माधुरी में इस साधन रूप प्रेमरस का उल्लेख करते हुए हरिव्यास ने बताया है कि यह प्रेम रस परा प्रेम का पंथ है। यह नित्यरास नित्य रास रस उल्लास एवं आनन्द का प्रेरक तथा प्रतिष्ठापक है। यह साधनरूप रस समस्त तत्वों में सत्व समस्त सिद्धान्तों का सार तथा समस्त सुखों का उद्भावक है[1]। इस साधन रूप प्रेमरस का संकेत करते हुए नन्ददास ने बताया है कि यह रस कृष्ण केलि से ही निष्पन्न होता है। उन के अनुसार जिस प्रकार जल से ही निष्पन्न होकर जलधर जल की वर्षा करते हैं, जल अन्यत्र से नहीं आता जिस प्रकार अग्नि से आविर्भूत दाप जलकर अन्ततः अव्यक्त अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार प्रेम रस कृष्ण से निष्पन्न होकर उन्हीं में विलीन हो जाता है[2]।

साध्यरूप प्रेमरस

यह साधन रूप प्रेमरस से किंचित् भिन्न है। इस साध्यरूप प्रेमरस की व्याख्या सरल नहीं है क्योंकि यह अनुभवगम्य काव्य है। फिर भी यह अपने प्रभाव के कारण श्रव्य बन जाता है। चतुर्भुजदास ने इसका स्वभाव आकर्षक बताया है। इस साध्यरूप प्रेमरस के कारण स्वतः लीलारूप कृष्ण हैं। इस लीलारूप को सूरदास ने प्रेम का सागर कहा है जिसमें निमग्न होकर गोपबालाएँ गोपिकाएँ विह्वल हो जाती हैं[3]। इन्हें अन्य भौतिक आकर्षणों से कोई रुचि नहीं है। साध्य प्रेमरस सम्बन्धी अनेक पद मीरा साहित्य में मिलते हैं। उन्होंने अनेक बार इस प्रेमरस में निमग्न हो जाने की बात कही है। भक्त कवियों के पदों से ज्ञात होता है कि उन्हें एकमात्र यही रस प्रिय है। इस साध्य प्रेम रस को

.....

१: निम्बार्क माधुरी श्री हरिव्यास पृ. ५७

२: रासपंचाध्यायी दो० स. २ की अध्यायियाँ

३: सूरसागर दशम स्कन्ध प. सं. ६४

सर्वप्रथम उपासिका गोपिकाएं हैं जिन्होंने इस रस में बिधकर अपना सर्वस्व दान कर दिया।[1] इस साध्यरूप रस को इन गोपिकाओं ने नेहरस भी कहा है।— जिस प्रकार सरिता एवं सिन्धु परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार गोपियां विषय रूप से श्याम कृष्ण में लीन हो गई थीं। इस साध्य रस की तुलना में उन्होंने अन्य रसों का त्याग कर दिया। परम्परा का संकेत करते हुए उन्होंने नारदादि मुनियों का इस साध्यरूप प्रेमरस का रसिक बताया है।[2] इन कवियों का साध्यरूप प्रेम रस सम्बन्धी प्रतिज्ञा भी विचित्र है वे जहां देखते हैं मनोहर कृष्ण ही दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। उनकी दृष्टि एवं रोम रोम रस से भरकर कृष्ण के लिए आकुल है। वे इसे मात्र अनुभवगम्य ही बताते हैं। उनके अनुसार इस रस का कोई स्वतः शेष अपने मुख से नहीं कर पाते उसी रस को राधा अपने स्तनों के बीच छिपाए हुए हैं।[3] इस साध्यरूप प्रेमरस को परमानन्ददास ने राधा के मुख से निष्पन्न कराया है। स्वतः कृष्ण राधा से कहते हैं— हे राधे! मैंने तेरी स्पर्श से इस अगाध साध्यरूप प्रेम रस का अनुभव किया है। जिस रस को निगम नेति कहकर पुकारते हैं। उसे मैंने तेरे अधरों के संस्पर्श मात्र से पा लिया। इसके प्रत्युत्तर में राधा कहती हैं, माधव! अब मैं तुझे जाने नहीं दूंगी। मैं अपना सर्वस्व देकर तुझसे वह रस प्राप्त करूंगी।[4] इस साध्यरूप प्रेमरस का स्वरूप आगे चलकर संयमित न रह सका उसमें अलौकिक वासना की गन्ध इतनी तीव्र हो गई कि अलौकिक आवरण उससे छिन्न हो गया। केलिमाल में स्वामी हरिदास राधा से कहलवाते हैं—

आउ लाल ऐसो रस पीवै, तेरो कंगा मेरो अंगिया धरि।
कुच की सुराही, नैननि को प्याले, दारु देउंगी यो भरि।
अधरन ज्वाइ लेउं प्रेमरस तनिकौ न जान देउं इत उत ढरि।[5]

१: परमानन्ददास प० सं. १३६
२: परमानन्ददास प. स. ४०६ : ४०८
३: परमानन्दसागर प. स. ४४६
४: परमानन्दसागर प. स. २४२, २४३
५: केलिमाल पद. सं. ७४

इस साध्यरूप प्रेमरस का गौडीय सम्प्रदाय में अनेक रूपों में वर्णन हुआ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यास जी इस साध्यप्रेम को पूर्णत: लौकिक स्तर पर रख दिया है।सौन्दर्य बोध तत्व के अन्तर्गत इनकी व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूपावस्था तथा उसके प्रति उनकी मानसिक आसक्ति अलौकिकता अलौकिकता के वातावरण में छिपाने से भी न छिप सकी। उन्होंने प्रेम रस के विभावों में वृन्दावन, श्याम श्यामा कुंज आदि को लिया है। आंगिक चेष्टाओं में नयन सैन, भ्रुव भंग विलास, हास्य, कटाक्ष, आलिंगन एवं मुख के अनेकानेक रूपों को राधाकृष्ण की लीलाओं का सहज रूप बताया है।उनके अनुसार यह प्रेमरस भी सहज है[1]। इसी सहज प्रेमरस को अन्यत्र बताते हुए उन्होंने कहा है मुख, रस आनन्द इन तीनों अवस्थाओं में राधाकृष्ण साथ साथ रहते हैं।उनकी प्रीति रसरीति, रसरंग, विलास, उरजाधुरो, वसन, भूषण, विनोद, रागभोग, सहो सहज है।इस प्रकार इनका यह प्रेम अपने आप में सहज है व्यास जी ने इस सहज प्रेमरस के अनुभावों स्वाङ्गियों भावों की नित्यनूतनता का प्रतिपादन करके किया है। उनके अनुसार मात्र यही रस नित्यनूतन है यहां नहीं इस साध्यरस से सम्बन्धित नवरंग, एवं रस अनुराग एवं गुण नित्य नवीन है। उनके रूप और यौवन नवीन है वृन्दावन तरुवर निकुंज भी इससे पृथक नहीं है। इस रस के उद्दीपक घन दामिनी, राग रागिनियां भी नित्य नूतन हैं नूपुरी पीतपट, मुकुट, सिर पाटी आदि अलंकार भी नूतन हैं। उनकी परस्पर प्रेम परक चेष्टाएं चुम्बन, परिरंभन, कुचमर्दन, आदि भी नवीनता से पूरित पूरित हैं। इस प्रकार इनसे निष्पन्न अनुभाव, भाव एवं प्रेम रसा नवीन है। इनमें अनवीनता कहीं से भी नहीं आ सकती क्योंकि इस प्रेम भूमिका के समस्त प्रेरक तत्वअपनी उत्कृष्टता में नित्य नवीनता के पूरक[2] हैं। रस के इस स्वरूप का निरूपण करते हुए चतुर्भुजदास ने राधा कृष्ण के अवश्य स्पर्श, क्रीडा स्वभाव सभी को रस संज्ञा से अभिहित किया है।

....

१: भक्त कवि व्यास जी. पृ. सं. २४२, २४३

२: भक्त कवि व्यास जी. पृ. सं. ३७५

रस हो बस कुंवर कन्हाई,
रसिक गोपाल रसिक रस रिसकत, रस ही में तासो रिस तजि री माई।
प्रिय की प्रेम रिस सौं न होई रसोली, राधो रस हो में प्रवन चन सुखदाई।
चतुर्भुजदास प्रभु गिरिधर रस बस भयो, तासो कुरस कत मिलि रहे हिरदयलपटाई[1]

इस प्रकार इन कवियों द्वारा कथित यह साध्यरूप प्रेमरस इनके काव्य का सारतत्व ज्ञात होता है। ये काव्य में इसकी स्थापना की और इसका समर्थन मिलते हैं।

रासरस इन रसों के साथ इन कवियों ने रास को पृथक रूप से रस की संज्ञा दी है। रास रस इसलिए है क्योंकि वह आनन्द का उद्भावक एवं प्रेम का एक मात्र साधन है। कृष्णभक्तिकाव्य के प्रत्येक कवियों ने मुक्तकंठ से रास को रस स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस रास रस की तुलना में अन्य रस गौण है[2]। परमानन्ददास का अपना विश्वास है कि इसी रास रस में ही विहार करने के कारण गोपिकाओं को सुधारस मिला था और वे उस सुधारस का पान करके अमर हो गई[3]। रासपंचाध्यायी में नन्ददास ने इस रास रासरस की महत्ता अनेक शब्दों में बताई है उनका विश्वास है कि कृष्ण ने रस की पुष्टि के हेतु रासरस की स्थापना की थी। गोपियाँ एवं स्वतः कृष्ण व्याकुल होकर इसी रस में आकंठ निमग्न हो गये थे। निमग्नता के पश्चात उन्हें उज्वलरस की उपलब्धि हुई इस उज्वलरस के प्रभाव से उनकी छवि स्नेह उनके कथन सभी अलौकिक हो गये। इस प्रकार यह रास रस रसवृष्टि में एकमात्र सहायक है[4]। इस रास रस का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होंने रास-पंचाध्यायी के अन्तिम अध्याय में बताया है कि यह रस नित्य है क्योंकि इसके आलम्बन गोपी वल्लभ कृष्ण नित्य हैं। नित्य निगम कहते हैं कि नित्य रास रस भक्तों के लिए भी नित्य है। यह रास रस लीला का गान हरिदासों के संग ही सम्भव है। इस प्रकार का गायक निश्चित रूप से रसमय कर भक्ति का मोक्ष है इस प्रकार इस रास रस की महत्ता समस्त कृष्ण कवि उन्मुक्त स्वर से स्वीकार करते हैं।

१: चतुर्भुजदास प. स. २६६
२: चतुर्भुजदास प. स. ३४८
३: परमानन्दसागर प. स. १००५, फ्र-बा.
४: रास पंचाध्यायी नन्ददास पृ. आ रोला सं. ५६, ६५, ७२.

लोलारस

कृष्ण भक्तिकाव्य के वैष्णव कवि कृष्ण की वात्सल्य एवं मधुर लीला को लोलारस के नाम से सम्बोधित करते हैं। सूरदास ने अनेक बार कृष्ण के वात्सल्य के लिए लोलारस कहा है। परमानन्द दास कृष्ण को परम आनन्दमय स्वीकार करते हैं उनकी लीला स्वत: रस रूप है। चूंकि उनकी लीला रस रीति पर आधारित है क्योंकि इसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य स्वरूप कहा नहीं। इस लोलारस के अन्तर्गत इन कवियों ने राधाकृष्ण की केलि विषयक एवं मधुरभाव से अनुप्राणित पद कहे हैं। राधाकृष्ण की केलि का वर्णन करते हुए स्वामी हरिदास कहते हैं कि राधा और कृष्ण परस्पर क्रीढा करते हुए लोलारस में पग उठे। अलौकिक राग रागिनियां बज उठीं नर्तन एवं संगीत का वातावरण अलौकिक उन्माद उत्पन्न कर रहा है। राधा और कृष्ण दोनों इस राग रंग में मुग्ध मुग्ध हो उठे हैं। श्रीभट्ट जी ने इस लोलारस को प्रिया का एकमात्र धन माना है। इसी भाव का एक पद इसके आगे कहते हुए वे बताते हैं कि इस लोलारस को कृष्ण ने अन्तत: मनोज्ञरस में परिणत कर दिया है। नन्ददास ने गोपाल के इस लोलारस को नित्यनूतन बताया है उनका विचार है गोपाल की लीला गूढ रस के नाम से पुकारी जानी चाहिए क्योंकि शिव, शुक, नारद सरस्वती आदि इसे ही महारस के रूप में जानते हैं इस रस के आलम्बन एवं उद्दीपन रूप गोपियों को क्या कहें, वे भला इस गूढ रस को क्या समझेंगी उनके लिए तो यह सहजगम्य साधारण एवं सहजोपलब्ध है। यह रस स्वत: इतना गूढ है कि उनकी निकटवर्तिनी कमला भी नहीं समझ सकी है उसे दूसरा क्या समझेगा निश्चित ही यह लोलारस अपने आप में गूढ एवं रहस्यमयी है[3]:

उज्ज्वलरस

उज्ज्वलरस का उल्लेख सामान्यतया तीन कवियों ने किया है अष्टछापी नन्ददास, हरिदासी, सूरदास, एवं राधावल्लभी हरिराम व्यास व गोसाईं।

१: निम्बार्क माधुरी श्री भट्ट जी पद सं. ४० .

२: रास पंचाध्यायी पंचम अध्याय, दो. सं. ११५, ११६, ११७, ११८ ,

३: रास पंचाध्यायी पद सं. ३१ .

सम्प्रदाय के सूरदास मदनमोहन तथा अन्य कवियों ने इसका नामोल्लेख नहीं किया है। कृष्णदास, रासपंचाध्यायी में इसे दो स्थलों पर रस कहकर पुकारते हैं, एक तीसरे स्थल पर उन्होंने इसे उज्ज्वल प्रेम कहा है। नन्ददास ने उज्ज्वलरस का स्वभाव बतलाते हुए कहा है कि इसके उत्पन्न होते ही आलम्बन आश्रय एवं विषय अलौकिक हो जाते हैं। उनकी वाणी भी इसके प्रभाव से अलौकिक बनजाती है। दूसरे स्थल पर वे रास पंचाध्यायी की प्रेम ध्वनि को उज्ज्वलरस की संज्ञा देते हैं[1]। वे सहृदयों को संकेत करते हुए बतलाते हैं कि यह उज्ज्वलरस की माला अनेक यत्नों से पोई हुई है। इसका उपभोग सावधानी कौन से करना, देखना कहीं टूटने न पावे। सूरदास और हरिरामव्यास उज्ज्वलरस का प्रयोग एक ही प्रसंग में करते हैं। राधा और कृष्ण परस्पर आसक्त हैं वे परस्पर प्रेम जर्जर होकर एक दूसरे को कंठ से लगा लेते हैं उनके अंग परस्पर सान्निध्य से सुख पा रहे हैं इस प्रकार दोनों उज्ज्वल रस का उपभोग कर रहे हैं[2]। ठीक इसी केलि से उद्भूत उज्ज्वलरस का उल्लेख व्यास जी ने भी किया है। इस प्रकार इनके अनुसार यह उज्ज्वल रस राधाकृष्ण की मधुर लीला से निष्पन्न प्रेम रस है।

अन्यरस

इसके अतिरिक्त अन्य कवियों ने अनेक स्थलों पर रस की अनेक रूप में चर्चा की है। तुलसी ने काव्य रस का संकेत किया है उन्होंने शान्त, हास्य, करुण, शृंगार, वीभत्स, वीर, अद्भुत आदि की यत्र तत्र चर्चा की है। जिनका उल्लेख पूर्व ही हो चुका है सूर एवं नन्ददास ने शृंगार रस का सामान्य उल्लेख किया है। इन काव्यरसों के साथ ही साथ वैष्णव कवि अन्य कल्पित रसों की भी चर्चा करते हैं। राधावल्लभी हित हरिवंश एवं हरिरामव्यास वृन्दावन को रस स्वीकार करते हैं क्योंकि वह उनके आराध्य की क्रीडास्थली है उन्होंने इसके पृथक भी गान रस, वेणु रस, माधुररस, विहाररस, रतिरस, आदि अनेक रसों का स्वीकरण किया है।

परमानन्ददास की रस विषयक सूची इस दृष्टि से और भी अधिक विस्तृत है। रस की सत्ता का स्वीकरण करते हुए इन्होंने, श्रोत रस, घ्राण रस,

---

१: रासपंचाध्यायी: प्रथम अध्याय : रोला सं. ७१ तथा पंचम अध्याय रो० सं. ४०, ५१।
२: स्वामी हरिदास जी और उनकी वाणी : सरस्वती प.सं. ७०, तथा ८२
३: भक्त कवि व्यास जी प. सं. ३०१, ४५३, ५६०, ५५८.

बतरस , लीरस ,नन्दनन्दन में पर्यवसित[१] कहा है। इन रसों के साथ एक महत्वपूर्ण उल्लेख भक्तिरस का भी मिलता है। यह कथित और वाच्य दोनो रुपों में प्राप्त है। इस भक्तिरस का उल्लेख मात्र मधुर पदों में ही नहीं अपितु विनय के पदों में भी मिलता है। सूरदास विनय के दो पदों में इस भक्तिरस की चर्चा करते हैं। उन्होंने कहा है कि इस भक्तिरस की उपलब्धि से यह मन विह्वल हो जाता है। यह सदैव एकरस है मन रुपी मृगी इस भक्ति कमलरस में निरन्तर लीन रहती है। नवधा भक्ति इस कमल की किंजल्क है तथा नारद , शुक ,सनकादि अनेकानेक मुनि भृंग इस भक्ति रस में निरन्तर गोते लगाते रहते हैं। इसकी कल्पना मात्र से स्वर गदगद हो उठता है , कंठ रोग जाता है, एक रोम रोम आकुल हो उठता है। दूसरे स्थल पर वे कहते हैं कि कृष्णरस अद्भुत ही रस है , बुद्धि पात्र है और भक्त अपने प्रेम से निरन्तर उसमें मग्न रहते हैं। सूर की विनयपरक यह युक्तात्मक रसानुभूति आनन्दवर्धन द्वारा समर्थित तृष्णाक्षयसुख के अतिरिक्त और क्या है। भक्तों का एकमात्र लक्ष्य इसी रस में लीन होना है। तुलसी ने एक स्थल पर श्रद्धा ,प्रेम एवं भक्तिरस का एक साथ ही स्मरण किया है। भक्तिरस सम्बन्धी इस धारणा से स्पष्ट है कि ये कवि आराध्य की मधुरलीला एवं ऐश्वर्यजन्य व्यवहार को भक्तिरस कहते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार निष्कर्ष रुप से कहा जा सकता है कि रस एवं रस स्वभाव निरुपण के क्रम में इन कवियों द्वारा निर्दिष्ट कृष्णरस , प्रेमरस ,रासरस लीलारस भक्ति तथा अन्य रस मान्य हैं। रस का निरुपण एक पृथक शास्त्र के रुप में हुआ है ,जिसका स्पष्ट रुप से इन कवियों ने उल्लेख कम किया है। इन कवियों ने ऐसे किसी भी उस विषयक सिद्धान्त की चर्चा नहीं की है जो वैष्णव भक्ति काव्य के लिए आदर्श होते। रुपगोस्वामी आदि के प्रयत्न काव्य परम्परा से प्रेरित हैं। उनमें उतनी स्वच्छन्दता नहीं है ,जितनी एक पृथक सिद्धान्त निरुपण के क्रम में देखी जाती है। वैष्णव भक्त कवियों की रस विषयक इन धारणाओं से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

१ - रस का अर्थ ये मात्र आनन्द से लेते हैं, यदि इसे आनन्द का स्रोत कृष्ण को मानते हैं तो वह मानसरस होगा और लीला है तो लीला रस। इसी क्रम में

.....

१: परमानन्दसागर , पृ. सं. २४७, २४८

उन्होंने आनन्द के समस्त उद्दीपक तत्वों को रस संज्ञा से अभिहित किया है इस प्रकार इनके अनुसार रस एक है, वह है आनन्द।

२ इस आनन्दरस की मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इसे उज्वलरस, प्रेमरस एवं भक्तिरस की अभिधा दी। प्रेमरस प्रेमक्रीडा में आसक्त भक्त मन का वह स्वभाव है जो स्थिति विशेष में विह्वल हो उठता है। उज्वल रस सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण स्पष्ट है कृष्ण के उदात्त प्रेम को उन्होंने उज्वलरस कहा है। यह कहीं कहीं प्रेम के पर्याय रूप में स्वीकृत है, कहीं साध्य रूप में इन कवियों ने इस उज्वलरस का शास्त्रीय संकेत नहीं दिया है किन्तु इनके कथनों से स्पष्ट है कि कृष्ण का मधुर लीला से निष्पन्न लौकिक शृंगार तुल्य रसराट् प्रेमरस को उज्वलरस है। भक्तिरस इन सबसे पृथक है इन कवियों के अनुसार वात्सल्य, दैन्य, सख्य, मधुर आदि समस्त भावों में भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।

३ रस के ये कथन सैद्धान्तिक रूप से उनकी काव्य की प्रवृत्ति का भी संकेत करते हैं। यद्यपि सत्य है कि समस्त वैष्णव भक्त कवियों ने इन रसों का संकेत नहीं किया है किन्तु आनन्द की एक विशेष स्थिति को प्राय: सभी ने रस रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके काव्यों की मूल प्रवृत्ति अधिकाधिक आनन्दपरक ही है।

४ इन रसों का एक और भी स्वभाव है। वैष्णव अलङ्कारिक काव्यशास्त्रों में प्राय: रस का उल्लेख मिलता है। ये हैं शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल, एवं मधुर। मधुसूदन सरस्वती ने तीन ही भावों को रति की संज्ञा दी है। वल्लभ सम्प्रदाय में सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यभाव को प्रधानता मिली है। इसके अतिरिक्त निम्बार्क रसिक एवं गौडीय सम्प्रदाय में पाँच रस की चर्चा की गई है। हिन्दी के वैष्णव कवियों ने रस रूप में मधुर को छोड़कर किसी की चर्चा नहीं की है। किन्तु एतद्विषयक भाव अवश्य मिलते हैं पदों की अधिकाधिक संख्या मधुर विषयक ही है। वात्सल्य, दास्य, सख्य एवं शान्त विषयक पद उनकी तुलना में अल्प हैं।

५ ये कवि एवं भक्त आचार्य कृष्ण या राम के उस उदात्त व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित हैं, जिनसे सम्बन्धित पद अष्टछाप एवं राममार्गी काव्य साहित्य में हैं। अष्टछाप के पदों में ~~अनुरागी के वक्ष का, जो भक्तास्वाद का एक प्रमोज्य माना गया है~~ प्राय: सूर, परमानन्ददास, नन्ददास के काव्य में ही मिलते हैं। तुलसी की मूलदृष्टि इसी उदात्त भाव के अभिव्यक्ति की ओर अधिकाधिक उन्मुख मिलती है। इस एतद्विषयक काव्य की मूलतत्त्व भाव ओज एवं उदात्त से समन्वित है, जिसका

अध्ययन उपयोगितावादी एवं सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के रूप में पृथक किया जायेगा। किन्तु इसके विषय में मात्र इतना कह देना आवश्यक है कि इस ओर काव्यशास्त्रियों का दृष्टि कम ही गई है। रूपगोस्वामी ने इस वीर एवं ओज के भाव को गौणरस एवं मधुसूदन सरस्वती ने मिश्रित भाव के अन्तर्गत स्वीकार किया है। वस्तुत: उनके ये दृष्टिकोण स्वत: संकोची हैं। भक्तिकाव्य में प्राप्त उदात्त, प्रियता आदि के भाव परिणाम में अधिक उत्कट हैं। इससे सम्बन्धित साहित्य को यों ही छोड़ा नहीं जा सकता।

रस एवं वैष्णव भक्तिरसों का तुलनात्मक अनुशीलन

क स्वभाव

वैष्णव भक्तकवियों के रससम्बन्धी प्रयोगों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है कि इनका दृष्टिकोण उसके आनन्दात्मक स्वरूप से सम्बन्धित था। इस आनन्दात्मक दृष्टिकोण को पुष्ट करने वाले मुख्य तीन भाव हैं सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। शान्तरस के विषय में इनका दृष्टिकोण प्राय: तृष्णाक्षयमूलक के समकक्ष है तथा दास्य के मूल में इनकी आत्मतुष्टि की भावना निहित है। तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि मैं अपनी समस्त आपत्तियों को आपमें समर्पित करके तुष्ट हो गया हूँ। दास्य वस्तुत: स्वामी के प्रति दास्य मन का समर्पण है।

इस प्रकार रस के विषय में कथित इनके दृष्टिकोण मूलत: आनन्दात्मक ही है। यदि इनके पदों में प्रधानता की दृष्टि से देखा जाय तो ओज सम्बन्धी पद भी उत्साह भाव के पूरक होकर रतिमूलक भावना के समर्थक ही सिद्ध होते हैं। निष्कर्षत: वैष्णव भक्त कवियों की रसविषयक मूल प्रवृत्ति रतिमूलक रहने से है।

रति मानव की एक मूल प्रवृत्ति है जिसका विकास उसमें तुष्टि एवं क्षुब्धिमूलक भावनाओं के साथ होता चलता है[1]। तुष्टि और क्षुब्धि व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ विकसित होकर मात्र रति की ही सृष्टि नहीं करती अपितु उससे विरतिमूलक भावनाओं का भी विकास होता है। मैक्डूगल प्रवृत्तियों को दो विभागों में रखकर उन्हें रचनात्मक एवं विनाशात्मक भावों की संज्ञा देता है।

---

१ प्रायल्मस न एस्थेटिक्स सब्जीक्शन फ्रायड पृ. ६२५

रचनात्मक भाव प्रेम, उत्साह, सहानुभूति एवं विनाशात्मक ईर्ष्या, क्रोध, द्रोह आदि हैं। उसके अनुसार रचनात्मक भावनाएँ तृप्तिमूलक भावनाओं से विकसित होती हैं एवं ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का विकास अतृप्तिमूलक भावनाओं से होता है। रस मन के भावना जगत (feeling) के मूलभूत से सम्बद्ध होने के कारण इसके स्वभाव से पृथक नहीं हो पाता। इसके अधिकांशिक उदाहरण उनसे लिये जाते हैं इस दृष्टि से रस को दो भागों में रखा जा सकता है

१ रतिमूलक	२ विरतिमूलक
शृंगार	वीभत्स रौद्र
हास्य	वीभत्स
वीर	करुण
अद्भुत	भयानक.

इन दोनों के अतिरिक्त काव्य में एक मिश्रित भाव भी प्रकट होता है। उसे शान्तरस कहा जाता है। इसमें रति और विरति दोनों प्रवृत्तियाँ निहित हैं। वस्तुतः रस का यह मनोवैज्ञानिक स्वरूप मनुष्यजगत के एक विस्तृत स्वभाव को सूचना देता है। वैष्णव भक्त कवि रसों को मात्र तृप्तिमूलक ही मानते हैं। उनके अनुसार अतृप्ति अभाव का सूचक होकर उनके पूर्ण ब्रह्म का आलोचक गुण है किन्तु यह धारणा सामान्य विश्वास पर आधारित है न कि मस्तिष्क के उस स्वभाव पर जिससे मनोभावों एवं मनोविकारों का सम्बन्ध है। अतः रस की मूल प्रवृत्ति के विषय में उनका दृष्टिकोण अपूर्ण है। तृप्ति एवं अतृप्ति एक उत्तेजित मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है। मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार मात्र सुख या दुःख का बोध अपूर्ण एवं कृत्रिम मस्तिष्क का ही गुण हो सकता है। अतः रस से सम्बन्धित भाव जगत को मात्र सुखात्मक स्वीकार करना अपूर्ण संकुचित एवं कृत्रिम मस्तिष्क का फल है। यद्यपि यह सत्य है कि उनका यह आनन्दवादी दृष्टिकोण नैतिकता की दृष्टि से उदात्त एवं परिष्कृत भले ही हो किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से अपरिष्कृत ही कहा जायेगा क्योंकि रस वैयक्तिक मस्तिष्क का गुण है, नैतिक मस्तिष्क का नहीं।

ख. विस्तार — विस्तार की दृष्टि से यदि इस रस की तुलना करें तो निश्चित ही इनमें एकांगिता का दोष मिलेगा। भक्त मस्तिष्क साम्प्रदायिक

मस्तिष्क है जिसकी रचना एक निश्चित वातावरण में निश्चित अभ्यास के द्वारा होती है। भक्ति के साधनों का निरन्तर अनुशीलन उसके फलस्वरूप कृष्णरति की निष्पत्ति, तदनन्तर भक्तिरस का उदय इसकी प्रक्रिया है। काव्य के भी सहृदयों की एक विशेष श्रेणी होती है। वे एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित होते हैं। इस प्रशिक्षित प्रशिक्षण का महत्व कवियों एवं सहृदयों की दृष्टि से क्षेमेन्द्र की औचित्य विचार चर्चा एवं राजशेखर की काव्यमीमांसा में भली भाँति निरूपित है। किन्तु इसके साथ ही साथ रस स्वभाव के क्रम में इसे सामाजिक का संस्कारी गुण भी स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह कि शिक्षण इस संस्कार को माजती है। इस शिक्षण के अभाव में भी प्रेक्षक, श्रोता, पाठक, काव्यरस का आस्वाद ले सकते हैं। साधारणीकरण के अभिनवगुप्त द्वारा निर्देशित सात व्यापारक तत्व संस्कारों के विरोधक न होकर प्रशिक्षण के विरोधक हैं, किन्तु भक्तिरस इस दृष्टि से मानव संस्कार का गुण नहीं है। यद्यपि भक्त कवियों एवं अनेकानेक दार्शनिकों ने आत्मा के स्वभाव को आनन्दात्मक स्वीकार कर उसके इस गुण को सनातन बताया है किन्तु हम काव्य में जिस रस का अध्ययन करते हैं। उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है तथा उसे प्रकृत (Normal) मानव को चेतना के रूप में स्वीकार किया जाता है। आत्मा के विषय में आज के विज्ञानवादी दार्शनिक ह्यूम, बर्कले, लाक, आदि प्रायः असहमत हैं। मनोविज्ञान भी इसके विषय में कोई स्वीकृति नहीं देता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि इन वैष्णव भक्त कवियों की रस सम्बन्धी धारणा एक सीमित वातावरण की उपज है।

ग. परिभाषा

यदि वैष्णव भक्तिकाव्यों में परिभाषा की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह और भी निश्चित हो जाता है कि इनका दृष्टिकोण सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधृत एवं अनुकृत मात्र है यह इस प्रकार है

१ रस की परिभाषा

भक्तिरस इसके की परिभाषा के क्रम में रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती के विचारों का उल्लेख किया जा चुका है। उसके ये भक्तिरस विषयक परिभाषाएँ इस प्रकार हैं -

मधुसूदन सरस्वती

भक्ति विषयक विभाव अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से उद्भूत स्थायीभाव निर्मित होकर रस की व्यंजना करते हैं

रूपगोस्वामी

विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं संचारीभाव से परिपुष्ट स्थायी रसरूपता को प्राप्त होती है। यह रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के साधनों से प्रकट होकर भक्तों के हृदय में पुष्ट होती है। इस प्रकार इसका स्थायीभाव कृष्णरति है। इसी कृष्णरति स्थायीभाव से निष्पन्न होने वाला रस भक्ति रस है।

रस की इस परिभाषा में कोई नवीनता नहीं है। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय रस सम्बन्धी परिभाषाओं का इनके आरोपण मात्र मिलता है। भरत, एवं साहित्यदर्पणकार की उक्त परिभाषाओं से यह स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

---

१ रस की परिभाषा भरत तत्र विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:

अभिनवभारती पृ० ४४२

कविराज विश्वनाथ

विभावानुभावैन व्यक्त: संचारिणा तथा

रत्यादि : स्थायिभाव: सचेतसाम्

सहृदय पुरुषों में स्थित वासना रूप रति आदि स्थायी भाव अनुभाव और संचारीभावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होता है।

साहित्य दर्पण : तृतीय परिच्छेद श्लोक सं० १

भावों का वर्गीकरण

रस के सिद्धान्तकारों की ही भाँति भक्त आचार्यों ने भी भावों का वर्गीकरण किया है। तुलनात्मक दृष्टि से इनकी स्थिति इस प्रकार रखी जा सकती है –

स्थायीभाव

रूपगोस्वामी

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
अराजेव विराजेत स स्थायीभाव उच्यते।

आचार्य विश्वनाथ

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं विरोधानुमङ्गमा
आस्वादाङ्कुर कन्दोऽसौ भाव : स्यादिति सम्मत :[1]

रूपगोस्वामी के अनुसार स्थायीभाव विरुद्ध एवं अविरुद्ध दोनों भावों को वश में करके अपना प्रभाव स्पष्ट करता है। अन्य भाव इस स्थिति में गौण या प्रच्छन्न हो जाते हैं। आचार्य विश्वनाथ का भी विचार है कि स्थायीभाव आस्वाद का मूलभाव है तथा उसे कोई विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा नहीं सकते। वस्तुत: दोनों परिभाषाओं में एक ही भाव ध्वनित हो रहा है।

विभाव

रूपगोस्वामी

यत्र ज्ञेया विभावाश्च रत्याद्यास्वादन हेतव:।
ते द्विधालम्बना एके तथैवोद्दीपना परे।

आचार्य विश्वनाथ

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो।
आलम्बनोद्दीपनास्थौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ[2]।

रूपगोस्वामी के अनुसार विभाव रत्यास्वादन: के हेतु स्वरूप हैं तथा आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रत्यादि के उद्बोधक हैं। उद्बोधक का अर्थ यहाँ रस के हेतु से ही है। इस प्रकार दोनों परिभाषाएँ प्राय: एक ही हैं।

१: भक्ति रसामृत सिन्धु भक्ति रस : विभाव लहरी : श्लोक सं. १
साहित्य दर्पण: तृतीय परिच्छेद : श्लोक सं. १७४
२ भक्तिरसामृत सिन्धु विभाव लहरी श्लोक सं. १५.
साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद श्लोक सं. २८

रूपगोस्वामी

अनुभावश्च चित्तस्थ भावानामवबोधका: ।

आचार्य विश्वनाथ

उद्बुद्ध कारणै: स्वै:, बहिर्भाव प्रकाशनम् ।

लोके य: कार्यरूप: सोऽनुभाव : काव्यनाट्ययो: ।

रूपगोस्वामी अनुभाव को चित्तस्थ भावना व्यापार का अवबोधक मानते हैं आचार्य विश्वनाथ के अनुसार हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकाशित करने वाला, लोक में जो रति का कार्य कहता है, वही नाट्य एवं काव्य में अनुभाव है यहाँ रूपगोस्वामी की परिभाषा अस्पष्ट है चित्तस्थ भाव अनुकार्य भी हो सकते हैं स्वत: पुष्ट भी किन्तु अनुभाव के लिए अनुकार्य होना आवश्यक है

व्यभिचारीभाव

रूपगोस्वामी

यौऽन्ति व्यभिचरन्तो भावा ये व्यभिचारिण: ।
विशेषणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ।
वागङ्गसत्त्वरूपा ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिण: ।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमुत्रवारिधौ ।
आभिमुख्यैकधर्मेण यान्ति तद्रूपतां च ते ।

आचार्य भरत — वि + अभि - इत्येताभ्यां चर गतौ धातु: चरति धातु वि + अभ्यादि पूर्वेण, विशेषेण चरन्तीति व्यभिचारिण: ।

आचार्य विश्वनाथ

विशेषणाभिमुख्येन चरणाद्व्यं व्यभिचारिण: ।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्विधा: ।

१: श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धु दक्षिण विभाग : अनुभाव लहरी श्लोक सं. १
साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद, श्लोक सं. १३२, १३३ ।

२: श्रीहरिभक्तिरसामृत सिन्धु ; व्यभिचारिभाव लहरी श्लोक सं. १, ३
नाट्यशास्त्र ; अध्याय ७ श्लोक २२ का पूर्वार्द्ध भाग ।
साहित्य दर्पण ; तृतीय परिच्छेद : श्लोक सं. १४०

रूपगोस्वामी के अनुसार ४ भाव की गति का संचारण करने के कारण संचारीभाव हैं तथा वागङ्मय आत्विक भाव के विशेष रूप से द्योतक होने के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं। आचार्य भरत एवं विश्वनाथ ने व्यभिचारी के विषय में जो कहा था उसी को उन्होंने भी कहा था।

भक्तिरस विषयक इस सामग्री के अनुशीलन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनके काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पर परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्य अनेक रूपों में विद्यमान हैं। भावों में विशेषकर आलम्बन तथा उद्दीपन स्थायी तथा संचारी भाव की परिभाषाएँ ठीक उन्हीं तत्वों से निर्मित हैं जो काव्यरस की व्याख्या के लिए उद्धृत किए जाते हैं। कारण स्पष्ट ही है ये भाव जिस मस्तिष्क के के हैं वे निश्चित ही लौकिक धरातल के प्राकृत प्राणी हैं। अतः भक्तिरस रस की ठीक उसी लौकिक अनुभूति पर आश्रित है जिस पर काव्य भक्तिरस के अन्तर्गत काव्यरस को आधार बनाकर मानव जीवन के कतिपय रागात्मक भावों को एक विशिष्ट आलम्बन से जोड़कर प्रकृष्ट किया गया है। उसी को हम भक्तिरस की पवित्रता, व्यापकता और अलौकिकता चाहे जो कहें, कह सकते हैं।

साधारणीकरण एवं रसबोध की स्थिति

ऊपर कहा जा चुका है कि भक्तिरस की रचना प्रक्रिया में लगा हुआ मस्तिष्क भी मानव मस्तिष्क है। उसकी संवेदनाएँ, प्रत्यक्ष एवं अनुभूति मानवीय मस्तिष्क की ही उपज हैं, और उनका सम्बन्ध अपने क्रम में ठीक काव्यरस की भाँति रागात्मक है। अतः रसबोध एवं अनुभूति के स्तर पर उनका भी साधारणीकरण ठीक उसी प्रकार होगा जिस प्रकार काव्य का। किन्तु काव्य के सामान्य रसबोध के सिद्धान्त से इनमें थोड़ी भिन्नता अवश्य मिलेगी। चूंकि स्वभावतः ये भक्त कवि थे इनके काव्य में काव्योचित संस्कार उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध होते हैं। अतः इनके काव्य में अधिकांश स्थल काव्य के उपलब्ध होंगे। इस काव्यस्थल का रसबोध ठीक उसी प्रकार समस्त पाठकों के लिए सार्वभौम है, जिस प्रकार अन्य उत्कृष्ट काव्य का। रसबोध का एक दूसरा स्तर इनके काव्य में वह मिलेगा जो रुचि और आस्था पर आधारित है। इनके साम्प्रदायिक प्रभाव, तत्सम्बन्धी अनुभूति का कथन कोई आवश्यक नहीं कि समस्त पाठकों के लिए सामान्य रूप से उनके भावबोध का विषय बन सके। इनके काव्य का एक तीसरा भी स्तर है

जो रसबोध का विषय बन ही नहीं सकता वह है सिद्धान्तकथन का। ये सिद्धान्तकथन उनके साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को समझने के लिए व्याख्यात्मक पृष्ठभूमि मात्र नियोजित करते हैं। (रसानुभूति के उनका उत्तरदायित्व नहीं है।

प्रयोग

इन कवियों के साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि ये स्पष्ट रूप से रससिद्धान्त के पारखी एवं ज्ञाता थे। किन्तु भक्ति और काव्यरस के तुलनात्मक दृष्टिकोण का जहां तक सम्बन्ध है इन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा कोई लगाव नहीं किया है। यह सत्य है कि उन्होंने अपनी भक्ति एवं आराध्य विषयक भावना को काव्य में सर्वोपरि स्वीकार किया है और कहीं कहीं स्वयं उनके कथन भी इसके साक्षी हैं। किन्तु प्रयोग में उन्होंने काव्य के स्वीकृत भाव जो मानव जीवन के अंग के रूप में सदा से स्वीकृत होते आए हैं। अपने आराध्य में उसे नियोजित करने में इन कवियों ने कोई कोरकसर नहीं रख छोड़ी। सैद्धान्तिक रूप से रूपगोस्वामी ने हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत, वीभत्स को गौण भक्ति रस तथा मधुसूदन सरस्वती ने इन्हें संकीर्ण भाव के अन्तर्गत रखा है। किन्तु रूपगोस्वामी स्पष्टतः शृंगार और शान्त का उल्लेख गौण रस के अन्तर्गत न करके भक्तिरस में ही किया है। हिन्दी के समस्त मध्यकालीन कवियों ने काव्य के व्यावहारिक स्वरूप के अन्तर्गत यह भेद भी नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से समस्त रागों को कृष्ण का भाव बताया है। शृंगार का शालीनता पूर्ण चित्रण सभी कवियों में उपलब्ध है। करुण एवं वीररस के अधिकाधिक भाव वैष्णव भक्ति साहित्य के अंग है। शान्त एक मात्र इनकी भक्ति और काव्य की मूलवृत्ति के रूप में मिलती है। काव्यों में प्रायः शृंगार, करुण, वीर एवं शान्त को प्रधानता मिली है। इन भावों को उत्कर्ष देने एवं वातावरण को पुष्ट करने के लिए हास्य, रौद्र, भयानक, अद्भुत एवं वीभत्स के प्रयोग मिलते हैं। ठीक इसी क्रम का अनुसरण इन कवियों ने भी किया है। रस के सम्बन्ध में उनका सबसे उत्कृष्ट गुण है, उसकी पृष्ठभूमि को उदात्त बनाना। वे जिस भी रस का निरूपण करते हैं, एक उदात्त वातावरण में। यही उदात्तता उनके स्थायित्व का कारण है। काव्यों में कथित धीरोदात्त नायक की उपासनाएँ उनके व्यवहार की अंग थी। अतः इस दिशा में उन्हें उन कवियों से अधिक सफलता मिली है, जिन्होंने इन नायकों के चरित्र को काव्य का अंग बनाया है। यही कारण है कि तुलसी का मानस और सूर का सागर सचमुच राम और कृष्ण काव्य के अनमोल रत्न हैं।

१. विस्तार के लिए रसबोध और साधारणीकरण, उपसंहार देखिए।

रसों का अंगांगि सम्बन्ध

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस के अंगांगि सम्बन्ध की चर्चा का आरम्भ किसी रस विशेष की महत्ता के प्रतिपादन के लिए हुआ है। आचार्य भरत समस्त रसों में रतिमूलक भावों को प्रधान मानते हैं। रतिमूलक भाव के अन्तर्गत उन्होंने शृंगार रस को विशिष्ट स्थान दिया है। वे इसे उज्वल वर्णात्मक एवं समस्त रसों में विशिष्ट मानते हैं। उनके अनुसार अन्य रस शृंगार की तुलना में न्यून महत्व के हैं[1]। आचार्य भरत के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्यों के प्रयत्न इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भाव की अनेक श्रेणियां बनाकर उसमें रस की स्थिति को अधिक महत्व का स्वीकार किया रस से सम्बन्धित अन्य भावों को भाव, भावाभास, रसाभास, भावशांति एवं भावशबलता की श्रेणी में रखा[2]। ध्वनि के भेदों में इन्होंने काव्य के मुख्य एवं गौण रस की भी चर्चा की है। आनन्दवर्धन के अनुसार रामायण एवं महाभारत में क्रमशः करुण एवं शान्तरस है। इसमें प्रयुक्त अन्य रस गौण है[3]। रामायण की इसी करुणात्मकता को ध्यान में रखकर भवभूति ने उत्तर रामचरित में करुण को अंगी एवं अन्य रसों को अंग के रूप में स्वीकार किया है[3]। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में एक स्थल पर शृंगार को एकमात्र रस मानकर केवल शृंगारी कवि की ही महत्ता स्वीकार की है। ठीक इसी के प्रभाव से भोज ने भी सरस्वती कंठाभरण के आरम्भ में शृंगारी चैत्कवि : की ही एकमात्र प्रतिष्ठा की है। शान्तरस की स्वीकृति हो जाने के उपरान्त उसी को एकमात्र रस तथा अन्य को उसी से उद्भूत अंग रूप में स्वीकार किया गया। शान्तरस की स्वीकृति के लिए दिए गए अभिनवगुप्त द्वारा प्रबल तर्क रस के परस्पर अंगांगि सम्बन्ध के स्पष्ट प्रमाण हैं। अभिनवगुप्त के पूर्व नाट्यशास्त्र के शान्तिरस सम्बन्धी

.....

१: नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ वृत्तिभाग

२: ध्वन्यालोक : चतुर्थ उद्योत, पृ० ४६५, ४६६

३: यही सैविधानकम् एकी हृस० करुण अन्य निमित्त भेदात्,
भिन्न पृथक पृथक इव अयते विवर्तान, उत्तर राम०
३:४७

प्रदीप से ही शान्तरस की महत्ता का प्रतिपादन आरम्भ होचुका था। इससे सम्बन्धित ये श्लोक हैं —

भावाविकारा रत्याद्या: शान्तस्तु प्रकृतिर्मत:।
विकार : प्रकृतेर्भाव: पुनस्तत्रैव लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव: प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।[1]

रत्यादि स्थायीभाव विकार रूप है और शान्तरस प्रकृत रूप है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और उसी में ही प्रवेश कर जाते हैं।

अपने अपने निमित्तों में प्राप्त होने पर शान्तरस से ही भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर पुन: शान्तरस में लीन हो जाते हैं।

प्रदीपकार के अनुसार शान्त की महत्ता अन्यरसों से बढ़कर है क्योंकि अन्यरस शान्तरस की विकृति मात्र हैं एवं शान्तरस अन्य रसों की प्रकृति है। किन्तु यह धारणा पूर्ण रूप से अमान्य है चित्त का निर्विकारत्व जिससे निःसृत जिसमें अन्य भाव निहित होते हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रागशून्य है और रागशून्यता स्वत: रस नहीं हो सकती। किन्तु शान्तरस इस धारणा से पूर्णत: पृथक स्वत: विकासशील भाव है। इस प्रकार शान्तरस रस न होकर मन की रागशून्य स्थिति है जिससे समस्त भावसंकल्प उद्भूत होते हैं। इस व्याख्या के अतिरिक्त भी अभिनवगुप्त का कथन है कि तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वाद: अर्थात् समस्त रसों में शान्तरस ही आस्वाद्य है। अभिनवगुप्त ने शान्तरस के विरोधियों द्वारा शान्तरस के विरोध की चर्चा की है। शान्तरस के विरोधियों ने इसके रस न होने के लिए अनेक तर्क दिये हैं जिनमें से एक यह भी है[2]।

.....

१: अभिनवभारती, पृ० ६१०

२: अभिनवभारती, पृ० ६२० तथा ६२१

१: अखंडानन्द स्वरूप आत्मविषयक रति ही मोक्ष का साधन है अत: उसके स्थायीभाव रति को ही शान्त का स्थायीभाव मानना चाहिए।
२: समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध में विकृतदर्शनजन्य हास्यरस का स्थायीभाव हास, शान्त को उत्पन्न करता है।
३: समस्त संसार को शोचनीय रूप से देखने वाले साधक को करुणरस का स्थायीभाव शोक शान्त की अनुभूति में सहायक होता है।
४ सांसारिक वृतान्त को आत्मा के लिए अपकारी रूप में देखने वाले को अपकारित्व जन्य रौद्ररस का क्रोध रूप स्थायी भाव शान्तरस की अनुभूति में सहायक होता है।
५ अत्यन्त ज्ञान प्रधान वीर्य उत्साह को स्वीकार करने वाले साधक को वीररस का स्थायीभाव शान्तरस की अनुभूति उत्पन्न करता है।
समस्त विषय समूह से भय को अनुभव करने वाले को भयानक रस का स्थायी भाव शान्तरस की अनुभूति कराने में सहायक होता है,
७: उन सब लोगों के लिए स्पृहणीय कामिनी आदि से भी घृणा करने वालों को बीभत्स रस का स्थायी भाव शान्तरस की निष्पत्ति में सहायक होता है।
८: अपने अपूर्व आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण अद्भुत रस के स्थायीभाव विस्मय को प्राप्त साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए हास्य से लेकर विस्मय पर्यन्त समस्त रसों के आठों स्थायीभावों में से किसी एक को शान्तरस का स्थायीभाव माना जा सकता है। इस प्रकार नाट्य शास्त्र के प्रवोपकार की उक्ति के समर्थक वाक्य एवं समस्तरसों के मूल में शान्तिरस की स्थिति मानने वालों का उन्होंने उल्लेख किया है। इससे इतना सिद्ध अवश्य होता है कि अभिनवगुप्त के पूर्व ऐसी धारणा अवश्य थी जो शान्तरस के स्वतंत्र अस्तित्व के विषय में संशयशील एवं उसके परतंत्ररसत्व के प्रतिपादन की ओर संकेत थी। यही नहीं इसके साथ ही साथ उन्होंने इन विरोधियों के सात अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। इन समस्त विरोधियों का खंडन करके शान्तरस को इस प्रकार परिभाषित करते हैं:—

ज्ञान आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही शान्तरस का स्थायीभाव है। इस शान्तरस के एकमात्र रसत्व का प्रतिपादन भक्ति के अनेक ग्रन्थों में होता है। हरिहर प्रकाश ने

१: अभिनवभारती पृ० ६३०

भर्तृहरिनिर्वेद में शान्त को परम विश्रान्ति मय मानते हुए कहा है -

अस्त्येव दार्ढ्यकी रस : प्रतियत्न पर्यन्त वैरस्यभू ।
ब्रह्माद्वैत सुखात्मक : परम विश्रान्तो हि शान्तो रस[1] ।

आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में इस भक्ति का एकमात्र प्रतिनिधि एवं शृंगार का विरोधक तत्व स्वीकार किया है। ठीक इसी के समानान्तर साहित्यदर्पण में नारायण भट्ट के मत का उल्लेख है। नारायण भट्ट के अनुसार समस्त रसों में अद्भुत रस ही अंगीरस है, शेष अंग रस। उनका कथन इस प्रकार है-

रसोसारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसभूत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरस : स. द. ३/२[2]

आलंकारिक आचार्यों का इस उक्ति से स्पष्ट है कि उनके समक्ष अंग और अंगीरस की विशेष चर्चा नहीं थी। उनके समक्ष समस्या गौणता एवं प्रमुखता की थी अंगांगिरस का विवेचन। वस्तुत: वैष्णवाचार्यों द्वारा ही अधिक किया गया है। फलत: उनके समक्ष अंगांगिरसों के विवेचन की भी एक प्रमुख समस्या उठ खड़ी हुई। काव्यरस की भाँति भक्तिरस की परिकल्पना के उपरान्त उससे इसका सम्बन्ध स्थापित करने की उनके सम्मुख अनिवार्यता खड़ी हुई। उनके अनुसार भक्तिरस एवं काव्यरस स्वभावत: भिन्न थे चूंकि उनके भक्ति की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से हुई थी, अत: उन्होने काव्य एवं भक्ति दोनों में स्वीकृत रस सिद्धान्तों परस्पर सांगति बैठाने के प्रति सचेष्ट हुए। इनके अनुसार भक्तिरस प्रमुख एवं काव्यरस गौण हैं वे भक्तिरस को अंगी एवं काव्यरस को अंगरस स्वीकार करते हैं। वे दोनों प्राय: उनकी परस्पर अन्योन्याश्रित की ओर अधिक सचेष्ट हैं। इसी को सिद्ध करने के लिए मधुसूदन सरस्वती एवं रूपगोस्वामी ने विशेष प्रयत्न किए उनके मत इस प्रकार हैं।

भक्त आचार्यों के अंगांगि सम्बन्ध की चर्चा

मधुसूदन सरस्वती

मधुसूदन के अनुसार भक्ति रस ही प्रमुख है। इसे

.....

१: भर्तृहरिनिर्वेद: श्लोक सं. २

२: साहित्यदर्पण २.३

उन्होने शृङ्गार रस से बहुत गुना विस्तृत स्वीकार किया है[1]। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होने काव्यशास्त्रियो के भक्तिरस विषयक उस मत का खंडन किया जिसमे उन्होने देवादिविषयक रति को दोष या संचारी भाव के अन्तर्गत रखा था। उन्होने उसके प्रत्युत्तर मे कहा है कि यह देवादि विषयक रति वस्तुत: इन्द्रादि विषयक देवताओ के लिए है न कि भावक आनन्द के लिए[2]। इस आनन्द की समता मे उन्होने कान्तादिरति से निष्यन्द शृंगार के आस्वाद को आदित्य के सम्मुख खद्योत प्रकाश के सदृश क्षुद्र बताया।

भक्तिरस को व्याख्या करते हुए भक्तिरस से सम्बन्धित उन्होने तीन रति को ही स्वीकार किया है। वे है—विशुद्ध भक्तिरति, वत्सल भक्तिरति एवं प्रेयोभक्तिरति। इन तीन रति मे से क्रमश: विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयोभक्ति रस की निष्पत्ति होती है[3]। इस विशुद्ध भक्तिरति मे जब अन्य रति मिश्रित हो जाती है तो उन्हे मिश्रित रति कहते है। रसार्णवकार के अनुसार भक्तिरस मे शृंगार रस मिश्रित होकर उसे बलवत्तर बना देता है। इसीलिए मिश्रितभाव न्यूनतीव्र शुद्धभक्तिरस तीव्र एवं शृंगार रति मिश्रित भक्तिरस तीव्रतर हो जाता है[4]। उन्होने सम्पूर्ण रस विषयक भावो को निम्न श्रेणियो मे विभक्त किया है—

१ संकीर्ण भाव	२ शुद्ध भाव
३ संकीर्ण मिश्रित	४ केवल मिश्रित

उनके अनुसार भाव केवल दो ही है संकीर्ण एवं शुद्ध। संकीर्ण मिश्रित एवं केवल मिश्रित परस्पर इन्हीं दोनो के संयोग से बनते है। संकीर्ण भावो के अन्तर्गत उन्होने रौद्र, भयानक, धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स एवं शान्त को रखा है। शेष अन्य काव्यरस मिल कर संकीर्ण मिश्रित हो जाते है। इनमे काव्य के समस्त रस शृंगार, करुण, हास्य, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, वीर, रौद्र और

.....

१ इहानुभव सिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रस। अहैनेव त्वया कस्मादुत्कर्षादत्र वर्ण्यते। उल्लास २ २०७८

२, रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथांजित:। भाव प्रोक्तो रसोनेति हुतं रस कोविदै:॥
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्द प्रकाशनात्। क्वचिज्जीवरानन्दरूपे न परमात्मनि॥
२:७३:७४

१ काव्यशास्त्रीय परम्परा मे इन तीनो का रस को समकक्षता मिलती है। हेमचन्द्र कहा है-स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यमिति हि रसेष्व विशेषा तुल्यतो या परस्परं रति: स ई अनुक्तस्य उक्तं रति: प्रकथित : सैव भक्तिपद वाच्या उक्तस्य अनुक्तं रति : वात्सल्यम्। काव्यानुशासन पृ० ६८

४: भक्तिरसायन, उल्लास २: ३४ से ३६ तक

शान्त एवं प्रीतिभाव हैं। यही सैकोंडों मिश्रित एक मात्र भक्ति आलम्बन से सम्बद्ध हो जाते हैं तब उनकी सैकोंडता समाप्त हो जाती है, और वे केवल मिश्रित रस रह जाते हैं [भक्तालम्बनकत्वविशिष्टत्वात् केवलमिश्रितत्वमिति पर्यवसितम्]। शुद्ध भावों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वे विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयस् हैं।

भक्ति रस की दृष्टि से रसाभिकार शुद्ध भाव को प्रमुखता प्रदान करता है। उसके अनुसार काव्यरस सैकोंडी है। वह उसका अंग रूप में प्रतिपादित करने को और संकेत है। ये सैकोंडी भाव जब भक्तिरस का अंग बनते हैं तभी उनमें पूर्णता आती है, अन्यथा वे अपूर्ण हैं। श्रुतियों में यह कहा गया है कि ब्रह्म नित्य एवं सर्वत्र आनन्दात्मक है। अतः आनन्द उसका स्वभाव है अन्य रसों को आनन्दमूलकता मात्र उसी का उच्छलन है। यही नहीं वह गुण, रीति, अलंकार आदि को निम्न कोटि का स्वीकार करता है। उसके अनुसार ये समस्त काव्य के भावविधायक तत्व मात्र होने के कारण रस के अंग हैं। अतः ये भक्तिरस के अंग रूप में ही उसकी निष्पत्ति एवं उत्कर्ष में विधायक हो सकते हैं।

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस मुख्य है। काव्यरस सैकोंडी भाव होने के कारण भक्तिरस का अंग है तथा काव्य के अन्य तत्व भक्तिरसका पोषण मात्र करते हैं।

रूपगोस्वामी

रूपगोस्वामी ने रसोद्देश निरूपण के अन्तर्गत भक्तिरस की व्याख्या की है। उसके उपरान्त उन्होंने काव्य के सात रस हास्य, करुण शृंगार, रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत, के अंगरूप होने का समर्थन किया है। क्रमशः शान्त हास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर ही रस हैं[1]।

रूपगोस्वामी के अनुसार शान्त का स्वभाव राग प्रधान एवं अनुकूलक है। उसकी अभिव्यक्ति प्रीतिभक्ति भक्तों के हृदय में उत्पन्न होने वाला शुद्ध आनन्द है[2]।

.....

१: पश्चिम विभागे शान्तरस लहरी श्लोक १५ तथा १४.

२: पश्चिम विभागे प्रीतिभक्तिलहरी २ से ४ तक

इस प्रीतिभक्ति का उन्होंने तीन क्रम निर्दिष्ट किया है सर्वप्रथम भगवद्व्यसन से प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम निरन्तर अभ्यास से सान्द्र होकर चित्त को द्रवित कर देता है। तब स्नेह की संज्ञा प्राप्त करता है। इसका अधिकता होने पर कुछ दुःख का बोध नहीं होता। इस स्थिति के आगे यह प्रेम राग बन जाता है इसी राग के कारण ही यह प्रीति रति आनन्दमूलक है। इस प्रेमभक्तिरस को उन्होंने रतिजन्य आनन्द कहा है। वत्सल भक्तिरस में चित्त की सान्द्रता विशेष प्रकार की हो जाती है। प्रेमभक्तिरति तक प्राय: इसका आश्रय एवं विषय की निकटता दूर रहती है। इसीलिए इनके अनुसार अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट रति मधुर है[2]। इसमें भक्त आराध्य के निकटतम सम्बन्ध का अधिकारी होता है। यहां कारण है कि रूपगोस्वामी इसे रसराट् या उज्ज्वलरस की संज्ञा देते हैं उन्होंने इसका ज्ञान अत्यन्त दुरूह एवं अनुभवगम्य बताया है।

इन भक्तिरसों की व्याख्या के अनन्तर उन्होंने काव्य के शेष ७रसों को भी लिया है। वे रस क्रमश: हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र भयानक, बीभत्स हैं। इनके कथन का क्रम इस प्रकार है।

हास्यभक्तिरस

भक्तों में कृष्णालम्बन की दृष्टि से हास्यादि चेष्टाओं से हास्य रस की निष्पत्ति होती है। चूंकि आलम्बन कृष्ण हैं और आश्रय भक्त अत: उनसे निष्पन्न यह हास्यभक्ति रस होगा शुद्ध काव्य रस नहीं।

२: अद्भुतभक्तिरस भक्त विस्मय का आश्रय ग्रहण कर तथा कृष्ण को आलम्बन मानकर जिस लोकोत्तर हर्ष क्रिया का अनुभव करने लगता है वह अद्भुत भक्तिरस होता है।

३: करुणभक्तिरस, शोक रति से निष्पन्न अश्रुपात ग्लानि आदि विभावों से पुष्ट भक्तों में करुण भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।

१: पश्चिम विभाग प्रीतिभक्तिलहरी ४३, ४४, ४५

२: शृङ्गारभक्तिरस निरूपी मधुराख्य भक्ति रसलहरी श्लोक १ ३।

४ रौद्रभक्तिरस : क्रोध रति से पुष्ट एवं तदुसम्बन्धी अन्य विभावों से निर्मित नियोजित भक्तों के हृदय में उत्पन्न एतद् विषयक रस रौद्र भक्तिरस होता है ;

५: भयानक भक्तिरस , भय रति से पुष्ट एवं उसमें कथित अन्य विभावों से निष्पन्न भयानक भक्तिरस होता है ।

६: बीभत्स भक्तिरस आत्मोचित विभावों से उत्पन्न जुगुप्सा रति अन्ततः अतिरागता की प्रतिक्रिया में बीभत्स भक्तिरस हो जाता है।

७ वीरभक्तिरस भक्तों में कृष्णभक्ति विषयक उत्साह रति से निष्पन्न वीरभक्तिरस होता है[1]।

रूपगोस्वामी इस निरूपण में न तो उचित रूप से स्थायी भावों का नियोजन कर सके हैं और न रसोत्पत्ति की प्रक्रिया को व्याख्या हो। फिर भी उनकी इस धारणा में सत्यता अवश्य वर्तमान है कि भक्तिकाव्य में प्रयुक्त शुद्धकाव्य के भाव स्वतंत्र या कोरे नहीं हैं, वे प्रत्येक दशा में भक्ति विषयक भाव के लिए ही हैं।

कविकर्णपूर गोस्वामी .

रसों के अंगांगि निरूपण का तीसरा मत कविकर्णपूर गोस्वामी का है। इनकी कृति अलंकार कौस्तुभ का निर्देश पूर्व किया जा चुका है। इनका दृष्टिकोण प्रायः आलंकारिकों का है किन्तु उन्होंने भक्तिरस को भी स्वीकार किया है। उनका विचार है कि रस मस्तिष्क की सात्विक दशा से निष्पन्न भावबोध है। यह स्थिति रजस् एवं तमस् से भिन्न एवं उत्कृष्ट है। उनके अनुसार रस रजस् एवं तमस् से भिन्न अनुभवैकलभ्य आनन्द रूप है। इस आनन्द रूपता का नाम उन्होंने प्रेम दिया है[2]। मन की इस आनन्दमयी स्थिति से अनेक रस उद्भूत हुए हैं जिस प्रकार स्फटिक जवाकुसुम आदि के संसर्ग से अनेक रंगों में परिवर्तित हो जाता है। उसी प्रकार आनन्द तम एवं रजस् अनेक स्थायि रूप

.....

१ रसः सप्तविधो गौणो तथा गौणश्च भक्तिरसः। सप्तलक्षा हास्यादयः क्रमात् —

२: आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति यमैकश्चमत्कृतिः। इति विभागे हास्यभक्ति रसलहरी श्लोक ३ तथा ४
स्वस्वमौर्ख्या दीनस्य शुद्धसत्वतया सतः॥
स स्थायी कथ्यते विज्ञैः विभावस्य पृथक्तया।
पृथक्त्विधत्वे यात्येव सामाजिकतां सताम्॥ अलंकारः कौस्तुभः पंचमकिरणः
प. ५, ६ : .

धर्म नानाविध विभावादि के संसर्ग से उत्साह, विस्मय, तथा शोक आदि भावों में परिवर्तित होता रहता है। यही भाव रस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं। कविकर्णपुर का विचार है कि यह आनन्द प्रत्येक व्यक्तियों में है। उत्तम प्रकृति के पुरुषों में ये रस स्वतः स्फुट हो जाते हैं। रस में आनन्द शक्तिशाली तत्व है इसी क्रम में उन्होंने कहा है -

रसस्य आनन्दधर्मत्वात् एकध्यम् भाव स्व हि .
उपाधि भेदानन्त्यत्व रत्यादय उपाधय[1] ।

इसी प्रकार अन्य रति भी इसी आनन्द से उत्पन्न होती है। आनन्द की प्रमुखता के कारण कविकर्णपुरगोस्वामी ही प्रेमरस को प्रमुखता देते हैं इसी प्रेमरस में उन्होंने भक्ति को अन्तर्भुक्त कर लिया है उनके अनुसार प्रेमरस में सम्पूर्ण रस का अन्तर्भाव हो जाता है। उन्होंने कहा है कि किसी किसी प्रसंग में राधाकृष्ण का प्रेम भी शृंगार में परिवर्तित हो जाता है किन्तु वह भक्तिरस है किसी किसी के विचार से यह भक्तिरस अंगी है तथा अन्य रस अंग है किन्तु यह धारणा असंगत है। उनके अनुसार प्रेम अंगी तथा शृंगार एवं भक्ति अंग है। इस प्रकार भक्तिरस प्रेम रस का अंग है। भक्ति ही नहीं अन्य समस्त रस प्रेम के अखंड वारिधि तत्व में तरंगवत् उन्मज्जित एवं निमज्जित होते रहते हैं[2],

उन्होंने शृंगारभक्ति की गौणता के लिए यह तर्क दिया है कि भगवान कृष्ण अपनी सम्पूर्ण कलाओं में शृंगार युक्त न होकर प्रेमयुक्त हैं इस प्रेमरस में ही कृष्ण की सम्पूर्णशक्ति का उदय होता है न कि शृंगार में। यह प्रेम ..

.....

१ अलंकार कौस्तुभः पंचम किरण पृ. सं. १३० .

२: प्रेमरसे वीररसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपंच केषांचिन्मते श्री राधा कृष्णयो : शृंगार एव रस : शृंगारो अंगी प्रेमाग : अंगस्यापि क्वचिद्धिक्तता वर्यं तु प्रेमांगी शृंगारोगम इति विशेष : तथा च .

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखंडरसत्वत : .
वीररसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ : अलंकार कौस्तुभ : १४८: १६६ :

आनन्दस्वरूप होने के कारण अखंड है शृंगार इसी का अंश है। इस दशा में भगवद् शृंगार रस प्रेमभक्ति का अंग है और यह प्रेमभक्ति स्वत: प्रेमरस या आनन्द है। अत: शृंगार गौण एवं प्रेम अंगीरस है[१]।

निष्कर्षत: कवि कर्णपूरगोस्वामी के अनुसार काव्यरस एवं भक्तिरस दोनों अपनी मूल प्रकृति में प्रेम के अंग हैं तथा प्रेमरस उनका अंगी है। इस प्रकार इनकी धारा मधुसूदन सरस्वती और रूपगोस्वामी के प्रति: भिन्न है।

वैष्णव भक्तकवि तथा रस का अंगांगि सम्बन्ध

भक्त आचार्यों ने भक्तिविषयक उन्मेष एवं शास्त्रीय पद्धति दोनों दृष्टियों से भक्तिरस के अंगीत्व का निरूपण किया है। जहाँ तक भक्त कवियों का प्रश्न है। वे तो भक्तिरस के ही समर्थन की ओर ही अधिक लग हैं। इन कवियों में तुलसीदास और नन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। तुलसी राम के उदात्त व्यक्तित्व में काव्य के समस्त भावों को समाहित मानते हैं। प्रश्न उठता है। यह उदात्त व्यक्तित्व का भावकथा[२] है। वैष्णव भक्त कवियों की ही शब्दावली में इसे उदात्त रस भी कह सकते हैं क्योंकि उनके द्वारा निरूपित यह व्यक्तित्व विचित्र एवं आजानु उदात्तता से समन्वित है। उनके अनुसार भागवत रूप समस्त रसों एवं भावों का आश्रय तत्व है। इसी की ओर संकेत करके तुलसी ने बालकांड में इस प्रकार धारणा व्यक्त की है।

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।
देखहिं मुनि महारनधीरा। मनहुं वीर रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी।
नारि बिलोकत हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।

.....

१: अलंकार कौस्तुभ पृ० ८०

विद्युन्मन्ह प्रभु विराट मय दीसा ; बहु मुख कर पग लोचन सीसा ;अद्भुतरास
सहित विदेह बिलोकहि नागर ; शिशु सम प्रीति न जाहि बखानी ।
जोगिन्ह परम तत्व मय भासा ! शान्त शुद्ध सम सहज प्रकासा ।

इस प्रकार 9 रसों के अतिरिक्त स्नेह ,रति ,आदि मुख्य भावों की भी व्यंजना यहाँ निहित है। शास्त्रीय शब्दावली में यदि कहें तो कह सकते हैं कि राम आलम्बन के विभिन्न सामाजिक रूप कुटिल, नृप, नारि विदेह तथा उनको रानी एवं योगी अपने अपने स्वभाव के अनुसार उनके उदात्त व्यक्तित्व में भिन्न भिन्न प्रकार से रसभावन करते हैं। वैसे तुलसी काव्य के नवम नव रस को अधिक महत्ता न देकर मानस के चारु तड़ाग का जलचर कहते हैं[1]। कैस कैम्पबल यज्ञ में अश्व के रूप पर उपस्थित कृष्ण के विषय में रसो भाव का श्लोक भागवत में भी मिलता है। तुलसी की यह प्रेरणा भागवत से अनुभूत बताई गई है[2]।

नन्ददास ने अपने रासपंचाध्यायी, रसमंजरी एवं सिद्धान्त पंचाध्यायी में कृष्णरस को ही प्रमुख माना है। पंचाध्यायी में उन्होंने रासरस को समस्त रसों का सारतत्व बताया है उन्होंने अनेक स्थलों पर शृंगाररस को शृंगार रस से पृथक रस स्वीकार किया है उनके अनुसार मक्तिरस की तुलना में यह शृंगार गौण महत्वहीन एवं निःसत्व है[3]। वे कहते हैं कि जो पंडित इन ग्रन्थों में शृंगाररस स्वीकार करते हैं वे कृष्णलीला को लौकिक एवं कृष्ण को सामान्य पुरुष स्वीकार करते हैं किन्तु कृष्ण लौकिक विषयों से नितान्त भिन्न हैं क्योंकि लौकिक विषयी भोक्ता है। कृष्ण अलौकिक व्यक्तित्व के कारण भोक्ता भी होकर उससे असंपृक्त हैं अतः उन्हें विषयी स्वीकार किया ही नहीं जा सकता रसमंजरी में कृष्ण को समस्त रसों का आदि कारण कह पुकारा गया है। उसके विचार से लौकिक

१: रामचरित मानस: बालकांड दोहा सं. २४१ तथा २४२
२: श्री कृष्ण कृष्णपंचाध्यायी रा० सं. १ .
३: जे. पंडित शृंगार ग्रन्थ मत रामे साने : ते कछु भेद न जाने हरि को विषयी माने'
रा० सं. ४६, पृ० सि. प.
तथा . निगम सार सिद्धान्त वचन ते अलग बोलें': ६६
कृष्ण विरह नहिं विरह प्रेम उज्ज्वल कहावे .
निष्ट परम सुख रूप इतर सब दुःख बिसरावें':७०

रस कृष्ण से ही अभिव्यक्त होते हैं। इसके लिए वह निम्न तर्क देता है।

है जो कछु रस इहि संसार। ताहि प्रभु तुमही आधार।
ज्यों अनेक सरिता जल बहै। आनि सबै सागर में रहै।
जग में कोउ कवि वरनो काहीं। सो प्रभु रस सब तुम्हही आहीं।
ज्यों जलधर ते जलधर जल ते। बरसे, हरषि आपने कलै।
अगिन ते आनित दीपक बरै। तुम ते है तुम ही करि सो है।

दोहा रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनो ताहि।

इस उद्धरण में नन्ददास ने रसों के श्रोगि के सम्बन्ध को तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। सरिता और समुद्र सम्बन्ध, जल जलधर सम्बन्ध, अग्निदीपक सम्बन्ध, ये तीनों उदाहरण परस्पर कार्यकारण सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। सरिता का जल प्रकारान्तर से समुद्र से ही निःसृत होकर उसी में विलीन हो जाता है और दीप अग्नि से ही निःसृत होकर अग्नि में विलयन करता है। रस भी कृष्ण से उत्पन्न होकर पुनः उन्हीं में विलीन हो जाता है। इसी क्रम में अनेक भक्त कवियों ने शृंगार निष्ठभक्ति, कृष्णरस, लीलारस, को प्रमुख सिद्ध किया है अन्य सांसारिक भाव या काव्यरस इससे गौण हैं। रस सम्बन्धी दृष्टिकोण के अध्ययन के अन्तर्गत इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। वस्तुतः समस्त वैष्णव कवि अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार भक्तिजन्य रस को प्रमुख एवं अभिव्यक्ति जन्यरस को गौण स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि काव्यरस एवं भक्तिरस में कतिपय उभयनिष्ट तत्व वर्तमान हैं किन्तु मूलतः दोनों दो पृथक प्रेरणाओं से प्रेरित होने के कारण अपनी प्रकृति में ही भिन्न हैं। इसीलिए इन कवियों की रचनाओं में कहीं कहीं उद्वेगाधिक्य के कारण एक भाव की प्रधानता एवं दूसरे भाव की गौणता दिखाई पड़ने लगती है। अतः उनके काव्यों में कहीं काव्यतत्व प्रधान है तो कहीं भक्ति अनेक स्थलों पर जहाँ भक्तितत्व प्रधान है। प्रायः वहाँ काव्यतत्व को अवहेलना मिलती है यही कारण है कि इनके काव्य में शुद्ध काव्यत्व के विषय में अनेक आलोचक संदेह प्रकट करने लगते हैं।

.....

रसमंजरी दो. सं. १ की चौपाइयाँ .

कार्यागि सम्बन्ध की आलोचना .

रस के इस कार्यागि सम्बन्ध को जानने केलिए इसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है। सर्व प्रथम आचार्य भरत ने रस को रतिमूलक एवं विरति मूलक दो भागों में बाँटा है। विरतिमूलक भाव रतिमूलक भाव की प्रतिक्रिया के फल हैं किन्तु ये भाव भी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण अभाव मूलक नहीं है। इनके अन्तर्गत भी तृप्ति एवं रागमूलकता बना रहता है। अतः इन्हें विरतिमूलक नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस विरागमूलक नहीं है। ठीक इसी क्रम को लेकर अग्निपुराणकार भी रस की व्याख्या करता है[१]। वस्तुतः दोनों में विशेष अन्तर नहीं है –

रतिमूलक भाव	विरतिमूलकभाव .
शृंगार	रौद्र
वीर	वीभत्स .

भरत एवं अग्निपुराणकार के अनुसार मूलरस ये ही हैं और शेष चार रस इन्हीं निःसृत .

रतिमूलकभाव	निःसृत रस
शृंगार	हास्य
वीर	अद्भुत .

विरतिमूलक भाव	निःसृतरस
रौद्र	करुण
वीभत्स	भयानक

शान्तरस को दोनों के बीच में रखकर उसे उभयात्मक स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि एक ओर इसमें विरागोन्मुख विरतिमूलक भावना है तो दूसरी ओर, तृष्णाक्षय सुख भी वर्तमान है। इस प्रकार यह दोनों मानसिक वृत्तियों का प्रतिनिधि है।

इस प्रकार रस के कार्यागि सम्बन्ध को मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रगट करने के लिए किए गए ये प्रयत्न निश्चित ही प्राचीन है। ठीक इसी क्रम के आधारपर

१: प्रस्तुत लेखक का निबन्ध अग्निपुराणकार की रसदृष्टि हिन्दी अनुशीलन वर्ष १५: अंक १ पृ. २८ .

ही रसौं को एवं रस विरोध की चर्चा की गई है। शृंगार को वीर का तथा रौद्र को वीभत्स का विरोधी माना गया है। दूसरे क्रम में हास्य को अद्भुत का तथा करुण को भयानक का सहयोगी स्वीकार किया गया। वस्तुत: हास्य का विरोध वीर से तथा करुण का वीभत्स से विरोध है। दूसरी ओर शृंगार को अद्भुत तथा रौद्र को भयानक का सहायक माना गया है।

रसों के इस अंगांगि सम्बन्ध का कारण मानसिक वृत्ति ही है जिसका संकेत शारदातनय भाव प्रकाशन में करते हैं[1]। रस की इस स्थिति में उन्होंने चित्तवृत्तियों को प्रधानता दी है। ये प्रवृत्तियाँ हैं विस्तार विकास, विस्तार विक्षोभ तथा विक्षेप इस सम्बन्ध के अन्तर्गत उन्होंने शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स चार रसों की सत्ता मानी है। शेष अन्य रस उन्हीं पर आधृत बताए गए हैं इस सम्बन्ध के अन्तर्गत विकास एवं विस्तार रतिमूलक एवं विक्षोभ तथा विक्षेप विरतिमूलक भाव हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रस के अंगांगि सम्बन्ध की समस्या वस्तुत: रस की मनोवैज्ञानिक स्थिति की समस्या है। इसकी प्रधानता एवं गौणता आगे चलकर इतनी अधिक प्रमुख हो गई कि कविकर्णपुर गोस्वामी जैसे आलंकारिक आचार्यों को एक ही रस स्वीकार करना पड़ा।

अंगांगि सम्बन्ध और भक्तिरस अंगांगि सम्बन्ध के संदर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भक्तिरस प्रमुख है या गौण। या दूसरे शब्दों में वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति रस की महत्ता में कितना बल है। इन आचार्यों ने भक्ति रस की प्रमुखता के लिए मुख्यत: निम्न तर्क दिए हैं:

१- काव्यरस के भाव संकीर्ण तथा भक्तिरस के भाव शुद्ध भाव हैं इस दृष्टि से भक्तिरस के भाव प्रमुख हैं, इनके आश्रित होने के ही कारण काव्यरस के भाव क्षुद्र हो जाते हैं।

२-भक्ति के आलम्बन कृष्ण ब्रह्म हैं। ब्रह्म विषयक आसक्ति अलौकिक है। सामान्य काव्य में वर्णित आलम्बन लौकिक है। अत: अलौकिक आलम्बन से सम्बन्धित यह रस अलौकिक है। लौकिक आलम्बन से सम्बन्धित रस लौकिक है। इस प्रकार अलौकिक भक्तिरस लौकिक काव्यरस से तीव्र उत्कट एवं अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होगा।

१: भाव प्रकाशन: पृ० ५५

३ ब्रह्म का स्वभाव आनन्दमूलक है और उपनिषदों में उसे रसो वैस : कहा गया है । काव्य रस लौकिक है अत: लौकिक विषयों से उत्पन्न रस ब्रह्मानन्द का उच्छलन मात्र है ।

सदोष में भक्तों द्वारा दिये गये यही तीन मत हो भक्तिरस की प्रमुखता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त समझे जाते हैं ।

किन्तु काव्य दृष्टि से इनका अनुशीलन करेंगे पर इससे सम्बन्धित तथ्य उसके विपरीत ही ठहरते हैं ।

१- काव्यरस के भाव इन कवियों द्वारा जैसे कहे गये हैं । रस वस्तुओं भाव या मनोविकारों की एक मर्यादित स्थिति है । जिसका बोध मानव मस्तिष्क को होता है । इनके अनुसार भक्ति के भाव इसलिए प्रमुख हैं कि क्योंकि उनका सम्बन्ध आत्मा से है । किन्तु आज का मनोविज्ञान भाव प्रक्रिया को मानसिक क्रिया से पृथक और कुछ स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है भावों एवं मनोविकारों की स्थिति मानव मन की अनिवार्य समझा है एवं मनुष्य की चेष्टाओं की आधार भूतता उन्हीं पर निर्भर है भक्ति के भाव अभ्यासजन्य व्यवहार (Habit) पर आधृत कृत्रिम भावों की कोटि में रखे जा सकते हैं मानव सहज प्रवृत्तियों का दमन शोधन, परिष्कार के उपरान्त उनका नैतिकीकरण (Moralization) करते हैं भक्त प्रेम, काम, ईर्ष्या हास्य, आदि को एक ओर दमित करते हैं दूसरी ओर दैन्य, भय आदि मनोवृत्तियों का शोधन । इसीलिए प्राय: भक्ति रति की उत्पत्ति के लिए मधुसूदन सरस्वती, वल्लभ, रूपगोस्वामी सभी एक निश्चित प्रक्रिया का आधार आवश्यक बताते हैं रस की एक स्थिति विशेष में भी भावों को मर्यादित किया गया है किन्तु नीति के माध्यम से ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व दोष इसी से सम्बद्ध हैं किन्तु ये रस प्रवृत्ति को शालीन बनाते हैं जब उनकी शालीनता में नैतिकता का आग्रह अधिक हो जाता है तो रसबोध के व्याघातक तत्व खड़े हो जाते हैं अत: मानव मस्तिष्क की स्वाभाविकता भक्तिरस में न होकर मात्र रस में है । अत: काव्यरस के भाव ही शुद्ध हैं, भक्ति रस के नहीं ।

दूसरी तथा तीसरी धारणा का हल इसी तर्क से हो जाता है भक्ति के आलम्बन अलौकिक हैं, किन्तु इस अलौकिक के सामान्य बोध के लिए उसे लौकिक एवं इन्द्रियगम्य होना आवश्यक है अत: रसत्व बोध की स्थिति में रस की

अनुभूति लौकिक ही होगी, अलौकिक नहीं। इसीलिए भक्तिआन्दोलन में अलौकिक ब्रह्म को लौकिक बनकर जगत में आना पड़ा है। ठीक इसी लौकिक जगत में ही दास्य, सख्य, प्रीति मधुर की अनुभूति होती है। अत: यह कहना कि अलौकिक आलम्बन की अनुभूति भी अलौकिक होगी, सर्वथा भ्रामक है अलौकिक आलम्बन उसी प्रकार है, जैसे वंध्या पुत्र या आकाश कुसुम आलम्बन के लिए लौकिकता अनिवार्य है.

३- तीसरी समस्या - इनके उत्कट आनन्दानुभूति की है। प्राय: वे उसे परम आनन्दमय स्वीकार करते हैं तथा उसकी अनुभूति की तुलना में वात्सल्य शृंगार को सूर्य के सम्मुख खद्योत प्रकाश की भाँति तुच्छ बतलाते हैं। किन्तु जब न भावग्राहक मस्तिष्क संस्थान अलौकिक है और न इन्द्रिय के प्रत्यक्ष विषय हो फिर अनुभूति की अलौकिकता भी संभव नहीं है। वस्तुत: इस प्रकार की अनुभूति की दो स्थिति है।

प्रथम यह कि भक्त भक्तिकाव्य के माध्यम से एक सामान्य पृष्ठभूमि से भिन्न विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि करते हैं, जिस प्रकार उदात्त काव्य की पृष्ठभूमि में भावों का ग्राहक मन उससे भिन्न वातावरण में निर्मित काव्य से अलगाव का अन्तरबोध करता है। ठीक उसी प्रकार भक्तिकाव्य का वातावरण अन्य वातावरणके अलगाव को सूचना भी मस्तिष्क को देता है।

दूसरी स्थिति में भावों के ग्राहक मन की भी एक विशिष्ट दशा हो जाती है। वे अभ्यास के माध्यम से समस्त भावों का एकीकरण ईश्वरोन्मुख रति में कर लेते हैं, जब ईश्वरोन्मुख रति से प्रभावित मस्तिष्क उस विशिष्ट वातावरण में अपने ग्राहक तत्वों से भावबोध की स्थिति में पहुँचता है, तो उसे उसकी अनुभूति उत्कट प्रतीत होने लगती है। रहस्यवादियों में यह मस्तिष्क एवं वातावरण कुछ भिन्न कोटि का होने के कारण उनकी अनुभूति को रहस्यात्मक बना देता है। यही कारण है कि इन कवियों की उत्कट अनुभूति के लिए नास्तिकों के पास स्थान नहीं है। भक्तकवि एवं आचार्य भक्ति के क्षेत्र में शंका को गर्हित मानकर मात्र श्रद्धा को उसके लिए अति आवश्यक बताते हैं। सन्तों का प्रायश्चित एवं मुक्तिबोध की कामयोनि शंका एवं चिन्तिका की ही प्रतिफलन है।

अत: इस प्रकार सिद्ध है कि भक्तिरस की अनुभूति कुछ अलौकिक न होकर अलौकिकत्व का आभास मात्र है।

भक्त आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति रसबोध के सिद्धान्त एवं उनकी आलोचना

अलक्ष्य क्रम में प्रमाता को रसतत्व की किस स्थिति का बोध होता है इस प्रक्रिया की वही अन्तिम सिद्धि है। इस स्थिति की व्याख्या रसाचार्यों ने अनेक भाँति से की है। रसबोध वस्तु का नहीं अपितु वस्तुजन्य उस वेदना होता है जो पुष्टभाव के रूप में मानस में अनुभूत हो सके। इसीलिए वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यशास्त्रियों ने वस्तुजन्य संवेदना को Coenesthesia[1] कहा है क्योंकि मनस् वस्तुजन्य संवेदन को पचाकर उसे एक मात्र अपनी चेतना का विषय बना लेता है। रससिद्धान्त की यही एक अपनी पृथक विशिष्टता है जो इसे अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को वस्तुनिष्ठता से पृथक रखती है। हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य वस्तुनिष्ठ से अधिक व्यक्तिनिष्ठ है। इस काव्य का वस्तुनिष्ठ तत्व भी सौन्दर्य से प्रभावित होने के कारण रसात्मक बोध के अधिक समीप है। व्यक्तिनिष्ठ काव्य स्वतः रसमय है ही, क्योंकि वह पूर्णतः मानवीय संवेदनाओं पर आश्रित है। सम्भवतः इसीलिए भक्तिकाव्य की काव्यशास्त्रीय व्याख्या के क्रम में भक्त आचार्यों ने एकमात्र रसतत्व का ही विवेचन किया है। भक्तिकाव्य के रीतिकारों की संख्या एक दर्जन से कहीं अधिक है, किन्तु इन्होंने रस को छोड़कर अन्य किसी भारतीय काव्यशास्त्रीय मूल्य को इसकी व्याख्या का आधार नहीं बनाया है। इसी क्रम में भक्ति रसबोध की भी चर्चाएं मिलती हैं। प्रस्तुत विवेचन का मूल मन्तव्य इन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट भक्तिरसबोध के उन सिद्धान्तों की व्याख्या है जो रस के क्रम में साधारणीकरण के रूप में मिलती है। इस दिशा में तीन वैष्णवाचार्यों ने अपने भिन्न भिन्न मतों से भक्तिरसबोध के सिद्धान्त को पुष्ट किया है। ये आचार्य हैं। क्रमशः रूपगोस्वामी, आचार्य वल्लभ तथा मधुसूदन सरस्वती इनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं।

रूपगोस्वामी

साम्प्रदायिक वैष्णवाचार्यों में इनका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। श्रीहरिभक्तिरसामृत सिन्धु कृति परम्परा से चली आती हुई रसधारा का विस्तृत परिचय देती है उनके अनुसार हृदयस्थ सत्वोज्वल सुप्त रति

१: मीनिंग आव मीनिंग आई० ए० रिचर्ड्स तथा आग्डन पृ० १०

का आस्वाद ही भक्तिरस[1] है। उनके प्रमाता मात्र भक्त हैं। भक्त की विशेषता बतलाते हुए उन्होंने इसे प्रकट समस्त दोषों से निर्मुक्त, निर्मल चेतस, भागवत श्रुतरक्त रसिक, जीवनीभूत गोविन्द के चरणों में हार्दी रहने वाला अन्तरंग प्रेम से विह्वल तथा भक्ति के पूर्व संस्कार से मंडित कहा[2] है। इस प्रकार साधारणीकरण की भूमिका में कहा जा सकता है कि निर्धूत, प्रसन्नचेतस, भागवतरस में श्रुतरक्त रसिक अन्तरंग प्रेम से विह्वल एवं भक्ति संस्कार से मंडित भक्त के हृदय में स्थित उज्ज्वल सत्व के स्फुरण को भक्तिरस कहते हैं। इसी के बाद उन्होंने साधारणीकरण की प्रक्रिया का भी संकेत किया है। रूपगोस्वामी ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के दो आचार्यों का नाम इस क्रम में लिया है। आचार्य भरत का तथा दूसरे किसी 'हरिणि:'[3] अर्थात् ध्वनिवादी आचार्य का जो भाव के साधारणीकरण का प्रतिपादन करता हो, अर्थात् व्यंग्यवस्तु का। आचार्य भरत के क्रम में उन्होंने कहा है कि उनके अनुसार विभावादि के संयोग से निष्पन्न रसशक्ति साधारणीकृत होती है। यह सम्भवत: भरत की रस प्रक्रिया से सम्बन्धित सूत्र की ओर संकेत करता है। प्रमाता विभावादि के संयोजन से स्व एवं पर का भेद कर रसास्वादन कर लेता है। भक्त भी ठीक यही करता है दु:खादि से पीड़ित होने पर भी व्यक्ति जिस प्रकार काव्यानन्द के सम्पर्क में आने पर दु:खों को विस्मृत कर जाता है, उसी प्रकार प्रमाता भक्त भी सांसारिक क्लेश जन्य विरागादि को कृष्ण रस के साक्षात्कार से विस्मृत करता है। कृष्ण माधुर्यभाव का आश्रय ग्रहण करके रति का विस्तार करते हैं। भक्त इसी माधुर्य भाव का आस्वादन करते हैं। कृष्ण का सौन्दर्य अलौकिक है इसीलिए भक्तिरस की स्थिति, आस्वाद आदि अलौकिक है[4]। कृष्ण सम्बन्धी ये ही माधुर्य के भाव साधारणीकृत होते हैं; क्योंकि ध्वनिवादी आचार्यों ने अनुमति को ही साधारणीकृत माना है।

.....

१: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु : दक्षिण विभागे, विभाव लहरी श्लोक सं. ६, ७

२: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु : दक्षिण विभागे, विभाव लहरी श्लोक ८, ९, १०

३: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु: दक्षिण विभागे : विभावादि लहरी श्लोक सं. ८३, ८४.

४: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु: दक्षिण विभागे विभावादि लहरी श्लोक ८३, ८४

निष्कर्ष १: भक्तिरसबोध के लिए प्रमाता को भागवतरस का रसिक होना चाहिए

२: भक्ति के विभावादि एवं कृष्ण सौन्दर्य के भाव साधारणीकृत होते हैं.

३: साधारणीकरण की स्थिति में प्रमाता लौकिक क्लेशों को विस्मृत कर जाता है.

आचार्य वल्लभ

आचार्य वल्लभ ने साधारणीकरण के विषय में अपना दूसरा ही मत प्रकट किया है। उन्होंने भागवत वेणुगीत को लेकर विनाटीका में रस को दो भागों में बांटा है। केवल अर्थी धर्म सहित सम्भोग रस उनके अनुसार केवल रस नाटकों में तथा धर्मसहित का भक्ति काव्यों में प्रयोग होता है। इन भक्तिकाव्यों में विषयवस्तु के रूप में कृष्ण की रूपलीला समादृत है। धर्मसहित रसभोक्ताओं को उन्होंने दो श्रेणी बनाई है - गोपीभक्त एवं मात्र भक्त।

गोपी भक्ति का तात्पर्य गोपी भाव की भक्ति एवं तत्सम्बन्धी भक्त का तात्पर्य उनमें गोपी भक्ति का आधान है। गोपीभक्तों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने उन्हें परमप्रेमाभक्ति से व्याकुल हरिचरणामृत के लिए पिपासु ज्ञानाज्ञानमुक्त, नाना विलास युक्त, केलिक्रीडाओं से युक्त मानोद्भूत विप्रलंभ शृंगार से विरहित, साक्षात कृष्ण के प्रति आसक्त तथा कामभाव से पीड़ित आदि कहा है। गोपियां एवं तद्रूप भक्त कृष्णप्रेम में विह्वल होकर किस प्रकार स्व पद का अभेद करते हैं, इसका स्पष्टीकरण आचार्य वल्लभ ने इस प्रकार किया है।

भक्त का संस्कार रूप में स्थित भक्ति विषयकभाव बाह्य जगत में कृष्णलीला के दर्शन एवं कृष्णकथा के श्रवण से पुष्ट होकर अन्तरतम में जब गूढ़ हो जाता है, उस स्थिति में रसनिष्पत्ति होती है कृष्ण का रसात्मक काम भाव अत्यधिक गूढ़ है भक्त मात्र गोपीभाव की कामना से ही इस गूढ़ रस का आस्वादन कर पाते हैं, किसी अन्य भाव से नहीं इस प्रकार गोपीभाव के भक्त काममाव से युक्त हृदयस्थ संस्कार के प्रति बोध से गूढ़ भक्ति रस का बोध करते हैं. व्यवहारिक स्तर पर यह रसबोध की कथित स्थिति है अभिनय के माध्यम से

भी भक्त कृष्ण रस का बोध करते हैं। उनके अनुसार कृष्णलीला स्वयं में एकरूपक है जिस प्रकार अभिनेता रूपक के अभिनय से तुष्ट होकर दर्शकों को अपनी कला से रसमग्न करता है उसी प्रकार भक्त गोपीभाव से कृष्णलीला में निहित भक्तिरस के आस्वादन से आत्मविह्वल होकर पाठकों भक्तों एवं श्रोताओं को आनन्दित करता है। भक्तों को गोपीभाव की लीला के लिए स्त्रीभाव का आरोपण आवश्यक है। आचार्य वल्लभ के अनुसार यह स्त्रीभाव परमतम गूढ़भाव है[1] रसप्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने पुनः एक अन्य रूपक का माध्यम लिया है।

काव्य रस की ही भाँति भक्तिरस के फल के बोधार्थ सर्वप्रथम भक्ति चेतना का पल्लव अंकुरित होता है। शास्त्रार्थ के ज्ञान से यह चेतना पल्लव से विकसित होकर भावकलिका में परिणत हो जाती है। कलिका का पराग कौणभाव वैचित्र्य का संपुटन है[2] जब भक्ति का संस्कार रूपी रात्रि भक्त चेतना को आच्छन्न कर लेती है, तब इसी गूढ़ स्थिति में "ज्ञानन्धि रूप गूढ़ भक्ति रस की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि शास्त्रार्थादि ज्ञान से भक्ति चेतना जो वासना के रूप में भक्त के हृदय में वर्तमान रहती है। भक्ति के आवेश से भक्ति रस में परिणत हो जाती है इस प्रकार इस सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है –

१. कामायमाना गोपियों का परकृष्णासक्ति भक्तिरस के रूप में निष्पन्न हुई थी यह आसक्ति शृंगार रूप में, किन्तु है धर्मसंहित।

२: लीला में भक्त उसी भाव का आरोपण करके स्वानुभूति का विषय बनाते हैं।

३: भागवत रस की यह वासना शास्त्रार्थ आदि के ज्ञान से जगती है भावरूप लीला श्रुत्य भक्ति रस के संस्कारों को जाग्रत कर रसनिष्पत्ति में सहायक होती है।

मधुसूदन सरस्वती

इस विषय में तीसरा मत मधुसूदन सरस्वती का है भक्तिरस के विषय में उनका विचार है कि यह समस्त चित्तवृत्तियों की धारावाहिक एकरूपता है जो भगवद्स्वरूप में एकाकार होने पर निष्पन्न होती है। इसमें दो बातें प्रमुख हैं भक्त की चित्तवृत्ति एवं दूसरा भगवद्स्वरूप।

.....

१: रासपंचाध्यायी श्लोक सं. १ तथा पृ. १९ की टीका

२: श्रीमद्भागवत ग्रन्थानि पृ. १६, १८.

~~चित्तवृत्तिनिरोधः~~

चित्तवृत्ति' की तुलना उन्होंने स्वर्ण से की है-।उनके अनुसार चित आत्मा का जागृत गुण है ।वह आत्मानन्द के स्वभाव से विमुक्त होने पर अल्प स्वर्ण की भाँति मलिन रहता है । जिस प्रकार स्वर्ण अग्नितप से उत्तप्त होकर द्राविभूत हो जाता है , उसी प्रकार ब्रह्मानन्द के सम्पर्क से चित द्रवित होता है , अन्यथा वह अल्प स्वर्ण की भाँति अनेक अपरातत्वों' से ग्रथित मिलता है। उत्ताप की स्थिति में' जिस प्रकार स्वर्ण में'मात्र द्रवता ही बच रहती है उसी प्रकार आत्मानन्द के सम्पर्क से चित ही द्रव रूप शेष बचता है। यही चित्द्रव की अवस्था भक्तिरस की निष्पत्ति से सम्बन्धित है इस प्रकार भक्तिरस बोध भक्त की अन्तर्मानसिक चित्द्रवता से सम्बन्धित है ।

भगवद्स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है ।वह स्वत: रसपूर्ण है । फलत: उसके स्वरूप को अधिगत करके नि:सृत भक्ति भावना रसपूर्ण होती है । आत्मा स्वत: ब्रह्ममय होने के कारण आनन्दमय एवं रससंवित है । भक्ति की वासना के कारण आत्मा पर ब्रह्मभाव का प्रतिबिम्ब पड़ता है । उनके अनुसार भक्ति की वासना मनोमय कोश से सम्बन्धित है । मनोमय कोश में'वासना रूप में'स्थित भक्ति आत्मानन्द के साक्षात्कार से रसमय हो उठती है । मधुसूदन सरस्वती के अनुसार यही भक्तिरस की उत्कट भूमिका है ;जो काव्यानन्द से उच्च है भक्ति में' इसके नीचे की भी भूमिकाएं हैं' जिन्हें' दया, करुणा ,दास्य , मैत्री आदि नामों'से सम्बोधित किया जा सकता है । ये अवस्थाएं भक्तिरस की उत्कट भावना का बोध नहीं करा सकतीं ।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार सांख्यदर्शन से भी भक्तिरस की निष्पत्ति हो जाती है-सत्व ,रज तम से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति क्रमश: सुख, मोह एवं दु:खमूलक है । प्रकृति समस्त विश्व को इसी प्रपंच में'लपेटे हुए है। एक व्यक्ति जानता है कि पत्नी भी उसकी पत्नी है तथा सपत्नी भी उसकी पत्नी है। किन्तु सपत्नी का मोह दूर हो जाने पर वह समझता है कि दोनों' में'कामिनी सुखमूलक एवं सपत्नी दु:खमूलक है । अत: वह सपत्नी को त्यागकर कामिनी के सुख का उपभोग करता है। उसी प्रकार मुक्त ज्ञान की स्थिति में'क्रमश: एक ही पदार्थ से उत्पन्न

....

१: भगवद्भक्तिरसायन : प्रथम उल्लास श्लोक सं.१ ११ तक

तम रूप दुःख, रज रूप मोह को छोड़कर सत्व के सुख का ही उपभोग करता है। इसके लिए वैराग्य ही एक मात्र आधार है। यह वैराग्य समूर्णतः निषेधात्मक न होकर तम एवं रज से उत्पन्न दुःख एवं मोह का ही निषेध है। ऐसा वैराग्य के कारण सत्वगुण के आनन्द से चित्तवृत्ति को जो सुख मिलता है, वही भक्तिरस है। मधुसूदन सरस्वती आत्मा के आनन्दकोश पर ब्रह्म के आभास का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ही रसबोध की स्थिति स्वीकार करते हैं। अतः उनके सिद्धान्त को प्रतिबिम्बवाद कहा जा सकता है।

आलोचना

रूपगोस्वामी की भक्तिरस सम्बन्धी मान्यता से भक्ति काव्य के रसबोध की स्थिति का पूर्णतः समाधान नहीं हो पाता। उनके अनुसार भक्तिरस के पाँच भेद हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। इसमें स्व एवं पर का भेद उस अवस्था में होता है। जब प्रमाता का चेतन मस्तिष्क पाठ्य चेतन व्यवहार से शून्य मात्र प्रत्यक्ष से प्राप्त संवेदनशीलता के सुख से ही चालित हो। इस कसौटी पर भक्ति रस के भेदों को कसने पर उनमें मानसिक विलयन होने की प्रवृत्ति का अभाव मिलता है। उदाहरण के लिए दास्यभक्ति रस को लिया जा सकता है। इसमें रसात्मकता तब आ पायेगी जब भक्त आलम्बन की अनन्य दया शक्तिमत्ता आदि की भावना में खो जाय अर्थात् उसका मानसिक द्वैत समाप्त हो जाय। दास्य के संदर्भ में यह द्वैत कभी समाप्त नहीं हो सकता द्वैत समाप्त होने पर याचकता एवं याचक भाव ही लुप्त हो जावेगा। इसीलिए दास्य के पदों में दो व्यक्तित्व की स्पष्टता झलकती रहती है। एक ओर आराध्य की शक्तिमत्ता आदि का कथन दूसरी ओर याचक की दीनता निश्चित रूप से दास्य भाव के स्थायी आदि भाव दया, शक्तिमत्ता, सैरन्ध्र तृप्ति में चित्तद्रवता की शक्ति नहीं है। ठीक यही स्थिति सख्य, दास्य, शान्त एवं वात्सल्य की भी है। यही कारण है कि मधुसूदन सरस्वती ने दया, करुणा, मैत्री, दास्य आदि को भक्ति का सामान्य तत्व स्वीकार किया है।

रूपगोस्वामी के अपने लौकिक काव्य की भाँति भक्तिसम्बन्धी काव्य तथा संस्कृतकाव्यशास्त्र की एक विस्तृत परम्परा थी। उनका सिद्धान्त मौलिक नहीं संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रससिद्धान्त का अनुकरण मात्र है। कहीं कहीं आचार्य भरत, आनन्दवर्धन एवं साहित्यदर्पणकार की परिभाषाओं में थोड़ा सा परिवर्तन करके भक्तिरस के सन्दर्भ श्लोकों को निरूपित कर नियोजित कर दिया गया है जिससे उनकी मौलिकता निश्चित हो जाती है। उन्होंने काव्यरस की भाँति भक्तिरस का भी भेद कर डाला। परवर्ती आचार्य भक्ति को सम्भोग: एक रस के रूप में स्वीकार करते हैं। रूपगोस्वामी का यह विभेद त्रुटिपूर्ण है।

यह सत्य है कि काव्य रस के बोध के लिए सहृदय की अपेक्षा की जाती है किन्तु वह सहृदय भाव भक्त के सहृदय भाव से मौलिक रूप भिन्न है आज का मनोविज्ञान प्रेषणीयता (Communicability) एवं वेदनीयता (Empathy) को मानव मन की अनुभूतिक आकांक्षा का एकमात्र प्रतिफलन सिद्ध करता है। चूँकि अनुभूतिकता मानव मस्तिष्क का अनिवार्य अंग है तथा काव्यरस इसी का परिणाम है, इसलिए काव्यबोध का भी मानव मस्तिष्क के स्वभाव से सम्बन्धित है। रस के विभेद मन की इसी अनुभूतिक प्रवृत्ति पर निर्भर है मन की यह अनुभूतिक स्थिति विभिन्न परिवेश में क्रमश: द्रवता द्युति, विस्तार, विक्षोभ, विक्षोभ आदि रूपों में रस की सृष्टि करती है। इस प्रकार रस मानसिक वृत्ति का सार्वभौम अंग है। इस संदर्भ में जब हम भक्तिरस को लेते हैं तो उसकी सीमितता उसे स्वत: रसत्व से च्युत कर देती है। भक्त का मस्तिष्क साम्प्रदायिक सिद्धान्तों पर आसक्त कृत्रिम मस्तिष्क है जो रसभोग से सुख प्राप्त करता है और आश्चर्य तो यह कि उसका माध्यम काव्य है, किन्तु उसे अपनी साम्प्रदायिक मस्तिष्क का फल मानता है। इसलिए भक्तिरस सार्वभौम नहीं हो सकता क्योंकि वह एक निश्चित सम्प्रदाय की आस्था पर टिका है और जब कि काव्यरस मानव मस्तिष्क का अंग है।

तृप्ति के क्षेत्र में भी यही बात आती है। काव्यरस अपने सम्पर्क में आने वाले को एक ही प्रकार से प्रभावित करता है क्योंकि वह प्राकृत मनुष्य से सम्बद्ध है दूसरी ओर भक्तिरस एक निश्चित वातावरण जन्य मस्तिष्क को ही

भावित कर सकता है।

रूपगोस्वामी के पूर्व नारदभक्ति सूत्र में भक्ति की एकादश आसक्तियों में रस सम्बन्धी इन पाँच आसक्तियों को अधिकाधिक महत्ता मिली थी। आगे चलकर आचार्य निम्बार्क ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल को प्रेमरति के नाम से पुकारा। यह रति वस्तुत: आसक्ति ही थी, किन्तु रूपगोस्वामी ने उसे रस की संज्ञा दे दी। यह रति वस्तुत: शृंगार के स्थायीभाव रति से पूर्णत: भिन्न है क्योंकि यह आसक्ति है और वह आन्तरिक वासना।

इसके पश्चात् आचार्य वल्लभ का रससिद्धान्त आता है। आचार्य वल्लभ ने रूपगोस्वामी की भाँति रस का भेद नहीं किया है। उन्होंने दास्य, सख्य आदि को भक्ति का अंग मानकर केवल मधुर भक्ति रस को स्वीकार किया है, किन्तु उसे शृंगार के रूप में सामान्य शृंगार से बचाव के लिए उन्होंने उसमें धर्मसहिता का विशेषण जोड़ दिया है। यह धर्मसहितता उनकी धार्मिकता को व्यक्त करती है, क्योंकि व्यवहार जगत में शृंगार और भक्ति परस्पर विरोधगामी प्रवृत्ति के द्योतक हैं किन्तु उन्होंने मात्र शृंगार को ही पवित्र बताया। वेणुगीत में आये विचित्रकोतं पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि शृंगार रस एवंरसा: अमार्गे हि रतिकामा रूकिल्पिते अतस्य विचित्रकोतम्[१] इस तरह उन्हें विशेष आपत्ति नहीं थी कि शृंगार भक्ति का माध्यम न बने वह बने, किन्तु परिष्कृत रूप में क्योंकि राधाकृष्ण की लीला कोरी वासना पंकिल सुख की ओर न ले जाकर आनन्द और मोक्ष की ओर ले जाती है। इस रूप में यह कल्पित रूप जिसे भक्त अपनी अनुकृति लीला के द्वारा प्रगट करता है आनन्द का उद्भावक है। अनुभूति के स्तर पर इसका स्वरूप क्या है। आचार्य वल्लभ द्वारा निर्दिष्ट भक्तिरस के बोध के समय प्राय: मस्तिष्क में अवेष्टता का बना रहना अनिवार्य है क्योंकि निश्चेष्ट अर्थात् स्व पर का विभेद कर देने पर शृंगार की धर्मसहिता विलुप्त हो जाती है और इस सचेष्टता का ज्ञान रस भावन व्यापार का घातक दोष है। इसीलिए वैष्णव भक्त कवि अपने पद के अन्त में एक वैशाखी लगाते चलते हैं उदाहरणार्थ राधाकृष्ण की रति द्वन्द का वर्णन है जिसे पढ़कर रसभोग की मानसिकवृत्ति उस संवेदनशीलता में तल्लीन होने जा ही रही थी वहीं भक्ति कवि रोक देता है और यह कहता है, यह जगतबंधु कृष्णराधा

.....

१: वेणुगीतम् श्लोक सं. १२ का भाष्य

को जोड़ता है। अतः इस स्थिति में हम [illegible] काव्य की स्थिति में करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य वल्लभ के इस सिद्धान्त में भी रस बोध को वह स्थिति नहीं मिलती जो सामान्यतः रसानुभूति में प्राप्त है।

इसके बाद मधुसूदन सरस्वती का मत आता है। यह वस्तुतः काव्य का मत नहीं है और न उन्होंने कोई आग्रह ही किया है कि भक्तिकाव्य के माध्यम से इसकी पुष्टि की जाए। उनका यह प्रतिबिम्बवाद मात्र अनुभूतिमूलक ही है। इसका काव्य में व्यवहार सम्भव नहीं है। वे वस्तुतः अद्वैतवादी दार्शनिक ही हैं। भक्ति के पुरस्कार के बाद अद्वैत वेदान्त में भी भक्ति को उत्कृष्ट स्थान मिला। यद्यपि आचार्य शंकर भक्ति को ज्ञान से गौण ही बताते हैं ब्रह्म के आनन्द अधिष्ठान को जिसे उपनिषदों में रस कहा गया है, उसे उन्होंने भक्ति रसात्मक का रूप माना जिसको अनुभूति विरक्त रज तम के त्याग से करता है या योगध्यान की अवस्था में। किन्तु काव्य की सार्थकता मात्र अनुभूति में नहीं है। काव्य का इससे भी महत्वपूर्ण पक्ष जिस रूप में वह दूसरों के आस्वाद का विषय बनता है। अभिव्यक्ति का क्या है अन्यथा वह अनुभूति तो गूंगे का गुड़ है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती का भक्तिरस भक्तिरस के काव्यबोध की सीमा में नहीं रखा जा सकता।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है

निष्कर्ष :

१: आचार्य रूप गोस्वामी भक्ति रसबोध को साधारणीकरण की अवस्था में स्वीकार करते हैं किन्तु यह लौकिकता से दूषित होने के कारण उस स्थिति तक नहीं पहुँच पाता।

२: आचार्य वल्लभ भी भक्तिरस के धर्मसंश्लिष्ट शृंगार रूप को साधारणीकृत मानते हैं। किन्तु उसमें भी धर्मसापेक्षता के कारण रसबोध की पूर्ण स्थिति नहीं पहुँच पाता।

३: मधुसूदन सरस्वती का मत काव्य पर आरोपित नहीं किया जा सकता। वह भक्ति की अनुभूति में तो ठीक उतर सकता है, भक्ति काव्य की अभिव्यक्ति में नहीं।

भक्तिकाव्य के रसबोध का वास्तविक आधार

काव्य प्रयोजनों के अन्तर्गत सामान्य स्वभाव की दृष्टि से वैष्णव भक्ति काव्यों की प्रकृति का निर्देश इन रूपों में किया जा चुका है

१ भक्ति सम्बन्धी प्रकृति

२ काव्यसम्बन्धी प्रकृति

३ भक्ति और काव्य की मिश्रित प्रकृति .

काव्य की इन श्रेणियों के लिए रसबोध के आधारों को स्पष्ट करना ही इस समस्या का समाधान है ।

रसबोध एवं साधारणीकरण की समस्या वस्तुत: सामाजिक की है यह सामाजिक या सहृदय का सबसे बड़ा गुण है जो काव्य के लिए उसके मानदंड का कार्य करता है । यह सत्य है कि रस का मूल बीज सामाजिक के हृदय में है । किन्तु कवि को इस रसबोध के लिए सामाजिक बनना अनिवार्य है।सम्भवत: इसी को दृष्टि में रखकर अभिनवगुप्त ने कहा है कि—

'तदेव मूलबीजस्थानीय[१] कविगतो रस: कविहृदि सामाजिक तुल्यो ,एवं

१ अर्थात् मूल बीज के रूप में रस कविगत है । किन्तु बोध की स्थिति में कवि सामाजिक के ही समान है।सम्भवत: तुलसीदास का यह संकेत कि -

तेइह सुकवि कवित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं ।.

इसी ओर निर्दिष्ट है । इस प्रकार सामाजिकों की स्थिति भेद से रसबोध की स्थिति में अन्तर पड़ सकता है।वैष्णव भक्ति काव्य को ध्यान में रखकर सामाजिकों या सहृदयों की स्थिति का निम्न क्रम निर्दिष्ट किया जा सकता है -

१ शुद्ध भक्त सहृदय

२ शुद्ध काव्य सहृदय

३ आस्तिक सहृदय भक्ति को नास्तिक बुद्धि से न देखते हुए श्रद्धालु सहृदय या काव्य अध्येता किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से यह भेद इस प्रकार रखा जा सकता है -

१ काव्य एवं भक्ति के सहृदय

२ काव्य के सहृदय .

.....

१: अभिनवभारती पृ ५१५

काव्य के लिए भक्ति उसका एक अंग है यद्यपि यह भक्ति एक निश्चित साम्प्रदायिक आग्रह का प्रतिफल है। किन्तु काव्यदृष्टि से उसके अध्येता मात्र मध्यकालीन वैष्णवभक्त ही न होकर भक्त अभक्त कोई भी हो सकता है। उसके लिए समय का व्यवधान नहीं है। इस प्रकार ये सहृदय दो प्रकार के होंगे प्रथम वे जो श्रद्धायुक्त आस्तिक बुद्धि से अनुप्रेरित हैं और दूसरे वे जो श्रद्धा शून्य हैं। अतः रसबोध की स्थिति को व्याख्या इन उभयनिष्ठा वृत्ति वाले पाठकों को ध्यान में रखकर करना आवश्यक है।

पूर्व निर्दिष्ट रस के सिद्धान्त के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है कि इन आचार्यों ने रसिकों या सहृदयों की स्थिति श्रद्धायुक्त मात्र ही बताई है। उन्होंने दूसरे पक्ष पर विचार नहीं किया है। उनके काव्य में रस बोध के सिद्धान्त मात्र प्रथम वर्ग के पाठक या सहृदय के लिए है। दूसरे वर्ग के सहृदय या भोक्ता के रसबोध के समय इन काव्यों में तीन वर्ग भेद स्वतः उठ खड़े होते हैं।

१ शुद्ध काव्य के स्थल

२ भक्ति के भावुकता पूर्ण स्थल जो वैयक्तिक संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति या कलात्मकता के कारण आनन्दप्रद है

३ मात्र साम्प्रदायिक, पौराणिक, धर्मपूरक आचारपरक काव्यस्थल

इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए मानस से उदाहरण लिया जा सकता है।

१: शुद्ध काव्य के स्थल वे हैं जहां कवि की एक कलात्मक वृत्ति आवेश के साथ प्रगट हुई है। इस कलात्मक आग्रह में नीति, धर्म एवं भक्ति का कोई भी तत्व नहीं उपलब्ध होता। इसके अन्तर्गत राम सीता का प्रथम दर्शन, वनवास मार्ग में ग्रामवधूटियों की वार्ता सीता विलाप, रामविरह आदि को रखा जा सकता है।

२ काव्य और भक्ति के संवेदनापूर्ण मिश्रित स्थल जो प्रायः श्रद्धालु पाठक के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी में आते हैं। इनमें राम की बाललीला अयोध्याकाण्ड के अधिकांशिक प्रसंग, अनुवर्तन आदि को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

३ ये स्थल मात्र भक्तों को ही विह्वल कर सकते हैं। भक्तों की आवेशपूर्ण स्तुतियां, आध्यात्मिक विचारों के कथन नैतिक आचरण आदि को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

शुद्ध काव्य का भोक्ता काव्यस्थलों का मूलतः संकेतार्थों रसास्वादन करेगा और भावुकता और भक्ति के स्थलों में उनको मनोवृत्ति प्रायः रसबोध की स्थिति में ही होगी किन्तु तीसरे प्रकार के स्थलों में उसकी मानसिक रसबोधशक्ति रम न सकेगी। किन्तु शेष दो स्थलों की स्थिति काव्य में साधारणीकरण जैसी ही होगी वह समानतः समस्त पाठकों के लिए काव्यवस्तु हो है किन्तु तीसरे प्रकार के स्थलों ही निरर्थक नहीं है। इनका भी साहित्यिक महत्व और मूल्यांकन अपेक्षित है क्योंकि इनमें से अधिकाधिक काव्यांश कवि की अभिव्यक्ति के ही अंग हैं। इनका प्रयोग मानव उपयोगिताओं के संदर्भ में अपेक्षित है। श्रद्धालु एवं भक्त पाठक भक्तिपूर्ण शुद्ध साम्प्रदायिक एवं काव्यपरक स्थलों का रसास्वादन ठीक काव्यमर्मज्ञ की ही भाँति करेगा। उसके लिए आचार्यों द्वारा कथित रसबोध का सिद्धान्त पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है, किन्तु शुद्ध काव्यमर्मज्ञ या नास्तिक पाठक के लिए रस की दृष्टि से वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत इस प्रकार का भेद आवश्यक है।

अध्याय ४

भक्तिकाव्य तथा उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र में उपयोगिता तत्व का अभिधान

भारतीय काव्यशास्त्र को विश्लेषणात्मक क्रम में रखने के लिए इसका मूल्यात्मक एवं अर्थबहुल शब्दावली का पूर्ण व्याख्या आवश्यक है। इस संदर्भ में समस्त भारतीय काव्यशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम का सम्बन्ध सौन्दर्य मूल्य या आनन्दात्मकता से है, जो प्रत्यक्षतः कलात्मक मूल्यों से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के सुन्दर पक्ष का समर्थन करता है। भारतीय काव्य शास्त्र एवं दर्शन में अन्तर्व्याप्त सुन्दर पक्ष का व्याख्या करने के लिए कई भारतीय विद्वानों ने प्रयत्न किया है। इस दिशा में ए० के० रामस्वामी, आनन्दकुमार स्वामी का नाम विशेष उल्लेखनीय है: मराठी विद्वानों में नरसिंह, चिन्तामणि केलकर, डॉ० वाटवे, डॉ० रा० भा० जोग, के० वेंकेकर, प्राध्यापक द. के० केलकर[1] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बंगला विद्वानों में सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रवास जीवन चौधरी, सुशील कुमार डे का नाम लिया जा सकता है। हिन्दी में इस विषय पर प्राप्त अत्यल्प[2] साहित्य में हरद्वारीलाल शर्मा कृत सौन्दर्यशास्त्र सम्प्रति उल्लेखनीय पुस्तक है। वैसे समालोचक पत्रिका का सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक[3] का उल्लेख किया जा सकता है। सौन्दर्य बोध के इस पक्ष को लेकर हिन्दी में अधिक कार्य हुआ है जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आनन्दप्रकाश दीक्षित, बैजनाथ गुप्त, राकेश, डा० नगेन्द्र आदि के कार्य महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र पर अंग्रेजी में डा० के० सा० पांडेय का कम्परेटिव एस्थेटिक्स नाम प्रबन्ध महत्वपूर्ण है। इसके सैद्धान्त इतिहास का परिचय अगले अध्याय में देने का प्रयत्न किया जायगा।

सौन्दर्य के अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का एक और मान मूल्य है जिसका सम्बन्ध साहित्य के शिव पक्ष से है। यदि आलोचना की शब्दावली में कहें तो इसका सम्बन्ध उपयोगितावाद से है। यद्यपि भारतीय

१: पृ० १०१. समालोचक: सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक - वर्ष १: अंक १: सम्पादक: डॉ० रामविलास शर्मा.

काव्यशास्त्रीय परम्परा में 'उपयोगितावाद' के नाम से कोई मूल्य स्वीकृत नहीं किया गया है किन्तु उसकी स्पष्ट परम्परा का उल्लेख मिल जाता है। इस परम्परा को स्पष्ट करने के लिए बहुत कम प्रयत्न किए गए हैं। किन्तु यह भी बात नहीं है कि हिन्दी के आचार्यों को यह बात खटकी न हो। बाजपेयी जी के अनुसार 'प्रयोजनवाद पर चर्चा करते हुए सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि प्रयोजन सम्बन्धी कोई विशेषवाद या सिद्धान्त अपने देश में नहीं रहा है। साहित्य के प्रयोजन एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं पर उन उल्लेखों से साहित्य में 'प्रयोजन नामक किसी वाद का मत विशेष का सृष्टि नहीं हुई है[१]। इस तथ्य के होते हुए भी उपयोगितावाद जिसका अर्थ बाजपेयी जी ने प्रयोजनवाद से लिया है उसके सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र में अनेकानेक धारणाएं प्राप्त हो जाती हैं। उपयोगितावाद सम्बन्धी ये कथन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के चार स्थलों पर उपलब्ध होते हैं मंगलाचरण एवं फलश्रुति, काव्यप्रयोजन सम्बन्धी कथन, महाकाव्य एवं नाटक के लक्षण निर्धारण एवं उद्देश्य कथन तथा स्तोत्र एवं उपदेश काव्य के लक्षण निर्धारण प्रसंग मंगलाचरण एवं फलश्रुति प्राय: सैद्धान्तिक एवं रचनात्मक दोनों साहित्यों में प्राप्त हैं। इन स्फुट संकेतों में इस तत्व को स्पष्ट करने के लिए प्रभूत सामग्री मिल जाती है।

भारतीय काव्य शास्त्र का आरम्भ आचार्य भरत से माना जाता है। उन्होंने नाटकके सामाजिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उसकी सामाजिक अनिवार्यता को लेकर १२ श्लोकों में उसका कथन किया है। नाट्य शास्त्र के अध्ययन करने से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि भरत के पूर्व इस 'देव जन क्रिया'[१] को लौकिक स्तर पर लाने का प्रयत्न किया गया था। यही कारण है कि भरत ने देव, असुर राज परिवार एवं ऋषि समस्त सामाजिक वर्गों के लिए नाट्य को समान रूप से उत्तम बताया है[२]। आचार्य भरत ने नाटक के मूल्य उद्देश्यों को इस प्रकार स्पष्ट किया है।

.....

१: पृ० २१५ .रसवाद और प्रयोजनवाद : ले. आचार्य नन्ददुलारे .वाजपेयी .
काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन . डॉ० शम्भूनाथ पान्डेय

१: छान्दोग्य उपनिषद् में 'काव्य नृत्य संगीत आदि को 'देवजन विद्या' के नाम से पुकारा गया है। दे० छा.उ.अध्याय : खंड :१: मंत्र : २: .

२: नाट्य शास्त्र : श्लोक संख्या :१:

'नाटक जीवन के विशाल क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण अनेकोन्मुखी है। उसमें कहीं धर्म का निरूपण, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध[3] है। इस प्रकार वह जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों का स्पर्श करता है। उसमें धर्मप्रवृत्त के लिए धर्म, कामोपसेवी के लिए काम, दुर्विनीत के लिए विग्रह, विनीत के लिए शालीनता, लुब्धों के लिए धृष्टता, शूर और मानियों के लिए उत्साह, अबुधों के लिए विबोध विद्वानों के लिए वैदुष्यता, ऐश्वर्यशालियों के लिए विलास, दु:खार्तों के लिए धैर्य, अर्थोपजीवियों के लिए अर्थ, एवं उद्विग्न चेतसों के लिए धृति[4] सभी कुछ प्राप्य है। इसप्रकार भरत ने नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं से युक्त, लोक चरित का अनुकरणी स्वरूप पंचम नाट्यवेद की रचना की। भरत ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से जीवनोपयोगी १२ मूल्यों का उल्लेख किया है। धर्म, अर्थ, काम, विग्रह, शालीनता, धृष्टता, उत्साह, विबोध, वैदुष्यता विलास, धैर्य, एवं धृति। इन मूल्यों में विग्रह एवं धृष्टता रचनात्मक न होकर विघातक मूल्य हैं। लेकिन इनके फलभोक्ता अभाव एवं दुर्विनीत हैं। अत: ये मूल्य भी सामाजिक मूल्यों में अन्तर्भुक्त किए जा सकते हैं। काम, विलास एवं अर्थ जीवन के भौतिक मूल्य हैं। इनका उद्देश्य शारीरिक संरक्षण एवं ऐन्द्रिक तृप्ति तथा सुख तक ही सीमित है। शालीनता, उत्साह, विबोध, वैदुष्यता, धैर्य एवं धृति नैतिक मूल्य हैं। ये आत्मिक प्रेरणा स्फूर्ति एवं ~~आत्मात्मक~~ आध्यात्मिक सजगता के प्रेरक हैं। धर्मोद्भूत: नैतिक मूल्य हैं। इस प्रकार भरत ने दो मूल्यों का निर्वचन इन श्लोकों में किया है। भौतिक[1] नैतिक मूल्य :- यदि धृति आदि को अधिक विस्तार दें तो ये मनोवैज्ञानिक मूल्य भी हो सकते हैं। भरत ने इसी क्रम में अन्य श्लोकों को भी रखा है। उनके अनुसार यह नाट्य वेद उत्तम, मध्यम एवं अधम सभी श्रेणियों के कर्म का आश्रयरूप हितोपदेश का नियन्ता, एवं सुख, क्रीड़ा तथा धृति का उद्भावक है। यह तपस्वियों के दु:ख, श्रम, शोक का विनाशक एवं लोक विश्रामक है। साथ ही देवता, असुर, राज परिवार एवं कुटुम्बियों को सहज ग्राह्य भी है। आचार्य भरत इस कथन के माध्यम से पुन: नैतिक मूल्य धृति हितोपदेश, दु:ख

३: नाट्यशास्त्र अध्याय :१ श्लोक सं. १०८.
४: नाट्य शास्त्र अध्याय श्लोक सं. १०६ से ११ तक
१: नाट्य शास्त्र : अध्याय १: श्लोक सं. ११४. ११५. ११७

शोक, श्रम का हरण' का समर्थन करते हैं'। वस्तुत: आचार्य भरत का यह उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य शिवतत्व से सम्बन्धित होने के कारण मंगलवाद के नाम से पुकारा जा सकता है। इस प्रकार आचार्य भरत के अनुसार नाटक भौतिक मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक मूल्य का समर्थन करता है। इन मूल्यों का अन्तरात्मा में भारतीय आदर्श परम्परा का मंगलवाद निहित है।

भारतीय काव्य एवं काव्यशास्त्र के विकास काल में इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण में अनेक परिवर्तन एवं संशोधन किए गये। भरत के उपरान्त दंडी इन मूल्यों का विस्तार से चर्चा करते हैं'। दन्डी के अनुसार यह परिष्कृत भाषा : काव्य [लोक व्यवहार] लोकयात्रा : में सहायक होता है। काव्य सम्पूर्ण लोकों के अज्ञान तिमिर का भेदक प्रकाश रूप है। इस प्रकार की मधुर गुणों से युक्त भाषा को विद्वानों ने कामधेनु कहा है। इसलिए आचार्यों ने जन साधारण की ज्ञान वृद्धि को ध्यान में रखकर काव्य रचना के विविध प्रकारों का विधान किया है[1]।

दन्डी ने पुन: महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण करते हुए उसमें चतुर्वर्ग फलप्राप्ति [अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष] एवं चतुरोदात्त नायक का उल्लेख किया है। साथ ही इस नायक के गुणों की और संकेतता दिखाकर उसके चारित्रिक उन्नयन की प्रशंसा की है[2]।

दन्डी के मत का यदि निष्कर्ष निकाला जाय तो कहा जा सकता है कि भाषा समाज की सम्पत्ति है। उसके द्वारा सामाजिक उद्देश्य की प्राप्ति अनिवार्य है। भाषा के प्रेषणीय गुण को आधार बनाकर काव्य के द्वारा समाज में उपयोगी तत्वों का प्रचार किया जा सकता और किया जाता है। अत: दंडी के अनुसार उपयोगितावाद भाषा का सामाजिक गुण है। उसके द्वारा समाज कल्याण की भावना अनिवार्य है। दंडी के समान अभिनवगुप्त ने भी सुन्दर विषयों के रसास्वादन में प्रवृत्त और इसी कारण से वेद शास्त्र पुराण आदि रूक्ष साधनों से डरने वाले सामाजिक के लिए उसके मन को मुग्ध करने वाली वस्तु के बीच में काव्य जैसा वस्तु को समाविष्ट कर दी जाने की बात कहा है। इस प्रयोग से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष,

.....

१: दंडी : काव्यादर्श : परिच्छेद १ श्लोक ३, ४, ५, ६, ७ तथा ९

२: दंडी काव्यादर्श : परिच्छेद .२ श्लोक .१५ तथा २१ :

प्राप्ति के उपायों का ज्ञान सहज रूप में सम्भव है[3]। इसीलिए मम्मट ने "कान्तासम्मित उपदेश को काव्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण बतलाया है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार भी सौन्दर्यबोध तत्व से कहीं अधिक महत्वपूर्ण तत्व उपयोगिता का है। दैवी के इस मत की शृंखला आरम्भ में हो आचार्य भरत के कथनों में मिलती है। भरत नाट्योत्पत्ति की कथा के संदर्भ में इस विषय का सविस्तार चर्चा की है। त्रेता युग के आरम्भ में मनुष्य, काम, क्रोध लोभ एवं मोह के वश में होकर ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त हो गये थे। ईर्ष्या, क्रोध आदि में समूढ होने के कारण लोगों का आनन्दमय जीवन दुःखार्त हो उठा था। इसके अनन्तर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष एवं जम्बूद्वीप में स्थित समस्त लोकपाल पीड़ित हो चुके थे। तब महेन्द्रादि प्रमुख देवों ने पितामह से प्रार्थना की कि लोक संकट के निवारणार्थ हम सब मिल कर दृश्य एवं श्रव्य काव्यरूप का अभिनय करने की अनुमति चाहते हैं[1]।

यही नहीं, भरत ने नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति का एक और भी कारण बताया है। शूद्रजातियाँ वेदशास्त्र का अनुसरण नहीं कर पाती थीं अतः उनके लिए इस पंचमवेद नाट्य की रचना की गई[2]। आचार्य भरत के इस श्लोक को विस्तार देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि कृतयुग में सत्वोत्कर्ष के कारण सभी अपने कर्मों का अनुसरण करते थे। किन्तु कृतयुग के बाद मर्यादाक्रान्त हुए सामाजिक नियमों का उल्लंघन करते हुए वर्णाश्रम की अनुवृत्ति का पालन नहीं करते थे। वेद तथा शास्त्र सभी उनके लिए अस्पृश्य थे। फलतः उनको नैतिक बोध से परिचित कराने के लिए समस्त शास्त्रों से सम्पन्न, समस्त शिल्पों के प्रवर्तक इस इतिहास रूप नाट्यवेद की रचना आचार्य भरत ने की[3]। इस प्रकार काव्य का उपयोगिता तत्व निश्चित परम्परा से चलता हुआ मम्मट तक कान्तासम्मित उपदेश के रूप मान्य रहा। आचार्य भरत के मधुर भाषा में कथित नैतिक शिक्षण का सिद्धान्त इतना प्रचलित एवं ग्राह्य हो चुका था कि

३: अभिनवभारती पृष्ठ ४३
१: नाट्यशास्त्र : अध्याय १: श्लोक सं. ४, ८, ६, १०, ११.
२: नाट्य शास्त्र अध्याय श्लोक १२.
३: अभिनव भारती : अध्याय १: १ श्लोक १२ की विवृति :

प्राय: नाट्य एवं काव्य दोनो परम्पराओ मे इसका स्वीकरण होता चला आया। उन्होने स्पष्ट कहा है कि वेद शूद्रो के लिए व्यवहार्य नहीं है। उनके नैतिक शिक्षण को व्यवहार्य बनाने के लिए पंचम वेद नाट्य का रचना की गई। यह नैतिक शिक्षण का सिद्धान्त परम्परा मे इतना अधिक ग्राह्य हुआ कि परवर्ती समस्त नाट्य एवं महाकाव्य लक्षणकारो ने नाटक एवं काव्य के लिए उदात्त चरित्र (पात्रो के) उच्चगुण, एवं समाज मे उनके अनुकरण को अनिवार्यता बताई। आनन्द वर्धन ने ठीक इसी लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि रामायण, महाभारत आदि मे लक्ष्यभूत उपलब्ध व्यवहार प्रसिद्ध लक्षणो के साथ ही साथ काव्य सहृदयो के आनन्द का उद्भावक भी है[1]। इनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे काव्य के द्वारा लोक व्यवहार को मर्यादित करने के पक्षपाती है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा मे कवियो का वर्गीकरण करते समय उन्हे तीन कोटि मे रखा है सारस्वत, आभ्यासिक, एवं औपदेशिक। इसी के साथ उन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्य श्यामदेव के कथन को दुहराते हुए कहा है कि, औपदेशिक कवि वस्तु, फल्गु न कहकर समाज को सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करते है[2]। साथ ही कवियो का विशिष्टताओ का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है कि "उन कवियो को मै नमस्कार करता हूँ जो पद पद पर श्रुतियो का दोहन करते है"। वे कवि ऋषि एवं शास्त्रकार एक ही साथ तीनो है। एक स्थल पर उन्होने काव्य की योनित्रय का उल्लेख किया है। ये योनियाँ, श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोकज्ञान, विरचना, प्रकीर्णक, काव्य और अर्थ है[3]। काव्य के अतिरिक्त शेष ११ काव्य के बाह्य उपकरण [आब्जेक्टिव एलामेन्ट] है। ये बाह्य उपकरण काव्य को व्यावहारिक बनाने के उत्तम साधन है। काव्य के उपयोगिता पक्ष के लिए ऊपर उल्लिखित उपकरणो को माध्यम बना लेने से काव्य मात्र कला से पृथक उपयोगी तत्व का समर्थन करने लगता है। राजशेखर ने जीवन्त काव्य के लिए इन एकादश उपकरणो को अनिवार्य बताया है। कवियो के एक अन्य वर्गीकरण के अन्तर्गत राजशेखर ने

१: ध्वन्यालोक पृ० १८।

२: राजशेखर काव्यमीमांसा पृ०१३।

३: राजशेखर काव्य मीमांसा पृ० ३५

उन्हें चार प्रकार का बताया है। अनुद्विग्न, निष्कृष्ट, दत्तावसर, एवं कृत्स्न प्रायोजनिक काव्य का उदाहरण बताते हुए उन्होंने कहा है कि वह किसी प्रयोजन [उपयोगिता] को ध्यान में रखकर काव्यरचना का आरंभ होता है।[1] इस प्रकार राजशेखर के समय तक ऐसे कवि एवं काव्य अवश्य थे जिनका मूल उद्देश्य रचना के उपयोगिता या प्रयोजन से सम्बन्धित था।

काव्यशास्त्र के विकास काल में अनेक आचार्य अपना कृतियों में काव्योद्देश्य के अन्तर्गत इस उपयोगितावादी तत्व का कथन करते हैं। ये उद्देश्य उपयोगिता की दृष्टि से निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं। इस परम्परा में कुन्तक, रुद्रट, भामह, वामन, मम्मट, भोज, पंडितराज जगन्नाथ, कविराज विश्वनाथ रूपगोस्वामी, हेमचन्द्र आदि आचार्यों के मत विशेष उल्लेखनीय हैं। इन प्रयोजनों का सामान्य उल्लेख काव्यादर्श अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है किन्तु यहाँ इनका विशेष विस्तार अपेक्षित है।

कुन्तक के अनुसार काव्य परिश्रमहीन, मन्दबुद्धि के राजकुमारों का आह्लादक है। इसका व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि उच्चकुल में उत्पन्न होने वाले राजकुमार धर्मादि एवं विजय की इच्छा रखने वाले परिश्रम से डरते हैं। इस प्रकार उनके अभीष्ट को दिलानेवाला काव्य ही है।[2] कुन्तक ने काव्य प्रयोजनों में इस उपयोगिता तत्व का कथन धर्मादि चतुर्वर्ग का साधन मुख्यता के रूप में किया है। कुन्तक के अनुसार यह धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का उपाय भी है। प्राप्तव्य [उद्देश्यभूत] धर्मादि रूप चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् कार्य सम्पादन में इसका उपदेश रूप [बतलाने वाला] होने के कारण उसका प्राप्ति का निमित्त कारण भी होता है।[2] इन दोनों उद्देश्यों की पुनरावृत्ति कुन्तक ने अनेक रूपों में की है। उनके परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक के इस कथन को ज्यों का त्यों दुहराया है। इन दो प्रयोजनों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य द्वारा लोकयात्रा के संचालन के लिए भृत्य, मित्र, स्वामी के आकर्षण आदि कार्य के सम्पादित हो जाने की चर्चा की है। इसी से सम्बन्धित एक कारिका का उन्होंने प्रयोग भी किया है। वह कारिका इस प्रकार है :—

.....

१: राजशेखर : काव्यमीमांसा पृ०४३

२: हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् : श्लोक सं. २ .३ तथा वृत्ति .वृत्ति के लिए देखिए पृ.

२: वक्रोक्ति जीवितम् भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा पृ०२२६ .

८

"व्यवहार प्रवृत्त लौकिक पुरुषों को अहर्दिन के नूतन औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा आदि का बोध सत्काव्य के परिज्ञान से ही सम्भव हो सकता है[1]। इसी के पुनि वृद्धि भाग में पाठक के निमित्त सामाजिक प्रतिष्ठा का ओर संकेत करके काव्य के द्वारा होने वाले व्यापक लोक संचालन के उद्देश्य का समर्थन भी किया गया है। कुन्तक के अनुसार इससे महत्वपूर्ण तत्व काव्यामृत रस है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कुन्तक के अनुसार उपयोगितावादी दृष्टिकोण से तीन तत्व स्पष्ट हैं।

१: अत्यल्प मन्दबुद्धि आलसी राजकुमारों को शिक्षा।

२: धर्मादि चतुर्वर्गों की प्राप्ति

३: लोकमार्ग का संचालन

यद्यपि इन तीनों उद्देश्यों से महत्वपूर्ण एक और भी उद्देश्य है; जिसे उन्होंने रसास्वाद कहा है किन्तु यह काव्य का प्रकृतिगत स्वभाव है। कुन्तक के पश्चात् रुद्रट एवं भामह इससे वैमत्य नहीं रखते। भामह के अनुसार काव्यमात्र कीर्ति एवं प्रीति का उद्भावक है; कीर्ति वैयक्तिक हेतु से संदर्भित है तथा जिसकी प्रतिष्ठा काव्य प्रयोजनों के अन्तर्गत यश[2] के रूप में हुई है। पी० वी० काणे रुद्रट के इस कथन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि काव्य का यद्यपि प्रत्यक्षतः सम्बन्ध धर्म, शिक्षा, दर्शन या नैतिक शिक्षण से नहीं है किन्तु इसे भी काव्य अप्रत्यक्ष रूप से सम्पादित करता है। इसीलिए सम्भवतया काव्य प्रकाशकार ने कहा है कि कान्ता की भाँति मृदु वचनों को सम्मुख करके राम की तरह आचरण करना चाहिए न कि रावण की तरह। काव्य इसकी शिक्षा देता है[3]। बाद में इन काव्य प्रयोजनों एवं उद्देश्यों को स्थिर कर दिया गया। इन काव्य प्रयोजनों का सम्यक् निश्चित रूप से कथन मम्मट के काव्य प्रकाश में मिलता है। काव्य प्रकाशकार के अनुसार यश, अर्थ व्यवहार ज्ञान, शिवेतरक्षति, सद्यः परिनिवृत्ति एवं कान्तासम्मित उपदेश काव्य प्रयोजन के महत्वपूर्ण रूप हैं। इसमें सद्यः परिनिवृत्ति को छोड़कर शेष पाँच उपयोगितावाद से सम्बन्धित हैं। व्यवहार ज्ञान, मंगलेच्छा कान्तासम्मित उपदेश सामाजिक उपयोगिता के अंग हैं तथा यश एवं अर्थ वैयक्तिक उपयोगिता के। काव्यप्रकाशकार के पश्चात् इस प्रयोजन निरूपण क्रम में प्रायः

१: वक्रोक्ति जीवितम् भामह का अध्ययन, पृ० २३०

२: भामह काव्यालंकार ५ वाँ पृ०

३: हिन्दी काव्यालंकार ५ वाँ पृ० १०७

२. काव्यालंकार १:१२.

धार्मिक साहित्य और उपयोगितावाद

उपयोगितावाद का यह संदर्भ संस्कृत काव्य में एक अन्य कारण से भी अवतरित हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि वैयक्तिक रक्षा, अर्थप्राप्ति एवं लोक मंगल की भावना इन कवियों को एक निश्चित प्रयोजन क्षेत्र में रहने एवं तत्सम्बन्धी साहित्य निर्माण करने की प्रेरणा देती रही है; वैयक्तिक रक्षा के अन्तर्गत दैहिक, दैविक एवं भौतिक संताप, परिवार संरक्षा आदि के उद्देश्य आते हैं। भारतीय परम्परा में इसके लिए दो आश्रय बताए गए हैं - राजाश्रय एवं ईश्वराश्रय। भौतिक साधनों का प्राप्ति जिससे इन्हें आर्थिक क्लेश से मुक्ति मिलती, राजाश्रय में सम्भव था। किन्तु भारतीय परम्परा में विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति एवं विभिन्न देवताओं से धनार्जन के अर्चना की दृष्टि से भी प्रभूत काव्य उपलब्ध होते हैं। भौतिक एषणाओं के लिए राजाश्रय अत्यन्त अनिवार्य समझा गया था। इसीलिए राजाश्रय में पले कालिदास, माघ, श्रीहर्ष बाण आदि कवियों ने भौतिक उपयोगिता को अपने काव्य का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न आधार बनाया था। किन्तु जहाँ तक आधिदैविक एवं आधिदैहिक पीड़ा का प्रश्न था। उसके क्रम में दो प्रकार के साहित्य रूप निर्मित हुए : स्तोत्र एवं उपदेशात्मक काव्य। उपदेशक कवियों का यह वातावरण प्रायः विरागियों भक्तों, एवं निस्पृहों जैसा था। उनका काव्य मात्र उनकी दैविक एवं सामाजिक सुरक्षा के प्रयत्नों से प्रेरित था।

दूसरी बात यह कि इनके काव्य में काव्य के उच्च मूल्य भले ही अप्राप्य हों किन्तु जहाँ तक वैयक्तिक, सामाजिक सुरक्षा एवं नैतिक बोध का प्रश्न है। यह साहित्य अत्यधिक महत्वपूर्ण समझा जा सकता है।

उपदेशात्मक, नीति एवं भक्ति परक साहित्य की मूल धारणा वैदिक है। लौकिक साहित्य से इसका सम्बन्ध जोड़ना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि इस प्रकार के साहित्य रूप तथा तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों का क्रम वेद एवं उसकी परम्परा से जुड़ा हुआ है। वैदिक साहित्य के अनेक स्थलों पर सामाजिक एवं वैदिक उपयोगिता के तत्व प्रयोजन के रूप में कथित मिलते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि जो विधि पूर्वक सामगान का पाठ करता है उसे ब्रह्मपद, ऋगाथा के पाठ से मोक्ष तथा वीणावादक, श्रुतिजाति में विशारद एवं तालज्ञ

~~मोक्ष प्राप्त करता है। श्लोक : ११२ से ११६ तक :.....~~

ऋग्वेद में लगभग १०० स्थलों पर स्तोत्र, कवि, स्तोता, गायक, छन्द एवं स्तुति का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदकार एक स्थल पर कहता है हे शतक्रतो इन्द्र! गायक तुम्हारा यश गाते हैं, तथा स्तोता अपनी स्तुतियों द्वारा तुम्हें उन्नत करते हैं मेरे स्तोत्र को अपने मित्र से भी अधिक निकट समझो[1]। एक दूसरे स्थल पर आया है कि मित्र के समान वेदरक्षक अग्नि को साक्ष्य बनाकर स्तुति वचनों का उच्चारण करो। मेध के समान स्तोत्र को बढ़ाओ जिससे मरुतदेव हमारी रक्षा करें[2]। एक तीसरे स्थल पर आया है कि हे विष्णु तुम्हारे स्तोत्र को मेधावी जन पुष्ट करते हैं जो मेधावी स्तुति के साथ विष्णु के लिए हवि देता है और उनके यज्ञों का कीर्तन करता है वह सभी को जीत लेता है[3]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में कवि का रूप स्तोता एवं गायक का था वह अत्यन्त मेधावी एवं पुष्ट हुआ करता था। उसकी रचना का प्रयोजन अपनी और समाज की रक्षा, विजय, सम्पन्नता, ऐश्वर्य एवं पुष्टि से सम्बन्ध रखता था। आगे चलकर इस स्तोत्र का अन्तिम स्वरूप अथर्ववेद [जादू टोने का वेद इन्द्रजाल] में परिवर्तित हो गया जिसका संकलन अथर्ववेद के रूप में प्राप्त होता है। ये वैदिक स्तुतियाँ मात्र वैयक्तिक रक्षा तथा ऐन्द्रजालिक मंत्रों तक ही सीमित रह गईं। परिणाम यह हुआ कि काव्य का विस्तृत क्षेत्र स्तोत्र एवं मंत्रों की संकीर्ण परिधि में बद्ध हो गया तथा छान्दोग्यउपनिषद् में ही ललित कलाओं का वैभवशाली विद्या का संकेत मिलता है[3]।

ईशावास्योपनिषद् में प्रयुक्त कवि शब्द का उल्लेख ब्रह्म शब्द के समानान्तर हुआ है[4]। कठोपनिषद् में भी एक स्थल पर कवि शब्द का उल्लेख मिलता है। उसके

.....

१: ऋग्वेद : अध्याय १: अष्टक १ सूक्त १०

२: " " ३८

३: छांदोग्योपनिषद् : अध्याय ७ : खंड १ : मंत्र २ .

४: ईशोपनिषद् मंत्र ८ :

अनुसार `अध्यात्म मार्ग को कवि क्षुरधार सदृश तेज एवं असाध्य बतलाते हैं'[1]। वस्तुत: वैदिक कवि प्रीत: उपयोगितावादी अध्यात्म जगत के प्रेरक एवं सन्मार्ग के प्रदर्शक रहे हैं'। किन्तु आचार्य भरत कृत कवि सम्बन्धी उल्लेख वर्तमान कवि सम्बन्धी धारणाकेपोषक हैं'। इन दो मतो'के बाच का कड़ी लुप्त नहीं है। कवि प्रशस्ति के अन्तर्गत संस्कृत वाङ्मय मे'कवि के लिए प्रयुक्त वैदिक विशेषणो' का पुनर्श्चय मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा के आदिम स्रोतो'मे'कवि को प्रीत: उपयोगिता को दृष्टि से देखा जाता रहा है।

इस वैदिक उपयोगिता को क्रम मे'रस का एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ'। यह स्तोत्र(श्लोक) एवं उपदेश(गद्य) साहित्य है: स्तोत्र सम्बन्धी साहित्य की परम्परा निश्चित ही प्राचीन है। वैदिक स्तोत्र सम्बन्धी उल्लेखो के अनन्तर भारतीय धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत अनेक धार्मिक एवं धर्मेतर सम्प्रदायो'मे'इसका एक विशाल साहित्य उपलब्ध होता है: वेदान्त, शैव, वैष्णव, जैन आदि सम्प्रदाय स्तोत्र साहित्य की विशिष्ट परम्परा मे'अपना प्रमुख साहित्य प्रस्तुत करते हैं'। शैव स्तोत्रो'मे" शिव महिम्न स्तोत्र का प्रमुख स्थान है जिसमे'शंकर की कृपा, महिमा, उनके प्रभाव से लोकोद्धार, एवं उनकी कथा को अत्यन्त सरस बनाकर शिखरिणी छन्दो'मे'कहा गया है। विद्वानो' का अनुमान है कि यह सम्भवतया सर्वतोधिक प्राचीन स्तोत्र सम्बन्धी रचना है। वेदान्तिक स्तोत्रो'मे'आचार्य शंकर कृत `आनन्द लहरी एवं सौन्दर्य लहरी `का उल्लेख मिलता है। आचार्य शंकर की पूर्ण सरसता का अभिव्यक्ति इन स्तोत्रो' मे'हुई है। इसका उद्देश्य `मोह पाश मे'बद्ध मानव मुक्ति ` से सम्बन्धित है। सौन्दर्य लहरी संसार के मिथ्यात्व, अध्यात्म शान्त, आदि को प्रस्तुति अत्यन्त कोमल शब्दावली मे'करती है। काव्य परम्परा मे'मूरमट्ट कृत `सूर्यशतक ` इसी परम्परा से सम्बद्ध है। इसी परम्परा मे'सदाशिव आचार्य कृत `चंडी कुच पंचाशिका `का भी उल्लेख मिलता है। वैष्णव भक्ति की परम्परा मे'जिससे प्रस्तुत प्रसंग का सीधा सम्बन्ध है;इन स्तोत्रो'का विशिष्ट स्थान है : इस परम्परा मे' निम्न स्तोत्र अधिक प्रसिद्ध हैं' कुलशेखर त्रिवांकुर कृत

.....

१: कठोपनिषद् वल्ली ३ मंत्र १४ .

मुकुन्द माला , रामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य कृत आलवार स्तोत्र , लीला शुक का कृष्ण कर्णामृत , रूपगोस्वामी कृत स्तवमाला , माध्वमट्ट कृत दानलीला , मधुसूदन सरस्वती कृत आनन्द मन्दाकिनी [अद्वैत वे०] अप्पयदीक्षित कृत 'वरदराजस्तव' , पंडित राज जगन्नाथ कृत अनेक लहरियाँ , वेंकटनाथ कृत शृंगार रस मंडन आदि अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । अष्टछाप के प्रमुख आचार्य वल्लभ के स्तोत्र ग्रन्थों का संख्या १० है। जो उनके षोडश ग्रन्थों में संकलित हैं ये इस प्रकार हैं श्री यमुनाष्टकम् , बालबोध , सिद्धान्तमुक्तावली , नवरत्नम् , श्री कृष्णाश्रय , चतुःश्लोकी , भक्तिवर्धिनी , जलभेद , पंच पद्यानि , सेवाफलम् हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्यों में निहित उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त के इतिहास के अन्तर्गत इस परम्परा का विशिष्ट स्थान है। इन स्तोत्र ग्रन्थों का भाँति जैन एवं बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत सैकड़ों स्तोत्र ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है । हिन्दी का वैष्णव भक्ति साहित्य अधिकाधिक इन स्तोत्र ग्रन्थों के प्रभाव में रहा है ।

स्तोत्र साहित्य की ही भाँति उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त के संदर्भ में उपदेशात्मक काव्यों का इस परम्परा में विशिष्ट स्थान है । उपदेशात्मक काव्यों का मूल उद्देश्य नैतिक एवं आध्यात्मिक अन्तर्बोध को जागृत करना रहा है । हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने अपने काव्यों के माध्यम से ठीक यही किया भी है । उपदेश काव्य मूलतः मुक्तककाव्य की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्यों की भी ठीक यही स्थिति है। इन उपदेश काव्यों के अन्तर्गत सैकड़ों सेवकोपदेश , दशोपदेश , नर्ममाला , समय मातृका , भर्तृहरिशतक , चतुर्वर्ग संग्रह , आदि की गणना की जा सकती है । उपदेश काव्य अपनी प्रकृति के अनुसार आध्यात्मिक काव्यों के लिए अधिक उपयुक्त है। धार्मिक चेतना के प्रचार के साथ साथ इनका अधिकाधिक प्रचार हुआ । जैन , बौद्ध नाथ , सिद्ध , सन्त आदि सम्प्रदायों में उपदेश काव्यों का विशाल साहित्य उपलब्ध है । जिनमें काव्य रुचि गौण माध्यम रूप में वर्तमान है। इनका मूल लक्ष्य उपयोगिता एवं हित से ही संलग्न है। संस्कृत साहित्य में उपदेशात्मक साहित्य के अन्तर्गत नीति कथाएँ भी आती हैं। इसमें हितोपदेश एवं पंचतंत्र का उल्लेख अधिक किया जाता है । किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इनका सम्बन्ध औपचारिक मात्र है।

....

पुराण एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण

हिन्दी के वैष्णव भक्तिकाल में निहित उपयोगिता का सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए एक और भी कड़ी है जो सम्भवतया प्रभाव की दृष्टि से इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह है पुराणों का। मध्यकालीन काव्य में धार्मिक उपयोगिता का स्थापन अधिक मुखर रहा है। पुराण का सम्बन्ध प्रबन्धकाव्य से है। राजशेखर ने प्रबन्धकाव्य के तीन भेद किये हैं पुराण, महाकाव्य, आख्यान। वस्तुत : यदि पुराण को विस्तृत महाकाव्य कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के आरम्भिक वैष्णव भक्त कवि तुलसी के मानस एवं सूर के सागर पर यह प्रभाव इतना गहरा पड़ा है कि उन्हें काव्य कहने में कभी कभी झिझक होती है। पुराणों के प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए उनके विषयवस्तु का विवेचन आवश्यक है। राजशेखर के अनुसार सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर के बाद वंशविस्तार का क्रम तथा लोकनिबद्ध व्यवहार का उल्लेख करना[२] इसके लिए आवश्यक है। विष्णु एवं देवी भागवत पुराण में दी गई पुराण की परिभाषाओं में इसके पाँच तत्व अनिवार्य बताए गए - सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंशानुचरित, विप्र सन्त लक्षण। किन्तु पुराणों के ये विषय उसके वाह्य कथात्मक स्वरूप का संकेत करते हैं। समस्त पुराणों में प्राप्त माहात्म्य कथन, परस्पर ज्ञान, भक्ति, नीति, वैराग्य आदि की आध्यात्मिक चर्चाएँ तथा उपसंहार उपयोगिता की दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण हैं। यहाँ अपने मूल उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए अलौकिक चरित तथा अवतारों का माध्यम लिया गया है। यही अवतार हिन्दी के वैष्णव भक्तिकाव्य के मूल में रहा है। इन अवतारों के माध्यम से पुराणकार ज्ञान, अध्यात्मक, नीति, सामान्य जन में सद् असद् का विवेक कराना

१: काव्यमीमांसा पृ० ३५.

२: विष्णु तथा देवी भागवत पुराण.

चाहते थे । वस्तुत: ये सामाजिक , धार्मिक एवं नैतिक अध्यात्मपरक विश्वास के प्रचलन पर अधिकाधिक बल देना चाहते थे । उनकी यह दृष्टि प्राय: सभी पुराणों में उपलब्ध हो जाती है । वृहद्धर्मपुराण एक मात्र धर्म की स्थापना की ओर सजग दिखाई देता है । व्यास के कथन में धर्म को ही एक मात्र उपास्य, सनातन , परोबन्धु , माता , पिता , पितामह , गुरु सत्य कि आदि जो कुछ श्रेष्ठ हो सकते हैं का संज्ञा मिला है । उसके अनुसार धर्म ही जीवन है धर्म ही मृत्यु है । वह धर्म की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित करता है।

धर्मार्थं क्रियते भार्या , धर्मार्थं क्रियते सुत: ।
धर्मार्थं क्रियते गेहं , धर्मार्थं क्रियते धनम् ।।
× × ×
धर्मार्थं पुराणानि धार्मिक: पूज्यते सदा ।।[1]

वृहद्धर्मपुराण की ही भाँति 'अध्यात्म रामायण' से भी धर्म प्रचारण के उद्देश्य की झलकी मिल जाती है :

नारद के प्रश्न करने पर ब्रह्मा ने कलियुग के शमन का उपाय अध्यात्म रामायण का श्रवण एवं कथन बताया था । नारद ने कलियुग में व्याप्त समस्त सामाजिक विशृंखलताओं के निरूपण के पश्चात् ब्रह्मा से मुक्ति का उपाय पूछा था । इसी मुक्ति को हेतु बनाकर ब्रह्मा ने नारद से अध्यात्म रामायण की राम कथा बताई थी । अध्यात्म रामायण के अध्ययन से निम्न प्रकार के सामाजिक वैयक्तिक कल्याण सम्भव है । मुक्ति की प्राप्ति , कलियुग के उत्साह का शमन , समस्त शास्त्रों के वाद विवाद की समाप्ति , पापमुक्ति , जीव मुक्ति , अश्वमेध यज्ञ फल की प्राप्ति , पातक से मुक्ति , एकादशी उपवास , गायत्री के पुरश्चरण एवं समस्त तीर्थफल प्राप्ति , ब्रह्महत्या से मुक्ति , चित्तशुद्धि , दान , ध्यान , तथा तीर्थाटन के फल की प्राप्ति ।[2]

अध्यात्म रामायण का प्रभाव परवर्ती राम भक्ति साहित्य पर अधिकाधिक पड़ा है। अध्यात्म रामायण की फलश्रुति में इन्हीं फलों की पुनरावृत्ति मात्र मिलती है ।

.....

१: वृहद्धर्म पुराण: प्रथमोध्याय : श्लोक सं. ३२ ... ४२ तक .
२: अध्यात्म रामायण : माहात्म्य : श्लोक सं. १ से ७० तक .

भागवत पुराण की भी यही स्थिति है। भागवत पुराण में शौनक ने भाग माहात्म्य में इसके समस्त फलों का निर्देश कर दिया है। ये फल इस प्रकार हैं।

शौनक ने सूतादि ऋषियों से बताया है कि इस कथा का स्वभाव मोक्षप्रद है। यह अज्ञानध्वान्त को नष्ट करने में कोटि सूर्य की भाँति प्रभावशाली वीरसाधन है।

यह भक्ति ज्ञान एवं विराग से युक्त तथा धर्मविरुद्ध तथा माया मोह को नष्ट करने का एक मात्र साधन भी है। घोर कलि को प्राप्त करके जीवों में आसुरिक वृत्तियों का आधिक्य हो उठा है। फलतः कलेशमुक्ति जीवन मात्र इसी पुराण के श्रवण से दूर हो सकता है। यही कथा समस्त श्रेयस तत्वों में एक मात्र श्रेय एवं पवित्र कथाओं में पवित्रतम है। यह कृष्ण प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। यही लोकों के लिए चिन्तामणि एवं इन्द्र की समस्त स्वर्गिक सम्पदाओं से श्रेष्ठ तथा योगिदुर्लभ है[1]। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत नारद के कष्ट की सामाजिक स्थिति एवं अनैतिकता के प्रसरण का (अध्यात्मक रामायण की ही भाँति विवरण मिलता है। संसार से सत्य, तप शौच, दया, दान का लोप हो गया है। समस्त जीव उदरम्भरि, वराक, अल्पभाग्य, मन्दभाग्य, पाखंडी हो गए हैं। तरुणियों का विक्रय हो रहा है। वर्णाश्रम, ताथ, सारेताएं, देवालय आदि अवरुद्ध हो गए हैं। संसार में न योगी रह गए हैं न सिद्ध, न ज्ञानी, न सत्कर्मी। कलि के दावानल में समस्त धार्मिक साधन भस्मसात् हो उठे हैं। इस प्रकार संसार की गर्हित दशा देखते हुए नारद ने वृन्दावन में यमुना के किनारे कृष्ण की लीला भूमि में भक्ति तरुणी को देखा[2]। कलियुग के इन भौतिक धारणाओं से मुक्ति दिलाने के लिए पुराणों ने सराहनीय प्रयत्न किया है। सम्भवतः पुराणों के इन्हीं गुणों को केन्द्र में रखकर आचार्य वल्लभ एवं अन्य आचार्यों ने मध्यकाल के आरम्भ में पुराणों विशेष कर श्रीमद्भागवत ~~पुराण~~ को उपनिषद् का समकक्षता प्रदान की।

.....

१: श्रीमद्भागवत महात्म्य प्रथमोध्याय : श्लोक सं. ३ . ७ तक .

२: श्री मद्भागवत माहात्म्य प्रथमोध्याय : १ श्लोक सं० २६ से ३८ तक :

इन कथनों के उपरान्त भागवत: द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत भक्ति को का प्रतिपादन जिन शब्दों में किया गया है सम्भवतया वह भक्ति का आतंकपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक है।

न प्रेतो, न पिशाचो, वा, राक्षसो वाऽसुरोपि वा।
भक्ति युक्त मनस्कानां, स्पर्शने न प्रभवेत ॥
न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्रगोपिता ॥
तृणां जन्म सहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्ति : कलौ भक्ति : भक्त्या कृष्णपुर: स्थित: ॥[1]

नारद ने एक स्थल पर भागवत को कथा को "शुक शास्त्र कथोज्वल:[2]" का संज्ञा दी है। एक दूसरे स्थल पर इन ने भागवत कथा के रसिक श्रोता को "रस लम्पट[3]" के नाम से पुकारा है। यह शब्दावली इसका सामाजिक महत्ता एवं मान्यता का द्योतक है। इसके सप्ताह श्रवण से प्राणियों के पाप, दुराचारियों के विमार्ग, क्रोधाग्निदग्ध तथा कुटिल, कामी, सत्यहीन, पितृमातृ द्वेषक, तृष्णाकुल, अधर्मी, आश्रम धर्मवर्जित, दम्भी, मत्सर, हिंसक[4] सभी पाप एवं क्रूरता, पिशाचिता, निर्दयता, व्यभिचारिता, मन वाणी कर्म के पाप, शठता, शठवादिता, आदि पाप इससे आध्यात्मिक पारायण श्रवण मात्र से कथन से समाप्त हो जाते हैं।

.....

१: श्रीमद्भागवत पुराण : प्रथमस्कन्ध: द्वितीयोऽध्याय: श्लोक सं. १७ से १९ तक
२: श्री मद्भागवत पुराण: प्रथम स्कन्ध : तृतीयोऽध्याय१श्लोक १.
३: श्रीमद्भागवत पुराण : प्रथम स्कन्ध : तृतीयोऽध्याय१श्लोक सं. १३
४: श्रीमद्भागवत पुराण : प्रथम स्कन्ध : चतुर्थोऽध्याय श्लोक सं. ११ से १४ तक.

विष्णुपुराण में स्पष्टत: भक्ति की मान्यता एवं उत्कृष्टता का उल्लेख न हो मिलकर वैष्णव धर्म की महत्ता का उल्लेख प्राप्त है : इसके आरम्भ में पाराशर कहते हैं कि

सात्विकानि पुराणानि श्रेयांसि निखिलान्यपि।
तत्र भागवतं श्रेष्ठं ततो वैष्णवमुत्तमम्[1]

इस पुराण के श्रवण से समस्त फलों की प्राप्ति होती है।फलत: मानव योनि में इसका पढना अनिवार्य कहा गया है[2]। इसके श्रवण से स्त्री , वैश्य, शूद्र सभी परमगति को प्राप्त होते हैं। सेतुबन्ध रामेश्वरम् ,गया,काशी ,पुष्कर तीर्थ की यात्रा से वैसी फल की प्राप्ति हो सकती है ,जैसी कि पुराण पारायण या श्रवण से[3]। इतिहास पुराण आदि माध्यमों से इस कथा को अत्यन्त रोचक बनाकर रखा गया है ।विष्णु पुराण में अन्तत: यहां तक कह दिया गया है कि जो व्यक्ति इसका श्रवण नहीं करता वह मन्दभाग पुरुष पशु के समान है[4]।

वस्तुत: मध्यकाल तक पहुंचते पहुंचते भारतीय संस्कृति में आत्मसंरक्षा की भावना अत्यन्त प्रबल हो चुकी थी इस संरक्षा के लिए सीधा मार्ग भक्ति का था। कर्म ज्ञान एवं वैराग्य मार्ग धीरे धीरे गौण होते जा रहे थे क्योंकि इनमें विशेष आकर्षण नहीं रह गया था। इसलिए मध्यकालीन पुराणों ,पांचरात्र, संहिताओं तथा वैष्णव धर्मग्रन्थों में मोक्ष एवं कर्मबन्धन से मुक्ति पाने के लिए भक्ति को अनिवार्य बताया गया[1]। महाभारत का मूल उद्देश्य इस बात पर निर्भर करता है कि सभी प्राणी सुख की आकांक्षा करते हैं, दु:ख से वर्जित रहते हैं, हम जो कुछ चाहते हैं, वह सुख है जो कुछ हमारे लिए त्याज्य है वह दु:ख है[2]। किन्तु मानव जीवन में स्थायी सुख लौकिक साधनों से सम्भव नहीं है ; क्योंकि मनुष्य के भौतिक कार्य अनित्य हैं अत: उससे स्थायी संतोष नहीं मिल सकता । इसकी ओर ले जाने का एक ही मार्ग है .

....

१: विष्णुपुराण महिमासार श्लोक सं. ६
२: " " १७
३: " " ३ २५, २६
४: " " ३२

वह है भक्ति का । अतः अन्य कर्मों में धर्म ही एक मात्र उपास्य है। धर्म के इन अंगों में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, मुदिता, दया संतोष आदि हैं जिनकी एक विस्तृत सूची महाभारत के शान्ति पर्व अनुशासन एवं अन्य पुराणों में प्राप्त होती है। इस पर्व में समाज के अनेकानेक विशिष्ट वर्गों एवं उनसे सम्बन्धित धर्मों की एक वृहद् तालिका मिलती है। यहां राजधर्म, मैत्री धर्म, प्रजाधर्म, चतुर्वर्ग धर्म आदि सामाजिक व्यवस्था के प्रतिबन्धक नियम के रूप में स्वीकृत हैं। फलतः मध्यकाल के पूर्व सामाजिक विधि निषेध की धर्मसम्बन्धी मान्यता स्थापित हो चुकी थी किन्तु परवर्ती मध्यकाल में धर्म एवं नैतिक विवेक का मूल श्रेय भक्ति को मिला था। भक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पुराणों से था। साथ ही पुराण वैदिक परम्परा, आदर्श एवं नियामक धर्मों की एक बड़ी विशेषता भी है। फलतः परम्परा से चले आते हुए समस्त आदर्श नियामक धर्म पुराण समर्थित भक्ति के साथ साथ स्वीकृत होते चले। डॉ० दास गुप्त का कथन अक्षरशः सत्य है कि मध्यकालीन भक्ति के समस्त आन्दोलन वैष्णव मात्र धर्म से अधिक सम्बन्धित थे। फलतः धर्म एवं भक्ति का परस्पर समाहित हो जाना आश्चर्य की बात नहीं रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो भक्ति को मात्र धर्म की रसात्मक अनुभूति मात्र स्वीकार किया है। इस भक्ति एवं धर्म के परस्पर सम्मिश्रण का फल यह हुआ कि समस्त वैष्णव साहित्य सामाजिक, धार्मिक, एवं नैतिक उपयोगिता की अभिव्यक्ति का एक प्रबल साधन बन गया। हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव भक्तिकाव्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। इसी के परिणामस्वरूप इन काव्यों में एक सबल आध्यात्मिक हित का दर्शन होता है। इस नैतिक हितवाद या उपयोगितावाद का स्वरूप क्या है। इस की कड़ी ठीक इसी परम्परा से सम्बन्ध रखती है।

....

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य तथा उपयोगिता का स्वरूप

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने अनेक विध अपना सामाजिक नैतिक एवं परम्पराओं का उल्लेख किया है। उनके काव्य का उपयोगिता तत्व सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं से समर्थित है। सामाजिक एवं नैतिक परम्पराओं के संदर्भ का मूल्यांकन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इन कवियों का यह सामाजिक या नैतिक तत्व प्राय। इनके काव्यरूप कथा नियोजन चरित्र आदि में संघटित है। उन्होंने कहा है कि जिन कथाओं से उनके काव्य का सम्बन्ध है वे सामाजिक विधि निषेधों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है। अत: इनके काव्य में निहित उपयोगिता तत्व के स्वरूप के अध्ययन के लिए अन्तस्साक्ष्य के माध्यम से उस परम्परा का अध्ययन करना अपेक्षित है जो इनका काव्य प्रवृत्तियों के निर्माण में सहयोगी रही है। अन्तस्साक्ष्य में प्राप्त इन परम्पराओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:

१: काव्य की परम्परा
२: भक्ति एवं नैतिक आदर्श की परम्परा
३: अप्रत्यक्ष परम्पराएं जिनका प्रभाव है किन्तु उल्लेख नहीं है।

काव्य परम्परा का उल्लेख हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवियों ने नहीं किया है। इसके अन्तर्गत प्राय: तुलसीदास, सूरदास नन्ददास परमानन्ददास कृष्णदास मदनमोहन आदि कुछ ही प्रमुख कवि हैं। तुलसी ने अपनी पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में निम्न उल्लेखों की ओर संकेत किया है।

नाना पुराण निगम आगम क्वचित अन्य प्राकृत जन रचित काव्य व्यास आदि कवि कांत के कवि मुनि वाल्मीकि चारवेद आदि कवि शंभु[1] सुकवि शेष[1]। राम कथा की स्पष्ट परम्परा का उल्लेख करते हुए तुलसी ने इसका निम्न क्रम बताया है। याज्ञवल्क्य ने रामकथा को भरद्वाज को सुनाई थी। इस चरित्र के आदि रचनाकार शिव थे। शिव ने इसे क्रमश: सुरन्हि एवं पार्वती को

१: रामचरित मानस : बाल काण्ड श्लोक सं० ७ .दोहा सं. १४ की चौपाइयां . दोहा १४ ग. तथा घ .बालकाण्ड ३ की अर्धाली .दोहा सं. ३५ की ५ .८ . अर्धाली .उत्तर काण्ड : अन्तिम श्लोक :

सुनाया[1] था । एक स्थल पर उन्होंने यह भी कहा है संसार में राम कथा का मिति नहीं है[2] । नाना भाँति राम का अवतार हुआ है। रामायणों का यदि संख्या की जाय तो उनकी संख्या राम कथा की ही भाँति अपरिमित निकलेगा । क्योंकि काल भेद से अनेकानेक हरिचरित अनेकानेक मुनियों द्वारा कहे गये हैं । राम के गुण एवं रूप अनन्त हैं और इसी के परिणाम स्वरूप अनेकानेक कथाओं का प्रायन भी होता रहा है। एक स्थल पर वह अपने गुरु को भी रामकथा को शृंखला से सम्बद्ध किया है[3]।

सूर ने कृष्ण कथा के संदर्भ में लगभग दो दर्जन स्थानों पर शुक या शुकदेव का नाम लिया है ।उनके अनुसार व्यास इसके आदिम रचनाकार रहे हैं किन्तु इसके प्रमुख वक्ता शुकदेव हैं । कवि ने इस शुकदेव कथित भागवत को भाषाबद्ध करने का प्रयत्न किया है। सूर के अनुसार इसकी परम्परा इस प्रकार है: विष्णु ने संसार के समस्त तत्वों को चार श्लोकों में समझाया था । ब्रह्मा ने इसे नारद को बताया । नारद से इसे व्यास पाए थे । व्यास ने इस कथा को द्वादश स्कन्धात्मक रूप देकर शुकदेव को सुनाया था । सूर भाषा पद में गाकर उसी गाथा का पुनर्प्रतिष्ठा करते हैं[4] । इसके आगे उन्होंने पुन: कहा है । व्यास ने यह कथा शुक को पढ़ाई थी तथा शुक ने इसे कथा मूल हृदयस्थ कर लिया । शुकदेव ने इस कथा को परीक्षित को सुनाया । परीक्षित के पश्चात शुकदेव ने इसे शौनकादि एवं शौनकादि से विदुर ने इसे पाया था । विदुर ने इसे मैत्रेय को सुनाया था[5] । इसके बाद उन्होंने पुन: भागवत के अवतार का वर्णन क्रम प्रस्तुत किया है ;

कलियुग के शत सम्वत् व्यतीत हो जाने पर मनुष्य को पापाचरण से बचाने के लिए हरि ने व्यास का अवतार धारण करके वेद , संहिताओं तथा अठारहपुराणों का रचना की । फिर भी उनका हृदय शान्त न हुआ : अन्त में

१: दोहा सं. ३० तथा उसकी अर्धालियाँ ,
२: मानस दोहा संख्या ३० तथा उसकी अर्धालियाँ
३: मानस दोहा संख्या ३३ तथा उसकी अर्धालियाँ
४: सूरसागर : प्रथम स्कन्ध: पद सं .२२५ .
५: सूर सागर प्रथम स्कन्ध प० सं० २२७

नारद उनके पास आए उन्होंने उस चार श्लोक को उन्हें बताया जिसे वे ब्रह्मा से समझे थे। इसी संदर्भ में व्यास ने हरि पद का ध्यान करके भागवत का आख्यान किया है।

नन्ददास ने अपनी रचनाओं में परम्परा सम्बन्धी निम्न संकेत दिए हैं

रूपमंजरी में उन्होंने कहा है कि तत्कालीन परम्परा में प्रचलित एक प्रेम पद्धति को आधार बनाकर वह रूपमंजरी की रचना कर रहे हैं। रसमंजरी के लिए उन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा में प्राप्त रस मंजरी का स्पष्ट उल्लेख किया है - रास पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय के आरम्भ में उन्होंने शुक एवं भागवत की वन्दना की है। भागवत माहात्म्य निरूपण में उन्होंने बताया है कि निगम का सार भागवत है तथा भागवत का सार रास पंचाध्यायी। सिद्धान्त पंचाध्यायी में उन्होंने आगम निगम पुराण स्मृति आदि को अपना आधार बताया है। दशमस्कन्ध सरल भाषा में भागवत का कथानुवाद है इसमें भी सूरदास कथित शुक, शनक, परीक्षित आदि का उल्लेख मिलता है। भागवत भाषा दशम स्कन्ध के अन्तर्गत कवि ने भागवत की परम्परा का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है. इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त अष्टछापी परम्परा के समस्त कवि वल्लभ, वल्लभसुत, वल्लभपौत्र एवं भागवत का विशेष रूप से स्मरण करते हैं किन्तु इनका स्वर अत्यन्त क्षीण है।

कारण स्पष्ट है वल्लभ सम्प्रदाय के विकास के साथ साथ इन कवियों में अवतार लीला के स्थान पर प्रेमलीला को प्रमुखता मिलती गई। यह प्रेमलीला मात्र कथात्मक स्वरूप की दृष्टि से मौखिक रूप से ही भागवत पर आधृत रही है। अतः इन कवियों ने भाषा को छोड़कर अन्य ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया है। इस प्रेमलीला में वैयक्तिक स्वच्छन्दता के कारण परम्परा का संकेत कम मिलता है. यद्यपि यह सत्य है कि लीला की महत्ता के निरूपण

.....

१: सिद्धान्त पंचाध्यायी, पंक्ति सं. ३, ८१, १५६ आदि.

क्रम में भागवत लीला की पवित्रता का कथन परम्परा के रूप में अवश्य मिलता है निष्कर्षत: इन कवियों की काव्यमूलक परम्परा का प्रश्न है, वह इस प्रकार है:

रामकाव्य की परम्परा में नाना पुराण निगम आगम शंभु कथा व्यास कथा वाल्मीकि कथा प्रमुख रूप से हैं। प्राकृत कवियों का उल्लेख है किन्तु गौण रूप से। शुद्ध काव्य की परम्परा के प्रति इनकी उदासीनता जो प्राकृत कवि परम सयाने के रूप में दिखाई पड़ता है। कृष्ण कवियों ने एक मात्र भागवत को ही आधार बनाया है। उन्होंने भागवत संपत्ति ने कथा क्रमों को लक्ष्य में रखकर काव्य प्रणयन का चेष्टा की है। इस प्रकार उनकी कथा का प्रमुख लक्ष्य पौराणिक आग्रह से ही समर्थित है। अत: इनका काव्य रचना में शुद्ध काव्य के दृष्टिकोण के पृथक उन तत्वों का आ जाना स्वाभाविक है जो नैतिक एवं धर्ममूलक रचनाओं में निहित हैं; इनको स्पष्ट करने के लिये पूर्व (भक्ति स्वीकृत एवं नैतिक आदर्श सम्बन्धी परम्पराओं का उल्लेख आवश्यक है:

नैतिक एवं आध्यात्मिक परम्परा के उल्लेख का जहाँ तक प्रश्न है इसके अनेक रूप उपलब्ध हैं। कहीं कहीं सम्पूर्णत: कृतियों का कहीं परम्परा का कहीं कृति के अंशों और कहीं मात्र उदाहरणों का कवि एक प्रशस्त नैतिक परम्परा एवं पृष्ठभूमि के रूप में उल्लेख करता है। इस काव्य संयुक्त आध्यात्मिक मार्ग को इन कवियों ने भक्ति पथ कहा है। स्वत: सूर सागर में महाभारत की माध्य अर्जुन की कथा से सम्बन्धित भक्त वत्सलता का विस्तृत वर्णन है। एक और कथा विदुर के घर खिलके के शाक खाने तथा द्रौपदी सहायता से सम्बन्धित है। एक स्थल पर कथा की लौकिकता की भूमना देता हुआ कवि श्रुत स्मृति एवं पुराणों का स्मरण कराता है। एक दूसरे स्थल पर वह लीला की परम्परा में 'निगमनेति' शब्द का प्रयोग करता। उसने अनेकानेक स्थलों पर ब्रह्म की दुरुहता एवं ब्रह्मा सनक, शिव आदि के द्वारा उसे गूढ एवं अगम्य बतलाया है[1]।

.....

१: सूरसागर ५५२, ६७४, ६८१, १०१२, १०७१ आदि।

नन्ददास कई स्थलों पर नैतिक परम्परा के समर्थन में वेद, पुराण स्मृति एवं आगम का उल्लेख करते हैं। सिद्धान्त पंचाध्यायी में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका यह मार्ग आगम निगम पुराण स्मृति कथित तथा समस्त विनोद बहुल विधाओं में निहित सिद्धान्तों एवं कथारूपों से मंडित है[१]। कृष्ण या राम के ब्रह्मत्व निरूपण का जहाँ तक प्रश्न है हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवि उस ओर सचेष्ट हैं। उनके भावों में प्राय: एक सी समानता एवं परम्परा से कथित ब्रह्म के स्वरूप को दुहराने का क्रम समान रूप से मिलता है। वे एक मात्र लीला को सुलभता बताते हुए उसे सर्वग्राह्य एवं सरल बताते हैं तथा दूसरा ओर इसे ब्रह्मादिक मुनि पंडितों के लिए परम दुर्लभ[२]। परमानन्द सागर में भी इसी संदर्भ में वेद, पुराण की परम्परा के उल्लेख कई स्थल पर मिलते हैं विशेष कर अघासुर वध प्रसंग के ६ पदों में ब्रह्म की अलौकिकता लोक रक्षक आदि के स्पष्ट उल्लेख हैं[३]। राधावल्लभी सम्प्रदाय के उत्कर्ष विशेष रूप से हित हरिवंश एवं भक्त कवि व्यासजी की रचनाओं में ठीक इसी वैदिक परम्परा का अनुमोदन मिलता है। भक्त कवि व्यास एवं परशुराम देवाचार्य की साखियों में आचरण ब्रह्म नैतिक बोध समाज व्यवस्था खंडन मंडन प्रवृत्ति से सम्बन्धित अनेकानेक दोहे हैं। संभवतया यह प्रभाव सन्तों के माध्यम से आया हो। परशुराम देव आचार्य एक स्थल पर 'उन्मनी'[४] शब्द का उल्लेख करते हैं जो निम्बार्क सम्प्रदाय के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। हरिव्यासी एवं हरिदासी सम्प्रदायों में ब्रह्म के अलौकिक संकेतों के स्थान पर लीला को प्रमुखता है। जहाँ तक नैतिक परम्परा के अनुमोदन का प्रश्न है तुलसी का स्वर इस दिशा में अधिक सशक्त है:।

.....

१: सिद्धान्त पंचाध्यायी ३ .४ पंक्ति

२: नन्ददास मदन मोहन पै. सं. ३ .६ . १८५

३: परमानन्द दास सागर पै.सं.१ .१५ .८५ .१०४ .१५ . २१८ .

४: निम्बार्क माधुरी पृ .७२

उन्होंने भक्ति की परम्परा में शुक, शनकादि, भक्त मुनि नारद की वन्दना की है। रामनाम को ही एक मात्र वेद, पुराण एवं सन्त मतों का निचोड़ बताया है। उनके अनुसार यह नाम प्रथम युग में यज्ञ सदृश द्वापर की प्रभु पूजा के सदृश फलदायक है। मानस रूपक के प्रसंग में उन्होंने वेद पुराण को धेनु बताया है। इस कथा में कवि के अनुसार रघुपति महिमा ज्ञान, विराग, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष का निरूपण, सन्त समा भक्ति निरूपण क्षमा, दया, दम, सम यम, नियम, हरि पद रस सभी कुछ है[1]। मानस के अनेक स्थलों पर राम के इस चरित्र को शेष, शारद, महेश, बिधि, आगम, निगम, पुराण आदि के द्वारा कहे जाने का भी वह संकेत करता है।

इस काव्य एवं नैतिक परम्परा के लिए कतिपय प्रच्छन्न सूत्र भी हैं, ये प्रच्छन्न सूत्र प्रभाव उद्देश्य उद्धरण अनुवाद आदि के रूप में प्राप्त होते हैं; इनकी एक विस्तृत सूचि की सूचना आलोचनात्मक ग्रन्थों द्वारा दी जा चुकी है। इस प्रच्छन्न परम्परा में पद्म, ब्रह्माण्ड, श्रीमद्भागवत, विष्णु, नृसिंह, अग्नि पुराण, राम तापनीयउपनिषद्, श्री सीतोपनिषद्, गोपाल तापनीय उपनिषद्, श्री राधोपनिषद् अध्यात्म रामायण, महारामायण, आनन्द रामायण, भुशुन्डि रामायण, अद्भुत रामायण, रघुवंश, उत्तर रामचरित, अनर्घ राघव, बाल रामायण, स्वयंभू रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव, वाल्मीकि रामायण, गीता, भर्तृहरि शतक, आदि के प्रभावों को चर्चा विशेष रूप से की जाती है।

इन परम्पराओं के उल्लेख से पूर्व कथित उन परम्पराओं का समर्थन हो जाता है जिनकी स्थिति पर विचार किया जा चुका है।

.....

[1]: इस प्रसंग के लिए देखिए मानस मीमांसा, रजनीश काव्य शास्त्र, तुलसी दास और उनकी कविता, श्री रामनरेश त्रिपाठी, तुलसीदास - डा० माता प्रसाद गुप्त, तुलसी और उनका युग राजपति दीक्षित, सूरदास प्रभुदयाल मीतल, सूरसागर डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा।

उपयोगिता का स्वरुप [विश्लेषण]

क . कथा नियोजन :

हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य के उपयोगिता वादी दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्व प्रथम कथा नियोजन की ओर ध्यान देना आवश्यक है । इन कवियों का रचनाएं मुख्यतया राम और कृष्ण के चरित्र से सम्बन्ध रखती है । इसमें शंकर को चरित्र सम्बन्धी कतिपय फुटकल रचनाएं एवं पद प्राप्त हो जाते है । नन्ददास का रुपमंजरी तथा व्यास एवं परशुराम देवाचार्य की साखियां यद्यपि इनके अपवाद में रखी जा सकती है, मुख्त विषय के अध्ययन को दृष्टि में रखकर राम एवं कृष्ण कथाओं का विश्लेषण अनिवार्य है। राम कथा के अन्तर्गत दो कथाएं चलती है । प्रथम काव्योपदेश्य की पूर्ति को लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त हुई है तथा दूसरी नैतिक सामाजिक एवं जीवनगत मूल्यों का आख्यान करती है अर्थात् रामकथा से सम्बन्धित ये कथाएं उपयोगिता वादी तत्व से सम्बन्धित है । मूल कथा को छोड़कर गौण कथाओं की स्थिति इस प्रकार है :

रामकथा : भक्ति समर्थक कथाएं : मनु शतरुपा कथा, नारद कथा अहिल्योद्धार कथा, प्रजा का राम के साथ गमन, केवट कथा, जटायु कथा, विभीषण कथा, हनुमान कथा, शबरी कथा आदि ।

आचरण समर्थक कथाएं : परशुराम का मान भंग, जयन्त की कुटिलता, सीता अनुसूया मिलन, मुनियों द्वारा कथित नैतिक उपदेश, शूर्पणखा का नाक कान काटा जाना, हनुमान रावण संवाद, सीता की अग्नि परीक्षा रामचन्द्र का प्रजा को उपदेश ।

ज्ञान सिद्धान्त कथन उपदेश कथन आदि से सम्बंधित कथाएं :

शिव पार्वती संवाद, लक्ष्मण केवट वार्ता, विविध मुनियों को राम का उपदेश देना, लक्ष्मण गीता, राम नारद संवाद, विविध मुनियों तथा नारद आदि की स्तुतियां, काग भुशुन्डि संवाद, लोमश संवाद, ज्ञानभक्ति निरुपण कवियों के स्वगत कथन।

राम कथा में 'ये' गौण कथाएं हैं मुख्य कथा का स्वरूप उपयोगिता की दृष्टि से किंचित् और भी स्पष्ट है। मुख्य कथा का नियोजन अवतारवाद से शुरु होकर राक्षसों के वध एवं राम राज्य की स्थापना से जाकर पर्यवसित होता है। अवतारवाद के कारणों को पूर्ण करना संदीप में राम कथा का मूल उद्देश्य है। मानस में अवतारवाद के तीन कारण कहे गए हैं -

१: धर्म की स्थापना के लिए असुरों का विनाश।

२: गौ ब्राह्मण की दशा एवं लोक प्रतिष्ठा का स्थापन।

३: भक्ति का प्रचार एवं भक्तों का अभिवर्द्धन।

राम कथा के अन्त में ठीक इसी मूल उद्देश्य का समर्थन मिलता है। कवि गौण कथाओं के संदर्भ में कथा के इन्हीं तत्वों से काम उठाता है। अतः कथा स्वरूप की दृष्टि से रामकथा का मूल उद्देश्य मात्र काव्य के उपयोगिता तत्व का समर्थन करना रहा है। राम कथा का एक दूसरा स्वरूप भी है जो कृष्ण भक्त कवियों की भाँति उपयोगिता पर अधिक आश्रित न रहकर लीला एवं तज्जनित आनन्द पर टिका है। रसिक कवियों द्वारा गृहीत यह राम कथा इससे भिन्न है।

इसी संदर्भ में कृष्ण कथा का अध्ययन करना अपेक्षित है: सूरसागर में प्राप्त कृष्ण कथा का स्वरूप इस प्रकार है :

प्रथम स्कन्ध

अवान्तर कथा	गौण कथा	प्रमुख कथा
भागवत वर्णन	श्री शुक जन्म कथा	परीक्षित कथा
सूत शौनक संवाद		
व्यास अवतार		
श्री भागवत अवतार		
नाम माहात्म्य		
विदुर गृह भगवान का भोजन		
अर्जुन दुर्योधन का कृष्ण गृह गमन		
भीष्म प्रतिज्ञा		
भगवान का द्वारिका गमन		
धृतराष्ट्र का वैराग्य		
गर्भ में परीक्षित की रक्षा		

द्वितीय स्कन्ध

अवान्तर कथाएं	गौण कथाएं	प्रमुख कथा
नाम महिमा		
हरिविमुख निन्दा		
सत्संग महिमा		
भक्ति के साधन		
वैराग्य ज्ञान		
आत्म ज्ञान	ब्रह्मा को उत्पत्ति तथा	
विराट रूप ज्ञान	चतुःश्लोक भागवत वाक्य	
आरती		
नृप विचार		
शुकदेव के प्रति परीक्षित वचन		
शुकदेव वचन		
शुकदेव कथित नारद . ब्रह्मा संवाद		
ब्रह्मा वचन नारद~~मुनि~~ प्रति		

तृतीय स्कन्ध

श्री शुक वचन	सनकादि अवतार
उद्धव का प्रायश्चित	
विदुर जन्म जन्म	कपिलअवतार
रुद्र प्रलय कथा	
सप्तऋषि दक्ष प्रजापति तथा स्वायंभु मनु की उत्पत्ति कथा .	
देवहूति कपिल संवाद	
मोक्ष विधायक प्रश्नोत्तर	

चतुर्थ अध्याय

ध्रुव कथा	दत्तात्रेय अवतार
पुरंजन कथा	यज्ञ पुरुष का अवतार
	पृथु अवतार

पंचम स्कन्ध

अवान्तर कथाएं
जड़ भरत कथा
जड़ भरत-रहूगण संवाद

गौण कथाएं
ऋषभदेव अवतार

मुख्य कथा

षष्ठ अध्याय

अजामिलोद्धार कथा
श्री गुरु महिमा
सदाचार शिक्षा

पुंसवन व्रतोत्तर

सप्तम स्कन्ध

भगवान का श्री शिव को साहाय्य प्रदान
नारद उत्पत्ति कथा

नृसिंह अवतार

अष्टम स्कन्ध

मोहिनी रूप शिव छलन

कूर्म अवतार
वामन अवतार
मत्स्य अवतार

नवम स्कन्ध

राजा पुरुरवा का वैराग्य
च्यवन ऋषि की कथा
राजा अंबरीष की कथा
सौभरि ऋषि की कथा
श्री गंगा गमन

इलधर विवाह
परशुराम अवतार
राम अवतार

श्री गंगा विष्णु पादोदक कर स्तुति .

दशम स्कन्ध

अवान्तर कथाएं	गौण कथाएं	प्रमुख कथाएं
		कृष्ण जन्म
		पूतना वध
		शाधर अंग मंग
		कागासुर वध
		शकटासुर वध
		तृणावर्त वध
		यमलार्जुन उद्धार लीला
		बकासुर वध
		ब्रह्मबालक वत्सहरण
		अघासुरवध
		बालहरण की दूसरालीला
		धेनुकवध
		कालीदह पान
		दावानल पान
		गोवर्धन हरण
		गिरिधारण लीला
		वृषभासुर वध
		केशीवध
		व्योमासुरवध
		वरुण से नन्द पार्वता को छुडाना
		प्रलम्ब वध
		कुवलयावध
		रजक वध
		हस्ती वध
		कंस वध
		भौमासुर वध
		नृग उद्धार

अवान्तर कथाएं　　गौण कथाएं　　मुख्य कथा

पौन्ड्रक वध
द्विविध वध
जरासंध वध
देवकीवध
मत्स्यासुरवध

एकादश स्कन्ध

× नारायण अवतार
हंस अवतार

द्वादश स्कन्ध

बुद्ध अवतार वर्णन
कल्कि अवतार वर्णन

भागवत अपने विस्तार के कारण 'महापुराण' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। पुराणों की रचना का कारण स्पष्ट है। उसके माध्यम से गूढ़ एवं आचरण दुर्लभ नैतिक भक्ति एवं ज्ञानमूलक विचार परम्पराओं को सुलभ बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से पुराणों में अवतार कथाएं एवं आग्रह पूर्ण कथात्मक नैतिक उपदेश कथा शिल्प की दृष्टि से समस्त पुराणों में समान अस्तित्व रखती हैं। भागवत पुराण का मुख्य उद्देश्य कृष्ण भक्ति एवं कृष्ण कथा का प्रतिपादन करता है। इसकी भूमिका में अन्य अवतारों की कथाएं सम्मिलित हो जाती हैं। भागवत में तीन स्थलों पर अवतारों का उल्लेख है और अवतार की अन्तिम संख्या २४ ठहराई गई है। भागवत की सामान्य परम्परा का समर्थन करने के कारण सूर सागर में उसी परम्परा का पूर्ण अनुमोदन मिलता है। सूरसागर यदि सम्प्रति प्रकाशित। प्रकाशन का तात्पर्य काशी नागरी प्रचारिणी की प्रति से है। रूप में यह संक्षिप्त प्रमाणिक है तो कृष्ण कथा की भूमिका में अनेक नैतिक, भक्ति एवं ज्ञान मूलक संकेतों का संकलन प्राप्त हो जाता है। सूरसागर का तृतीय स्कन्ध नाम महिमा हरिविमुख निन्दा, अंतरंग महिमा भक्ति के साधन वैराग्य वर्णन, आत्मज्ञान, विराट

रूप वर्णन आदि प्रसंगों में विभक्त प्रीति: आध्यात्मिक प्रसंगों से ही सम्पृक्त है। दशम् स्कन्ध में प्राप्त कृष्ण वध की घटनाएं लौकिक मर्यादा की सुरक्षा में अतिमूल कारण बन कर रहा होती है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों का प्रत्यक्ष एवं अव्यवहारिक सम्बन्ध सूरदास नन्ददास एवं परमानन्ददास से ही सम्बन्धित है। किन्तु नन्ददास एवं परमानन्ददास की विशेषता इस बात में है कृष्ण चरित्र को उन्होंने सम्पूर्णत: लिया है किन्तु भूमिका भाग में स्थित विस्तृत नीति सिद्धान्त भक्ति एवं अवतार के प्रसंग को पूर्णत: छोड़ दिया। नन्ददास ने कृष्ण वध सम्बन्धी घटनाओं को नहीं लिया है। उनके काव्य में मात्र उनके संकेत ही प्राप्य हैं। परमानन्ददास के कृष्ण वध सम्बन्धी मात्र ६ पद ही लिखे हैं। रसिक सम्प्रदाय की भाँति परवर्ती कृष्ण कवि मधुर लीला सम्बन्धी धारणा को अधिक विस्तार में लेते हैं। इस लीलावादी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण प्राय: उपयोगिता के वे तत्व जो कृष्ण कथा एवं अवतार के माध्यम से आते थे, समाप्त हो गए।

वैयक्तिक उपयोगिता सम्बन्धी पद हिन्दी के वैष्णव भक्ति साहित्य में अधिक हैं। सूर सागर में विनय सम्बन्धी पदों की संख्या २४४ है। तुलसी की विनय पत्रिका के सम्पूर्ण पद स्तुतिपरक, आध्यात्मिक नैतिक कथन भक्ति दार्शनिक सन्देशों से युक्त हैं। परमानन्द सागर में अपनी दीनता के नाम से ५८ पद प्राप्त होते हैं। नन्ददास की पदावली के कतिपय पद मात्र वैयक्तिक उपयोगिता से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त परशुराम देव एवं व्यास का सारा सामाजिक उपयोगिता एवं वैयक्तिक उपयोगिता से पुष्ट हैं। मीरा की रचनाओं में भी प्रेम मूलक पदों के साथ साथ लगभग १०० पद दैन्य आदि भावों से युक्त हैं।

दैन्य के पदों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मात्र वैयक्तिक उपयोगिता से ही सम्बन्धित नहीं है किन्तु वैयक्तिक उपयोगिता प्राय: उपलक्षण मात्र है। इसमें सम्बोधन के रूप में प्राप्त रे मन, हे हरि, मना, प्रभु, माधव, दीनदयाल, राम, आदि वैयक्तिक संदर्भों से युक्त होकर सामाजिक भावना का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य के कथायुक्त एवं कथाहीन काव्य दोनों में अधिकाधिक

उपयोगितावादी दृष्टिकोण से नियोजित है। रचना का नियोजन एवं विषय का प्रतिपादन वैयक्तिक एवं सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर किया गया है।

ख कवि कथन तथा उपयोगिता का स्वरूप

उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का अध्ययन करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि उपयोगिता एवं उनके नियोजन से इन कवियों का तात्पर्य क्या है। ये सामाजिक एवं वैयक्तिक हित के किस पक्ष पर अधिक बल देना चाहते हैं तथा इनका यह दृष्टिकोण किन विचार परम्पराओं पर आधृत है। इसके लिए इनके द्वारा कथित उन विचारों पर ध्यान देना आवश्यक है। जो इस दृष्टिकोण की स्थापना के लिए कथित हैं। विश्लेषण करने पर इन कथनों के निम्न रूप दृष्टिगत होते हैं।

वैयक्तिक हित : इनका वैयक्तिक हित अन्य हितों विशेषकर भौतिक हित सांसारिक सुख, आसक्ति जन्य तृप्ति से किंचित पृथक है। इस वैयक्तिक हित का स्वरूप दो प्रकार का है।

१: निषेधात्मक एवं २ विधि मूलक

निषेधात्मक मूल्यों के अन्तर्गत माया का त्याग, आसक्तियों के प्रति विषाद आदि हैं तथा विधि मूलक वैयक्तिक हित में ईश्वर, गुरु, साधु के प्रति आसक्ति कर्तव्य परायणता, भक्ति, इच्छुक्ति एवं दैहिक क्लेश से निवृत्ति आदि आते हैं। इस विषय से सम्बन्धित अधिकाधिक भाव दैन्य एवं आत्मग्लानि विषयक पदों में हैं।

लोकहित

हिन्दी के आरम्भिक वैष्णव भक्त कवियों का दृष्टिकोण लोक मंगल एवं लोक संरक्षा में अधिकाधिक प्रेरित है। यह लोकरक्षात्मक उद्देश्य प्रायः तीन रूपों में प्राप्त है।

१: प्रत्यक्ष कथन के रूप में

२: असुरों का विनाश घटनाओं के रूप में;

३: सामाजिक एवं नैतिक भ्रष्टाचार के क्षीण क्रम के रूप में;

प्रत्यक्ष कथन

प्रत्यक्ष कथन सम्बन्धी उल्लेख दोनों का शेष दो की अपेक्षा कम है किन्तु जो हैं उनका स्वरूप दो प्रकार का है।

क : उपदेशात्मक कथन के रूप में

ख : भक्ति आचरण नीति सामाजिक सिद्धान्त के व्यवस्थापन के रूप में इनका वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

उपदेशात्मक रचनाएं प्राय: विनय एवं साखियों में ही मिलती हैं विनय के पदों में सामाजिक रचना एवं लोक संरचना का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। विशेषकर तुलसी की विनय पत्रिका सूर तथा परमानन्ददास के विनय के पद इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। मानस में मानस रूपक तथा मानस माहात्म्य को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। तुलसी ने स्पष्ट रूप से कहा है 'इस काव्य में विषय रस नहीं है जो इस दृष्टिकोण से इस कथा का श्रवण करता है वह इस मानस के सम्बुक [घोंघा] एवं मेक[मेढक] के सदृश क्षुद्र तथा त्याज्य है। कामी, कौवे इस मानस तक मात्र इसी सम्बुक और मेढा के लिए आते हैं। वस्तुत: तुलसी के अनुसार इस सर पर आना दुर्लभ है। यह तभी हो सकता है जब रामकृपा सुलभ हो[1]। जो संयोगवश यहां पहुंच जाता है, समस्त सुख सामाजिक एवं नैतिक उपलब्धियां उसके लिए सम्भव हो जाती हैं[2]। तुलसी के अनुसार इस कथा में अनेकानेक गुण हैं, किन्तु निम्न विशेष महत्वपूर्ण हैं। -

इसमें कलि कलुष को नष्ट करने की शक्ति, भव श्रम शोषक, तोष पोषक, दुख दारिद्र्यादि दोषों का शमनकारी, काम, क्रोध, मद, मोह, आदि का नाशक विमल विवेक एवं वैराग्य का वर्द्धक पापों को नष्ट करने वाली कथा है[2]।

विनय पत्रिका में आत्मोपदेश या स्वत: मन को सम्बोधित करके लगभग ५० पद लिखे गए हैं। ये आत्मोपदेश के पद राम की भक्ति वैयक्तिक के साथ ही साथ सामाजिक हित एवं मंगल की दृष्टि से कथित हैं[3]। सूर के विनय पदों में

.....

१: मानसक : दोहा सं. ३८ का अर्थालिखो

२: मानस दोहा सं. ४३ का अर्थालिखो :

३: विनय पत्रिका प्र सं. ५५ . ७६ . ३४ .. १०५ . ११० . १६६ . १३० . १७७ . १८३ १८४ . १३० . २७७ . २४७ आदि .

अधिकाधिक पद इसी भाव के हैं। परमानन्ददास के पदों में एक दर्जन पद प्राय: इसी भाव के हैं। विशेषकर भक्त कवि व्यास जी का साखियों के विषय इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। उनमें सन्त कवियों के समानान्तर विषय मिलते हैं- कंचन कामिनी का त्याग, संसार मिथ्यात्व, प्रेम की अनन्यता, माया, हिंसा, लोभ, आदि के वर्णन एक निश्चित उपदेशात्मक क्रम में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवियों के उपदेशात्मक काव्य रूप निश्चित हो अपनी परम्परा से चला आता हुई नैतिक शिक्षण का धारणा लेकर चले हैं। यह नैतिक धारणा अपने आप में उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन करता है।

भक्ति के कथन नैतिक उपदेश सामाजिक संरचना एवं अनेकानेक सिद्धान्तों द्वारा हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि समाज संगठन एवं नियंत्रण का और सजग हैं। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है सामान्यत: इनके दो ही रूप मिलते हैं दास्य और प्रेम। प्रेम को इन कवियों ने लोक संरचना के स्तर पर दास्यानुमोदित कर दिया है जिसके लिए भगवान का अनुग्रह एवं प्रेम आवश्यक है। भक्त इस तत्व को प्राय: किसी न किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं। तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि मेरी भक्ति के समक्ष ईश्वर मेरे अवगुणों को भूल जावेंगे। वे तो ऐसा कर भक्तों को प्रताड़ित कर लेते हैं और शीघ्र भक्त शिरोमणि मान लेते हैं[1]: निश्चित ही भगवान भक्तों के अवगुण नहीं देखते। आखिर बालि इन्द्र दुर्योधन इत्यादि से बैरमोल लेने का तात्पर्य क्या था। ऋषियों एवं मुनिगणों को छोड़कर ब्रज की गोपांगनाओं के घर क्यों रहते? निश्चित ही इसका एक मात्र कारण भक्ति है निष्ठा प्रेम अहैतुकी भक्ति[2]।

.....

विनय पत्रिका पद सं. ६५

४: विनय पत्रिका पद सं. ३६. ४०. ६७.

इसी भाव के फुटकर पद सूर सागर एवं विनय पत्रिका में संकलित हैं। इन भक्तों ने भगवान की दयालुता एवं प्रेम को लेकर अनेक पौराणिक कहानियों को आधार दिया है। ये कहानियां निम्न हैं: -

अम्बरीष, प्रह्लाद, बलि, दुर्योधन, पांडव, शुक्राचार्य, सुदामा, गृद्ध गणिका, गज, केश, केशि, अघासुर, बकासुर, वृषभासुर, प्रलम्ब, तृणावर्त, गज चाणूर, दावानल व्याल, कालियनाग, पूतना, राजा बिभीषण, अहिल्या, भरत, गृह, गज, दुर्वासा, लाक्षागृह कथा, विदुर भीष्म, अर्जुन, द्रौपदी सहायता, युधिष्ठिर एवं राजसूय यज्ञ कथा इत्यादि[1]। ये कहानियां एक सुनिश्चित परम्परा से सम्बद्ध ईश्वर का भक्त वत्सलता के उदाहरणों में गिना जाता है। इन कथाओं में निहित भक्ति के उत्तमोत्तम स्वरूप की सामाजिक प्रतिष्ठा ही इन कवियों के लिए एक मात्र अभीष्ट है।

क - नैतिक उपदेश एवं सामाजिक सुरक्षा के इस प्रकार के अनेक कथन इन वैष्णव भक्त कवियों के काव्य में प्राप्त होते हैं नैतिक उपदेश समाज कल्याण एवं भक्त को ध्यान में रखकर कथित हैं। ये नैतिक उपदेश निश्चित ही एक वर्ग विशेष के नैतिक बोध को जागृत करने में समर्थ है।

ख - असुरों के विनाश की घटनाओं से मुक्ति कथा को सम्बन्धित करने का उद्देश्य इन कवियों ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया है। असुरों के विनाश के पीछे अवतारवाद की धारणा निहित है। अवतारवाद का आरम्भिक प्रवृत्ति पृथ्वी बौद्ध और ब्राह्मण की रक्षा से सम्बन्धित है।

.....

१: इनका संकलन सूर एवं तुलसी के विनय सम्बन्धी पदों के आधार पर किया गया है:

अवतारवाद

वैष्णव धर्म के नैतिकता का प्रतीक है । इसी के रक्षार्थ अवतार को एक सर्वश्रेष्ठ कारण बताया गया है । सूर धेनु ब्राह्मण और धर्म्या की संरक्षा धर्म की संरक्षा है । अतः अवतारवाद का मूल कारण धर्म संरक्षण ही है । यह वस्तुतः लोक मंगल की भावना से प्रसूत है । इस मान्यता के पीछे इन कवियों ने सांसारिक क्लेश निवारण का एक महान् स्वप्न देखा था । अवतार का तीसरा कारण भक्त एवं भक्ति का समर्थन है । हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि इसे अत्यधिक सश्रेष्टता से व्यक्त करते हैं । यह भक्ति वैयक्तिक होते हुए भी नीति विरोधिनी नहीं है । यह सत्य है कि भक्त कवि अपने उद्देश्य को एक ऐसी सामाजिक रचना के प्रति केन्द्रित करते हैं जिसका अवसान आदर्श पूर्ण समाज संघटना में दिखाई देता है । इन आदर्शों से मंडित दो राज्यों का स्पष्ट उदाहरण भक्त कवियों ने रखा है रामराज्य तथा कृष्णराज्य । असुरों एवं दुष्टों के संहार के बाद इन राज्यों की स्थापना होती है । यहाँ सभी नीतिक एवं वेद पथ का पालन करते हैं न लोगों में रोग है न शोक । दैहिक दैविक भौतिक समस्त ताप रामराज्य में डूलैम हो गए । स्वधर्म का विस्तार हुआ । धर्म अपने चतुर्थ चरणों के साथ व्याप्त हो गया । सभी कथित राम भक्त हो उठे । रोगा अल्प मृत्यु की पीड़ा से व्याकुल एवं दरिद्र समाज में रह ही न गए । समाज में निर्दम्भ धर्मरत एवं चतुर ही दृष्टिगत थे । गुणज्ञों एवं ज्ञानी पंडितों से अयोध्या व्याप्त हो गई[१] । अवतारवाद की यह धारणा लोक संरक्षण की भावना से पुष्ट है।

तुलसी एवं सूर ने अवतारों का विशेष उल्लेख किया है । तुलसी ने मात्र राम कृष्ण और नृसिंह का ही उल्लेख किया है । सूर ने स्पष्टतः १६ उल्लेख तथा ५ सांकेतिक अवतारों का वर्णन किया है। परवर्ती भक्त वल्लभ विट्ठल हरिदास चैतन्य इत्यादि को भी अवतार मान बैठे हैं अवतार के असुरवध उद्देश्य के अंतर्गत सूर सागर में लगभग ४६ दुष्टों के वध का उल्लेख मिलता है । रामचरित मानस में असुर वध की संख्या इससे लगभग है।

.....

१: रामचरित मानस : उत्तर कांड .दोहा सं. २१ से २२ तक

७ - सामाजिक अनाचार एवं नैतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने सामाजिक अनाचार एवं नैतिक भ्रष्टाचार को अनेक रूप वर्णन किया है। ये प्राय: इसके समूल उच्छेद का और सतत् प्रयत्नशील मिलते हैं। तुलसी का कलि निरूपण संदर्भ इस प्रसंग में विशेष द्रष्टव्य है। कलि के आगमन से निम्न प्रकार समाज में दिखाई पड़ते हैं:

नर नारी अधर्म में रत हैं। निगम प्रतिकूल मार्ग गामी बन चुके हैं। कलिमल के प्रभाव से अनेकानेक उत्तम मार्ग के सारा सद्ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं। दंभियों ने अपने मत से धर्ममार्ग कल्पित कर लिए हैं। नर नारी मोह एवं लोभ के वशीभूत हो चुके हैं। वर्णाश्रम लोप हो चुका है और निगम का मान तथा अनुशासन नष्ट हो चुका है। समाज में गाल बजाने वाले पंडित, दंभी एवं मिथ्यारंभी संत, पर धन के अपहर्ता, चतुर एवं पाखंडी, आचारवान् हो दिखाई देते हैं। झूठों मसखरी करने वाला गुणी, तथा श्रुति पथ को त्याग कर आचारहीन, लम्पट ज्ञानी, एवं वैरागी बन बैठे हैं। विशाल नख एवं जटाओं वाले ही कलि में तपस्वी तथा अशुभ वेष धारण करने वाले मद्यमांस अविवेकी सन्त एवं सिद्ध कहलाते हैं। मन वाणी एवं कर्म से लबार ही वक्ता हैं।

इस प्रकार समस्त नैतिक मार्गों में विपरीत गामिता ही परिलक्षित होता है। नर नारी के वश में होकर विवश मर्कट की भाँति उनके दास बन चुके हैं। शूद्र द्विजों को उपदेश देते एवं यज्ञोपवीत धारण करके कुदान लेते हैं। समस्त नर नारी देव श्रुति सन्त विरोधी हो गए हैं। एक ओर सौभाग्यवती स्त्रियों ने आभूषण त्याग दिया है दूसरी ओर विधवाएं नित्य नवीन शृंगार में अनुरक्त हैं। अभिभावक पुत्रों को अर्थोपार्जन पोषक विद्या सिखलाते हैं। शूद्र विप्रों से द्वन्द करके उनसे श्रेष्ठ सिद्ध होना चाहते हैं। वे ब्राह्मणों को आँख दिखाकर डाटते हैं कि क्या ब्रह्मज्ञान उनकी बपौती है। पुरुष अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद घर फूंक कर सन्यासी बन बैठता है। स्वपच कोल किरात कलवार भक्त बन बैठे हैं। वे विप्रों से पूजा करवाते हैं। विप्र तो निरक्षर लोलुप एवं कामांध तथा शूद्र जप

तप व्रत कर रहे हैं[१] । इस प्रकार कलि के आगमन से समस्त की व्यवस्था विशृंखल समाज नाति दूषित नैतिक व्यवस्था अधःपतित एवं मर्यादा लुप्त हो चुका है । इस प्रकार वैष्णव धर्म व्यवस्था के विघटन से उत्पन्न सामाजिक भ्रष्टाचार के ये कवि तीव्र विरोधी थे ।

तुलसी की ही भाँति सूर ने कल्कि अवतार के अन्तर्गत इसी प्रकार की सामाजिक दुर्व्यवस्था की ओर सजगता प्रगट की है - कलियुग में भगवान का कल्कि अवतार होगा, क्योंकि कलि में नृप अन्यायी होंगे हठ पूर्वक कृषि एवं अन्न का अपहरण करेंगे । सच्चे व्यक्ति को अपराधी ठहरावेंगे एवं प्रजा धर्म विमुख होगी । समस्त जन वर्णाश्रम धर्म का विस्मरण कर जावेंगे : ब्राह्मण वंचक सन्यासी का वेष धारण करके घूमेगा तथा गृही अपने धर्म को भूल कर अतिथि का सम्मान न कर सकेगा । दया सत्य सन्तोष नष्ट हो जावेंगे । सुधर्म का फल समझ कर भी लोग उसे नहीं करेंगे । पापी किसी फल की कामना नहीं करेगा । वह रात दिन पापों में व्यस्त रहेगा ।

वर्षा के समय वर्षा न होगा । पशु को लोग दान देंगे । कलि में पृथ्वीपति [क्षत्रिय] का राज्य न होगा । लोग इन्द्रियों के वश में होकर स्वच्छन्दपूर्वक भोग करेंगे[२] । इस प्रकार सामाजिक अनाचार एवं भ्रष्टाचार का निरूपण करके ये कवि एक ओर समाज को आतंकित करते हैं दूसरी ओर उससे मुक्ति का मार्ग भी निर्धारित करते हैं । इनके द्वारा कथित सामाजिक अनाचारों की सूची इस प्रकार है :- अधर्म, अनियम, सद्ग्रन्थों का त्याग दंभ एवं पाखंड का प्रसार, लोभ एवं मोह का विस्तार, वर्णाश्रम की विशृंखलता कुपथगामिता, मिथ्यादंभ, आचरणहीनता, ढोंग, भक्ष्याभक्ष्यविवेक, विवेकशून्यता जल्पता, कामुकता, पाखंड, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, हिंसा, क्षुद्रता, अन्याय, धर्म विमुखता, दया, सत्य, सन्तोष का विनाश । इन समस्त अनाचारों एवं भ्रष्टाचारों की एक निश्चित परम्परा भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है ।

....

१: रामचरित मानस : उत्तरकान्ड के दोहा सं. ९७ से १०२ तक :

२: सूर सागर : द्वितीय खंड : द्वादश स्कन्ध पद सं. ३

इन अनाचारों का सर्वप्रथम विस्तृत उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है। शान्तिपर्व में भीष्म इसे भृगु एवं भरद्वाज की वक्ता श्रोता परम्परा में प्रस्तुत करते हैं। भरद्वाज ने भृगु से वर्णाश्रम विभाजन का आधार पूछा था। इसी संदर्भ में उन्होंने तत्कालीन वर्णाश्रम में प्रचलित समस्त भ्रष्टाचारों का उल्लेख किया[१] है। महाभारत के उपरान्त यह परम्परा अवतारवाद से सम्बद्ध होकर पुराणों में चली आई। हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवियों ने सामाजिक अनाचार की झाँकी इन पुराणों एवं अपनी तत्कालीन परम्परा से ग्रहण की है।

१: महाभारत शान्तिपर्व : १२: १८१:३ तथा १८२: १२:

उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का विवेचन

उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त के इतिहास से स्पष्ट हो गया कि होगा कि भारतीय काव्यशास्त्रीय की मूल दृष्टि प्रारम्भ में कलात्मक सौष्ठवादि के साथ साथ उपयोगितावादी भी रही है। विशेषकर धार्मिक वाङ्मय का जहाँ तक प्रश्न है वह सम्पूर्णतः उपयोगितावादी है। वैदिक साहित्य में विशेषकर ऋग्वेद को काव्य एवं स्तोत्रों का भारतीय प्राचीनतम ग्रन्थ माना जा सकता है। इन वैदिक ऋषियों की स्तुति तथा स्तोत्र गायकों की उद्गाता एवं स्तोत्र रचनाकारों की स्तोता की संज्ञा मिली है। स्तोता गण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, प्रकाश, विष्णु, वरुण आदि प्राकृतिक शौर्यवान् व्यक्तित्व इन्द्र पुरुरवा तथा पौराणिक पुरुष यम यमी को सम्बद्ध करके स्तोत्र रचना की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। इनके इस प्रयत्न के पीछे वैयक्तिक आवश्यकता अभाव, सन्तुष्टि की तृप्ति एवं तुष्टि की अभिकांक्षा मिलती है।

इस काव्य वृत्ति के मूल में वैयक्तिक अभाव की भावना निहित है। इन अभावों के पूरक होने के लिए इस काव्य को अधिकाधिक वैयक्तिक आवश्यकता के निकट रहना पड़ा है। स्पष्ट है कि यह काव्य इसलिए रचा गया जिससे उनके इष्ट प्रसन्न होकर उन्हें गाय, बैल, अन्न, सर्ववैभव आदि

भोग ऐश्वर्य सुन्दर पत्नी आदि दे सके। ये भोग का वस्तु आध्यात्मिक कम पर भौतिक आधार के हैं। भौतिक सुख एवं समृद्धि का भावना का भाव इस प्रकार के स्तोत्रों के मूल में निहित है।

वैदिक काव्य के मूल में एक दूसरा भाव दृष्टि है। वह है आत्मसंरक्षण का। आत्म संरक्षण का दृष्टि मूलतः दो मानसिक प्रवृत्तियों पर निर्भर है। प्रथम यह कि रचनाकार अपना पीड़ा के मूल में केन्द्रित करके अपना पीड़ा एवं आतंकों को ऐसे काव्य में वर्णित करे। दूसरा ओर मूल आलम्बन का शक्ति शौर्य सामर्थ्य एवं कृपा आदि कृत्यों तथा तत्सम्बन्धी भावों का उल्लेख करे। अभावों का अधिकांशिक सम्बन्ध आत्म संरक्षण से हो होने के कारण प्रायः काव्य में भाव का हास व्यक्तित्व दृष्टिगत होता है। वस्तुतः इस प्रकार के साहित्य का मूल स्वरूप इस प्रकार है। एक ओर अभाव एवं पीड़ा ग्रस्त भाव का हास संकुचित अभाक्रान्त व्यक्तित्व दूसरा ओर आलम्बन का विस्तृत सबल सशक्त भावपूर्ण कृत्यों का उल्लेख। वह बार बार आलम्बन शौर्य एवं पराक्रम को स्तुति करता हुआ इनसे सम्बन्धित भावों का अपेक्षा बनाए रखता है। इसी के साथ इस काव्य में एक तीसरा भाव तत्व होगा समाज या धरती का विघातक शक्तियों का उल्लेख। मूल आलम्बन का शक्ति के सम्मुख समाज विरोधी शक्ति का पराजय निश्चित रूप से मिलता है। यही कारण है कि वैदिक ऋचाओं में इन्द्र विष्णु रुद्र आदि के समक्ष इनके विरोधी तत्व अनेक बार पराजित हो चुके हैं। वैदिक साहित्य में ये विरोधी तत्व या तो प्राकृतिक विघातक तत्व हैं या शत्रु। इस प्रकार स्पष्ट है कि आरम्भिक भारतीय उपयोगितावादी सिद्धान्त के मूल में वैयक्तिक संरक्षण अभावों की प्राप्ति आदि भाव निहित हैं।

उपयोगितावाद का यह आरम्भिक दृष्टि पूर्णतः समाप्त नहीं हो सका क्योंकि आत्म संरक्षण अवस्थायी न होकर चिर काल तक स्थिर रहने वाली मनोवृत्ति है। वैदिक साहित्य के बाद वैयक्तिक अभाव को धर्मीश्रय मिला। यह धर्मीश्रय उसी प्रकार के काव्य रचना का आधार बना जिस प्रकार का वैदिक काव्य था किन्तु अधिक आस्थामूलक होने के

कारण सृष्टि के गुण ,शौर्य ,ऐश्वर्य ,तेज आदि रूपों को अधिक सजगता से प्रस्तुत कर सका।इसी परिणामस्वरूप लौकिक साहित्य के स्तोत्रों का जन्म हुआ है, इसी के साथ दूसरी ओर उस कर्मोन्मुखक मनोवृत्ति का भी विकास हुआ। इस कर्मोन्मुखक प्रवृत्ति ने,विशेष रूप से विधि निषेधों तथा सामाजिक रचना में सहायक भावों को तीव्रतर बनाया।यही कारण है कि इस वातावरण के विस्तार के फलस्वरूप उपदेश काव्यों का प्रशस्त परम्परा समाज में प्रचलित हुई। इस प्रकार वैदिक स्तोत्रसाहित्य आगे चलकर लौकिक साहित्य काल में दो भागों में विभक्त हो गया .

स्तोत्रात्मक तथा उपदेशात्मक काव्य

लौकिक साहित्य के विकास को भारतीय साहित्यिक परम्परा के दो प्रधान काव्य मिलते हैं।महाभारत एवं रामायण महाभारत को आख्यान काव्य , महाकाव्य आदि की संज्ञा मिली है। वाल्मीकि रामायण को प्रायः महाकाव्य की कोटि में रखा जाता है।महाभारत वस्तुतः धर्म ,अधर्म ,विवेक अविवेक के नैतिक द्वन्द से आरम्भ होता है। किन्तु इसमें महाकाव्यत्व के तत्वों के साथ उपदेश ,नीति ,राजधर्म,की व्यवस्था ,तत्कालीन प्रचलित समस्त विधाएँ एवं दर्शन प्रणालियों के विभिन्न रूप भी वर्तमान हैं महाभारतकार ने तो स्पष्टतः कह दिया है कि जो महाभारत में है वही सर्वत्र है जो महाभारत में नहीं है वह कहीं नहीं मिलेगा। इस प्रकार महाभारत काव्य एवं व्यवहार का एक साथ समर्थन करता है।ठीक यही स्थिति वाल्मीकि रामायण की भी है।वस्तुतः इन दोनों के मूल में व्यक्तिनिष्ठता का सिद्धान्त निहित है, महाभारत कालीन भारतीय सभ्यता व्यक्तिसत्ता में केन्द्रित हो उठी थी। व्यक्ति सत्तावाद में निहित एक प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं उसके पराक्रम का बखिधान इन दो प्राचीन महाकाव्यों के मूल में चरित्रात्मक तत्वों में व्यक्तिसत्तावाद का पूर्ण समर्थन मिलता है।वाल्मीकि ने समस्त उच्च गुणों के समुच्चय राम के चरित्र को अपने महाकाव्य का आधार बनाया बनाया।सामाजिक हितसाधन के लिए जैसे उन्होंने व्यक्तित्व को

और

था।सामाजिक हितसाधन के लिए जैसे उन्हीं का व्यक्तित्व पर्याप्त था। इस व्यक्ति सत्तावाद के साथ साथ सामाजिक हितसाधन की भावना इन आदर्श

चरित्रों के सदृश मिलता है । प्राचीन ग्रीक महाकाव्यों के व्यक्ति सत्तावाद की अन्तिम परिणति प्रेम एवं रोमांस में होती है किन्तु भारतीय महाकाव्यों के व्यक्ति सत्तामें प्रेम न मिल कर वैयक्तिक आदर्श से मंडित नैतिक संरक्षण की भावना मिलती है । उदात्त चरित्र के विपरीत अनैतिक प्रवृत्तियों के समर्थक खल पात्रों के ऊपर विजय इन महाकाव्यों का अन्तिम लक्ष्य था । इस प्रकार इनका मूल उद्देश्य सत् का असत् पर विजय है । फलत: भारतीय आदिम महा काव्यों के मूल में व्यक्ति सत्तावाद एवं सामाजिक संरक्षण की भावना मिलती है । महाभारत एवं रामायण इसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं[1]

इसके बाद शुद्ध लौकिक काव्यों के विकास का काल आया । इस परम्परा के कुमार संभव रघुवंश बुद्धचरित किरातार्जुनीय जानकी हरण रावण वध शिशुपाल वध नैषध चरित श्री कंठ चरित धर्मशर्माभ्युदय इत्यादि महाकाव्य इसी उपयोगिता के क्रम में प्रणीत हुए । महाकाव्यों के चरित्र नियोजन के अन्तर्गत नायक के धीरोदात्त धीर प्रशान्त धीर ललित एवं विरोधी नायक के धीरोद्धत चरित्र की कल्पना की गई । उच्च गुण से सम्पन्न प्रमुख नायक के अन्तर्गत समस्त मानव सहानुभूति को केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया गया क्योंकि इसका मूल कारण था उसमें समाज प्रतिष्ठित समस्त उच्च गुणों का समुच्चय (स्थापित करना) था । महाकाव्य के प्राय: सभी लक्षणकारों ने नायक के उदात्त चरित्रको महाकाव्य के लिए अनिवार्य बताया है । विरोधी नायक अपने अध: पतन के कारण गर्हिततम अनैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करता है । इन खल नायकों की श्रेणी में दुर्योधन, रावण, कंस, शिशुपाल आदि आते हैं[2] । काव्य का कलात्मक प्रवृत्ति के विकास के साथ साथ संस्कृत काव्यों में चरित्रनियोजन एवं नैतिक संरक्षण की भावना समाप्त होती गई । नायक यद्यपि उच्च गुणों का प्रतिनिधि है फिर भी किसी नैतिक संरक्षण की ओर वह उन्मुख न होकर वैयक्तिक समस्याओं में लग जाता है । श्री हर्ष कृत नैषधीय चरित की यही स्थिति है इसी के साथ धार्मिक परम्परा में भी महाकाव्य निर्मित होने लगे थे । अश्वघोष का बुद्ध चरित इसकी परम्परा का प्रथम महाकाव्य है । इसकी परम्परा में जैन .बौद्ध साहित्य के महाकाव्यों की गणना की जा सकती है।

.....

१: इसके लिए देखिए अध्याय ६

नैतिक संरक्षण सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। दूसरा ओर व्यक्ति मूल में उसका पाशविक प्रवृत्तियां नैतिक व्यवहारों से निरन्तर द्वन्द करता है। भारतीय धार्मिक काव्यों के मूल में यहा स्थिति है। इस दृष्टि से भारतीय धर्ममूलक महाकाव्यों में दो तथ्य स्पष्टत: परिलक्षित होते हैं।

१: नैतिक संरक्षा एवं विवेक पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा को स्थिर करने वाला तत्व।

२: नैतिक संरक्षण का विरोधी एवं विवेक पूर्ण सामाजिक मूल्यों का विघातक तत्व।

परवर्ती धार्मिक महाकाव्यों में मूल का इन तत्वों का समर्थन मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण का स्वरूप किंचित् विस्तृत है। जैसा कि द्वितीय अध्याय में काव्य मूल्यों के संदर्भ में देखा जा चुका है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

१: कला की दृष्टि से सर्व प्रथम काव्य का उद्देश्य आनन्द है किन्तु यह उपयोगितावाद का अप्रत्यक्ष मूल्य है।

२: कलापक्ष के पृथक उपयोगिता पक्ष को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

वैयक्तिक मूल्य : यश अनिष्ट का विनाश द्रव्यार्जन मनोकामना की पूर्ति राजाओं की प्रशंसा द्वारा उनका प्रिय बना रहना।

सामाजिक : संस्कार च्युत को संस्कार मुक्त करना लोक व्यवहार की शिक्षा अर्थ धर्म काम मोक्ष की प्राप्ति शिवेतरतत्वों से संरक्षा।

इन सामाजिक तत्वों के साथ कुछ धार्मिक या नैतिक मूल्य भी हैं। इसे इन्होंने द्वीतर काव्यमूल्य कहकर पुकारा है। इनके अनुसार धर्म के प्रचारार्थ व्याधि एवं दंड के रक्षार्थ निर्मित रचनाएं अवर काव्य श्रेणी में आती हैं क्योंकि इन उद्देश्यों की प्रधानता होने से कलाबोध को आघात पहुंचता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में उपयोगितावादी मूल्यों को पूर्ण प्रश्रय मिल चुका था। इनमें निहित सिद्धान्तों का स्वरूप इस प्रकार था।

वैयक्तिक मूल्यों के पीछे दो तथ्य निहित है:- शारीरिक पोषण एवं मानसिक सन्तोष । शारीरिक पोषण का सम्बन्ध भौतिक मूल्यों की प्राप्ति से है । एक ओर ये आत्मसंरक्षण चाहते है दूसरी ओर भौतिक विकास; अनिष्ट का विनाश द्रव्यार्जन एवं मनोकामना की पूर्ति का सम्बन्ध इसी से है । इसी के अन्तर्गत सामन्तों का विश्वासभाजन बने रहना या अन्तर्भुक्त किया जा सकता है ।

मानव मस्तिष्क के दो अर्जित गुण है: आत्म संरक्षण एवं सामाजिकता की भावना । किन्तु धीरे धीरे ये संस्कार का अंग बनकर मनुष्य मे सहजात गुण बन जाते है; ये है: आत्मरक्षा के गुणों का जब परिष्करण होता है तब उसमे सन्तोष वृत्ति उद्भूत होती है । आत्मरक्षा के दो स्वरूप है:- प्रथम ऐन्द्रिक स्तर पर शारीरिक अनिवार्यताओं की पूर्ति से सम्बन्धित एवं द्वितीय मानसिक स्तर पर वातावरण जन्य आपत्तियों से बचाव का भावना । फलत: यह उपयोगितावादी सिद्धान्त पीड़ा असन्तोष एवं वैयक्तिक संरक्षण आदि की भावनाओं पर आधृत है ।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के मूल में प्राप्त काव्यों का सामाजिक पृष्ठभूमि एक विशिष्ट सामन्तीय एवं धार्मिक वर्ग से सम्बद्ध था; दूसरे शब्दों में काव्य का सामाजिक दृष्टिकोण धर्मप्रवण था । यही कारण है कि जहाँ वैयक्तिक उद्देश्यों की पूर्ति का प्रश्न उठता है उसके लिए या वे अनैतिक कार्य करने के लिए तैयार नहीं है । मानसिक सन्तोष में यश भावना अत्यधिक सक्रिय थी । ये काव्य को कलात्मकता के प्रति अधिक सचेष्ट है; मानसिक सन्तुष्टि का सम्बन्ध विशेषकर उनको कलात्मकता से सम्बद्ध होने के कारण ये उसको स्पष्ट एवं ताज्र भावव्यंजक अभिव्यक्ति के लिए चेष्टा करते है: यही चेष्टा इन्हें काव्य को अधिकाधिक कलावादी दृष्टिकोण के समीप रखता है । भारतीय कला सम्बन्धी दृष्टिकोण कला की दृष्टि से कलावादी था ।

२: <u>सामाजिक मूल्य</u> वैयक्तिक मूल्यों के साथ साथ इन कवियों ने अपने काव्यमें सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की है । तत्कालीन सामाजिक रचना एवं विभिन्न वर्ग तत्सम्बन्धी मान्यताएँ सामाजिक विधि निषेध इनके काव्य की प्रमुख समस्याओं में है । काव्यशास्त्र की एक विशिष्ट परम्परा जो आचार्य भरत से लेकर पंडित राज जगन्नाथ तक प्राप्त हो जाता है; इसमें

धार्मिक मान्यता अत्यन्त अनिवार्य समझा गई । धार्मिक मान्यता का दृष्टि एवं तत्सम्बन्धी मान्यताओं का स्वीकरणएक निश्चित क्रम में समा रचनाकारों द्वारा अनिवार्य रूप से ~~प्राप्त होता~~ मान्य है। प्राय: समस्त काव्यों के आदि में मंगलाचरण एवं अन्त में फलश्रुति काव्य का लोकसंपादक सम्बन्धी पृष्ठभूमि के स्थापन में संलग्न है।इस दृष्टि से धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति सामाजिक उन्नयन एवं शिवेतर मूल्यों से रक्षा प्राय: धार्मिकता से सम्बन्ध रखते हैं।

इन धार्मिक मूल्यों को समाज संरक्षण के लिए अनिवार्य है । इसके लिए लौक व्यवहार का शिक्षण एवं धर्म अर्थ काम मोक्ष चतुर्थ जीवन पुरुषार्थों को आवश्यक बताया गया है । इस प्रकार भारतीय परम्पराओं में काव्य के लिए सामाजिक उद्देश्य ~~भी~~ रूपेण विहित स्वीकृत था ।

निष्कर्षत: वैयक्तिक रूप से इनके काव्य की प्रेरणा जो उनके काव्य रचना को उपयोगी बनाने में सक्षम है ।वह आत्म सुरक्षा ऐन्द्रिय तोष मानसिक तुष्टि से सम्बन्धित है । सामाजिक उद्देश्य के अन्तर्गत समाज नियमन के लिए आवश्यक अर्थादि मूल्यों की उपलब्धि लोक मंगल की भावना परम्परागत धार्मिक मूल्यों का प्रसार इनके काव्य के लिए अनिवार्य था ।

वैयक्तिक मूल्यों में ऐन्द्रिक तोष एवं मानसिक तुष्टि काव्य की मूल प्रकृति से किस प्रकार सम्बन्ध रखते हैं। यह प्रश्न काव्य रचना प्रक्रिया की दृष्टि से अधिक उपयोगी है । ऐन्द्रिक तोष प्राय: शारीरिक अनिवार्यताओं का सम्बन्ध वैयक्तिक अर्थ से जुड़ता जाता है । भारतीय कवियों में शारीरिक अतृप्ति नहीं है । उनका ऐन्द्रिक व्यक्तित्व परिमार्जित हो चुका है। भारतीय कवियों ने भूखे भिखारी की भांति अपना खाली पेट दिखा कर खाना नहीं मांगा है और यथाकिंचित् अर्थोपार्जन को अपना अन्तिम इष्ट भी नहीं स्वीकार किया है। भारतीय कवि प्रिय सामन्तों से उनका आर्थिक एवं अन्य ऐन्द्रिक अनिवार्यतायें पूरा करवाता रहा है । उनका दैनिक जीवन जैसा कि राजशेखर ने बताया है पूर्णत: सात्विक रहता था । फलत: ऐन्द्रिक एवं वैयक्तिक तृप्ति इनके काव्य के अवान्तर मूल्य हैं। मानसिक सन्तोष जो ऐन्द्रिक सन्तोष की अपेक्षा परोक्ष मूल्य है इन कवियों के लिए प्रेरणा स्रोत है । वह इनकी रचना प्रक्रिया को शक्तिमान बनाने में सहायक है । यशेच्छा का सम्बन्ध किसी उपयोगिता के मूल्य से न होकर रचनाकार की मानसिक अतृप्ति एवं तृप्ति से है।

जो उसे अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा के रूप में प्राप्त होता है। अतः यश उपयोगिता के अन्तर्गत होते हुए भी प्रत्यक्ष मूल्य नहीं है। सामाजिक मूल्यों का जहाँ तक प्रश्न है उसमें संरक्षण एवं नियमन की मूल प्रवृत्ति दृष्टिगत होता है। संरक्षण एवं नियमन काव्य के प्रत्यक्ष आधार नहीं है। वे प्रत्यक्षतः कलात्मक मूल्यों से मेल नहीं खाते। कलात्मक मूल्य अपनी प्रकृति में संरक्षण एवं नियमन वृत्ति को पचाकर उसे काव्य प्रकृति के अनुरूप बनाता है। जहाँ इन कवियों ने प्रत्यक्षतः कलात्मकता से पृथक उपयोगिता इनसे सम्बन्धित समस्याओं को चर्चा का है वहाँ काव्य औचित्य को हानि उठाना पड़ा है। यही कारण है कि संस्कृत काव्य साहित्य में कलात्मक मूल्यों की सजगता ने उपयोगितावादी मूल्यों को गौण बना दिया है।

निष्कर्षतः स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र एवं काव्य की परम्परा में कलात्मक मूल्य प्रमुख है। उपयोगिता के मूल्य हैं पर गौण रूप में। इसमें वैयक्तिक उपयोगिता का सम्बन्ध काव्य की रचना प्रक्रिया से अप्रत्यक्ष है। राजाश्रय इनकी अनिवार्यताओं की पूर्ति का सहायक मात्र था। ऐसी स्थिति में उनके काव्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अर्थ से नहीं था। वस्तुतः व्यावसायिक उद्देश्य अत्यल्प का था। इस राजाश्रय से उपयोगिता तत्व की वृद्धि न होकर कलात्मक मूल्यों की वृद्धि होती थी। जहाँ तक सामाजिक मूल्यों का प्रश्न है ये मूल्य गौण रूप में आए हैं। इस दृष्टि से इन कवियों का दृष्टिकोण कलात्मक अधिक कहा जा सकता है। यह उपयोगिता का मूल्य नैतिक सद्‌सद् विवेक धर्म काम मोक्ष लोक मंगल आदि मानकों से सम्बद्ध था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के पूर्व भारतीय काव्य परम्परा का सम्बन्ध मूलतः काव्य के कलात्मक मूल्यों से था। इस कलात्मक मूल्यों में रंजन वृत्ति की प्रधानता थी। उपयोगिता वादी मूल्य जीवन जिक मूल्यों के अंग बनकर प्रयुक्त हैं।

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि एवं उनके वैयक्तिक सामाजिक मूल्य

पहले कहा जा चुका है कि साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी के भक्ति काल भारतीय ललित काव्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उपदेशात्मक स्तोत्र एवं पौराणिक साहित्य से है। उपदेशात्मक स्तोत्र एवं पौराणिक साहित्य की उपयोगितामूलक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा चुका है। ये रचनाएँ अध्यात्मरामायण भागवत महाभारत विष्णु पुराण गीता इत्यादि धार्मिक रचनाओं को उपयोगिता सम्बन्धी प्रवृत्तियों से मेल खाती हैं। पौराणिक कथाओं के लिए सामाजिक रचना को धार्मिकता से अधिकाधिक सम्बद्ध करना पुराणकारों का मूल उद्देश्य था। पुराणों स्तोत्र साहित्य एवं उपदेशात्मक काव्यों में प्रायः वैयक्तिकता के तत्व अत्यल्प हैं। इसमें अधिकाधिक सामाजिक मूल्यों का ही कथन मिलता है। पौराणिक एवं भक्ति काव्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों का विवरण इस प्रकार है।

वैयक्तिक उपयोगिता

पुराण एवं धार्मिक साहित्य	:	हिन्दी का वैष्णव भक्ति काव्य
.....		.....
१: धार्मिक वृत्ति को जाग्रत करना	:	१: धार्मिक वृत्ति को जाग्रत करना
२: भक्ति एवं नैतिकता का प्राप्ति	:	२: भक्ति का अधिकाधिक प्रगति
३: मोक्ष अन्तिम मूल्य के रूप में	:	३: मुक्ति तथा भक्ति दोनों अन्तिम मूल्य के रूप में
४:	:	४: यश का प्रच्छन्न रूप
५:	:	५: यथामति गान

सामाजिक उपयोगिता

पौराणिक एवं धार्मिकसाहित्य	:	हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य
१: लोक मंगल की भावना	:	लोक मंगल की व्यापक पृष्ठभूमि
२: चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति	:	२ चतुर्थ पुरुषार्थों का प्राप्ति
३: कलिमल शमन	:	३: कलिमल शमन
४: मात्र भक्ति एवं धर्म की स्थापना	:	४: भाव भक्ति का स्थापना
५: धार्मिकता का प्रचार	:	५: धार्मिकता का प्रचार

किन्तु पौराणिक एवं धार्मिक साहित्य की समानता के साथ साथ इनमें मूल अन्तर भी है। अन्तर स्पष्ट है वैष्णव भक्त कवियों का काव्यबोध पुराणों एवं धार्मिक साहित्य से अधिक जागृत है। भक्त कवियों ने अपनी परम्परा से चले आते हुए उपदेशों एवं नैतिक प्रश्नों को काव्यबोध वृत्ति का अंग बनाकर ग्रहण किया है[१]। यह मिश्रण इतना अद्भुत है कि खटकता बहुत कम है। यही कारण है कि भक्ति काव्य एवं पौराणिक प्रवृत्तियाँ दोनों अपनी अपनी दृष्टि से इन काव्यों के माध्यम से क्रियाशील होता है। पौराणिक एवं उपदेशात्मक आदि धार्मिक काव्य निश्चित रूप से इन काव्यों पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ते हैं किन्तु यह प्रभाव काव्य मूल्यों में परिवर्तन नहीं आया है।

काव्य का रचना प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए उपयोगिता के इन सामाजिक वैयक्तिक मूल्यों का अध्ययन अपेक्षित है :

हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य : वैयक्तिक उपयोगिता के मूल्य

काव्य में वैयक्तिक तृप्ति जो चेतन रूप से काव्य को प्रभावित करती है आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार काव्य का मूल कारण है : यह तृप्ति सुख एवं दुख (pleasure and pain) से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है : इस प्रकार यह वृत्ति उपयोगिता का मूल्य न होकर कवि कर्म या स्वभाव का अंग है : किन्तु हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने जो मूल्य बताएं हैं उनमें आत्मरक्षा की भावना अधिक है। भौतिक स्तर पर यह आत्मरक्षा शारीरिक बचाव से सम्बद्ध है। किन्तु यह परिष्कृत होकर शारीरिक रक्षा से ऊँचे उठकर आध्यात्मिक सुरक्षा तक पहुँच जाती है। आत्मबोध धार्मिक वृत्ति का उदय मोक्ष एवं भक्ति की प्राप्ति आध्यात्मिक सुरक्षा से ही सम्बन्धित है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि वैयक्तिक उद्देश्यों के

.....

१: प्रावस्प्य इन एस्थेटिक्स / प्रायड, पृ ३८

अन्तर्गत इन्हीं मूल्यों को चर्चा करते हैं। जहाँ तक काव्य रचना प्रक्रिया का सम्बन्ध है आत्मशोध धार्मिक वृत्ति एवं मोक्ष तथा भक्ति इसके अंग हो सकते हैं। इनमें आत्मशोध धार्मिक वृत्ति एवं मोक्ष विशेष प्रधान हैं। काव्य का शालीन प्रवृत्तियों उत्तेजक होता है। इनके द्वारा उत्तेजक प्रवृत्तियों (Sensitive tendencies) का निर्माण किया जा सकता है किन्तु ये प्रवृत्तियाँ अन्ततः मनोवेगों की तृप्ति एवं उत्तेजन/न करके शमन एवं शान्तिदायक होती हैं। वैयक्तिक मूल्यों का अन्तिम स्थिति या यहाँ है : हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में इन वैयक्तिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक रहे हैं। इन मूल्यों पर पृथक पृथक विचार करना आवश्यक है।

वैयक्तिक मूल्य

आत्मशोध (self Sublimation) ये मूल्य मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्म सुरक्षा से सम्बद्ध हैं। आत्मरक्षा की मनोवृत्ति अभाव्यक्ति के क्षेत्र में एक ओर शोधक तत्व ईश्वर [जिसे पतितों के उद्धार कर्ता का संज्ञा मिला है] की शक्ति सम्पन्नता के निरूपण से सम्बद्ध है दूसरा ओर रचनाकार द्वारा कथित उसकी हीनता वृत्ति से। यह वैयक्तिक हीनता काव्य का मनोवृत्ति हो सकता है। हिन्दी का छायावादी काव्य इसी हीनता की भावना से पुष्ट है। आधुनिक छायावादी काव्य की हीनता आधीनीकरण विज्ञान का प्रभाव कौटुम्बिक एकता की छिन्नता धर्म के प्रति अनास्था बौद्धिकता के आगमन आदि से सम्बन्धित है। वैष्णव भक्त कवियों के समक्ष ये कारण नहीं थे। कुछ तो पारम्परागत कारण थे कुछ तत्कालीन सामाजिक कुल मिला कर ये राजनीतिक धर्म निरपेक्ष राज्यसत्ता के व्यवहार से त्रस्त सामाजिक अनाचार एवं भ्रष्टाचार से पीड़ित तथा मोक्षवादी धार्मिक विचार धारा के संस्थापन आदि से प्रेरित थे। इससामाजिक धार्मिक एवं नैतिक धारणाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आधुनिक काव्य की हीनता मनोवृत्ति धर्म निरपेक्ष होने के कारण आस्थाहीन त्रिशंकु की भाँति आधारहीन है किन्तु वैष्णव भक्त कवियों की आत्महीनता सोद्देश्य थी। आत्मशोध आत्मतृप्ति मोक्ष भवसागर से संस्तरण आदि जितनी भाववादी वृत्तियाँ उनको इस आत्म

शोध में निहित आत्महीनता में घुला मिला है।

आत्मरक्षा । इसका उल्लेख किया जा चुका है। आत्मरक्षा भौतिक स्तर पर न होकर पारमार्थिक स्तर पर है। अतः उसे आध्यात्मिक सुरक्षा के नाम से पुकारा जा सकता है। रहस्यवादी काव्य का बोध आध्यात्मिक तो है किन्तु वह या उद्देश्यहीन है या व्यक्तिनिष्ठ आनन्दमूलक अनुभूति पर आधित किन्तु भक्ति काव्य आध्यात्मिक सुरक्षा को अपने काव्य का मूल आधार बताता है। इस आध्यात्मिक सुरक्षा के अन्तर्गत भक्ति मोक्ष आनन्द एवं आनन्द की प्राप्ति त्रिदोषों का विनाश कलिमल शमन आते हैं। आध्यात्मिक सुरक्षा को मूलाधार बनाकर उच्चकोटि का साहित्य नहीं प्रणीत हो सकता है। इसमें उपदेशात्मकता आदि की प्रवृत्तियाँ प्रमुख हो जाती हैं।

भौतिक पलायन : इसका सम्बन्ध भी आत्मरक्षा की प्रवृत्ति से है। भारतीय परम्परा में भौतिक आसक्ति को हेय समझा जाता रहा है। इसके मूल में आध्यात्मिक सुरक्षा ही था। फलतः इसे आदर्शोन्मुख पलायन कहा जा सकता है। इस भौतिक पलायन के माध्यम से ये कवि सामाजिक नैतिक धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों का समर्थन करते दिखाई देते हैं। फलतः यह भौतिक पलायन उनके लिए अवरोधक तत्व न होकर सर्जक तत्व है।

इन भक्त कवियों के सम्पूर्ण काव्यमूल्य आत्मशोध आत्मरक्षा एवं भौतिक पलायन से ही सम्बन्धित है: धार्मिक वृत्ति का उदय, भक्ति की प्राप्ति, मोक्ष एवं भक्ति की स्वीकृति, रामगति गान इनका इसी मनोवृत्ति के सूचक हैं। ये निश्चित ही एक ओर काव्य मूल्य है दूसरा ओर धार्मिक मूल्य भी। इसमें आध्यात्मिक सुरक्षा की वृत्ति सम्भवतया सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हीनता एवं पलायन इसके अंग मात्र हैं। किन्तु इस हीनता एवं पलायन के पीछे अवरोधक भावनाएं नहीं है, अपितु, इनमें परिष्कृत व्यक्तित्व के तत्व निहित हैं।

सामाजिक मूल्य सामाजिक मूल्यों में इन कवियों ने लोक मंगल चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलिमल शमन, भक्ति की स्थापना एवं धार्मिकता के लोक व्यापी प्रचार को लिया है। यह उपयोगिता का मूल्य जाति विहीन

मात्र धर्म सापेक्ष है। भारतीय शब्दावली में इसे हितवाद या कहा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके लिए लोकमंगल का नाम सुझाया है। फलतः इनके काव्य में निहित सामाजिक मूल्यों को हितवाद या लोक मंगल वाद कहा जा सकता है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने अपने मंगलवाद के ही कारण भारतीय काव्य परम्परा में अपना अमिट स्थान बना लिया है।

नैतिक मंगलवाद की प्रेरणा : वैयक्तिक मूल्यों के अन्तर्गत यह सिद्ध किया जा चुका है कि इनमें ज्ञानता की वृत्ति मिलती है। इस ज्ञानता के पीछे भौतिक अनासक्ति विराग तथा भक्ति प्रेरणा का कार्य करती है। इनका अधिकाधिक सम्बन्ध समाज निर्माण से भी सम्बद्ध है। इसका मूल भौतिक समाज से पलायन का है। ये भौतिक उपासना को छोड़कर नैतिक उपासना के संसार की प्रतिष्ठा चाहते हैं। इस भौतिक पलायन के पीछे समाज एवं धार्मिक हित का भावना निहित है। यह मूल्यवृत्ति सामाजिकता की है। रचना प्रक्रिया की दृष्टि से कहा जा सकता है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि सामाजिकता की मनोवृत्ति से प्रभावित हैं। समाज का यह संरक्षण वृत्ति शिव The Good की वृत्ति है : काव्य का सम्बन्ध सौन्दर्य The Beautiful से है। सामाजिक रचना शक्ति को काव्य सृजन का आधार बनाकर ये कवि शिव एवं सौन्दर्य में अपना सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं।

निष्कर्ष : हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि रचना प्रक्रिया की दृष्टि से ज्ञानता भौतिक पलायन, आत्मरक्षा की मनोवृत्तियों से प्रभावित हैं। दूसरी ओर उनका मंगलवाद सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित है। इस प्रकार ज्ञानता, भौतिक पलायन, आत्मरक्षा, सामाजिकता एवं नैतिकता काव्य प्रेरणा के रूप में उच्चतम मूल्यों से युक्त भक्ति साहित्य के निर्माण में सहायक हैं।

अध्याय ५

गणित काव्य तथा सौन्दर्य बोध सिद्धान्त

भारतीय सौन्दर्यबोध तथा अध्ययन की परम्परा

भारतीय साहित्य में सौन्दर्यबोध सम्बन्धी धारणाओं के विषय में प्राय: पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आरम्भ में भ्रामक धारणाओं का प्रचार किया गया था। इनके अनुसार भारतीयों में सौन्दर्य दृष्टि या तो थी ही नहीं या न्यून थी। प्रो० वाइट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द फिलासफी आव ब्यूटीफुल' में कहा है कि आरम्भिक भारतीय आर्यों में सौन्दर्य दृष्टि हेय एवं तुच्छ थी।[१] भारतीय कला के शोध विशारद विंसेन्ट स्मिथ ने बताया है कि भारत की प्राचीन परम्परा में उदात्त एवं अनुदात्त कला को स्पष्ट करने के लिए दिए गए तर्क सामान्य एवं भ्रामक हैं।[२] प्रो० मैक्समूलर ने इसी प्रकार की धारणा का उल्लेख अपने मित्र प्रसिद्ध सौन्दर्य शास्त्री श्वोस्ट से किया था। उनके अनुसार प्राचीन भारतीयों में सौन्दर्य बोध वृत्ति का अभाव था।[३] भारतीय भाषा के एकनिष्ठ प्रेमी मैक्समूलर के मुख से सौन्दर्य के विषय में कही गई यह धारणा न्यायोचित नहीं है। अस्तु ज्ञानविज्ञान विषयक अन्य मतवादों की ही भाँति पाश्चात्य विद्वानों ने आरम्भ में भारतीय सौन्दर्य सिद्धान्त की धारणाओं के विषय में भी भ्रम उत्पन्न कर दिया था।

भारतीय सौन्दर्य बोधतत्व को स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास रवीन्द्रनाथ ठाकुर का था। रवीन्द्र बाबू ने इस सम्बन्ध में पहला लेख 'सौन्दर्यबोध' शीर्षक से सन् १९०६ में प्रकाशित कराया। इसके बाद १९२० में 'द आर्ट' शीर्षक से उनका एक लम्बा निबन्ध पुन: प्रकाशित हुआ। इनके सौन्दर्य बोध विषयक निबन्धों का संग्रह 'टैगोर आन आर्ट एन्ड एस्थेटिक्स'[४] नाम से प्रकाशित हो चुका है।

रवीन्द्र बाबू के बाद भारतीय विद्वानों में आनन्दकुमार स्वामी का स्थान अन्यतम है। उन्होंने शिल्प सौन्दर्य तथा सौन्दर्यबोध विषयक भारतीय

---

१ उद्धृत द इंडियन एस्थेटिक थ्योरी पृ० ४५

२ उद्धृत द इंडियन एस्थेटिक थ्योरी पृ० ४५ ।

३ उद्धृत द इंडियन एस्थेटिक थ्योरी पृ० ४५ ।

४ प्रकाशित : हन्टर नेशनल कलर सेन्टर, १९६१ ।

सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। आनन्द कुमार स्वामी की प्रसिद्ध पुस्तकों में 'द डान्स आव शिव' 'द ट्रान्सफार्मेशन आव नेचर' 'इन इंडियन आर्ट' तथा 'इन्ट्रोडक्शन टू इंडियन पेंटिंग' विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसके बाद एस० के० रामस्वामी का नाम उल्लेख महत्वपूर्ण है। इनकी पहली पुस्तक इंडियन एस्थेटिक थ्योरी सन् १९२८ तथा 'इंडियन कान्सेप्ट आव ब्यूटीफुल' सन् १९४७ में प्रकाशित हुई। इसी क्रम में तुलनात्मक विचारों को ध्यान में रखकर सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने सौन्दर्य तत्व नामक पुस्तक लिखी जिसका अनुवाद अभी थोड़े दिन हुए डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने उनकी पत्नी सुरमादास गुप्त की सहायता से किया है। इसके साथ ही साथ के० सी० पान्डेय के शोध प्रबन्ध Comparative Aesthetics का प्रथम भाग भारतीय सौन्दर्य बोध तत्व से ही सम्बन्धित है। अंग्रेजी विद्वानों में छोटी सी एक पुस्तक और भी महत्वपूर्ण है, वह है - प्रवास जीवन चौधरी की कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स।

काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करने वाले विद्वानों में एस० के० डे महोदय की दो पुस्तकें महत्वपूर्ण समझी जाती हैं: ऐस्पेक्ट ऑफ इंडियन इरोटिक्स तथा संस्कृत पोएटिक्स एज स्टडी आव एस्थेटिक्स[1]। इससे सम्बन्धित अन्य आर्टिकल्स जैसे गंगानाथ झा का जर्नल, विश्वभारती क्वार्टरली, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भन्डारकर ओरियंटल इन्स्टीच्यूट जर्नल आदि में देखे जा सकते हैं।

सौन्दर्यशास्त्र पर मराठी विद्वानों का योगदान महत्वपूर्ण समझा जाता है। इन मराठी विद्वानों की कृतियाँ प्रायः मराठी भाषा में ही हैं। इनकी गणना इस प्रकार है मढेकर की दो प्रमुख रचनाएं सौन्दर्यशास्त्र पर हैं। ये क्रमशः 'द आर्ट्स एन्ड द मैन' तथा 'ट लेक्चर्स आव एस्थेटिक्स' हैं। इसके बाद आपटे महोदय का स्थान आता है। उनकी सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी कृति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्य विद्वानों में वामन मल्हार जोशी, नरसिंह चिंतामणि केलकर, डा. वाटवे, डा० आर० पी० जोग, द० के केलकर के नाम विशेष रूप से

१: प्रकाशित ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज

उल्लेखनीय है। नए सौन्दर्य शास्त्रियों में वालिये, प्रभाकर पाध्येय जी, नाटलेडे वा. ना. देशपांडे, डा० मा. गो० देशमुख, दा० मालेराव, डा० [illegible] का नाम महत्वपूर्ण समझा जाता है।[1]

हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्रविषयक अध्ययन का अभी तक अभाव है इस विषय पर पहली पुस्तक डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा कृत सौन्दर्यशास्त्र है।[2] कला एवं शिल्पविज्ञान से सम्बन्धित डॉ० श्यामप्रसाद दिवेदी कृत प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद तथा आचार्य नन्दलाल वसुकृत शिल्पकला का नामोल्लेख इस दिशा में आवश्यक है। अभी हाल में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास पर एक छोटी सी पुस्तक 'पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास' नाम से प्रकाशित हुई है।[3] सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन के अभाव को देखते हुए [illegible] में रखकर समालोचक पत्रिका का सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक डा० रामविलास शर्मा के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है।[4]

सौन्दर्यबोध तत्व की एक विस्तृत परम्परा प्राचीनकाल से [illegible] काव्य रूप में सम्प्रदाय के अन्तर्गत चली आ रही है। इस परम्परा की कड़ी ईसा की दूसरी शती से लेकर १७ वीं शती पंडितराज जगन्नाथ तक अविच्छिन्न रूप से मिलती है। इसका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य पर पड़ा है पूर्वमध्यकाल में धार्मिक प्रभाव से निर्मित काव्य के सौन्दर्यमूलक अध्ययन के लिए अनेकरूपों में इसका आधार लिया गया है। हिन्दी के उत्तरवर्ती मध्यकाल में संस्कृत साहित्य के सौन्दर्य वृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। आधुनिक काल में हिन्दी में रस शास्त्र पर अधिक गंभीरता से विचार किया गया है। हिन्दी के आधुनिक लेखकों में स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, डा० नगेन्द्र, आनन्द प्रकाश दीक्षित, हेलविहारी गुप्त, राकेश, डा. रणवेश के नामोल्लेख विशेष महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्र के दृष्टिकोण से अध्ययन का क्रम अभी

.....

१: पृ. १०२ से १०३ समालोचक : सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक

२: प्रकाशित हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद १९५२.

३: पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास लेखक राजेन्द्रप्रतापसिंह १९६२

४: प्रकाशित विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा २०१४.

सवैधा नवीन है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त कृत सौन्दर्य तत्व के अनुवाद की भूमिका में डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर पृथक से पुस्तक लिखने की चर्चा की है वैसे उसकी विस्तृत भूमिका भारतीय सौन्दर्य बोध वृत्ति का परिचय कराने में पूरी पेरा सहायक है।

.....

भारतीय सौन्दर्यबोधतत्व की परम्परा [धार्मिक परिवेश में]

पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र का अंग समझा जाता रहा है, उसी प्रकार भारतीय चिन्ताधारा में भी सौन्दर्य के मूलतत्व, आनन्द का अध्ययन दार्शनिक परिवेश में ही हुआ। परवर्ती काल में काव्यशास्त्र के विकास होने के बाद इसे रस के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इसका मूल उपनिषदों में ही मिलता है।

भारतीय धर्म एवं दर्शन के आदिम स्रोत वेद हैं। ऋग्वेद में सुन्दर शब्द का प्रयोग किया गया है। डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित के अनुसार इसके अन्य पर्यायवाची शब्द ये हैं - पेशस्, अप्पस्, दृश, श्री, वपु, वर्चस्, प्रिय, कम्र, मन्द, चारु, प्रिय, रुप, कल्याण, शुभ, चित्र, स्वाद्, स्वप्न, यक्ष अद्भुत[1].

किन्तु इन शब्दों से सौन्दर्य तत्व का निर्माण नहीं किया जा सकता। इनसे आदिकालीन भारतीय मनीषियों की सौन्दर्यदृष्टि की सूचना मिलती है। डा० दीक्षित ने इन शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी आधारों का भी सम्यक् रुप से उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रत्येक शब्द वस्तु के अन्तर्गत निहित विशिष्ट प्रकार के भाव के सूचक हैं। उदाहरण के लिए पेशस् शब्द को ले लीजिए। परवर्तीकाल में इसके पर्यायवाची शब्द के रुप में मसृण, कोमल तथा पेशल आदि का प्रयोग मिलता है। वैदिक साहित्य में इसे अलंकरण का पर्याय माना गया है किन्तु यहाँ विश्वपेशस्, सहस्रहिरण्यपेशस्, हिरण्यपेशस् पदों का प्रयोग प्राप्त है। यहाँ यह शब्द प्रयोग सौन्दर्य के व्यापक परिवेश का सूचक है। यास्क हिरण्यपेशस् शब्द को आत्मा एवं आनन्द का समन्वय मानते हैं[2]। ऋग्वेद में एक अन्यस्थल पर कहा गया है कि अलंकार विषय को सुन्दरता नहीं प्रदान करते अपितु विषय ही अलंकार को सुन्दर बनाता है। इस प्रकार आनन्दबोध की आरम्भिक स्थिति ऋग्वेद में निहित ज्ञात होती है। उपनिषद्काल में आनन्द शब्द का प्रयोग एवं उसकी व्याख्या भारतीय धार्मिक सौन्दर्यबोध तत्व को और अधिक पुष्ट करता है इसकी स्थिति इस प्रकार है। ईशावास्य तथा कठोपनिषद् में दो स्थलों पर कवि शब्द का उल्लेख मिलता है[1]। ईशोपनिषद् में कवि को ब्रह्म का समकक्षी

१: सौन्दर्य तत्व: मूलतत्वक सौन्दर्यनाथकाव्यशास्त्रक च : रुपान्तरकार आनन्दप्रकाश दीक्षित भूमिका पृ० ३६, ३७ .

~~एवं कठोपनिषद् में 'अध्यात्मविद्या के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए बताया गया~~

एवं कठोपनिषद् में 'उसे अमृतरूप तत्व का ज्ञाता कहा गया है[1]। कठोपनिषद् में 'अध्यात्म विद्या के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह विद्या हृदयस्थ हो जाने पर मर्त्य के लिए अमृततत्व बन जाता है[2]। ईशोपनिषद् में 'अविद्या को मृत्यु एवं विद्या को अमृत तत्व की संज्ञा मिली है[3]। प्रश्नोपनिषद् प्राण के अन्तर्गत आनन्द की प्रतिष्ठा का उल्लेख है[4]। यहाँ प्रश्न ६ के अन्तर्गत भारद्वाज ने सुकेशा से अन्तपुरुष को १६ कलाओं' से युक्त बताया है। बृहदारण्यक में 'आनन्द तत्व का सम्भवतया सर्वप्रबल समर्थन प्राप्त होता है। इसमें 'उपनिषद् को मधुविद्या की संज्ञा देकर समस्त वस्तुओं के सार तत्व को मधु कहा गया है[5]। इस समस्त पदार्थों' में' चन्द्र, विद्युत, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य तथा आत्मा को मधु की संज्ञा मिली है[6]।

इसी उपनिषद् के अन्तर्गत विद्वानों' को आनन्दलोक एवं अज्ञानियों' को तमसावृत लोक का अधिकारी बताया गया है। एक अन्यस्थल पर वायु के द्वारा मधुदान, सिन्धु के द्वारा मधुक्षरण, तथा मधुरात्रि, मधूषा, मधु द्यौ, मधु वनस्पति, मधुअर्यमा एवं मधु गौ का उल्लेख मिलता है[7]।

.....

१: सौन्दर्यतत्व भूमिका भाग।

१: ईशोपनिषद् मंत्र ८ तथा कठोपनिषद् तृतीय वल्ली श्लोक १४

२: कठोपनिषद् वल्ली ६: १५ ~~बृहदारण्यक उपनिषद् २:५,७,८,९,१०~~

३: ईशोपनिषद् मंत्र ११।

४: ईशोपनिषद् केनोपनिषद् ३:३।

५: बृहदारण्यक उपनिषद् २:५,७,८,९,१०,११,१२,१३।

६: बृहदारण्यक उपनिषद् ४:३:२७, ४:४: ११, ६: ३: ६।

बृहदारण्यक के समान ही आनन्द की स्थापना में छान्दोग्यउपनिषद् का भी महत्वपूर्ण सहयोग है। छान्दोग्य उपनिषद् में आनन्द को रस कहा गया है। इस दृष्टि से इसका तृतीय अध्याय महत्वपूर्ण है। इसके आरम्भ में पृथ्वी, आप, ओषधि, पुरुष, वाक्, ऋक्, साम, उद्गीथ के रस को क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर गमनशील बताया गया है। उपनिषद्कार ने इस आनन्द उपभोग एवं कथन की परम्परा का भी उल्लेख किया है। मधुज्ञान का उपदेश ब्रह्मा ने विराट् प्रजापति को दिया था।

प्रजापति ने मनु से कहा, मनु ने प्रजावर्ग के प्रति कहा। अरुणनन्दन उद्दालक ने इस मधुविद्या का उपदेश अपने पिता से प्राप्त किया था। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों के बीच इस मधु विद्या का पूर्ण प्रचलन हो चुका था।

रस एवं आनन्द का उल्लेख उपनिषदों में एक विशेष महत्वपूर्ण संदर्भ में हुआ है। वह संदर्भ है आत्मा एवं ब्रह्म का ब्रह्म का आनन्दात्मक स्वभाव उपनिषदों की स्थापना का प्रतिफल है। इसका विकास उपनिषद् काल से लेकर हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य तक एक निश्चित परम्परा के रूप में मिलता है। वैष्णव भक्ति के सौन्दर्यमूलक अध्ययन को स्पष्ट करने के लिए इसकी व्याख्या अत्यन्त आवश्यक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के इस आनन्दस्वरूप की प्रतिष्ठा अत्यधिक प्रबल शब्दों में की गई है। तैत्तिरीय में एक स्थल पर आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्, सच्चिदानन्द ब्रह्मम्, आनन्दोब्रह्मात् व्यजनेति कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विज्ञान आनन्द के सार्वभौम उद्देश्य का कथन मिलता है। वह कथन इस प्रकार है –

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति।

.....

१: अध्याय ३: खंड : ११ : मंत्र ४, ५

एतद्वा एतस्मादिज्ञानमयात् अन्यो न्तर आनन्दमय: तस्य प्रियमेव शिर : मोदो दक्षिण पक्ष: । प्रमोदो उत्तर पक्ष: । आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।[1]

ब्रह्म का यही आनन्दवादी स्वरुप ब्रह्मसूत्र के आनन्दाधिकरण के क्रम में स्वीकृत हुआ इसी के परिणामस्वरुप द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों में ब्रह्म का आनन्दमूलक स्वभाव प्रधान होता गया। मध्यकाल में अवतार और लीला का सम्बन्ध इसी आनन्द तत्व से जोड़ा गया इस लीलातत्व में सौन्दर्यानुभूति के विविध स्तर दृष्टिगत होते हैं।

इस परम्परा से स्पष्ट है कि भारतीय रसबोध एवं सौन्दर्यानुभूति आरम्भ में अध्यात्म क्रिया के माध्यम से अवतरित हुई। इस अध्यात्मक्रिया के आनन्दतत्व को सत्वप्रधान मानते हुए रवीन्द्रनाथटैगोर ने इसे भारतीय मनीषा का कोमलतम तत्व कहा है। उनके अनुसार अध्यात्म के माध्यम से सौन्दर्य दर्शन भारतीय कला का स्वैतोत्कृष्ट उदाहरण है[2]। आनन्दकुमार स्वामी भारतीय कला के आध्यात्मिक तत्व को उसकी मूलात्मा स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार पूर्ण सत्य एवं शुभ की उच्चतम अवस्था सम्भव है, उसी प्रकार पूर्ण सौन्दर्य का भी अपना उच्चतम मूल्य है। वही मूल्य हा रस है। भक्त जिस प्रकार पूर्ण सत्य एवं पूर्ण शुभ को समझ लेता है, ठीक उसी प्रकार उनकी अन्तरात्मा पूर्ण सौन्दर्य का भी दर्शन कर लेती है[3]। वस्तुत: औपनिषदिक आनन्दानुभूति जो रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति की चरम सीमा कही जाती है। वही वैष्णव भक्तिकाव्यों में अन्तर्व्याप्त है। एस० के० राम स्वामी के अनुसार

** .....

१: बृहदारण्यक उपनिषद् ३:९ : २८

२: टैगोर आन आर्ट्स एन्ड एस्थेटिक्स पृ० ३, ४.

३: "The Dance of Shiva - ०००, And yet there remains philosophers firmly Concieved that an absolute Beauty (रस) exists just as others maintain the conceptions of absolute goodness and absolute truth, the lovers of God identify these absolutes with Him.

भारतीय सौन्दर्य बोध कला और अध्यात्म दोनों में एकमेव हो गया है यही भारतीय कला का सर्वोच्च लक्षण है — The Aesthetic Emotion of आनन्द and Spiritual emotion of आनन्द are brought together that we are able to realise their interrelation in a manner which western thought has never known.१

*

आनन्द भारतीय काव्य एवं अध्यात्म दोनों का अन्तिम तत्व है इसी तत्व को उपनिषद् में अन्तिम प्रतिष्ठा मिली है तथा वैष्णवाचार्यों एवं भक्त कवियों ने सामान्य स्वरूप परिवर्तन के साथ साथ ब्रह्म के इसी स्वरूप को अपने लिए एकमात्र आराध्य बताया है। यही ब्रह्म का यह आनन्दात्मक स्वरूप पुष्टि पुरुषोत्तमरस, परानन्द, लीलानन्द आदि नामों से पुकारा गया है। उपनिषदों में कथित ब्रह्म को रसात्मक तत्व को काव्य एवं भक्ति दोनों के लिए आधारस्वरूप भी कहा गया है। विशेष रूप से बृहदारण्यक में कथित 'रसो वै सः' की श्रुति का पुनराख्यान केवल भक्त आचार्यों ने ही नहीं अपितु मम्मट, विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने भी किया है। इस प्रकार वैष्णव भक्ति काव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन की पृष्ठभूमि में इस परम्परा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

.....

१: इंडियन एसथेटिक थियरी, पृ० ५०.

रससम्बन्धी आरम्भिक धारणा के विषय में मतभेद है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार आरम्भिक धारणाएं चार रूपों में हैं।

१-साहित्य रस २-आयुर्वेद रस ३-साहित्य रस ४-मोक्ष या भक्तिरस[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में आठ रसों का उल्लेख मिलता है। पृथ्वीरस, आपरस, औषधिरस, पुरुषरस, वाकरस, ऋक रस, सामरस, उद्गीथ रस, इनका यदि वर्गीकरण करें तो वह इस प्रकार का होगा।

१ आयुर्वेद रस - इससे सम्बन्धित आप एवं औषधिरस है।

२ साहित्यरस, वाक् रस, ऋकरस, सामरस।

३ ब्रह्म से सम्बन्धित उद्गीथ रस।

पृथ्वी एवं पुरुष रस सम्भवतः अधिक स्थूल है। पृथ्वीरस पृथ्वी से प्राप्त विभिन्न खाद्यान्नों के भोग से सम्बन्धित है पुरुष रस स्वतः भोग रस है[2]।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर पुराण के अर्थ एवं वाक् से निष्पन्न रस की चर्चा मिलती है। वह इस प्रकार है — "जो इसकी उत्तर दिशा की किरणें हैं, वे ही उसकी उत्तरदिशा की मधुनाड़ियां हैं। अर्थवाङ्गिरस श्रुतियां ही मधुकर हैं, इतिहास पुराण ही पुष्प हैं तथा सोमादि रूप ही अमृत आप है। प्रस्तुत उद्धरण में प्रयुक्त अर्थ एवं वाक् रस जिससे श्रुतियां पुष्ट एवं इतिहास पुराण आदि संदर्भित हैं काव्यरस के सामानान्तर हैं। रस सम्बन्धी औपनिषदिक धारणाएं निश्चित ही उस वस्तु के सार या तत्व से मिलने वाले आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त है। किन्तु रस सम्बन्धी भरत कथित मान्यता प्रायः भौतिक स्तर पर है। उन्होंने रस के आनन्द को पानक रस या स्वादरस के समान बताया है। इन्होंने इस विषय पर नाट्य शास्त्र के छठें अध्याय में सविस्तार उल्लेख

१: धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक : पृ० ५२५

२: छान्दोग्य उपनिषद् : अध्याय १: खंड १ : मंत्र २

३: छान्दोग्य उपनिषद् : अध्याय ३: खंड ४: मंत्र १

करते हुए बताया है कि नाट्य रस मूलत: व्यंजन से निष्पन्न आनन्द की भांति[1] है। रस की सूक्ष्मता एवं भोग परक सम्बन्धों को के लिए वात्स्यान का काम सूत्र प्रमाण है। वस्तुत: छान्दोग्य उपनिषद् में कथित पुरुष का रस का यह प्रतिनिधित्व करता है। इसका संकेत इस प्रकार है -

रसो रति : प्रीतिभावो रागो वेग: समाप्तिरिति रति पर्याय:
काम सूत्र : २:१:६५

शास्त्राणां विषयस्तावद्ब्रह्मानन्द रसानुग : का .सू.२:२: ३२

तादिष्ट भाव लीलानुकीर्तनम् . : ६::२: २५.

इस अन्तिम सूत्र को काम सूत्र के जयमंगल टीका में इस प्रकार व्याख्या है।
[नायकस्य शृंगारादिषु यो दृष्टो रसो भाव: स्थायिसंचारि-
सात्विकेषु लीला चेष्टितानि तेषामनुकीर्तनम्] [1]रस और भाव से अभिप्राय शृंगारादि रस और स्थायी संचारी सात्विक आदि भावों का है।[2]

यहाँ निश्चित रुप से रस को लौकिक सुख भोग के स्तर पर रखा गया है। व्यंजन एवं भोग सम्बन्धी आनन्द को रसानन्द से उपमित करनावस्तुत: नाट्य या काव्य रस को भौतिक स्तर पर ही रखताहै। किन्तु भरत की दृष्टि पूर्ण लौकिक नहीं थी। उसमें अलौकिकता का संकेत भी मिलता है भरत ने रसदेव निरुपण के संदर्भ में रसों का सम्बन्ध विभिन्न देवों से स्वीकार किया है। भरत के पश्चात अन्य रसाचार्य रस के आध्यात्मीकरण की ओर बल देते हैं। रस के सम्बन्ध में इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है।

रस निष्पत्ति के लिए भरत द्वारा प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए मध्यकाल तक अनेकानेक दार्शनिक मतवाद उपस्थित हो गए थे ये मतवाद इस बात के साक्षी हैं कि भरत परवर्ती अलंकार शास्त्री रस को आध्यात्मिक धारणा से पुष्ट करने की ओर सजग थे रस निष्पत्ति को प्राय: समस्त आचार्यों ने ब्रह्मानुभव की मानसिक बोध वृत्ति के समकक्ष रखा इसी के परिणामस्वरुप तत्कालीन समाज में प्रचलित दर्शन की ओर विद्वानों का ध्यान गया इसी के परिणाम स्वरुप रस से सम्बन्धित निम्न दार्शनिक मतवाद स्पष्ट रुप से परिलक्षित होते हैं

१ नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ श्लोक सं. १०, तृतीयभाग
२ ॰ धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक पृ. ४२६.

शंकुक	अनुकृतिवाद	न्यायदर्शन
भट्टनायक	भोगवाद	अद्वैतदर्शन
अभिनवगुप्त	अभिव्यक्तिवाद	अद्वैतशैवदर्शन
मम्मट	〃	अद्वैतदर्शन
कविराज विश्वनाथ	अनुमितिवाद	〃
पंडितराज जगन्नाथ	पूर्वअनुमितिवाद	〃

इसी धारणा के पोषण के उपरान्त वैष्णवभक्तिकाव्य के रस सिद्धान्त में भी निम्न मतवाद दृष्टिगत होते हैं, इनका सम्बन्ध शुद्ध दार्शनिक धारणा से है :

१ मधुसूदन सरस्वती	प्रतिबिम्बवाद	अद्वैतदर्शन
२ वल्लभाचार्य	आरोपवाद	शुद्धाद्वैत
३ रूपगोस्वामी	पुष्टिवाद	द्वैतदर्शन

रस सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित है आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार रस सौन्दर्य बोध या सौन्दर्य संवेदन Aesthetic Sensibility है। रस का सम्बन्ध मनस् की पूर्ण सात्विक स्थिति से माना गया है। पंडितराज जगन्नाथ सत्वोद्रेक को रस की प्रथम अनिवार्यता बताते हैं। इस प्रकार रसानुभूति दार्शनिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्यक्षत: भारतीय सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या में सहयोगी है। इस क्रम में पाश्चात्यदर्शन शास्त्र की मान्यता प्रारम्भ से ही अलग रही है। सौन्दर्यशास्त्र पाश्चात्यदर्शनशास्त्र का एक अंग है जिस प्रकार सत The Truth चित् The Consciousness एवं आनन्द The Bliss का अध्ययन करना भारतीय तत्वशास्त्र की आरम्भिक एवं मूल समस्या रही है उसी प्रकार पाश्चात्यदेशों, विशेषकर ग्रीक में सत्य The Truth शिव The Good तथा सुन्दर The Beautiful के अन्तर्व्याप्त मूल्यों का अनुशीलन भी दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है उनके अनुसार दर्शन मूल्यों का अध्ययन करता है। सत्य के साथ सौन्दर्य भी एक तात्विक मूल्य है। फलत: इसका अध्ययन दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत होना चाहिए। सौन्दर्य एवं भारतीय आनन्द मूलत: एक प्रकार के ही शब्दरूप हैं. सौन्दर्य की

---

१ द हार्मोनी ऑव थिंग्स पृ. ३६.

अन्तरात्मा आनन्द है। इस प्रकार भारतीय तत्वशास्त्र ने भी आरम्भ से ही अपने व्यापक क्षेत्र में इस आनन्द तत्व को अपनेअध्ययन का विषय बनाया।

सौन्दर्योद्भूति या रस सम्बन्धी इस धारणा का प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी के वैष्णवभक्तिकाव्यों पर पड़ा है। यह प्रभाव न केवल मधुसूदन, वल्लभाचार्य एवं रूपगोस्वामी के ही माध्यम से आया, अपितु इसका स्रोत उनकी भक्ति तथा काव्य दोनों में खोजा जा सकता है। वैष्णव भक्ति काव्य के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि तत्कालीन काव्य समाज में रस उनकी काव्यचर्चा का मूल विषय बन चुका था। यह तथ्य उनकी रस सम्बन्धी धारणाओं से पुष्ट है[१] दूसरी ओर भक्ति का स्वरूप अधिकाधिक प्रेममूलक था। इस प्रेम का आरम्भिक रूप शृंगारपरक है। इनके प्रेम का आधार लीला है लीला लौकिकता से अलौकिकता की ओर गतिशील है। इस लीला का आधार प्रेममूलक शृंगार है। भक्ति के क्षेत्र में इस लीलापरक प्रेम या शृंगार को आध्यात्मिक अर्थ दिया गया है। यह लीलापरक प्रेम शृंगार मूलत: सौन्दर्यबोध का आधार है क्योंकि वह सौन्दर्य संवेदन को जागृत करता है। अत: हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए उसकी भक्तिपरक पृष्ठभूमि का अध्ययन कर लेना अपेक्षित है।

.....

१: देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध : वैष्णव भक्त कवियों की रस सम्बन्धी धारणा :

मध्यकाल के पूर्व वैष्णव भक्ति का स्वरूप प्रेममूलक न होकर आचार परक था वैष्णव भक्ति के आरम्भिक ग्रन्थ आगम, संहिता एवं वैखानस साहित्य कर्मकाण्ड प्रधान है। इस कर्मकाण्ड के बाद वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत शम प्रधान मनोवृत्ति का विकास हुआ महाभारत के शान्तिपर्व तथा गीता में निर्दिष्ट भक्ति के सिद्धान्त प्रेममूलक न होकर शममूलक है गीता में 'भक्ति के निम्न साधनों' का यत्र तत्र उल्लेख मिलता है। एक स्थल पर ज्ञान आदि के लिए प्रणिपात प्रणिधान, परिप्रश्न एवं सेवा इन चार साधनों का उल्लेख किया गया है। एक दूसरे स्थल पर कहा गया है कि चार प्रकार के भक्त मेरा भजन करते हैं।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और निष्काम[1]।

इन चारों में प्रेममूलाभक्ति के लिए कोई संकेत नहीं है —

उपर्युक्त कथित ४ भक्त रूपों में ज्ञानी को अत्यधिक महत्ता मिलती है। इसी संदर्भ में कहा गया है कि एकीभाव से नित्य युक्त में स्थित भक्त ज्ञानी अति उत्तम है, क्योंकि (उस) तत्वज्ञाता ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है अध्याय ६ में भजन, नाम, गुणकीर्तन, बार बार प्रणाम का उल्लेख मिलता है इसी अध्याय में 'देवताओं' की पूजा, पत्र, पुष्प फल, तोय के अर्पण का भी उल्लेख मिलता है एक अन्य स्थल पर नित्य निरन्तर प्रेम, निष्काम भाव से नाम, गुण, प्रभाव[2], श्रवण (अपने), कीर्तन, मनन, पठन, पाठन, मन, वाणी, तथा शरीर का अर्पण, भक्ति प्रेम हर्ष से विह्वलता पूर्वक भजन, विनय, दंडवत्, एवं पारायण आदि साधनों का उल्लेख है अर्जुन की तत्व श्रवण लालसा को यहाँ उत्कृष्ट कोटि का कहा गया है

अमृतम्[3] कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्

इस के माध्यम से अर्जुन तत्वज्ञान के प्रति अपनी तीव्र लालसा प्रकट करते हैं।
अध्याय ३ में समर्पण एवं १३ में श्रवण का उल्लेख मिलता है।

१: श्रीमद्भगवतगीता अध्याय ३, श्लोक ३० तथा अध्याय ४ श्लोक ३४

२: गीता: अध्याय ७ श्लोक सं. ७, १७ तक तथा अध्याय ६.
श्लोक सं. १२, १३ २१, २५, ३४.

२: गीता अध्याय १० श्लोक सं. १०, १८

गीता की भक्ति के साधन विषयक धारणा में ज्ञान, योग एवं भक्ति तीनों एकमेव हो गये हैं। इन साधनों का भक्ति योग के साथ विरोध नहीं है। गीता में कथित भक्ति के साधनों का संकलन किया जाय तो वह इस प्रकार है —

प्रतिपात, परिप्रश्न, प्रणिधान, सेवा, मनन, अनन्यप्रेम, समर्पण, कीर्तन, पुष्प, पत्र, पुष्प, फल तोय का अर्पण, प्रणाम, ध्यान, श्रवण, मनन, पठन, विनय, दंडवत् तथा भजन। भक्ति के इन साधनों में मानसिक आसक्ति विषयक ध्यान अनन्यप्रेम, एवं समर्पण है भक्ति के इन साधनों का एक निश्चित क्रम भागवत में प्राप्त होता है। भागवत के अनुसार ये साधन श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन है। निश्चित ही भक्ति के इन साधनों में सबको समान महत्व कदापि समझा जाकर सख्य एवं आत्म निवेदन को अधिक महत्व दिया गया है। भागवत का मूल प्रतिपाद्य आत्मनिवेदन एवं सख्य भक्ति है आगे चलकर मधुर भक्ति के विकास में इसको अत्यधिक महत्वपूर्ण समझा गया परिणाम स्वरूप भक्ति के परवर्ती ग्रन्थों में भक्ति के साधनों के स्थान पर उसकी मानसिक भूमिका भक्त का आराध्य के प्रति अत्यन्त आसक्ति का सूचक है शाण्डिल्य एवं नारद भक्ति सूत्रों में कथित भक्ति की परिभाषाओं में यह आसक्ति तत्व प्रधान है मध्यकालीन भक्ति कर्ममूलक के स्थान पर आसक्ति मूलक ही अधिक थी

श्रीहरिभक्तिरसामृत सिन्धु में भक्ति की इन भूमिकाओं का उल्लेख है। ये हैं —

श्रद्धा > साधुसंग भजन > निवृत्ति निष्ठा रुचि > आसक्ति भाव प्रेम[1]।

श्रद्धा की अन्तिम परणति प्रेम में है। मध्यकालीन वैष्णवभक्तों ने भक्ति की अन्तिम कसौटी प्रेम निर्धारित की। भागवत में भी इस भूमिका का उल्लेख है। इसके अनुसार श्रवण, मनन, कीर्तन, एवं आराधन से निरन्तर आसक्ति में वृद्धि होती है। और यही आसक्ति अन्त में तीव्र भागवत प्रेम में परिणत हो जाती है[3]। भक्तिरसायन में भी भक्ति की इसी भूमिका का उल्लेख है रसायनकार के अनुसार भक्ति का अन्तिम साध्य परानन्द है इस परानन्द की भूमिका इस प्रकार है।

.....

१ भागवत : ७:५: २३

२: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व विभाग, प्रथमभक्ति लहरी ४ श्लोक सं. ५, १० तक

३: भागवत स्कन्ध १ अध्याय २ श्लोक ११, १५ तक

पातंजलि अपने भाष्य के भक्तिसूत्र में रागमूला भक्ति के विषय में कहते हैं कि –

इच्छात्मिका भवति राग, तस्यैव वस्तुसाक्षात्कारोपयोगिन्यव्यभिचारिण्यनवच्छिन्ना भक्तितत्वम्[1]

वस्तुतः प्रेममूला भक्ति का विकास पुराणों के विशिष्ट योग से हुआ। मध्यकालीन प्रेम मूलाभक्ति का आन्दोलन इतना विस्तृत था कि परम्परा से चले आते हुए अन्य मोक्ष मार्ग उसी में समाहित हो गये। यही कारण है कि भक्ति के इन सूत्रों में ज्ञान, योग, कर्म आदि को गौण महत्व दिया गया। इसी क्रम में आचार्य मूलक भक्ति के साधनों को साधनमात्र मानकर उसे स्वात्म समर्पण से ऐक्य समझा गया[2]। गीता के भक्तियोग में कृष्ण ने भक्ति के निम्न साधनों का उल्लेख किया है श्रद्धा, अनन्ययोग, संयम, दयालुता, ममता एवं अहंकार का त्याग, समर्पण, समव्यवहार शीलता, स्थिरबुद्धि[3]।

भक्ति की प्राप्ति के लिए इन साधनों का प्रयोग यद्यपि भक्तियोग के नाम से स्वीकृत है किन्तु उसमें ज्ञान के तत्व अधिक हैं। गीता के भक्ति सम्बन्धी स्वरूप से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भक्ति की सामान्य धारणा गीता के रचनाकाल में की जा चुकी थी किन्तु गीता में निर्दिष्ट भक्ति ज्ञानयोग के ही रूप में स्वीकृत है। उसकी स्वतंत्र रागात्मक सत्ता का यहाँ अभाव है। भक्ति के साधनों का संकेत प्रथमः वाह्निध्न्य संहिता एवं महाभारत के शान्तिपर्व में मिलता है। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार ये साधन दो प्रकार के हैं- आचार एवं ज्ञान विषयक। ऐकान्तिक एवं गुह्य मत के नाम से श्रद्धा भक्ति का यहाँ उल्लेख है। सम्भवतः प्रेममूला भक्ति का मूल स्रोत यही गुह्य या एकान्तिक मत ही है। भक्ति के आरम्भ में मन्, ज्ञातृ से सम्बद्ध होने के कारण इसका अर्थ मननीय भाव के अर्थ में प्रयुक्त होता था। भागवत में भक्ति के नौ साधनों का उल्लेख है- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य सख्य, आत्मनिवेदन, इन साधनों में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, तथा वन्दन स्थूल सेवायें हैं। दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन ये वस्तुतः मानसिक आसक्ति के रूप हैं। इन मानसिक आसक्तियों को आधार बनाकर ही प्रेममूला भक्ति में विस्तार किया गया। मध्यकालीन काव्य का मूलाधार यही प्रेम है। सौन्दर्यबोध के लिए प्रेम सबसे आधार है। प्रेम सम्बन्धी मानसिक वृत्तियाँ सौन्दर्यबोध के परिवेश में ही

.....

१: पा० २, सू.७.
२: शाण्डिल्यभक्ति सूत्र, अ० २, सूत्र ६ ... ८ तक.
३: भक्तियोग अध्याय में संकलित.

प्रगट होती है'। किन्तु भक्त कवियों का प्रेम सामान्य स्तर पर न होकर आध्यात्मिक कोटि का है। उसका मूल आलम्बन वह सामान्य व्यक्ति का प्रेममूलक व्यवहार न होकर भागवद्लीला से सम्बन्धित है। फलत: प्रेम को स्पष्ट करने के पूर्व भागवत स्वरूप एवं लीला का अध्ययन करना आवश्यक है।

आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि उपनिषद् का सौन्दर्य सम्बन्धी स्थापना मेंआनन्दवाद प्रमुख है। प्रो० रानडे के अनुसार उपनिषद् को मूलात्मा आनन्दवाद है[1]। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में सृष्टि का तात्पर्य माया से है किन्तु भागवत के अनुसार वह लीला शब्द का पर्याय है। वह सृष्टि को ईश्वर का क्रीडाभाव बताता है सृष्टि वस्तुत: द्विमुखी है (जिसमें एक ओर मनुष्य तथा उसकी आत्मा है तथा दूसरी ओर जगत है[2]। औपनिषदिक परम्परा के अनुसार यह आत्मा सृष्टि का ~~सर्वोत्तम~~ सर्वोत्तम तत्व है क्योंकि वह ब्रह्मांश है। ब्रह्म स्वभाव निरूपण के अन्तर्गत उपनिषद में कथित ब्रह्मानन्द पुराणों का भी ब्रह्मानन्द बन गया। उधर भाष्य परम्परा में बादरायण सूत्र के आनन्दाधिकरण के अन्तर्गत स्वीकृत इस आनन्द तत्व को परवर्ती वैष्णव भाष्यों में अधिक मान्यता मिली। इस प्रकार ब्रह्म का आनन्द स्वभाव आत्मानन्द का पर्याय बन गया। आनन्द स्वत: ब्रह्म का स्वभाव होने के कारण आत्मा का भी स्वभाव सिद्ध होता है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को स्वत: आत्मा मान लेने के कारण उसकी क्रीडा का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह स्वत: आनन्दमय है। अन्वय व्यतिरेक का वहां कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय के भाष्यों में आत्मा को आनन्दांश स्वीकार किया गया क्योंकि यह अंश होने के कारण यह ब्रह्मांश सभी विकार युक्त एवं मनोभय कोश से प्रभावित है। सांसारिक जड़ता के कारण उसका आनन्दांश तिरोहित है। वह भौतिक ममता, अहन्ता आदि में विस्मृत होकर आनन्द से पृथक सामान्य सुखभोग की ओर उन्मुख होता है। भक्ति के द्वारा इसी मानसिक ममता, आसक्ति, वासना एवं अहन्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। भक्ति परम्परा में इसकी समाप्ति के लिए दो साधन अपनाए गए हैं।

१: आनन्दवाद : श्री कमलाल पांडेय : प्र० १९५८, पृ. ११ तथा १२.

२: सिद्धान्त रहस्य भूमिका भाग एम. टी. तैलीवाला पृ. १०

१ अनेकानेक आचरणमूलक मार्गों का अनुसरण .

२ ईश्वर के प्रति चरम आसक्ति या आत्मसमर्पण

मध्यकाल के पूर्व प्रथम मान्यता को अधिकाधिक महत्ता मिली थी। गीता, अहिर्बुध्न्य संहिता एवं महाभारत आदि में कथित भक्ति के साधन आचारमूलक अधिक हैं। यहाँ मानसिक आसक्ति का स्थान न्यून है। फलत: इनमें वाह्याडम्बर के लिए अधिक स्थान था। किन्तु मध्यकाल में मानसिक आसक्ति ईश्वरविषयक रति से सम्बद्ध होकर तत्सम्बन्धी प्रेम में परिणत हो गई। मानसिक आसक्ति में दिखावे के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। इसमें आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण का भाव प्रमुख था भावदार्ढ्य के उपरान्त उसे सर्वत्र ईश्वर की लीला दृष्टव्य होती है। इस प्रकार मध्यकालीन भक्ति का एक मात्र आधार ब्रह्म के आनन्दात्मक स्वरूप की स्थापना एवं उसके प्रति आत्मसमर्पण का भाव है।

इस समर्पण का विस्तार भक्तिविषयक प्राय: समस्त ग्रन्थों में प्राप्त होता है। नारद भक्ति सूत्र में एकादश आसक्तियों के रूप में इसका उल्लेख मिलता है। गुण, माहात्म्य, रूप पूजा, स्मरण, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्त, आत्मनिवेदन, परमविरह आदि एकादश आसक्तियाँ मानव जीवन में प्रचलित अनेकानेक भावों की समर्थक हैं। नारद भक्ति सूत्र में आचारमूलक गौण साधनों का भी उल्लेख है। वे हैं रागगृह एवं लोक दु:ख की एषणा का त्याग, भक्तिशास्त्रों का मनन, अहिंसा, सत्य पवित्रता, दया, आस्तिकता इत्यादि[1]। किन्तु सूत्रकार के अनुसार ये गौण महत्व के हैं यदि यहाँ प्राप्त आसक्तियों का वर्गीकरण करें तो ये दो प्रकार की होंगी।

१ स्थूल शारीरिक २ मानसिक .

स्मरण, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्त, आत्मनिवेदन तथा परमविरहासक्ति नारदभक्तिसूत्र के अनुसार मानसिक आसक्तियाँ हैं। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति को दो भागों में बाँटा गया है -

१ एकांगी भक्ति २ अनेकांगी भक्ति

.....

१: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्वभाग : लहरी २ श्लोक ४०.. ५८ तक .

रूपगोस्वामी के अनुसार भागवत में कथित आत्मनिवेदन को छोड़कर अन्यात्व एकांगी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी ओर सम्पूर्ण भाव का कृष्णपरक अनेकांगी भक्ति है। भक्ति के इस रागात्मक स्वरूप की विशेषता बताते हुए नारदभक्तिसूत्रकार कहता है कि यह द्वेष की विरोधिनी तथा रस शब्द से प्रतिपाद्य होने के कारण रागस्वरूपता है [द्विषत्प्रतिपक्षभाक्त्वात्तस्याव्यरागत्वम्]। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के द्वितीय अध्याय में भक्ति के साधनों का उल्लेख मिलता है। ये साधन कीर्तन, ध्यान, पूजा, स्मरण आदि हैं। इसके आधार भक्ति के तीन भागों में विभक्त करता है -

आर्तभक्ति, जिज्ञासा भक्ति, अर्थार्थिता भक्ति.

आर्तभक्ति के लिए प्रायश्चितार्थ स्मरण, कीर्तन, कथाश्रवण नमस्कार आदि साधनों का उल्लेख है। शेष जिज्ञासा एवं अर्थार्थिभक्ति मध्यकालीन भक्तिसम्बन्धी दृष्टिकोण की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है[1]। फिर भी भक्ति ~~सूत्र में अनेक स्थल हैं~~ के सामान्य स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अनुरक्ति को उसका मूलाधार बताया गया है। निश्चित रूप से शाण्डिल्यभक्तिसूत्र में अनेक स्थल हैं जिसमें आर्द्रता एवं स्नेह मूलक भावों की प्रधानता का उल्लेख है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र को भक्ति सम्बन्धी सम्भावनाओं की अन्तिम परिणति नारद भक्तिसूत्र में मिलती है, नारदभक्तिसूत्र के अनुसार मानव वृत्तियों को आधार बनाकर ईश्वरोन्मुख होना ही भक्ति है। भक्ति एवं ज्ञान की परस्पर तुलना में इन सूत्रकारों ने भक्ति को उच्चतर का समर्थन किया है। इनके अनुसार ज्ञान का अभाव होने पर भी परमानुरागरूपा भक्ति से ही गोपांगनाओं को मुक्ति हुई थी[2]। इस मुक्ति में मात्र शुद्ध रागात्मक भाव ही सहायक है। उसके अनुसार इससे सम्बन्धित अनेक श्लोक भागवत में उद्धृत हैं।

इन सूत्रग्रन्थों, भागवत, भक्तिरसायन, आचार्यचरणों के सिद्धान्त ग्रन्थों तथा भक्तिरसामृतसिन्धु आदि का अन्तिम प्रतिपाद्य प्रेम है। इस प्रेम के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है - रति, परानन्द, लीलानन्द, स्नेह आदि + ~~इसे प्रेम के ही~~ पर्याय हैं।

१: शाण्डिल्य भक्तिसूत्र अध्याय २ : आह्निक २ के सूत्र.

२: शाण्डिल्य भक्तिसूत्र अध्याय १ आह्निक २ सूत्र १५

जहाँ तक इस प्रेम का स्वरूप है, वह अनिर्वचनीय है। रूपगोस्वामी रागानुगा भक्ति के दो भेद करते हैं कामरूपा एवं सम्बन्धरूपा। कामरूपा भक्ति का मूलाधार सम्भोग तृष्णा है-किन्तु यह सम्भोग तृष्णा रहस्यात्मक रूप में। कृष्णाप्ति के पश्चात् इस सम्भोग तृष्णा का वासनात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है। किन्तु यह प्रेम भक्तों के लिए है गोपियों को ध्यान में रखकर इसे पूर्णतः सम्भोगतृष्णामूलक कहा जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा अभीप्सित कृष्ण प्राप्ति का साधन पूर्णतः सम्भोगतृष्णामूलक था। कुब्जा की भी भक्ति वस्तुतः इसी प्रकार की थी। इस भक्ति का मूलाधार रति या काम है। फलतः गोपियों की दृष्टि से यह प्रेम जहाँ लौकिक शृंगार से पूर्ण है वहीं दूसरी ओर इसे आध्यात्मिकता से भी आच्छादित करने का प्रयत्न किया गया है।

कामरूपा भक्ति के साथ साथ रागानुगा का दूसरा भेद सम्बन्धरूपा भक्ति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इन भक्तों ने सांसारिक सम्बन्धों को पाँच भागों में विभक्त किया है + वात्सल्यसम्बन्ध, दास्य सम्बन्ध, सख्यसम्बन्ध एवं कान्तासम्बन्ध। इन्हीं से सम्बन्धित क्रमशः दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं मधुर सम्बन्धी भाव सम्बन्धरूपाभक्ति के मूलाधार हैं। कृष्ण के अलौकिक रूप एवं वैराग्य सम्बन्धी भावों से शान्तभाव की भी योजना की गई है। इस प्रकार सांसारिक सम्बन्धों के प्रतिनिधि भाव शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं मधुर प्रेममूलक भक्ति के माध्यम से साहित्य क्षेत्र में भी अवतरित हुए। इस प्रेम भक्ति को रूपगोस्वामी ने साध्यरूप एवं सर्वश्रेष्ठ भक्ति की संज्ञा दी है। विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार यह भाव भक्ति का परिपाक है तथा इसकी उत्पत्ति तब होती है जब साधक आत्मा में यह प्रेम पूर्णतः परिपक्व हो उठता है[1]। इस प्रकार वैष्णव भक्ति का अन्तिम परिवसान प्रेम एवं तत्सम्बन्धी भावों में दिखाई देता है। लौकिक स्तर पर ये भाव वात्सल्य, सख्य एवं कान्ताविषयक प्रेम से सम्बद्ध हैं किन्तु भक्ति की दृष्टि से इन भावों को आधार बनाकर कृष्णाप्ति ही भक्तों का मूल प्रयोजन है। समस्त सांसारिक सम्बन्ध जिसके द्वारा व्यक्ति भौतिक वासना की ओर उन्मुख होता है। कृष्णाप्ति के उपरान्त वे परिभूत होकर भक्ति भाव में परिणत हो उठते हैं।

---

१. वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट पृ. १८१

इस प्रकार इन मक्तों में प्रेम के कई स्वरूप दृष्टिगत होते हैं -

१ - लौकिक प्रेम जिसका आधार कामरूप या सम्बन्धरूप पाया जाता है।

२ आध्यात्मिक प्रेम या लौकिक प्रेम का आध्यात्मीकरण।

प्रेम के आध्यात्मीकरण की स्थिति में जहां कृष्ण गोपी एवं भक्त के सम्बन्ध से ऊपर उठकर आत्मा एवं ब्रह्म के सम्बन्ध का बोध होने लगता है, वहीं यह प्रेम रहस्यात्मक प्रेम (Mystic Love) में परिणत हो जाता है। लगभग पन्द्रह के बाद यह प्रेम रहस्यवाद से सिंचित चित्रित हो जाता है।

३ शुद्ध प्रेम के अतिरिक्त ब्रह्म की उदात्तता, आत्मा की पवित्रता तथा आश्चर्य, भय, त्रास, जिज्ञासा एवं दास्य, शान्त और भाव की व्यंजना है जिसे उदात्त (Sublime) की संज्ञा दे सकते हैं

लीला -

भक्तिकाव्य में स्थित प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन लीला है इसका स्वभाव भी वस्तुतः प्रेमोन्मुख एवं उदात्त भाव से युक्त है।

लीला का स्वरूप इस प्रकार है।

लीला शब्द की व्युत्पत्ति 'ली' धातु में सम्पादनार्थ क्विप् प्रत्यय जोड़कर हुई है जिसका अर्थ केलि, विलासक्रीड़ा तथा शृंगार भाव चेष्टा से लिया जाता है[१]। लीला शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग नायिका के अष्ट अलंकार के अन्तर्गत होता है। यहां लीला का तात्पर्य नायिका का अपने मधुर भावों एवं की चेष्टाओं द्वारा प्रिय के वाग्वेषादि चेष्टा का शृंगारिक अनुकरण कराना मात्र था। रूपगोस्वामी के अनुसार रसीकवेश एवं क्रियादिक चेष्टाओं में प्रिय का अनुकरण ही लीला है[२]। संस्कृत के आचार्यों ने इसके तीन भेद किए हैं स्वगता स्वीयता तथा स्वप्रियता आचार्य भरत ने स्वतः लीला के विषय में इन्हीं धारणाओं को व्यक्त किया है।

लीला का दूसरा अर्थ क्रीड़ा से है। नाटकों में इसे कई स्थानों पर क्रीड़ा का समानान्तर बताया गया है। फलतः नाटक के अनेक भेदों के साथ यह लीला शब्द जोड़ा जाने लगा। इस दृष्टि से हल्लीसक, रैवत, रासक आदि नाट्यरूपों को लीला के नाम से अभिहित किया गया। हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य में कृष्ण की वृन्दावन, गोकुल एवं मथुरा से सम्बन्धित तथा राम के

.....

१: शब्दकल्पद्रुम पृ० २२५

अयोध्या, जनकपुर, तथा वन गमन के कृत्यों को लीला कहकर पुकारा गया है। भक्तिकाव्य में इस लीला की परम्परा का सूत्रपात हरिवंश पुराण से हुआ। हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व के २० वें अध्याय में हल्लीसक क्रीडा का वर्णन ३५ श्लोकों में मिलता है। यह लीला अभिलाषात्मक शारदीय लीला थी[१]। यह लीला वस्तुतः यौगिक थी गोपियाँ कृष्ण के प्रति प्रेम भाव से आसक्त उनकी चेष्टा का अनुकरण करती हुई। नृत्य, गीत, विलास, स्मिति, वीक्षण आदि भावों से क्रीडा करती थीं। भागवत में इस लीला के लिए क्रीडा शब्द का प्रयोग मिलता है[२]। भागवतकार के अनुसार इस प्रेम भाव पर कृष्ण ने भाव विभोर होकर उनके साथ रतिक्रीडा की[३]। पद्मपुराण में इस लीला के दो भेद किए गए हैं- प्राट लीला एवं अप्राट लीला[४]। रास के समानान्तर भागवत में रासलीला प्रयुक्त है आगे चलकर वैष्णव भक्तिकाव्य में इस रासलीला का अधिकाधिक प्रचार हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विश्वास है कि रासलीला की दो परम्पराएँ हैं- प्रथम जयदेव के गीतगोविन्द परम्परा का रास जो वसन्तकाल में सम्पादित होता है तथा दूसरा भागवत की परम्परा का रास जो शरत् में होता है[५]। हिन्दी के वैष्णव भक्तिकाव्य में दोनों प्रकार की रासलीलाएं वर्तमान हैं- यहाँ इस शारदीय रास की महारास की झलक मिली है।

लीला शब्द का एक तीसरा भी अर्थ लिया जाता है जो इन दोनों की अपेक्षा अत्यधिक गूढ एवं दार्शनिक भाव से युक्त है। यह लीला अवतार के समानान्तर है किन्तु अवतार नहीं है। पुष्टिमार्ग में दो प्रकार की लीलाएं स्वीकृत हैं- प्रथम, परोक्ष लीला जो गोलोक में होती है एवं द्वितीय प्रत्यक्ष लीला जो अवतार के बाद पृथ्वी लोक पर उतर आती है। अवतार की स्थिति में यह गोलोकलीला प्रत्यक्ष व्रजलीला बन जाती है। भागवत तृतीय स्कन्ध एवं दशम स्कन्ध के रास पंचाध्यायी प्रकरण के भाष्य में आचार्य वल्लभ ने लीला की व्याख्या की है —

विलास की इच्छा का नाम लीला है। कार्य व्यतिरेक से अर्थात्

१: शारदीष्व चन्द्राम निशा अवलम्ब्य गुणी : हरिवंश पुराण : विष्णुपर्व: २०: ६:३५

२: रत्यन्तरसवा रात्रौ स्मिति रम्य लाक्षा हरिवंश पुराण: वि. पर्व. २०, ६, ३२.

३: प्राटाप्राटा चेति लीला द्वेधा विभोच्यते : कवि पद्मपुराण

कार्य से रहित यह कृति मात्र है। इस कृति के बाहर कोई उत्पन्न नहीं होता है। उत्पन्न किए गए कार्य में कोई अभिप्राय नहीं होता। इसमें कर्ता का कोई प्रभाव भी नहीं उत्पन्न होता। किन्तु अन्तःकरण के आनन्दपूर्ण उल्लास से कार्योत्पत्ति के सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान की लीला है। लीला का लीलानन्द के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि एवं प्रलय ही भगवान की लीला है।[1] इस प्रकार लीला के स्वभाव से स्पष्ट है कि लीला के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नहीं है। न तो इसमें कर्ता का प्रत्यक्ष उद्देश्य साधित होता है न विषय का। अवान्तर से यह लीला भगवान की नित्यलीला का विलास है।

लीला के लिए आचार्य वल्लभ के अनुसार अनुग्रह भक्ति अनिवार्य है। इस अनुग्रह की स्थिति में जीव का ब्रह्म के साथ विलास ही मुक्ति है। किन्तु भक्त को यह मुक्ति वांछित नहीं है। वे एकमात्र चाहते लीला को ही रहते हैं। मुक्ति अवान्तर फल है। ब्रह्म विलास की स्थिति में जीव अपने सामान्य भाव को छोड़कर आनन्दस्वरूप में प्रवेश करता है [मुक्तिर्हित्वा न्यथा भावं अवस्थितः तथा सतः स्वरूपप्रयोजनाभावात् यदि साधन निरपेक्षा मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्राकृतभावः प्रयोजनरहितैव स्यात्[2]] स्पष्ट है, लीला के मूल में मुक्ति की आकांक्षा अवश्य है, किन्तु उसे प्रयोजन रहित कहकर आनन्द का पर्याय स्वीकृत किया है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार लीलानुग्रह ही भक्ति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इस आनन्द को उन्होंने प्रेम या काम पर आधारित बताया है। भगवान का प्रेम पात्र बनने के लिए कौलिकग्रन्थों में संकलित जलभेदग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि भक्ति के नवधा साधनों से एकमात्र प्रेमभक्ति को ही पुष्टि मिलती है। यह प्रेमभक्ति समस्त भक्ति भेदों में सारभूत एवं काममूलक है भागवत सुबोधिनी के छठें अध्याय के फलप्रकरण में उन्होंने बताया है कि -

---

१: हिन्दी साहित्य कोश: लीला : डा. धीरेन्द्र वर्मा, भागवत का मूल —
लीला नाम विलासेच्छा कार्यैकव्यतिरेकेण कृतिमात्रम् न तया कृत्या बहिः कार्यं जायते, यन्नित्यमधिकार्यम् नाभिप्रेतम् नाधिकारि प्रयोजनं जनयति किन्तु अन्तःकरणे स्वीय आनन्द उल्लासेन कार्यजननक्षमा क्रिया काचिदुत्पद्यते ..... सुबोधिनी: भागवत तृतीय स्कन्ध :

२: पृ. ३८७ उद्धृत : भागवत सम्प्रदाय पं. बलदेव उपाध्याय.

प्रेमभक्तिरस का आस्वाद दो प्रकार का होता है। स्वरूपानन्द तथा नामलीलानन्द इस प्रकार भक्ति का मुख्य उद्देश्य लीलानन्द में निहित प्रेम का आस्वादन करना है। इस प्रेम का आधार काम है। काम से पृथक् कुछ भी नहीं है। आचार्य वल्लभ ने इसी काम भाव को लीलानन्द का साधन बनाया जा सकता है.—

कामेन पूरित : काम: संसारं जनयेत स्फुटम्।
काममात्रेन पुंसश्च निष्काम स्यात् न संशय:।
अतो न कापि बाधा मन्नामोदात्फलापि च।
अत एतच्छ्रुतौलोको निष्काम सर्वथा भवेत्॥
भावव्यक्तिं स्वै यतोनिष्काममीर्यते।
अतो कामस्य नोद्बोधस्तत: शुक्र वच: स्फुटम्[1]॥

यहाँ काम भाव से भावलीला में उन्मुख होने पर मोक्षफल की हानि न होने का समर्थन किया गया है। इसी क्रम में आचार्य वल्लभ ने प्रेम की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। स्नेह, आसक्ति एवं व्यसन ये तीनों अवस्थाएं प्रेमानन्द के लिए साधन स्वरूप हैं तीनों क्रमश: भक्ति को पुष्ट करके भक्तरति को उत्कट बनाती हैं भक्तिवर्धिनी में इनके क्रमश: विकास क्रम का निर्देश मिलता है। श्रवणादि साधन से चित्त में हरि विषयक रति जागृत होती है यह रति क्रमश: प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन में परिणत हो जाती है। स्नेह से राग का विनाश एवं कृष्णासक्ति से गृहादि मोहों से अरुचि होती है इसके बाद साधक के लिए गृह दारा आदि बाधक ज्ञात होने लगते हैं। फलत: भक्त एक ओर उनका त्याग करता है दूसरी ओर लीला के प्रति उसका व्यसन जागृत होता है।

इस प्रकार भागवत लीला का तात्पर्य ईश्वर की गोलोक एवं इस लोक लीला से है। इहलौकलीला का मूल भाव आनन्द है। इस आनन्द तक पहुँचने का साधन लौकिक प्रेममूलक व्यवहार ही है। इसीलिए लीला की दृष्टि से भी ऐन्द्रिक प्रेम लीला का मूलाधार है। इस प्रकार लीलाजन्य लौकिक प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर अत्यन्त पवित्र एवं सात्विक भावों से मंडित कहा गया है।

१: सु. ४. षोडश ग्रन्थानि

गौड़ीय भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत अवतारों को तीन भागों में विभक्त किया गया है— पुरुषावतार, गुणावतार एवं लीलावतार। लीलावतार भागवत के अनुसार २४ हैं। इस लीलावतार में राम एवं कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कृष्ण एवं राम से सम्बन्धित लीला भाव के दो भेद हैं असुरवध से सम्बन्धित उदात्त के भाव एवं आनन्द तथा विलास का भाव। विलास के विषय में काममूलक लीला आवश्यक है इसका आधार प्रेम है किन्तु दूसरी ओर असुरवध विषयक लीला का आधार प्रेम न होकर उदात्त (Sublime) का भाव है। फलतः हिन्दी के भक्ति काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए मात्र प्रेम, प्रेम के अध्यात्मीकरण आदि पर ही केन्द्रित रहकर हमें उदात्त का भी अध्ययन करना आवश्यक है। इस उदात्त को स्पष्ट किए बिना प्रेम के उदात्त एवं सात्विक स्वरूप को स्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों की प्रेम भावना से यदि इस उदात्त तत्व को निकाल लिया जाय तो इसमें भोग के अतिरिक्त और कुछ न दृष्टिगत होगा।

...

उदात्त सम्बन्धी भाव तथा हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य

उदात्त (सब्लाइम) सम्बन्धी भावों की दृष्टि से हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य का अध्ययन अभी बहुत कम किया गया है। भक्तिकाव्य में उदात्त सम्बन्धी भावों की ओर ध्यान दिलाने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य प्रवर पं. रामचन्द्र शुक्ल को है। तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका में शील निरूपण शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने राम के चरित्र में निहित उदात्त सम्बन्धी अभिव्यक्त भावों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ऊपर कहा जा चुका है कि उदात्त के लिए प्रेम आवश्यक नहीं है। इसकी भूमिका के अन्तर्गत श्रद्धा, विस्मय, भय, आश्चर्य हीनता सम्बन्धी भाव अपेक्षित हैं। ये यद्यपि सौन्दर्य के अंग हैं, फिर भी इनका आधार प्रेम नहीं है। यह काव्य में अभिव्यक्त होने वाली सात्विक, विस्मयबोधक एवं आश्चर्यसूचक भावों से युक्त मनः स्थिति विशेष है। शील, श्रद्धा, विश्वास, विनीता, दैन्य, अनुकम्पा, भय इसके भाव हैं। इन भावों के लिए भक्ति क्षेत्र में अधिकाधिक सानुकूलता वर्तमान है। चूंकि इनका सम्बन्ध प्रेम से नहीं है। अतः प्रेम एवं प्रेम से सम्बन्धित लीला काव्य इसके अध्ययन की सीमा क्षेत्र से पृथक है। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों में प्रेम सम्बन्धी भाव की अधिकाधिक स्वीकृति सूर एवं तुलसी के बाद ही हुई है। तुलसी के काव्यों में उदात्त सम्बन्धी अध्ययन के लिए रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली का मुख्य स्थान है। सूर साहित्य में सूरसागर प्रथम खंड सम्पूर्णतः उदात्त सम्बन्धी उच्चतर भावों का प्रतिनिधित्व करता है। अष्टछाप के अन्य कवियों में सामान्यतः नन्ददास, परमानन्ददास का ही इस दृष्टि से उल्लेख किया जा सकता है। शेष काव्य मात्र इतस्ततः सांकेतिक शब्दावली में उदात्त भाव की सूचना देते हैं।

उदात्त सम्बन्धी भावों का अध्ययन करने के लिए इन्हें निम्न क्रमों में रखा जा सकता है।

१ सुर वध सम्बन्धी उदात्त भाव जो जिज्ञासा, भय, त्रास, अनुकम्पा शक्ति एवं शौर्य आदि के प्रतिनिधि हैं।

२ अनन्यता, करुणा सम्बन्धी भाव जो मानसिक शमत्व के प्रतीक है' दास्य के अधिकांश भाव इसी के अन्तर्गत आते है'।

३ आत्म विगर्हणा तथा दीनता सम्बन्धी भाव जो आत्मोद्धार के भाव से प्रेरित है' ये दोनों प्रकार के उदात्त सम्बन्धी भाव भक्ति भूमिका पर आश्रित है'।

४ ब्रह्म का उदात्त स्वरुप -

इनकी स्थिति क्रमश: इस प्रकार है ।

असुर वध सम्बन्धी भावों की भूमिका में दो प्रकार के व्यवहार अनिवार्य रुप से आते है'- १ अवतार सम्बन्धी धारणा २ असुरों का आतंक .

अवतार सम्बन्धी धारणाओं में सबसे प्रबल धारणा दुष्टों के विनाश की है । राम के अवतार की कल्पना उसकी व्यापक भूमिका बना लेने के बाद ही हुई। रामचरित मानस में रामावतार प्रमुख है। सांकेतिक रुप से नृसिंह एवं कृष्णावतार का भी उल्लेख है किन्तु उदात्त सम्बन्धी भाव के लिए नृसिंह एवं कृष्णावतार की चर्चा निरर्थक है । रामावतार के साथ शंकर चरित्र कहीं कहीं उदात्त भाव का उद्बोधक बन गया है। मानस में चार स्तो स्थलों पर राम के विराट् रुप का भी उल्लेख है । वे स्थल है' कश्यप अदिति वरदान, कौशिल्या का विराट रुपदर्शन, सुतीक्ष्ण पर रामकृपा, भुशुन्डि मोह, शेष अन्य स्थलों पर राम का चरित्र उदात्त सम्बन्धी भावों का सामान्य बोध कराता है सहायक पात्रों में हनुमान का चरित्र इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

राक्षस वध के अवसर पर मानस में उदात्त भावों की व्यंजना मिलती है। आसुरिक प्रवृत्तियों के समर्थक मात्र दशमुख रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, शूर्पणखा ताडका, सुबाहु, अकंपन, धूम्रकेतु आदि है'। इनका चरित्र नियोजन भय एवं रोमांचक तत्वों से संगठित है । मानसकार के अनुसार इन राक्षसों के कृत्य सुरापान करके ६ माह तक सोना एक दिन के आहार में सैकड़ों जीव जन्तुओं का भक्षण महिष का आहार, मुनि एवं ब्राह्मणों का रक्तपान, इनके गर्जनमात्र से गर्भपात का हो जाना, सुन्दर नगरों का त्रस्त कर देना, सुन्दरियों का अपहरण, भीम रुप धारण करके मानवों को सन्ताप देना आदि है'। लंकाकांड में युद्ध के समय इन राक्षसों द्वारा किए गए कार्यों का अत्यधिक

वीभत्स एवं रौमांचक उल्लेख मिलता है। रुधिर एवं मेदे की बलि देना, पृथ्वी पर सिन्दूर की भाँति रक्त का प्रसरण करना, राक्षस का समस्त भूधर की भाँति क्रोध करके दौड़ना, पर्वत एवं बड़े बड़े वृक्षों की भाँति नखों से आतंकित करना शीश तोड़कर उसी से शत्रु के ऊपर प्रहार, भुजाओं का उखाड़ लेना एवं अँतड़ियों का पृथ्वी पर बिछलना, चिघ्घाड़ करना, वृक्ष एवं पर्वत उखाड़ कर युद्ध करना, सम्पूर्ण पृथ्वी को घोर अन्धकार से आच्छादित हो जाना, कुम्भकर्ण द्वारा बन्दरों को निगल जाना एवं पुनः नासिका एवं कर्ण के मार्ग से बन्दरों का निकल भागना, आदि अनेक कृत्य रौमांच एवं भय का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानस की भाँति रौमांचक तत्वों से युक्त उदात्त भाव की अभिव्यक्ति कवितावली में सुन्दर तथा लंकाकांड में मिलती है। ये सम्पूर्ण रौमांचक तत्व एक ओर आसुरिक शक्तियों की प्रबलता एवं दूसरी ओर भक्तों के आराध्य की शक्तिमत्ता सूचित करते हैं।

सूरसागर में कथित असुरवध लीला में उदात्त के पूर्णभाव हैं। सूरसागर में भागवत के आधार पर २४ अवतारों का उल्लेख है। किन्तु इन अवतारों में सम्पूर्णतः उदात्त सम्बन्धी भाव नहीं है। उदात्त भी सौन्दर्य की ही भाँति एक मानसिक वृत्ति है जो कवि के मानसिक रुझान [मेंटल इन्टरेस्ट] पर आश्रित है कथन मात्र से ही उदात्त का बोध नहीं होता। सूरसागर के प्रचलित संस्करण में अवतार सम्बन्धी निम्न कथाएँ उदात्त की दृष्टि से महत्वशून्य हैं— शनकादि, वाराह, कपिलदेव, दत्तात्रेय, यज्ञपुरुष, ध्रुव, मत्स्य, परशुराम, बुद्ध तथा कल्कि अवतार। सामान्य भावावेश की दृष्टि से व्यास, गजमोचन एवं रामावतार महत्वपूर्ण है। उदात्त सम्बन्धी पूर्णभाव का प्रतिनिधित्व कृष्णावतार की कथा है। रामावतार में यद्यपि कवि की मानसिक रुचि पूर्णतः लगी हुई दिखाई देती है। किन्तु इसमें शील एवं उदात्त के अतिरिक्त सौन्दर्य तत्व अधिक है उदात्त की दृष्टि से कृष्ण की सम्पूर्ण लीला अपेक्षित नहीं है, निम्न लीलाएँ इसके लिए महत्वपूर्ण हैं— पूतना, बकासुर, शकटासुर, तृणावर्त वकासुर, अघासुर, कालियदमन, गोवर्धनलीला, शंखचूड वध, केशीवध,

प्रलम्ब वध, वृषभासुरवध, व्योमासुरवध, धेनुकवध, मुष्टिकवध, चाणूरवध, कंसवध, जरासंधवध, शिशुपालवध सूरसागर की ये घटनाएँ उदात्त सम्बन्धी तीव्र भाव भय, संकोच, रोमांच, विस्मय, त्रास आदि से युक्त हैं। रामकथा में भी ताड़कावध, सुबाहुवध, धनुषभंग, रामवनगमन, कबन्ध, जयन्त त्रास सूर्पणखा का नाक कान काटा जाना, मारीचवध, हनुमान का विराट रूप, लंकादहन, कुम्भकर्ण वध, मेघनादवध, रावणवध आदि घटनाएँ इसी भाव से सम्बन्धित हैं।

सूरसागर के उदात्त भावों में भय एवं त्रास की सर्वाधिक प्रधानता है। यदि त्रास एवं भय का निवारण अवतारवाद का मूल उद्देश्य मान लिया जाय तो इस दृष्टि से असुरों के अनाचार एवं अत्याचार का मूल मन्तव्य त्रास उत्पन्न करना ही ठहरता है। असुरवर्ग अपनी सिद्धियों से विभिन्न घातक आधिभौतिक शक्तियों को पीड़ा एवं भय का आधार बनाता है। उनकी यह शक्ति मानव पौरुष के लिए अजेय है। परिणामस्वरूप उससे अधिक शक्ति एवं शौर्य सम्पन्न व्यक्तित्व उनके आतंक से मुक्त करने के लिए पृथ्वी पर उत्पन्न होता है अवतारवाद की मूल धारणा इसी से सम्बन्धित है। दो शक्तियों का परस्पर संघर्ष शौर्य शक्ति के उदात्त भाव से सम्बन्धित है कृष्ण एवं राम उच्चतम शक्ति के प्रतीक हैं। असुरवर्ग अपनी शक्ति के प्रयोग में छल एवं माया को आधार बनाते हैं। इसीलिए उनकी शक्ति को आसुर मायिकशक्ति भी कह सकते हैं। कृष्णकथा में असुरवध सम्बन्धी उदात्त भावों की स्थिति इस प्रकार है —

पूतना, छल एवं प्रेम को आधार बनाकर अपनी शक्ति को कृष्ण के प्रति प्रगट करती है। प्रेम उसके छल का आधार है। प्रेम के आकर्षण से प्रभावित यशोदा कृष्ण को उसे दे देती है। किन्तु दूसरे ही क्षण कृष्ण के सान्निध्य से उसके मोहिनी रूप का विस्तृत राक्षसी रूप में परिणत हो जाना विस्मय के भाव से युक्त है। साथ ही साथ दुधमुंहे बच्चे के द्वारा प्रचंड राक्षसी का वध विस्मयबोधक मनोवृत्ति का और अधिक के तीव्रतापूर्वक समर्थन करता है[1]। कागासुर की भी ऐसी ही कुछ स्थिति है। वह काग का वेष धारण कर कृष्ण की आँख फोड़ना चाहता है किन्तु कृष्ण उसका कंठ दबोचकर कंस के पास फेंक देते हैं[2]। प्रलम्ब कृष्ण को पीठ पर बिठाकर

माग जाता है किन्तु कृष्ण शीघ्र उसका वध करके लौट आते हैं[1]।

यहाँ उदात्त सम्बन्धी भावों की स्थिति स्पष्ट है। अपने कार्य की सिद्धि के लिए असुर वर्ग छल एवं प्रपंचों को आधार बनाते हैं उनका विराट व्यक्तित्व एवं शक्ति सम्पन्नता विस्मय के सूचक हैं किन्तु दूसरी ओर इस विस्मय की पुष्टि तब और हो जाती है, जब शिशु कृष्ण द्वारा उनका वध किया जाता है। काव्य की दृष्टि से व्रजजनों की मानसिक स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

इन्हीं की भाँति बकासुर अपनी व्यापक शक्ति से त्रास का भाव व्यक्त करता है। वह अपनी चंचु को पृथ्वी से आकाश तक विस्तृत करके अपरिमित शक्ति का परिचय देता है किन्तु उसका विराट व्यक्तित्व कृष्ण की विराटता के सम्मुख तुच्छ पड़ जाता है। कृष्ण अपने काय विस्तार से उसका उदर विदीर्ण कर देते हैं। कृष्ण का यह काय विस्तार रूप की दृष्टि से अनन्त विस्तार एवं भाव की दृष्टि से अनन्त विस्मय का सूचक है[2]।

शकटासुर आतंक एवं त्रासद तत्वों [ट्रेजिक एलीमेन्ट] का प्रतिनिधि प्रतिनिधि है। उसके त्रासक प्रभावों से व्रजवासी एवं गोपगोपी रोमांचित हो उठते हैं। उसके ये प्रभाव आतंक, भय, रोमांच, विस्मय इत्यादि भावों से युक्त हैं आतंक, भय एवं जिज्ञासा के बीच कृष्ण का भाव सहज आनन्द से युक्त है। कवि उन्हें 'किलकि किलकत हँसत बाल सोभा लसत' से युक्त बतलाता है। उदात्त की गंभीर व्यंजना के लिए कवि शकटास की कर्कशता एवं कृष्ण की कोमलता को व्यंजित करता है। इस व्यंजना के लिए कवि उसी प्रकार की शब्दावली का भी प्रयोग करता है —

नेकु पटक्यौ लात, लग्यौ भयौ आघात, गिर्‌यौ महातृ सकटा सँहार्‌यौ।

तृणावर्त वायु की आधिभौतिक घातक शक्ति को व्यक्त करता है। यह वायु के प्रचंड वेग से त्रास उत्पन्न करता है किन्तु कृष्ण का शौर्य पुनः इसका प्राण हर लेता है। अघासुर छल एवं काय विस्तार को अपना आधार बनाता है

.....

१: सूरसागर द. रत्न. पृ. सं. ६०४.

२: " " " ५४०

उसके विस्तार को स्पष्ट करने के लिए कवि बताता है कि

बैठि गए मुख ग्वाल धेनु बहरा लेन लीने

^ ^ ^ ^

मानहुं पर्वत कन्दरा मुख सब रह्यो समाइ।

त्रास का यह भाव उस समय और भी तीव्र हो उठता है जब वह कृष्ण सहित समस्त गोपों को अपने मुख में बन्द कर लेता है। इसे और अधिक तीव्र बनाने के लिए कवि उसके मुख के अन्तर्गत गहन अंधकार की कल्पना करता है। कृष्ण की देह द्युती हो जाने पर विस्मय वृत्ति से युक्त शौर्य की सूचना मिलती है -

बातो द्युती देह धरी, अुर न सक्यौ समारि[1]

इस प्रकार इस काय विस्तार में अनन्त शौर्य की भावना निहित है। इनमें त्रास भय, कौतूहल, विस्तार एवं आनन्द सभी के भाव वर्तमान हैं। इनमें ~~राक्षसवधों~~ में कंस, चाणूर, शिशुपाल वध आदि इन्हीं भावों से युक्त हैं। उदात्त की दृष्टि से सूरसागर में तीन प्रसंग और अधिक महत्वपूर्ण हैं। दावानल पानलीला गोवर्धन तथा कालियनागलीला। इन लीलाओं का मूल उद्देश्य कृष्ण की अनन्त शक्ति का बोध कराना है -

दावानल असुर विशेष के रूप में कल्पित है जो कंस का सहायक सखा है। यह अपने मुख से अग्नि प्रदीप्त कर त्रास उत्पन्न करता है। यह ध्वंस के भाव का प्रतीक है। त्रास उत्पन्न करने के लिए यह विराट त्रासद अग्नि पुंज का रूप धारण करके अपने काय विस्तार से पृथ्वी एवं आकाश को प्रचंड अग्नि से आच्छन्न कर लेता है। इसकी भीषणता की सूचना कवि इस प्रकार देता है -

महरात झहरात दावानल आयौ

घेरि चहुं ओर, फेरि सोर अन्दोर बन, धरनि अकास चहुं पास छायौ,

बरत बन, बांस, थहरत कुस कांस, जरि उड़त है फांस अति प्रबल धायौ

झरकि झपटत लपट, फल फल चट चटकि, फटा लट लटकि, द्रुमनवा

.....

१ सूर सागर : द: स्क. प. से ५५२.

अति अगिन झार, भभार, धुधार करि उचटि अंगार झंझार छायो
बरत बन पात, मरत कहरात, अरात तरु महा धरनी गिरायो।[1]

इसमें अग्नि की प्रचंडता सम्बन्धी कथन तो सामान्य है इसका मूलभाव आसुरी शक्ति के त्रासक तत्वों का कथन करना है। अग्नि की प्रचंडता के पीछे एक ध्वंसात्मक व्यक्तित्व निहित है। यह व्यक्तित्व संकोच, भय, त्रास, रोमांच आतंक, विस्मय, प्रचंडता के भावों से युक्त है। भारतीय रस शास्त्र में भयानक रस की कल्पना ऐसे ही प्रसंगों में की गई है। वस्तुतः भयानक, वीभत्स, वीर रस न होकर मात्र उदात्त के भाव हैं। इसमें कथित भय, रोमांच, आतंक आदि इत्यादि भावों के रक्षक कृष्ण का व्यक्तित्व और भी उत्कृष्ट एवं उदात्त है। इसी को प्रगट करने के लिए कवि कहता है कि —

धेनु धीरज करो, जियहि कोउ जिनि डरो, कहा हहि सरो, लोचन उघारि
मुठी भरि लियो, सब नाग मुख दियो, हर प्रभु पियो, ब्रज जन बचायो।[2]

एक ओर कृष्ण के द्वारा सांत्वना दिया जाना तथा दूसरी ओर अग्नि को मुट्ठी में भर लेना, मुख में डाल लेना, पी जाना, उनका शक्तिसम्बन्धी त्वरा का द्योतक है यही उनके अनन्त शौर्य का प्रतीक बन गया है।

कालियनाग का भी प्रसंग इसी प्रकार का है। इसमें दो विरोधी भाव कोमल एवं कठोर का संघर्ष है। एक ओर कालियनाग का तीव्र आवेशपूर्ण प्रचंड व्यक्तित्व है दूसरी ओर कृष्ण के मोहक व्यक्तित्व जिसकी कोमलता का संकेत नागपत्नी इस प्रकार करती है।

कहयो कौन के बालक है तू, बार बार कहि मानि न जाई,
छनकहि में उठि भस्म होइगो, जब देखे उठि जाग जम्हाई[1]

नाग के जगने पर उसकी तीव्रता का बोध कवि रोमांच एवं आतंक में प्रगट करता है,—

उठ्यो अकुलाइ हर पाइ लागन को, देखि बालक गरब अति बढ़ायो

कालिक नाग की गरुड़ के भय की आकुलता बालक को देखने पर गर्व में परिणत हो जाती है इसी गर्व के फलस्वरूप अपनेव्यक्तित्व का विस्तार करता है—

---

१ सूरसागर, द: रत्न, पृ. सं. ५६६
२ ,, ,, ,, ५५०

पैठि लीनी फटकि, धरनि सौं गहि पटकि, ऐंठ कर्यौ लटकि करि क्रोधहू से
पैठि लीनी चापि, दिसनि काली कांपि, देखि सब सांपि अवसान मूसे।
करत फनघात, विष अति उतरात, नीर बरि जात, गहि गात पासे।
सूर के स्याम प्रभु लोक अभिराम विभु जान अहिराज विष ज्वालबासे।[1]

आतंक एवं त्रास की इस स्थिति में रोमांचक भावों की निर्मित विशिष्ट योजना उदात्त के सम्पूर्ण तत्वों से युक्त है उदात्त की दृष्टि से ऐसे स्थल हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

कालिय के शौर्य से अभिभूत न होने के कारण नागपत्नियों में जिज्ञासा एवं चमत्कार के भाव जागृत होते हैं। दूसरी ओर कवि कृष्ण की अनन्त शक्ति की सूचना विस्मय बोधक भावों से देता है :-

जबहिं स्याम अति तन विस्तार्यो .
पटपटात टूटत अंग जान्यौ सरन सरन सु पुकार्यो

^ ^ ^ ^
ज नाथत व्याल विलम्ब न कीन्हो .
फा सौं चापि पीच बल तोर्यो, नाक फोरि गहि लीनी
कूदि चढे ताके माथे पर, काली करत विचार[2]

अन्ततः कवि कालिय नाग के मुख से ही कृष्ण के उदात्त व्यक्तित्व का बोध कराता है। कृष्ण के प्रति कवि निम्न पद कहताहै :—

गिरिधर, कृपधर, मुरलीधर, धरनीधर माधौ पीताम्बरधर
सैल चक्रधर, गदा पद्मधर, सीसमुकुटधर, अधरसुधाधर .
कम्बु कंठधर, कौस्तुभमनिधर, बनमालाधर, मुक्तमालधर
सूरदास प्रभु गोपवेषधर काली फन पर चरनकमलधर[3]

.....

१: सूरसागर द: स्क. प. सं. ५५२
२: " " " ५५६, ५५७
३: " " " ५७२

समस्त घटनाचक्र के पश्चात् इस प्रकार के रूद्र एवं भाव कृष्ण के शौर्य, अलौकिकता एवं विभुत्व सम्बन्धी सात्विक भावों के द्योतक है।

गोवर्धन धारण प्रसंग उदात्त के भाव की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें क्रियामूलक शब्दावली के द्वारा भयंकरता सम्बन्धी तीव्र भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है –

सुनि मेघ वर्तै सजि सैन आए।
बलवर्तै वारिवर्तै, पौनवर्तै, वज्रवर्तै, अग्निवर्तै जलद सैन लाए।
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, फहरात, माथ नाए
ये वारि, पवन, मेघ, वज्र, अग्नि आदि मानव के घातक तत्वरूपने भयंकर स्वरूप में प्रगट होते है, किन्तु इन्हीं के बीच कृष्ण का पर्वत उठा लेना उदात्त की तीव्र व्यंजना का बोधक बन जाता है। उनका पर्वत धारण उनकी अनन्त शक्ति का प्रतीक है, जो काव्य में व्यंजित होकर सौन्दर्य भाव के उदात्त तत्व का समर्थक बन जाता है।

भक्तिकाव्य में दास्य सम्बन्धी भाव आत्मविगर्हा, दया व करुणा, संकोच, ग्लानि आदि पर आधारित होने के ही कारण उदात्त सम्बन्धी भाव के अधिक निकट है। आत्मग्लानि एवं आत्मविगर्हा का भाव आत्मरति से विमुखता का भाव है। इसका अलंकरण सांसारिक मोह के द्वारा ढके जाना, माया में रमणवृत्ति, संसार की नश्वरता, भोग विलासों का अस्थायित्व, मृत्यु आदि का भय है। ये तत्व भक्तों की मनःस्थिति को निरन्तर करुण बनाए रखते है। भक्तिकाव्य में दीनता विषयक पदों में इस प्रकार के भावों की व्यंजना सूर तुलसी के पदों में मिलती है। ये कवि यहां सांसारिक रागों, पीड़ा, एवं मागों की नश्वरता से मुक्ति पाना चाहते है। भक्तिकाव्य में प्राप्त आत्मविगर्हा पूर्ण यह व्यक्तित्व आशा एवं निराशा के द्वन्द से निर्मित है निराशा इसलिए कि संसार नश्वर है, आशा इसलिए कि अनन्य भक्तवत्सल आराध्य उसके रक्षक है। इस प्रकार दास्य सम्बन्धी भाव दो संदर्भों में अभिव्यक्त हुए है। निराशाजन्य एवं आशाजन्य। प्रथम का सम्बन्ध ध्वंस या विनाश से है। भक्ति सांसारिक सम्बन्धों एवं आसक्तियों के मूल नष्ट हो जाने पर ही मुक्ति मानते है। दास्य विषयक उदात्त भाव का सम्बन्ध मात्र इसी स्तर पर भक्तिकाव्य में मिलता है। जहां आशाजन्य दास्य भक्ति का प्रश्न है, वहां प्रियता सम्बन्धी

दिखाई पड़ना
भाव उठ ~~खड़ा~~ होता है इसीलिए भक्त कवियों ने दास्य भक्ति को आसक्तिमूलक भी माना है.

ब्रह्म के उदात्त स्वरूप की कल्पना रोमांच एवं विस्मय के भाव से संयुक्त है। अवतारवाद की धारणा, उनके विराट स्वरूप की अनेक स्थलों पर अभिव्यक्ति, असुरसंहार के उपरान्त निर्मित अनन्तशक्तिपूर्ण व्यक्तित्व आराध्य के कृत्यों से प्रभावित भक्तों या भक्तपात्रों में हर्ष, से संयुक्त मनोभाव ब्रह्म के उदात्त स्वरूप से ही सम्बन्ध रहते हैं। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में पौराणिक परम्परा के आग्रह से ब्रह्म के विराटत्व एवं उनकी अलौकिक शक्तिमत्ता का इस क्रम में अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त है। इस तरह के समस्त भाव काव्य में प्रयुक्त होने वाले सौन्दर्य के अंग उदात्त भाव के समर्थक हैं।

.....

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में 'प्रियता' का भाव

उदात्त के बाद प्रियतामूलक भावों का स्थान आता है। प्रियतामूलक भाव सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की सीमा में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। प्रियतामूलक भावों का आधार स्नेह Affection है। संस्कृत साहित्य में रस के संदर्भ में प्रियतामूलक भावों की एक सरणि आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक मिलती है। प्रेयस् ऊर्जस्विन्, स्नेह, लौल्य, ऋजुता, भक्ति, वात्सल्य, प्रियतामूलक भावों के अन्तर्गत आते हैं। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में इन प्रियतामूलक भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। भक्तिरस के संदर्भ में बताया गया है कि सख्य एवं वात्सल्य भक्तिकाव्य के प्रियतामूलक प्रियतामूलक भावों के मूल आधार हैं। इसके शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन अध्याय ७ के अन्तर्गत किया गया है यहाँ इसके अभिव्यक्त स्वरूप का अध्ययन करना अपेक्षित है -

वात्सल्य

रूपगोस्वामी के अनुसार इसके आलम्बन बालकृष्ण विषय तथा उनके गुरुजनवृन्द आश्रय हैं। निम्न भक्त कवियों ने अपने काव्य में इसको अपना काव्यविषय बनाया है। सूरदास, तुलसीदास, परमानन्ददास, नन्ददास स्फुट रूप से अन्य अष्टछापी कवियों के पदसंग्रहों में भी एतत्सम्बन्धी कतिपय पद प्राप्त होते हैं। अष्टछाप को छोड़कर अन्य कवियों में कहीं एकाध पद ही इस भाव से सम्बन्धित मिलते हैं।

शिशुलीला

वात्सल्यमूलक प्रियता के भाव के अन्तर्गत प्रथम वर्ग से पंचम वर्ग तक अधिक महत्वपूर्ण है। इसके उपरान्त सख्य एवं इन भाव का क्रमशः विकास होता जाता है। सम्पूर्ण कृष्ण या रामकथा में प्राप्त वात्सल्य का काव्यविषय इस प्रकार है।

कृष्ण

श्रीकृष्णजन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, ठुमरुवों चलना, पावों चलना, बाल छवि वर्णन, कनछेदन, चन्द्र प्रस्ताव, पलनावर्णन, क्रीडन

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में 'प्रियता' का भाव

उदात्त के बाद प्रियतामूलक भावों का स्थान आता है। प्रियतामूलक भाव सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की सीमा में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। प्रियतामूलक भावों का आधार स्नेह Affection है। संस्कृत साहित्य में रस के रूप में प्रियतामूलक भावों की एक सरणि आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक मिलती है। प्रेयस् ऊर्जस्विन्, स्नेह, लौल्य, ऋजुता, भक्ति, वात्सल्य, प्रियतामूलक भावों के अन्तर्गत आते हैं। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में इन प्रियतामूलक भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। भक्तिरस के रूप में बताया गया है कि वात्सल्य एवं वात्सल्य भक्तिकाव्य के प्रियतामूलक प्रियतामूलक भावों के मूल आधार है। इसके शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन अध्याय ७ के अन्तर्गत किया गया है यहाँ इसके अभिव्यक्त स्वरूप का अध्ययन करना अपेक्षित है -

वात्सल्य

रूपगोस्वामी के अनुसार इसके आलम्बन बालकृष्ण विभाव तथा उनके गुरुजनवृन्द आश्रय हैं। निम्न भक्त कवियों ने अपने काव्य में इसको अपना काव्यविषय बनाया है। सूरदास, तुलसीदास, परमानन्ददास, नन्ददास स्फुट रूप से अन्य अष्टछापी कवियों के पदसंग्रहों में भी एतत्सम्बन्धी कतिपय पद प्राप्त होते हैं। अष्टछाप को छोड़कर अन्य कवियों में कहीं एकाधपद ही इस भाव से सम्बन्धित मिलते हैं।

शिशुलीला

वात्सल्यमूलक प्रियता के भाव के अन्तर्गत प्रथम वर्ग से पंचम वर्ग तक अधिक महत्वपूर्ण है। इसके उपरान्त सख्य एवं इन भाव का क्रमशः विकास होता जाता है। सम्पूर्ण कृष्ण या रामकथा में प्राप्त वात्सल्य का काव्यविषय इस प्रकार है।

कृष्ण

श्रीकृष्णजन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, घुटरुवों चलना, पावों चलना, बाल छवि वर्णन, कनछेदन, चन्द्र प्रस्ताव, पालनावर्णन, क्रीडन

राम.

रामजन्म, बालछविवर्णन, नामकरण, अन्नप्राशन, दुलार, पालना एवं सोहलो का गाया जाना, पावो'चलना तथा राजप्रासाद मे'क्रीडा करना।

इन खंडो मे'नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, सोहिलो तथा बधाईवन, बालोत्सव से सम्बन्धित है'। शुद्ध वात्सल्य की दृष्टि से जन्म, बालछविवर्णन, घुटरु वो'चलना, पावो'चलन, चन्द्रप्रस्ताव, खेलावर्णन, विभिन्न क्रीडाएं, पालना आदि खंडो मे ही इसके अन्तर्गत आते है'.

वात्सल्यमूलक भावो'को डॉ० करुणावती ने दो भागो'मे'विभक्त किया है - १ संयोगवात्सल्य २ वियोगवात्सल्य [१]। मक्तिकाव्य मे'ये दोनो'सम्भावनाएं वर्तमान है'। श्रीकृष्ण एवं राम दोनो'एक निश्चित अवधि के पश्चात् अपने माता पिता से विछुड़ जाते है'। फलत: यह स्थिति माता पिता के लिए वियोगवात्सल्य को मूलक है।

संयोगवात्सल्य के खंडो मे'स्नेह उत्सुकता, हर्ष, आश्चर्य पुलक, मुग्धता, मोह, अनुराग, उमंग, लालसा, चपलता, अरुचि, तृप्ति के भाव यहां मिलते है'। किन्तु प्रियतामूलक वात्सल्य का केन्द्रीय भाव स्नेह, पुलक एवं तृप्ति है। बहुसंख्यक पद इसी भाव की व्यंजना कराते है'। बालजीवन के प्रत्येक कृत्यो'पर उनके गुरुजन स्नेह, पुलक एवं तृप्ति से आत्मविभोर मिलते है'।

जहां तक वात्सल्यमूलक कृत्यो'का प्रश्न है, इन कवियो'की दृष्टि प्राय: समान ही रही है। व्यापक मंगलाचार के उपरान्त, बालरूप का उत्लेख, पालने पर मुस्कराना, मुंह फड़काना, ऊंठा घूमना, नन्द को देखकर मुस्काना, यशोदा को देखकर किलकारी मरना, किलकर बोलने का प्रयास, घुटरु'के बल चलना, घुड़ुकर नन्द तथा यशोदा को देखना, प्रतिबिम्ब देखकर उसे पकड़ना, दंतुली निकल आने पर हंसना, पावचलना, धूलि मे'लोटना, पावो'पर चलने के लिए यशोदा का उंगली पकड़ कर सिखाना, कृष्ण का लड़खड़ाकर गिरना, आदि अनेकानेक प्रसंग यहां कल्पित है'। रामकथा के प्रसंग मे'भी मानस तथा रामगीतावली मे' तुलसी ने इन्हीं खंडो'को नियोजित किया है।

.....

१: दे० मध्यकालीन भक्तिकाव्य मे'वात्सल्य एवं सख्य :

जहाँ तक कृष्ण के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले वात्सल्यभाव का प्रश्न है इन समस्त कवियों ने एक विशिष्ट पद्धति का प्रयोग किया है कृष्ण राम के अन्तर्गत वात्सल्योचित अज्ञानता एवं परितुष्टि का भाव नियोजित न करके लीला का भाव दिखाया गया है उनका पुलक, मोद, हर्ष, अनुराग एवं तृप्ति आदि कहीं या दिखाने के लिए है मूलतः वात्सल्य उनकी लीला का क्रीमात्र है

वात्सल्य भाव की प्रियता का विकास क्रमशः बाल, कौमार्य एवं किशोरावस्था का मिलता है गुरुजनों या आश्रय के अन्तर्गत मोद, पुलक, स्नेह, अभिलाषा आदि के भाव मिलते हैं

वियोग वात्सल्य की स्थिति में आश्रय के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले भाव चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य, अधीरता, आकुलता, विक्षिप्ति, शंका आदि महाकाव्य में प्राप्त है। इस वियोग वात्सल्य को उत्कृष्ट श्रेणी का आलम्बिनुर्न भाव लिए करने तुलसी ~~के लिए~~ ~~मूर्छा~~ तक का भाव नियोजित करते हैं राम एवं कृष्ण से सम्बन्धित कथाओं में वियोगवात्सल्य के प्रति आश्रय का तीव्र भावात्मक आवेश मिलता है।

सख्य

यह भाव वात्सल्य की प्रकृति से किंचित् भिन्न है कृष्ण कथा में इससे सम्बन्धित ये वर्ण्य विषय हैं।

प्रथम माखन चोरी, ऊखल बंधन, गोदोहन, वृन्दावन प्रस्थान, गोचारण, कालीदह जलपान, वंशीवादन, वन्यक्रीडा, छिरका खेल, पतंग उड़ाना, शतरंज खेलना आदि। छिरका, पतंग एवं शतरंज आदि क्रीडाओं का उल्लेख परवर्ती कृष्णकाव्य में प्राप्त है। इस भाव के आश्रय कृष्ण कथा में बलराम, श्रीदामा, सुबल, मीम, अर्जुन एवं सुरक्षा हैं। रामकथा में भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न एवं सुरक्षाओं का उल्लेख मिलता है हास, चपलता, क्रीडा, कुहल, वचनवक्रता, व्यंग्य, प्रगल्भता, उलाहना, सादृश्य, अवहेलना, रोष, कलह आदि के भाव इस खंड में प्राप्त हैं इन प्रसंगों में प्रियता या सख्य का भाव केन्द्रबिन्दु है, जिसके चारों ओर समस्त घटनाएँ घूमती रहती हैं।

प्रियता के भाव का उदात्तीकरण

ये भक्त कवि प्रियताभावक भावों के उदात्तीकरण की ओर

निरन्तर सन्देश मिलते हैं। वात्सल्य वर्णन के अन्तर्गत राम या कृष्ण के विभुत्व स्वरूप का आभास प्रकट करना इसका मुख्य आधार है। सामान्य जीवन के सरल एवं वात्सल्य भाव से पृथकता सिद्ध करने के लिए ये कवि इस दृष्टि का प्रयोग करते हैं। इस क्रम में कृष्ण या राम के अलौकिक व्यक्तित्व की सूचना और नर मुनि का उनके प्रति आकृष्ट होना उनके विभिन्न आश्चर्य मूलक कृत्य तथा अनेक रूपों का धारण कर लेना आदि कार्यों से मिलती है।

प्रियतामूलक भावों के उपरान्त शृंगार एवं प्रेम की अभिव्यक्ति भक्ति काव्य में अनेक रूपों में हुई है। अगले पृष्ठों में प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जावेगा। ~~दोहावली के अतिरिक्त व्यास की वाणी एवं मधुसूदन सागर में संकलित दोहों को भी सामान्य रूप से इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है इनके क्रमशः निम्न वर्ण्य विषय के रूप हैं~~

शास्त्रीय प्रेम एवं शृंगार

भक्ति एवं लीला के अन्तर्गत देखा जा चुका है कि इनमें प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों भावों से युक्त है। इसका आरम्भ लौकिक प्रेम से होता है तथा अवसान आध्यात्मिक आनन्द में। परिणामस्वरूप इनके आध्यात्मिक प्रेम को स्पष्ट करने के लिए लौकिक एवं ऐन्द्रिक प्रेम का अध्ययन करना अपेक्षित है इसी के आधार पर ही इन कवियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को व्याख्या सम्भव है।

प्रेम को परिभाषित करते हुए रूपगोस्वामी ने बताया है कि सर्वथा ध्वंसरहित युवावस्था के परस्पर[1] भावबन्धन को प्रेम कहते हैं[1]। इस प्रेम के परस्पर सम्बन्धी भावों की संख्या ६ बताई गई है- रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय राग तथा अनुराग। रूपगोस्वामी के अनुसार ये पृथक वस्तुएं न होकर परस्पर कार्य कारण भाव से सम्पृक्त हैं। जिस प्रकार ईख रस, गुड़, शक्कर, खण्ड शक्कर की स्थिति है उसी प्रकार प्रेम विलास के ६ भाव परस्पर रति से निष्पन्द होकर विकसित होते हैं। विद्वान् इनके लिए प्रायः प्रेम शब्द का ही व्यवहार करते हैं। इनके अनुसार प्रेम के तीन भेद हैं: प्रौढ़, मध्यम तथा मन्द[2] इनमें रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग तथा अनुराग को रूप गोस्वामी ने परस्पर प्रेम विकास के सोपान के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रेम के अन्तर्गत इन्होंने बताया है कि यह प्रेम अपनी मूल स्थिति में भोगपरक है किन्तु कृष्ण सम्बन्धी भाव से सम्बद्ध होने के कारण ही यह उदात्त एवं सात्विक बन गया है। फलतः प्रेम के पूर्व शृंगार का अध्ययन करना अपेक्षित है। यद्यपि रूपगोस्वामी ने शृंगार को परिभाषित नहीं किया है फिर भी इसका स्वरूप वही है जो अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में[2] अर्थात् इन्होंने परम्परा के

.....

१: सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंस कारणे।
सद्भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः उज्ज्व० नील० पृ. ४१८।

२: " "

शृंगार विप्रलम्भ संभोग से कहीं अधिक सशक्त एवं प्रभावशाली है। विप्रलंभ के अभाव में संयोग स्वत: प्रभावहीन एवं निरर्थक है। विप्रलम्भ शृंगार के परम्परागत ४ भेद हैं पूर्वराग, मान, प्रवास, प्रेम वैचित्र्य एवं पूर्वराग के प्रेरक तत्वों में दर्शन, चित्र, स्वप्न, श्रवण, वन्दिवक्त्रा, दूतीवक्त्रा, सत्वीवक्त्रा एवं गीत हैं पूर्वराग की स्थिति वस्तुत: सम्भोग शृंगार की भूमिका है।

पूर्वराग की स्थिति में प्रेममूलक मानसिक शारीरिक स्थितियों के विभिन्न भाव प्रत्यक्ष हो उठते हैं। लालसा, उद्देश्य, जागरण, तानवम्, जड़िमा, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह एवं मृति। प्रेम की ये १० स्थितियां शृंगार रस विवेचन के संदर्भ में रसशास्त्रियों द्वारा मुक्तकाव्य के क्षेत्र में पहले गिनाई जा चुकी हैं।

मान की स्थिति वैष्णव भक्त कवियों में अत्यधिक स्पष्ट एवं प्रभावशाली रूप से चित्रित है। रूप गोस्वामी ने मान को दो भागों में विभाजित किया है- हेतुक मान तथा अहेतुक मान। अहेतुक मान हैं प्याजन्य है तथा अहेतुक बिना हेतु के कारणाभास से उत्पन्न होता है। रूप गोस्वामी ने प्रेम की स्थिति को सर्पवत् स्वभाव कुटिल बताई है। फलत: हेतु एवं अहेतु दोनों से मान के उद्भूत होने में कोई आश्चर्य नहीं है।[2] इसी के साथ साथ विप्रलम्भ के प्रेमवैचित्र्य एवं प्रवास की स्थिति भी स्पष्ट है प्रवास को इन्होंने तीन भागों में विभक्त किया है भावीप्रवास, वर्तमान या भवत् प्रवास तथा भूतप्रवास। प्रवास की स्थिति में क्लेश प्रेरणा को अनिवार्य बताया गया है। प्रवासजन्य वियोग की शेष दस अवस्थाएं उसी प्रकार हैं- चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तनुता, मलिनता प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृत्यु।

संभोग शृंगार के दो भेद हैं

१. मधुररसपरिपाक विशेष २. गौण सम्भोग।

१: बिना विप्रलम्भेन सम्भोग: पुष्टिमश्नुते कषायिते हि वस्त्रादौ मूयान् रागो विवर्धते : उ० नी० शृंगार भेद

२: उज्वल० नील० शृंगार भेद श्लोक ७०, ७१, तथा ९१, ९३

१ मधुर रस की लीला कैशवध के पूर्व वृन्दावन एवं गोकुल की प्रेमक्रीडा से सम्बन्धित है।इसी लीला के अन्तर्गत रास,केलि ,विहार एवं अपहरण आदि लीलाएं आती है।

२ गौण संभोग के अन्तर्गत कृष्ण प्रति दो लीलाएं सामान्य एवं मधुर रस की पोषक है। रूपगोस्वामी के अनुसार इसके अन्तर्गत स्वप्न , जल्प,काव्योक्त स्पर्श , वर्त्मरोधन ,वृन्दावन क्रीडा , यमुनाजलकेलि , चौर लीला ,वस्त्र चौर्य पुष्पचौर्य कुंज गमन , मधुपान , कपटसुप्तता द्यूत क्रीडा ,पटाकृष्टि , चुम्बन ,आश्लेष ,नखक्षत , विम्बाधसुधापान , मिथुन विलास लीला।

रूपगोस्वामी ने शास्त्रीय प्रेम के परिपोषक एवं एतद्सम्बन्धी अन्य साधनों का उल्लेख प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार ही किया है नायक भेद के सामान्यस्वरूप ,नायिका भेद का विस्तृत उल्लेख नायक के प्रेमक्रीडा में सहायक विट् ,चेट् ,विदूषक , पीठमर्द ,प्रियनर्मसखा ,पर्यटूती तथा नायिका की सहयोगिनी दूतियों एवं सखियों का विस्तृत विवरण उज्वलनीलमणि में प्राप्त है।

उन्होंने शृंगार रसनिष्पत्ति एवं परिपाक के विभिन्न भाव,उद्दीपन, आलम्बन ,अनुभाव ,सात्विक एवं व्यभिचारी तथा स्थायि भाव का विस्तृत विवरण दिया है। अनुभाव के अन्तर्गत भाव,हाव ,हेला ,अयत्नज एवं स्वभाव अलंकारों की विस्तृत परम्परानुबद्ध चर्चा उपलब्ध है। अयत्नज अलंकारों में शोभा कान्ति ,दीप्ति ,माधुर्य ,प्रागल्भता ,औदार्य ,धैर्य तथा स्वभाज अलंकारों में लीला ,विलास,विच्छित्ति, विभ्रम ,किलकिंचित् ,मोहायित ,कुट्टमित ,विब्बोक गर्व,मान ,ललित ,विकृत ,क्रिया ,ईर्ष्या ,मौग्ध्य ,चकित की स्थिति लौकिक शृंगार तुल्य सहायक भावों के रूप में ही है। सात्विक व्यभिचारी तथा विभाव की स्थिति भी प्रायः परम्परानुबद्ध है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्यों में इस शास्त्रानुमोदित शृंगार का निरूपण नन्ददास ने विरह मंजरी एवं रस मंजरी के अन्तर्गत किया है विरह मंजरी में उन्होंने बताया है कि विरह परम प्रेम का उच्छलन है नन्ददास ने भक्तिकाव्य की परम्परा में प्रेम को सामीप्य को मूल मानकर हल्का ४ भेद किया है

प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर, देशान्तर.

रू गोस्वामी ने परम्परा में कथित काव्यशास्त्रीय विरह के चार भेदों को स्वीकार किया है; पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य एवं प्रवास ये भेद नन्ददास कथित विप्रयोग के भेद से भिन्न हैं।

प्रत्यक्ष विरह.

विरह की यह स्थिति संभ्रमजन्य है इसका उदाहरण नन्ददास ने राधा केलि से प्रस्तुत किया है।

पौढो प्रीतमके अंक जुहाई। कछु इक प्रेम लहरि सो आई।
संभ्रम भई कहति रस बलिता। मेरे लाल कहां री ललिता।[२]

वस्तुतः प्रत्यक्ष विरह की स्थिति संयोग की सर्वोत्कृष्ट मानसिक अवस्था को द्योतक है इसके महत्व को प्रतिपादित करते हुए नन्ददास ने बताया है

मूरत छवे मदिरा पिये, तब काहू बुधि होइ।
प्रेम सुधारसको पिये, तिहिं बुधि रहै न कोई।[3]

प्रत्यक्ष विरह की ठीक यही स्थिति भ्रमरगीत में भी कथित है

सखि मिन परे प्राटहीं निरखत, बानन्द की निधि खानि।
सखि यह विरह संयोग कि भ्रम सुख दुख लाभ कि हानि।[४]

जैसे हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में परमानन्ददास तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के विहारिनदास एवं भक्त कवि व्यास ने इसका उल्लेख किया है।

पलकान्तर.

नन्ददास के अनुसार यह प्रत्यक्ष विरह से किंचित् निम्न कोटि का है। इन्होंने पलक निमेष से दर्शन अवरोध को पलकान्तर विरह की संज्ञा दी है

.....[२].....

१: परम प्रेम उच्छलन को, बढ्यो जु तन मन मैन.
कृष्ण बाला विरहिन भई, कहति चन्द सो बैन. दो.१ विरह मंजरी
२: विरह मंजरी नन्ददास ग्रंथावली सं. पं. उमाशंकर शुक्ल पंक्ति सं.२०२०
३: २३,२४, " " "
४: भ्रमरगीत द. स. पृ. सं. २४७०

से सोना सुन वदन अस लोनो। कोटि मदन छवि करि नहि होनो।
सो मुख जब अवलोकन करै। तब तु आनि बिच पलकै परै।
व्याकुल कहत मई ब्रजनारी। तिहि देहि विधातै गारी।

बनान्तर

कृष्ण के बन चले जाने पर उनके अभाव से उत्पन्न विरह को बनान्तर विरह कहा जा सकता है.

जब वृन्दावन गो गन गोहन। जात है नन्द ब्रजन मनमोहन।
तब की कहि न परत कछु बात। इक इक पलक कल्प सम जात।
इक टक दृगन लिखी सो डोलै। बोलै तो पुतरी सो बोलै।

देशान्तर. यह प्रवास का पर्याय है कृष्ण की स्थिति विशेष मे मथुरा एवं द्वाराका मे कृष्ण के आपन के समय ब्रजवासियो मे उत्पन्न विरह को देशान्तर विरह की संज्ञा मिली है। इस देशान्तर विरह मे बारहमासे ऋतु आदि ऋतुओं का क्रम परम्परा सम्मत हो है। इसमें वियोगजन्य क्लेश एवं ऋतु सम्बन्धी विभिन्न प्रभावोंका उल्लेख है। रूपगोस्वामी एवं नन्ददास कथित विप्रलोग शृंगार के भेदो मे मूल अन्तर है। रूपगोस्वामी वस्तुत: संस्कृत की सामान्य काव्य परम्परा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। उनका यह भेद सामान्य परम्परा युक्त है। नन्ददास का विप्रलम्भ भेद किसी परम्परा से सम्बद्ध न होकर मात्र कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ मे रखकर निर्मित किया गया है। विप्रयोग के इस विभाजन का आधार कृष्णलीला ही है। नन्ददास द्वारा कथित पूर्व विप्रयोग के तीन भेद प्रत्यक्ष, पलकान्तर एवं बनान्तर सभी कवियो मे प्राप्त हो जाते है देशान्तर विरह संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा कथित प्रवास का नामान्तर मात्र है। तुलसी एवं कृष्ण भक्त कवियो के समस्त सम्प्रदायो मे इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है।

नन्ददास का दूसरा ग्रन्थ है - रस मंजरी जिसका प्रतिपाद्य नायिका भेद है यह नायिका भेद स्वरूप की दृष्टि से परम्पराबद्ध है।

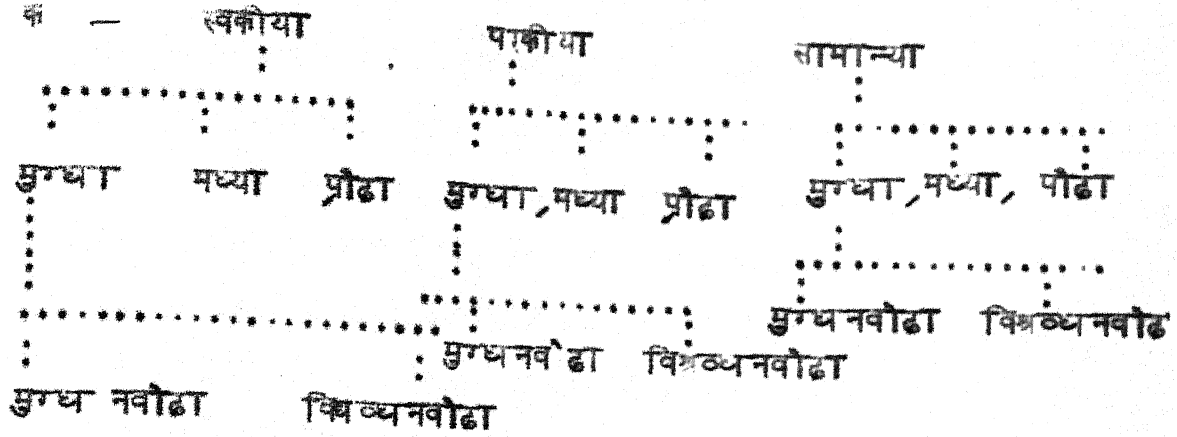

इस वर्गीकरण की एक संक्षिप्त भूमिका नन्ददास ने रस मंजरी के आरम्भ में दी है। इस वर्गीकरण के विवेचन में उन्होंने अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, धीरा, अधीरा, धरातिगोपना, वाग्विदग्धा एवं लक्षिता को भी सम्मिलित कर लिया है।

ख - इनका दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार है -

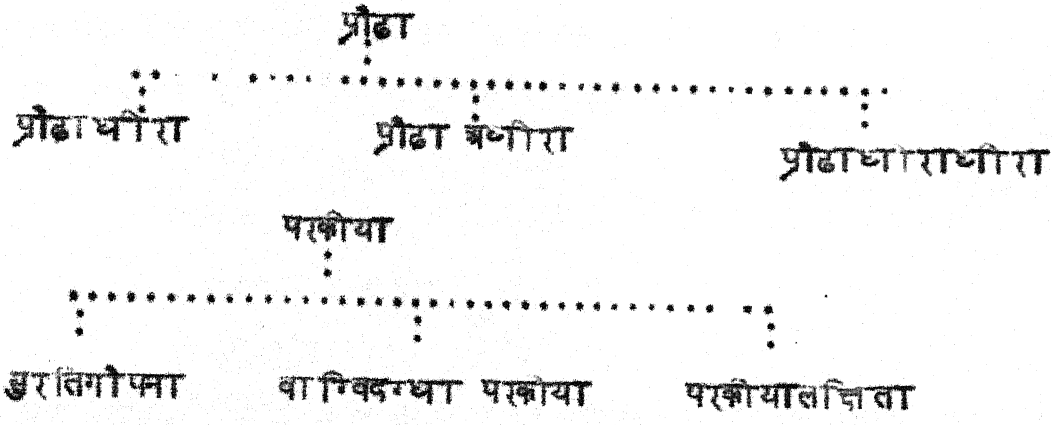

ग - एक तीसरा वर्गीकरण उन्होंने और प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है.

प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहंतरिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा व वक्रलब्धा, अभिसारिका, स्वाधीनपतिका प्रीतम गमनी. वयक्रम के अनुसार उन्होंने इनके भी क्रमशः मुग्धा, मध्या एवं प्रौढा, तीन तीन भेद की कल्पना की है।

नायिका भेद के साथ साथ नायक भेद की स्थिति यहां अति सामान्य है। उन्होंने परम्परा से चले आते हुए अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट एवं शठ नायकों की चर्चा की है। नायिका भेद के अन्य सहायक तत्वों में हाव, भाव एवं रति का भी सामान्य विवेचन यहां प्राप्त है।

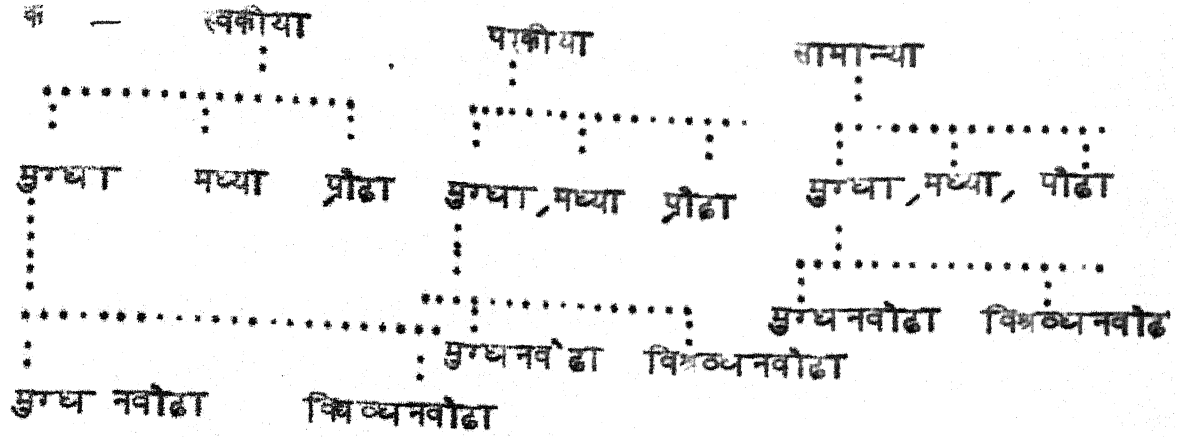

इस वर्गीकरण की एक संक्षिप्त भूमिका नन्ददास ने रस मंजरी के आरम्भ में दी है। इस वर्गीकरण के विवेचन में उन्होंने अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, वाग्विदग्धा एवं लक्षिता को भी सम्मिलित कर लिया है।

ख - इनका दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार है -

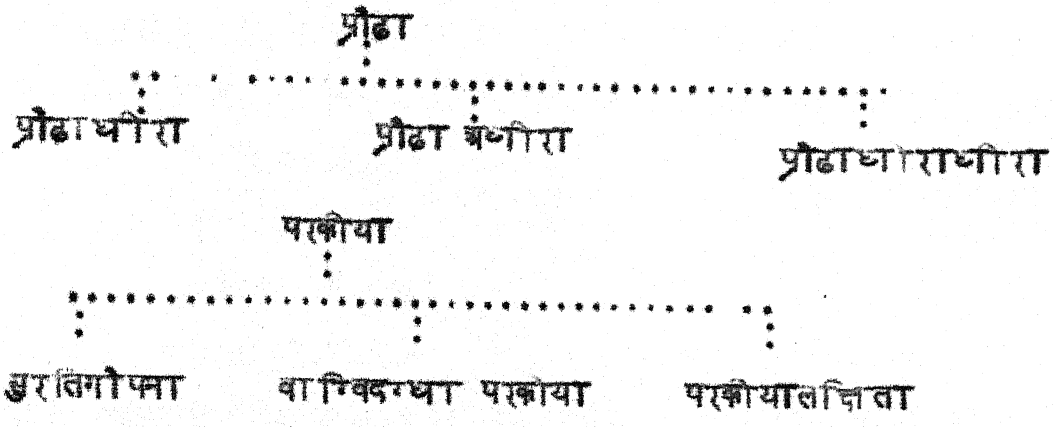

ग - एक तीसरा वर्गीकरण उन्होंने और प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है.

प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहंतरिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा व वक्रलब्धा, अभिसारिका, स्वाधीनपतिका प्रीतम गमनी. क्रम के अनुसार उन्होंने इनके भी क्रमशः मुग्धा, मध्या एवं प्रौढा, तीन तीन भेद की कल्पना की है।

नायिका भेद के साथ साथ नायक भेद की स्थिति यहाँ अति सामान्य है। उन्होंने परम्परा से चले आते हुए अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट एवं नायकों की चर्चा की है। नायिका भेद के अन्य सहायक तत्वों में हाव, भाव एवं रति का भी सामान्य विवेचन यहाँ प्राप्त है।

नन्ददास का यह वर्गीकरण नायक नायिका भेद की विशाल परम्परा की कड़ी मात्र है। किन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्रियों की अपेक्षा यह वर्गीकरण सीमित अधिक है यह मात्र प्रभाव, काल, क्रिया एवं वयक्रम पर आधारित है। रूपगोस्वामी का नायक नायिका भेद प्रकरण नन्ददास की अपेक्षाकृत विस्तृत है। उन्होंने शृंगार निरूपण के अन्तर्गत न केवल नायक नायिका भेद को प्रस्तुत किया है अपितु इसके अन्य सहायक तत्वों को कृष्ण की विलास लीला के साथ नियोजित करके इसे विशद् एवं वैज्ञानिक बनाया है। नायिका भेद के अन्तर्गत मात्र गोपियां हैं उन्होंने गोपियों को तीन भागों में विभक्त किया है - १ वृन्दावनेश्वरी [राधा] २-नायिका भेद ३-ऐश्वर्या भेद. मुख्य प्रेमपात्रों के इन तीन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने नायक नायिका के पारस्परिक प्रेमवर्धन में सहायक दूती एवं सखीभेद का सविस्तार उल्लेख किया है।

दूसरी ओर नन्ददास ने नायक भेद को भी परम्परानुमोदित विस्तार दिया है। इनके अनुसार नायक भेद के ४ आधार हैं- पति, उपपति, धीर, एवं अनुकूलता का। पति एवं उपपति के भेद का उल्लेख नहीं है। जहां तक धीर का सम्बन्ध है, उसे अनुकूलतामूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत रख दिया है -

धीरोदात्त अनुकूल
धीरललित अनुकूल
धीरशान्त अनुकूल
धीरोद्धतानुकूल

शेष अनुकूल के साथ परम्परा से कथित दक्षिण, शठ एवं धृष्ठ का उल्लेख प्राप्त है नायक के सहायक पक्ष में चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द प्रियनर्मसखा, नवयुवती, वेशी एवं प्राप्त दूती की चर्चा की गई है। सूर के कूटों में नायिका भेद का संकेत मिलता है। यहां वयक्रम एवं कार्य से सम्बन्धित नायिका भेदों का उल्लेख प्राप्त है। काव्यमोह के कारण नायिका भेद की स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं हो सकी है।

भक्तिकाव्य में प्रेम एवं विलास के विस्तृत वातावरण के लिए नायक नायिका भेद, उसके अनुकूल सहयोगियों का परस्पर आश्रय कृष्ण एवं गोपी प्रेम को व्यक्त करने के लिए लिया गया है। शास्त्रानुमोदित प्रेम एवं

शृंगार की दृष्टि से इन कवियों का ध्यान पूर्ववर्ती संस्कृत काव्य परम्परा की ओर गया है और इस दृष्टि से इनका सम्पूर्ण काव्य संस्कृत काव्य परम्परा के नि-
में निरूपित शास्त्रीय प्रेम से किंचित् पृथक नहीं कहा जा सकता।

....

लीला के सभी भाव उदात्त (Sub Lime) के भाव नहीं हैं। लीला के अन्तर्गत शान्त, दास्य, वात्सल्य एवं सख्य (का जहाँ तक प्रश्न है, इनमें 'उदात्त' के भाव अधिकांश रूप एवं विकास के से प्राप्त होते हैं। किन्तु जहाँ तक गोकुल एवं वृन्दावन की कृष्णलीला का प्रश्न है यह शृंगार से ओत प्रोत है। इस शृंगार प्रेम का शास्त्रीय परम्पराबद्ध स्वरूप निरूपित किया जा चुका है। इस शास्त्रीय प्रेम के साथ साथ इनका प्रेम स्वच्छन्द आनन्दपर एवं औरसात्मक है। इस लीला विषयक प्रेम के लिए किसी विशिष्ट शब्दावली विशेष का अभाव है। चूंकि यह प्रेमलीला के विशिष्ट स्वरूप पर आधारित है अतः इसे लीलाप्रेमवाद की संज्ञा दी जा सकती है। इसलिए प्रेमवाद को स्पष्ट करने के लिए इसकी पृष्ठभूमि पर विचार कर लेना आवश्यक है विस्तार की दृष्टि से यह प्रेम लीलावाद हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के राम एवं कृष्ण भक्ति काव्य दोनों में प्राप्य है। तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि भी रामगीतावली में 'लंका एक दर्शन स्थलों' पर राम की स्वच्छन्द प्रेम क्रीडा की चर्चा करते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि - होलोत्सव, दीपमालिका, तथा वसन्तोत्सव आदि वर्णन हैं जिनमें रामसीता के साथ अयोध्या का नारी नर सभी निःसंकोच भाव से निर्भयतापूर्वक एक धरातल पर सम्मिलित होता है।[1] यह निःसंकोच भाव कृष्ण काव्य में प्राप्त कृष्णलीला का प्रतिफल ही कहा जा सकता है। डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने तुलसी के काव्य में प्राप्त इन स्थलों के लिए राममक्तिशाखा के रसिकोपासकों का प्रभाव बताया है किन्तु तुलसी एवं अन्यों की रचनाओं में इतनी सशक्तता नहीं है कि वह तुलसी को प्रभावित कर पाती। वस्तुतः यह प्रभाव कृष्ण भक्ति साहित्य का ही है इस प्रेमलीला के निम्न प्रसंग गीतावली में हैं 'रामरूपवर्णन, राम हिंडोला, दीपमालिका, वसन्त विहार इन पदों में राम स्वच्छन्द भाव से नर नारी समाज के बीच में आते हैं किन्तु राम के मर्यादा की पूर्ण सुरक्षा इन स्थलों में भी की गई है। इन स्थलों में शृंगार का सामान्य आभास मिलता है।

....

१: तुलसीदास- डा. माताप्रसाद गुप्त पृ. २४५

इसकी परिणति शान्तरस में होती है। राममक्ति साहित्य में 'प्रेमलीलावाद' को पूर्णप्रश्रय रसिकोपासकों द्वारा मिला है।

कृष्णोपासकों में 'प्रेमलीलावाद' को अधिकाधिक महत्ता मिली है। कृष्णलीला विषयक आरम्भिक प्रौत को यदि हरिवंश पुराण माने तो उसका आरम्भिक स्वरूप प्रेमपरक ही मानना पड़ेगा। हरिवंश पुराण में कृष्ण की प्रेमलीलाएँ निम्नलिखित हैं। इसमें मात्र दो क्रीडाएँ हैं प्रथम कृष्ण की हल्लीसक क्रीडा जो परवर्ती पुराणों में रास के नाम से विख्यात हुई तथा दूसरी जलक्रीडा। इस जल क्रीडा में कृष्ण, बलराम, अक्रूर, गोप रुक्मिणी, रेवती तथा गोप वधूएँ हैं। कृष्ण उन सबके साथ आनन्दित होते हैं। हरिवंशकार ने इसे गंधर्वक्रीडा का नाम दिया है[1]। मालुमती का अनुपम हरण करने के कारण इसे हालिक्यक्रीडा भी कहा जाता है। हरिवंशपुराण के बाद भागवत तक यह प्रेमलीलावाद विकसित होता रहा है। परम्परा की दृष्टि से इसका अध्ययन होने पर ही इसके विकासक्रम को स्पष्ट किया जा सकता है।

विष्णुपुराण में यह लीला किंचित् विस्तृत रूप में मिलती है। यहाँ भी कृष्ण की रास क्रीडा एवं गोपिका विहार का उल्लेख है। रास तथा गोपिका विहार के प्रसंग को व्यापक बनाने का यहाँ प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण पुराण के श्री कृष्णजन्म खंड में इस लीला का विस्तृत परिचय मिलता है। राधा के विषय में सर्वप्रथम स्तुति एवं पूजा का विधान इसी पुराण में प्राप्त होता है। राधा प्रसाद सेन के अन्तर्गत राधा का यह स्वरूप ब्रह्म माया या अविद्या की भाँति है[2]। उनके गुणों में कृष्ण को प्रसन्न करने की भूमिका बताई गई है। कृष्णलीला के क्रम में यहाँ वात्सल्य एवं शृंगार दोनों प्रकार की लीलाएँ प्राप्त हैं। जन्माष्टमी एवं कृष्णबधाई के बाद असुरवध की लीलाएँ हैं। इसके उपरान्त कृष्ण के बाल चरित्र का वर्णन है। कृष्ण के बाल चरित्र का वर्णन दो अध्यायों में अत्यन्त विस्तार से मिलता है किशोर कृष्ण की लीलाओं में राधाकृष्ण की केलि का विहार उल्लेखनीय[3] है। अन्त में एक पृथक

१: हरिवंश विष्णुपर्व: अध्याय ८६ श्लोक १ .. ८८ तक

२: वै. ब्रह्मवैवर्तपुराण: राधाप्रसाद सेन: अध्याय ५: श्लोक १ .. १२८ तक

३: राधाकृष्णसम्मिलनवर्णनम् अध्याय १५

अध्याय में राधाकृष्ण के विवाह का उल्लेख मिलता है। राधाकृष्ण की विस्तृत लीला के उपरान्त गोपिकावस्त्राहरण, रासक्रीडा एवं गोपियों का गमन, विशेष रूप से वर्णित है। राधा सम्बन्धी उल्लेख के कारण इसे पुराण परम्परा में बाद का समझा जाता है यहाँ का रासवर्णन भागवत की ही भाँति विस्तृत एवं काव्यगुणों से सम्पन्न है पुराणकार स्पष्ट रूप से संकेत करता है कि कृष्ण की यह रासलीला बहुत पहले से ही पुराणों में वर्णित है -

कथा पुराण सारोक्ता राधायाश्चोरुतेजसः।
हरिलीला प्रधिव्याप्त सर्वा अति मनोहरा।[1]

यह रास शुक्लपक्ष की त्रयोदशी की रात्रि में चन्द्रमा के निकल आने पर निष्पन्न हुआ था। ब्रह्मवैवर्त का रास वर्णन आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण से कहीं अधिक व्यापक भाव भागवत की कृष्णलीला में निहित है भागवतकार की दृष्टि इन पुराणों से कहीं अधिक स्पष्ट एवं स्वच्छन्द है यही कारण है कि भागवत में व्यापक लीला रस को यह 'कृष्णस्तादभुतम्' के नाम से सम्बोधित करता है। मध्यकालीन कृष्ण भक्तों को भागवत का माधुर्य अधिक आकर्षक लगा था इसीलिए उनको प्रेरणा के बीज यहीं उपलब्ध मिलते हैं। भागवत में वर्णित कृष्ण की लीला में 'प्रेमतत्व' प्रेमतत्व अधिक प्रधान है' इस लीला का आरम्भ दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध के पंचाध्यायी एवं शब्द रूप में होता है। वेणुगीत, चीरहरण, रासलीला का आरम्भ, गोपियों का विक्लवता वियोगावस्था, गोपिकागीत, कृष्ण द्वारा, सान्त्वना एवं महारास के ये परवर्ती पाँच प्रमुख रास पंचाध्यायी के नाम से विख्यात रहे हैं। मध्यकाल के भक्तकवियों में सभी ने कृष्ण की इस रासलीला की ओर संकेत किया है। इस रासलीला के उपरान्त युगलगीत, भ्रमरगीत, तथा दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में वर्णित भगवान कृष्ण का लीलाविहार भक्तिकाव्य की प्रेम व्यंजना का आधार कहा जा सकता है। इस प्रकार पौराणिक परम्परा के एक विशिष्ट क्रम में राधाकृष्ण की प्रेमपरक लीलाओं का विस्तार होता रहा है।

१: श्रीकृष्णजन्म खंड: षष्ट विंशो अध्याय : श्लोक ४ .

इस पौराणिक साहित्य में उपलब्ध कृष्ण की प्रेममूलक विभिन्न लीलाओं को केन्द्र बनाकर बाद में भक्त कवियों एवं अन्य रचनाकारों द्वारा कृष्ण लीला को विभक्त किया गया। रूप गोस्वामी ने उज्वल नीलमणि में अपने लक्षणों को पुष्ट करने के लिए लगभग ६० श्लोकों को उद्धृत किया है। अनेक श्लोकों के साथ रचनाओं का भी नामोल्लेख है। इन रचनाओं में दशरूपक, ललित माधव, भागवत, हरिवंशपुराण, ब्रह्म संहिता, विदग्ध माधव, उद्धव संदेश, दानकेलि कौमुदी, पद्यावली, गीतगोविन्द, हंसदूत, उज्ज्वलनीलमणि, विष्णुपुराण, भक्तिरसामृतसिंधु, चन्द्रमाला, रुक्मिणी स्वयंवर, विल्वमंगल की कृति विशेष, गोविन्द विलास, कृष्ण दीपिका है। इसके साथ ही साथ इस काव्य की ~~कृति विशेष गोविन्द लीलामृत, कृष्ण दीपिका है~~ की परम्परा में भिन्न कृतियों का कोई बार उल्लेख मिलता है - रूप गोस्वामी कृत उद्धव, जयदेव कृत गीतगोविन्द, तथा अभिनवगीत गोविन्द, कृष्णलीला लीलाशुक कृत कृष्णकर्णामृत, विट्ठलनाथ कृत शृंगार रस मंडन, माधवभट्ट कृत दानलीला, जीवगोस्वामी कृत गोपाल चम्पू आदि ये रचनाएं भक्तिकालीन कृष्ण की प्रेमलीला को स्थायी बनाने में अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती हैं।

इनमें कृष्ण की शृंगारपरकलीला एवं तत्सम्बन्धी भाव कृष्ण के आधार ग्रन्थ भागवत दशमस्कन्ध, ललितमाधव, विदग्धमाधव, उद्धवसंदेश, दानकेलि कौमुदी, पद्यावली गीतगोविन्द तथा हंसदूत का विशेष महत्व है। यही कृष्ण की उद्दाम शृंगार लीला को प्रतिपादित करने के प्रति तीव्र संवेदना सर्वश्रेष्ठता मिलती है। मध्यकाल के संस्कृतेतर लोक भाषा काव्यों में राधाकृष्ण सम्बन्धी ~~विस्तृत~~ प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इसमें बारहमासा, गाथा सप्तशती अमरुशतक, विद्यापति पदावली, मध्यकाल गीतिकाओं के पद-विशेष रूप से कृष्ण, गोपाल एवं तानसेन के कृष्णलीला से ही सम्बद्ध है। इस पौराणिक परम्परा में विकसित कृष्णलीला की स्थिति भक्ति काव्य में अत्यधिक व्यापक रूप में मिलती है।

कृष्ण भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में इनके द्वारा गृहीत प्रेम सम्बन्धी विषयों का स्वरूप इस प्रकार है।

सूरसागर में प्रेम मूलक कृष्णलीला का निम्न क्रम

अनुराग समय के पद राधा कृष्ण के प्रेम की चर्चा, राधा की आसक्ति विह्वलता सखी कथन, राधा का पश्चाताप, राधा रूप की प्रशंसा, कृष्ण स्वरूप की अनन्यता, गोपियों का अनन्य प्रेम, प्रेम में लोकलज्जा का त्याग, परस्पर प्रेम की अनन्यता, सुरति प्रसंग, राधा के प्रति कृष्ण की आसक्ति, यमुना गमन, युगल समागम, लक्ष्मानलीला, राधा का विरह, राधा कृष्ण केलि, नैन समय के पद, शील समय के पद, मानलीला, तथा दम्पति विहार, दूतीकार्य, मिलन सुख, खंडिता प्रकरण, राधा का मान, राधा का मध्यम मान, राधा का शृंगार वर्णन कृष्ण का क्षमा तथा अन्य गोपियों के यहां जाना, बड़ो मानलीला, दूती वचन, राधावचन, राधाकृष्णवार्ता, मिलन, दूसरी मानलीला, कुंज, वसन्तलीला, अक्रूरकेलगमन, गोपिकाओं की उद्विग्नता, उद्धववचन, गोपीवचन, विरह, भ्रमरगीत, कुरुक्षेत्र गोपीमिलन परिशिष्ट १- रास, नृत्य, जलक्रीडा, पनघटलीला आदि।

सूरसागर में उपर्युक्त विषयों के पद प्रेमलीला से सम्बन्धित हैं इनका मूलभाव शृंगार प्रधान है इसी का विकास हिन्दी के परवर्ती अष्टछापी कवियों में मिलता है। अष्टछाप के कवियों ने परमानन्ददास को छोड़कर शेष ६ कवियों ने अपने सम्पूर्ण पदों को दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम प्रेमलीला विषयक पद द्वितीय वल्लभ विषयक पद, वल्लभ एवं वल्लभ कुल विषयक पद मात्र प्रशस्तिमूलक हैं। इनकी संख्या स्वल्प है किन्तु प्रेमलीला विषयक पद अधिकाधिक मात्रा में हैं। सूर के प्रेमलीला विषयक पदों की प्रकृति वस्तुतः इनके बाद से परिवर्तित होने लगी है। पदों में उदात्त का भाव लीन होता गया कृष्ण की उदात्त लीला में स्वच्छन्दता का अधिकाधिक विकास होने लगा। परमानन्द एवं परमानन्ददास के परवर्ती अष्टछापी कवियों के काव्यविषय से इसका सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है परमानन्ददास के काव्य में ~~निकुञ्जदर्शन~~ प्रथम से प्रेम का आरम्भ होता है इसके बाद निम्न लीलाएं आती हैं सेज, वसीन लेन, यमुनातीर मिलन, आसक्ति, गोपी जू के वचन, आसक्ति, को वर्णन, स्वरूपशोभा, प्रभु स्वरूप वर्णन, स्वामिनी स्वरूप वर्णन, रास, मान अन्तर्धान, महारास, जलक्रीडा, युगल रस वर्णन, सुरतान्त, खंडिता, युगल गीत, गोपी विरह, भ्रमरगीता, कुरुक्षेत्र मिलन।

सूरदास एवं परमानन्ददास के वर्ण्य विषयों में मूल अन्तर प्रकृति का है — ग्रीष्मलीला, बधूनागमन लीला, उपमागृह गमन, वृन्दावनागमन, प्रद्युम्नागमन, गोपी विरह वर्णन, प्रेमलीला, के पदों में कृष्ण का प्रेम एकनिष्ठ नहीं है। अन्य प्रकरणों में राधा एवं कृष्ण का प्रेम एक निष्ठ है किन्तु परमानन्ददास का वर्ण्यविषय राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम से ही सम्बन्धित है अन्य के पदों में प्राप्त अनेकनिष्ठ प्रेम परमानन्ददास के काव्य में नहीं है परमानन्ददास के परवर्ती अष्टछाप के कवियों की दृष्टि शृंगारमूलक अधिक है सम्मिलित रूप से इनके वर्ण्य विषयों में विशेष पार्थक्य नहीं है। ये वर्ण्य विषय इस प्रकार हैं।

शृंगार, कौडा, झाक, बोरी, वृतचर्चा, प्रभुस्वरूप वर्णन, स्वामिनी स्वरूप वर्णन, युगल स्वरूप वर्णन, आभूषित की अवस्था, वेणुनाद, बधनो, मान, मानापनोद, परस्पर सम्मिलन, शयन, वसन्तान्त, सैहिता, हिंडोल, दान, विरह, वर्षा, भोग, शयन, राजभोग, पौढिबो वसन्त, धमार, रास, डोल, सैहिता,

हिन्दी के गौडीय सम्प्रदाय के कवियों का रचनात्मक साहित्य अत्यल्प है। मात्र सूरदास मदन मोहन की पदावली का ही प्रकाशन हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों से प्राप्त पदों के अनुसार इनका विषय क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है —

कृष्ण स्वरूप वर्णन, राधा रूप वर्णन, राधा कृष्ण की बाललीला, युगल छवि, प्रेमानुराग, अभिसारिका, नायिका का विरह, सैहिता, मान, मानमोचन, मुरली, रास वसन्त, होरी, फूल डोल, वर्षा विरह, वर्षा विनोद फूल।

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि मूलत: कृष्ण की प्रेम लीला से सम्बद्ध हैं। इनका वर्ण्य विषय इस प्रकार है— युगल अवतरण, युगल केलि, युगल स्वरूप वर्णन, परस्पर आकर्षण और प्रेम, विहार, मान, दूतीवचन, राधा प्रति मिलन, होरी, झूला, राधा का सौन्दर्य, राधा का उपालम्भ, रति कृष्ण के द्वारा राधा का सौन्दर्य वर्णन, सखी द्वारा सौन्दर्य कथन, युगल स्वरूप वर्णन, कृष्ण का विरह, कृष्ण का संदेश भेजना, डोल, अलंकरण, मानत्याग, मुरलीवादन परस्पर मिलन, राधा का कृष्ण के प्रति कथन, वसन्तान्त, आलिंगन, शरद, शिकार खेल, हिंडोर, वर्षा, वर्षा का रास, वसन्त, फाग, परस्पर आमोद

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों ने अवतार लीला के उदात्त स्वरूप का कहीं स्पर्श तक नहीं किया है। इनका सारा विषय मूलतः प्रेमलीला मूलक है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम का सम्भवतः सर्वाधिक विस्तार मिलता है। ये लीलाएँ इस प्रकार की हैं:-

शृंगार रस विहार, प्रातः कुंज्या विहार, श्रृंगारान्त, मनन विहार, रसोद्गार वसन स्नान समय, वेनी गुहन, नैन वर्णन, मुख वर्णन, हास, उरस वर्णन, नख वर्णन अंग वर्णन, षोडश शृंगार वर्णन, नवलता वर्णन, मोहन रस, गोपाल को स्नेह, गान रस, भोजन विलास, आरती बेला, वन विहार, आवेश, प्रिया जू के व्यंग्य वचन, चरण स्पर्श रस, अंतरस, रतिरस, सखी को विकानि, उत्थापन समय, वेसीवट को खेल, मेंड फटट, आतुर रस, आस मिलौनी, मुरला रस, सम्भ्रम मान, श्री लाल जी के वचन, श्री प्रिया जू प्रति, श्री लाल जू के वचन, सखी प्रति, सखी वचन प्रिया जू प्रति, श्री लाल जू का उत्सुकता, सखी के चोज वचन, अभिसार, श्री किशोरी जू के प्रेम वचन, अभिसार, कुंज्यारस, विहार, विपरीत विहार, सुरति युद्ध।

इस प्रकार प्रेमलीला विषयक काव्य की पृष्ठ भूमि के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनके काव्य का अधिकाधिक भाग मात्र इसी से सम्बद्ध है। इनका आरम्भिक स्वरूप भोग परक ही है। इन काव्यों की प्रकृति का अनुमान इन विषयों से सरलता पूर्वक लगाया जा सकता है।

...

स्वच्छन्द प्रेम

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में व्यवहृत प्रेमलीला का प्रथम चरण भोगपरक है इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध काम एवं कामपरक चेष्टाओं से है। सूरदास ने राधा एवं कृष्ण के लिए अनेक स्थलों पर कोक कुशल, कोक कला प्रवीन [प्रवीण] कोक कला वित्पन्न [व्युत्पन्न] आदि सम्बोधनों का प्रयोग किया है। कोक मुनि रचित कोकविद्या या कोकशास्त्र मध्यकालीन भोगपरक चेष्टाओं का नियामक ग्रन्थ रहा है। फलत: भोग की स्थिति विशेष में शृंगारिक चेष्टा की पूर्ण परिपाक कामशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुमोदन से ही माना जा सकता है। सूर ने कृष्ण के विषय में उल्लेख करते हुए एक स्थल पर स्पष्ट रूप से कहा है –

सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकिनी,
कोक गुन सहित दुख दूटि लीने।[1]

सूर परवर्ती सभी कवियों ने राधाकृष्ण के कोक व्युत्पन्नता की प्रशंसा की है। कृष्ण भक्त कवियों में प्राय: अष्टछाप को छोड़कर शेष अन्य सम्प्रदायों में इस भोगपरकचेष्टा की बहुलता दृष्टिगत होती है। भक्त कवियों पर कामशास्त्रीय प्रभाव प्रत्यक्षत: कामशास्त्र से न आकर काव्य परम्परा में गृहीत कामशास्त्रीय प्रभाव का अवशेष प्रतीत होता है। इस दृष्टि से भक्तिकाव्य में प्राप्त शृंगार निरूपण, नायक नायिका भेद, नख शिख वर्णन, अलंकरण एवं वस्त्र सज्जा आदि चेष्टाएं इसी परम्परा से सम्बन्धित हैं।

इन भक्त कवियों ने इस प्रेम लीला मूलक कथा के लिए अनेक नामों का प्रयोग किया है –रस कथा[2], राधा कान्ह कथा[3], काम केलि कथा[4], लीला अकथ कथा[5]

१: पद सं. २७४७ सूरसागर
२: सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि यह रस कथा बखानी सूर. २५२५.
३: राधा कान्ह कथा कुज घर घर ऐसे जनि कहै हौं : सूर २५४१
४: तिनहुं सखियान पै काम केलि कथा, सुनि यातें सुधि पाई:३४: सूरदासमदनमोहन
५: परमानन्दस्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी :३३७:परमानन्ददाससागर

प्रेम कथा [१], अद्भुत कथा [२] आदि भक्ति काव्य में प्राप्त लीला प्रेम के लिए प्रे सम्बोधन शृंगारिकता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इन कवियों ने शृंगार के इस स्वरूप का नामकरण मात्र शृंगार के नाम से ही नहीं लिया है। इसके लिए काम, कौक, रति, केलि, लीला रस तथा अरति शब्दों को शृंगार के पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत किया है। इन समस्त शब्दों में रस शब्द अधिक प्रमुख रहा है। रस शब्द को शृंगार, काम वासना शब्दों का पर्यायवाची स्वीकार किया गया है। कहीं कहीं इन शब्दों की परस्पर पृथकता पर भी विचार किया गया है। तुलसी ने शृंगार को प्रेम से निष्पन्न बताया है [३]। सूर आदि परस्पर प्रेम से ही शृंगार की उत्पत्ति बताते हैं। नन्ददास के अनुसार प्रेम के परम उच्छलन से विप्रलम्भ शृंगार की उत्पत्ति होती है [४]। अनेक स्थलों पर काम, कौक एवं रति पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। केलि शब्द कहीं लीला का समानान्तर है। कहीं-कहीं भोग शृंगार के केलि का अर्थ कहीं कहीं प्रेम से भी लगाया गया है।

इन सामान्य अर्थों के साथ साथ केलि, काम, लीला एवं रस शब्द आध्यात्मिक अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है जिनका उल्लेख आगे किया जावेगा। जहाँ तक रस शब्द में शृंगार परक अर्थ का सम्बन्ध है, इसके प्रयोग की बहुलता इन काव्यों में प्राप्त होती है। यहाँ रस के शब्दार्थ से तात्पर्य प्रेम, शृंगार, भोग आकर्षक, अंगों के मानसिक प्रभाव, एवं शृंगार जनित सुख से है। इस प्रकार रस के संदर्भ में अनेक प्रकार के प्रयोग द्रष्टव्य हैं- रामरसिकरस, अमियरस, लीलारस, बातीरस, शृंगाररस, अलिरस, कन कहीं कहीं रस, बतरस, सब रस चितवनिरस, नयनरस, गानरस, अरतिसमयरस, अधरामृतरस, रामरस, विरहरस रसिकरस, रसिकिनि [राधा] रस, अतिरस, विलासरस, मोहन रस,

.....

१: श्रुति स्मृति वेद पुरान सो रहे विचारी परमानन्द प्रेम कथा सबोहन ते न्यारी: १३१२ पर०

२: और कौक कला अंग अंग नवावति सुन गावति मैन .

अद्भुत कथा ठाम के प्रभु की मोपै कहत बनैन :३२४: भक्तकवि व्यास जी, पदा०

३: कल्पय सै. १ उत्तरकांड . रामचरितमानस : . दोहा सै. १

४: विरह मंजरी :

चरणस्पर्श रस , आलिंगनरस , सैज्यारस , विपरीत , विहार रस , सुरति रस , अनरस प्रस्तुत संकलन में रस सम्बन्धी अधिकांश शब्द प्रयोग शृंगार एवं तत्सम्बन्धी चेष्टा एवं प्रभाव से ही सम्बद्ध हैं। रूपगोस्वामी ने रति, काम , एवं प्रेम को इस प्रकार परिभाषित किया है :

प्रेम . यद्भावे बन्धने[1] सो स प्रेमा परिकीर्तिता ।

नायक नायिका के पारस्परिक युवावस्था सम्बन्धी भाव बन्धन को प्रेम कहते हैं। नायक नायिका के युवावस्था सम्बन्धी पारस्परिक भाववन्धन को प्रेम कहते हैं ।

रति स्थायिभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरा रति[2] ।

जहा पर स्थायिभाव शृंगार रहता है , वहा मधुरारति होती है ।

रति प्रेम , स्नेह , प्रणय , राग एवं अनुराग में परस्पर भेद करते हुए रूपगोस्वामी ने इन्हें परस्पर कारण रूप में स्वीकार किया है ।

स्याच्छ्रद्धैषा रति: प्रेमा प्रोद्यन्स्नेह : क्रमादयम् ।
स्यान्मान: प्रणयोरागोऽनुरागो भाव इत्यपि[3] ।

इन्होने प्रेम का स्वभाव इक्षुरस की भाँति बताया है जो गुड, शर्करा आदि में स्निग्धक परिणत किया जा सकता है ।-

बीजमिक्षु: स च रस: स गुड: सैव स च ।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला ।
अत: प्रेम विलासा : स्युर्भावा : स्नेहादयस्तु ये ।
प्रायो व्यवह्रियन्ते अमी प्रेम शब्देन सूरिभि: ।
यस्या यादृश जातीय : कृष्णे प्रेमाभ्युदंचति ।
तस्या तादृश जातीय : स कृष्णस्याभिवर्धते[4] ।

शास्त्रीय शृंगार एवं प्रेम के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है कि भक्त कवियों की दृष्टि अधिकाधिक काव्यशास्त्रीय शृंगार की ओर रही है । किन्तु इसके साथ

१: उज्वलनीलमणि पृ. ४१८ .
२: " पृ. ३८८ .
३: " पृ. ४१६ .
४: " पृ. ४१७

हो साथ स्वच्छन्द प्रेम को स्थिति कम नहीं है। इस स्वच्छन्द प्रेम का वातावरण कामशास्त्रीय प्रभावों से अधिक प्रभावित रहा है। इस स्वच्छन्द प्रेम का विकास निम्नकाव्यशास्त्रीय वातावरण के अन्तर्गत हुआ है :

नायक भेद, नायिका भेद, पारस्परानुराग, वय, वयसन्धि, स्वभाव एवं वयस्थ, अलंकार, वसन्त, शरद वर्षा विहार, पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य प्रवास, संभोग, शृंगार के अन्तर्गत ही प्रत्यक्ष कथन, रसावेश ज्योत्स्ना विहार, सुरति, सुरतान्त, सुरतानुशय आदि।

शृंगारमूलक इन काव्यशास्त्रीय उपादानों के साथ कृष्ण के स्वच्छन्द प्रेम की लीलाएं जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार भक्ति एवं शृंगार के संयोग से काव्यतत्व की अधिकाधिक अभिव्यक्ति इन काव्यों में मिलती है।

इन काव्यों में अभिव्यक्त प्रेम एवं शृंगार का आरम्भिक स्वरूप भोगपरक है, यह ऐन्द्रिक प्रेम पर आधारित है। ऐन्द्रिक प्रेम वस्तुतः शारीरिक यौन आकांक्षाओं एवं तत्सम्बन्धी भोगपरक वृत्तियों पर आधारित है। शारीरिक आकर्षण, युवावस्था सम्बन्धी यौन भावनाएं, परस्पर संभोग जनित चेष्टाएं, कामुक प्रेम, परस्पर यौन भावना की तृप्ति के लिए विभिन्न दैहिक प्रयत्न, शृंगारोद्दीपक अंगों के कथन इसके आधार हैं। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने अपने शृंगार भाव को स्पष्ट करने के लिए इन विषयों को अपनाया है। युवावस्था के विभिन्न आकर्षक अंग इसके मुख्य आधार हैं। इन अंगों में विशेष रूप से मुख, अधर, नेत्र, कच, दन्त, ग्रीवा, स्तन, त्रिवली, कटि एवं बाहु की ओर इनकी विशेष दृष्टि गई है।

मुख. मुख उपमानों में कमल एवं चन्द्र तथा इसके पर्यायवाची शब्द अधिक हैं इसके साथ ही इसके लिए प्रयुक्त संभावनामूलक कल्पनाजन्य अनेक उपमानों का प्रयोग मिलता है

अधर. अधर के उपमानों में दाड़िम एवं बिम्बाफल का प्रयोग अधिक है इसका उल्लेख रति क्रीड़ा के समय अधिक हुआ है। इस स्थिति में प्रायः अरुण अधर, खंडित अधर, क्षत अधर, दंशित अधर का उल्लेख अधिक मिलता है।

कटि इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। कृश कटि, एवं मुख मोड़ कर हँसने की स्थिति में इसका प्रयोग अधिक है।

कुच . इसका प्रयोग प्राय: अधिक हुआ है । इसके पर्यायवाची नामों में स्तन , पयोधर , उरज का भी उल्लेख प्राप्त है । पयोधर के साथ अधिकांश स्थलों पर पीन का विशेषण मिलता है । कहीं स्थलों पर स्तन कुलिश का भी प्रयोग प्राप्त है । वैसे यहाँ कुच प्राय: विशालता , उत्तुंगता एवं कठोरता से ही सम्बद्ध है । यह संभोग शृंगार के अन्तर्गत तीव्र भावोत्तेजन के लिए प्रयुक्त है । कुचों का उल्लेख इस प्रकार है - कुच कुलिस , कुच श्रीफल , कुच गुटिका , कुच शिखर , उत्तुंगकुच , कुलिश कुच प्रफुल्ल कुच , कठोर कुच , उत्तंग कुच , कुम्भ कुच भक्त कवि व्यास ने उरज वर्णन के अन्तर्गत इसकी अनेक भाव से प्रशंसा करते हुए इसे रूप , रस एवं गुण आदि से संयुक्त बताया है ।

नेत्र यह अपनी चेष्टा एवं स्वरूप की दृष्टि से शृंगार भावना का प्रमुख प्रेरक अंग माना जाता है । प्राय: सभी कृष्ण भक्त कवियों ने स्वतंत्र रूप से नेत्र विषयक पदों की रचना की है । नेत्र विषयक पद संख्या में सर्वाधिक सूरदास एवं भक्त कवि व्यास के हैं ।

नेत्र सम्बन्धी विशेषण कमल नयन , लोचन चकोर , नयन मृग , लोचन मृग , खंजन लोचन , खंजन लोचन , तृषित लोचन , चपल नयन .

---

१ उरज कुगल पर सखन स्याम छवि , उपमा कहि सब कवि पचि हारे
रूप बरन गुन जस , रस रासे कुल की रासि दुलारे : भक्त कवि व्यास जी.
पदावली प.स. ३५३ .

सब अंग कोमल उरज कठोर : ,, प. स. ३५४ .

सब अंगनि के हैं कुच नाहक : प. स. ३५५ .

अधिक हूँ ते अधिक उरज की चोट : प स. ३५६ :

सब अंगनि मंह उरज निकसे : प. सं. २५७ .

सब छवि को फल उरज अन्यारे प. सं. ३५८

याही ते माई कुचनि के कोर भये कारे : प. सं. ३५९

अनियारे नयन , धृष्टनयन , चैरे नयन , लालची नयन , पीरु नयन , भृंगनयन बीधे नयन , घर के चोर नयन , रसलंपट नयन , रंगीले नयन , बटपारीनयन , चोर नयन , ठगनयन , झुमटनयन , छठीनयन , नमकहरामी [लौनहरामी] नयन , चपल नयन , दीरघ नयन , अलसित नयन , बिछुरे नयन , बंकिमनयन स्याम सुधा रस पी नयन , रीझे नयन , छुब्धो नयन , लोए नयन , स्वारथी नयन दीरघ नयन , गर्वभरे नयन , करसायल नयन , नयन लग , लंजन नयन , नटवा नयन आदि ये विशेषण प्रीत: युवावस्था के उत्तेजक भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं इनमें झुमट , अनियारे , धृष्ठ , चैरे , लालची , बीधे . घर के चोर , रस लंपट रंगीले , बटयारी , चोर , छठी , नमक हरामी , चपल , बंकिम, रीझे, छुब्धो स्वारथी , लोए , करसायल , गर्वभरे आदि विशेष प्रियता सूचक भावों से सम्बद्ध हैं वस्तुत: इस स्थिति में नेत्र प्रेम व्यंजना के माध्यम नेत्र विषयक भाव वास्तविक रुप में मानसिक आसक्ति से सम्बद्ध हैं इस प्रकार प्रेम के मूल आश्रय नेत्र हैं।

नेत्रों से प्रेम मूलक क्रिया व्यंजनाएं ..... इन कवियों ने नेत्रों के प्रसंग में आसक्तिमूलक अनेक क्रिया व्यंजनाओं का भी व्यवहार किया है। इनकी व्यंजना का मूल भाव प्रेम प्रगाढता को सूचना देना है। ये इस प्रकार हैं- रुप के प्रति नेत्रों की आकुलता दर्शन की उत्कट लालसा के लिए अनन्त लोचनों की आकांक्षा , मन , क्रम , वचन , से मात्र कृष्ण के दर्शन की लालसा बार बार इनकी आकुलता , अनिर्वचनीय भाव , कृष्ण के पीछे अनुरक्त होकर घूमना , कृष्ण के प्रति आंखों का व्रताचरण , कृष्ण के प्रति परम उत्कटता , कृष्ण को देखने के लिए एक मात्र साध , चारु अवलोकनि से युक्त नेत्रों के ये व्यापार कृष्णासक्ति के संदर्भ में प्रयुक्त हैं इनकी आसक्ति एकमात्र कृष्ण प्रेम से ही सम्बन्धित है।

~~इन नेत्रों के साथ जु व्यापार विशेषकर युवावस्था सम्बन्धी कटाक्ष का उल्लेख संयोग स्मृति संचारी भाव के अन्तर्गत हुआ है इस प्रसंग में रीझ द्वारा उत्पन्न काम पीड़ा को व्यक्त करने के लिए भ्रू वंकिमा का उल्लेख हुआ है ये विशेषण इस प्रकार है भौंह धनुष , कटाक्ष तीर, भौंह धन , बंकिम भौं , बंक अवलोकनि , भौं को दंड , बंक , छुरी , तेजा भौं इत्यादि .~~

इन नेत्रों के साथ ही व्यापार विशेषकर अवस्था सम्बन्धी कटाक्ष का उल्लेख संयोग या स्मृति संचारीभाव के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रसंग में कटाक्ष द्वारा उत्पन्न काम पीड़ा को व्यक्त करने के लिए ही वंकिमा का उल्लेख किया हुआ है। ये विशेषण इस प्रकार हैं–मोह मदुगण, कटाक्ष तीर, मोह घन, वंकिम भौं, वंक अवलोकन, भौं को दंड, वंक भृकुटी, बंका भौं इत्यादि।

नेत्र के अतिरिक्त सामान्य शरीर के लिए प्रयुक्त विशेषण प्रायः भोगपरक एवं वासनोत्तेजक हैं। इन विशेषणों में शरीर के लिए कंचन सम्म, तन कनक, मदन वल्ली, मरकतदेह, कंचन यष्टि, कंचन लता आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है ये प्रायः शरीर की गौरता, लावण्य, स्निग्धता एवं मादन भावों के लिए व्यंग्यार्थरूप में प्रयुक्त हैं। जहां तक मन एवं तत्सम्बन्धी प्रेमाकर्षण का सम्बन्ध है- इसके लिए भी व्यंजनात्मक शब्दावली का प्रयोग यहां मिलता है। इन व्यंजनाओं में मन का उरझ जाना, हो जाना, पागल हो जाना, अपहृत हो जाना, ठग लिया जाना, भृकुटि कटाक्ष में मन मृग का विंध जाना इत्यादि व्यंजनाएं प्रेमासक्ति एवं शृंगार से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शारीरिक कुछ प्रत्यंगों के विभिन्न प्रेम संदर्भों में प्राप्त कुछ तत्सम्बन्धी तीव्र आसक्ति एवं भोगपरकता की व्यंजना करते हैं। इन कुछ प्रत्यंगों द्वारा प्रेम सम्बन्धी विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाओं की व्यंजना हुई है।

प्रेम सम्बन्धी शारीरिक चेष्टाएं

इन्द्रिकप्रेम की अन्तिम परणति शारीरिक चेष्टा में होती है। जिसके माध्यम से आश्रय एवं विषय तुष्टि का बोध करते हैं। प्रेम की यह स्थिति नायक नायिका दोनों से सम्बद्ध है। प्रेम मिलन की परस्पर निम्न चेष्टाएं इन काव्यों में दृष्टिगत होती हैं।

नायक पक्ष

अनुराग के कारण व्याकुलता, पासबैठना, मुस्कराकर देखना, पांव ठीक करना [नमस्कार के प्रत्युत्तर में] बधरों का स्पर्श [कौटुम्बिक जनों के बीच प्रेम को स्पष्ट करने के लिए प्रेमव्यंजक संकेत] हाथों को चरण से छूकर सिर से लगा लेना, अपनी भुजाओं से अपना अंक भर लेना, मुरली के मधुर गान से

प्रभावित करना , सर्वस्व हरण करना , बाह मरोड़ना , धृष्टता करना , व्यंग्यमयी रमण करना , आलिंगन करना , नागरी के रस में मत्त रहना , संकेत स्थल पर जाना , रति में निपुणता प्राप्त करना , विलास क्रीडा में रतिपति को लज्जित करना , प्रेम से प्रिय को अंक में भर लेना , प्रिया को वसनहीन करना , गोपियों को उन्मत्त करके भुजाओं में भर लेना , अरति रति में तृप्त रहना , उंगलियों से नायिका के बाल ठीक करना , मुखचन्द्र का चुम्बन , अधरों को दांतों से भर लेना , नायिका को विवश कर देना , नायिका के अंग कंपने पर उन्हें हृदय से चिपका लेना , राधा के साथ अरति में भीग जाना , रति से थक कर अलसाना , रति के उपरान्त संकोच से हंसना , कौक गुण व्युत्पन्नता, अनेक कौक कलाओं से युक्त परस्पर क्रीडा , नायिका के ऊपर पीत पट डालकर उसे छिपा लेना , वंशुकी खोलना , नखक्षत करना , भुजाओं में नायिका को लपेट लेना , कौक गुण से आनन्द भोग करना , रति संग्राम रोपना , अंगों को प्रत्येक अंगों से चिपका लेना , अंक जोड़कर पलंक पर लेटना , प्रिया का वेश भूषना , अंगों का स्पर्श करना , हर्षित होकर अंक में भर लेना , चन्द्रावली आदि सखियों के गृह गमन , मान , दूती से संदेश भेजना , झूलना में भाग लेना , वसन्तलीला का नियोजन करना , होरी , झूलना क्रीडा इत्यादि।

नायिका पक्ष
****

सुना जल विहार , कृष्ण दर्शन की लालसा , प्रतीक्षा , प्रेम के कारण अश्रु प्रवाह , कृष्ण विषयक तीव्र आसक्ति , मुग्धभाव से अनन्य आकर्षण , कृष्ण के लिए एक मात्र साथ , मन , कर्म , वाणी से प्रिय के प्रति एकाग्रता , कृष्ण को देखने के लिए एक मात्र उत्कटता , रुप के प्रति पूर्ण तादात्म्य की भावना , प्रेम की पूर्णता , लावण्य का तीव्र भाव , घरद्वार का त्याग , नित्यक्रीडा , कौशलता में कुशलता , रुपसराशि से विह्वल , वेन्दी संवारने के बहाने से पांव पड़ना , हृदय पर हाथ रखना , कौटुम्बिक जनों के बीच लज्जा के कारण प्रेम व्यंजक संकेत हरि दर्शन के बिना कल न पड़ना , एकाएक हरि की दृष्टि पड़ जाने पर स्वेद का आ जाना , दृष्टि के हरि के बिना घर बार का अच्छा न लगना , हरि के साथ मन का चला जाना , दर्शनरस के लिए लौक वेद की मर्यादा का त्याग , कृष्ण का नाम सुनकर बावला हो जाना , घर में सास ननद का त्रास सहना , श्याम के रंग में रंग जाना , हंसकर

कृष्ण को बैठ लाना , श्याम को बैक में लेना , श्याम रस के वश में होना, परस्पर केलि क्रीडा में बेसुधि का हो जाना , कुंज भवन में रति युद्ध करना , रसविहार में मग्न रहना , रति के उपरान्त वस्त्र ठीक करना , मरगजी सारी पहनना , नई अंगिया का फट फटक जाना , बीरा ,हार , चीर एवं चोली से शृंगार को फिर सजाना , प्रीतम के लिए सेज सज्जा , प्रगाढ रति में व्याकुल हो जाना , विपरीत रति , चोली बन्द का टूटना , चोली के वस्त्र का तरफना , दरकना , रति संग्राम युद्ध , रति युद्धस्थल में मूर्छित होकर गिर पडना , विपरीत लक्षण शृंगार , नैनों का लाना ,खंडिता प्रकरण ,मानलीला व्यंग्य वचन आदि ।

अलंकरण

अलंकरण के अन्तर्गत इन कवियों ने अवस्था के अनेक उद्दीपक तत्वों को लिया है। साहित्य में अलंकरण का उल्लेख उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होता है यहाँ भी ठीक उसी संदर्भ में नायक नायिका पक्ष के परस्पर भाव उद्दीपन के रूप में उनका प्रयोग किया गया है।

नायक पक्ष

पीताम्बर, कछनी, कनक छिछावली, मोती की माला, चन्दन, उंटल कंचन मेखला, केशर लेप, तिलक, मुरलिका, मोरचन्द्रिका, पीताम्बर, वेणुभूषा माल्यानुलेपन, वेणीरव, शृंगीरव, गीत, मुखवस्त्रावहन, निर्माल्य, गुंजमाला, धातुविधातु, गोधूलि, रसना, पान, चौतनी आदि।

नायिका पक्ष

मृगमद, मलयज, केशरि, कपूर, कुंकुम, अगरु, अरगजा आदि चन्दन के लेप, बेसरि, ताम्बूल आदि।

इन अलंकरणों के द्वारा अवस्था में कामुकता के प्रेरक तत्वों की ओर ही संकेत किया गया है। वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत सामन्तवादी सौन्दर्य, प्रवृत्ति के ही फलस्वरूप आया है।

कृष्ण एवं राधा

कृष्ण एवं गोपियों की प्रेम सम्बन्धी अनेक स्थितियाँ हैं। कृष्ण एक स्तर पर निराकार ब्रह्म, दूसरे स्तर पर लीलाधारी विष्णु एवं तीसरे स्तर पर गोपपुत्र हैं। इसके अतिरिक्त इनका एक चौथा स्वरूप भी है वह रसमीमांसा एवं विभाव के अन्तर्गत आश्रयालम्बन का। वह स्वतः रसिक है। फलतः रस निष्पत्ति एवं प्रेम व्यंजना के लिए इनके तत्सम्बन्धी गुण अनिवार्य हैं। गोप कृष्ण के लिए भक्ति और प्रेम दोनों ही मूल कारण बताए गए हैं। प्रेम एवं शृंगार की दृष्टि से कृष्ण आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों हैं[1]। कृष्ण का स्वभाव रस का मूल कारण है। वे गोपियों के कमल नयन के लिए भ्रमरवत् रस लंपट हैं[2]। उनकी सुन्दरता आकर्षण का मुख्य आधार है। उनकी माधुरी मूर्ति भक्तों को आकृष्ट करती है। वे अद्भुत केलि रस के संयोजक, सौन्दर्य में मदन के गर्व को नष्ट करने वाले, एवं मुरली धारण करके चराचर को मुग्ध करने वाले हैं[3]। निम्बार्क माधुरी में श्रीहरिव्यास देव ने राधाकृष्ण के युगल स्वरूप का वर्णन करते हुए कृष्ण के निम्न गुण बताए हैं, कृष्ण कोटि कन्दर्पों की छवि से अलौकिक, सरस अनुराग के रंग में रंजित, मुकुल मुकुट से युक्त, मूधर चन्द्रिका से शोभित, शीश पर पुष्पों की शोभा से युक्त, ललाट पर वंकित तिलक से विभूषित तथा उनके श्रवण में ताटंक कुंडल, निमज्जित नील बाँके, राधा के लिए आकर्षक हैं[4]। इसी निम्बार्क माधुरी में श्री भट्ट जी ने श्री कृष्णशरणापत्ति श्लोक के अन्तर्गत कृष्ण के लिए अनेक प्रेममूलक विशेषणों का प्रयोग किया है। इन विशेषणों की स्पष्टता की दृष्टि से स्थान मूलक, रूप मूलक, गुणमूलक, अलौकिकता, सम्बन्ध मूलक एवं कार्य मूलक के रूप में देखा जा सकता है। स्वबोध के एवं आनन्द की स्थिति में रूप, स्थान एवं गुण मूलक विशेषण आलम्बनत्व की स्थिति विशेष, कार्य मूलक भोक्ता की दशा तथा अलौकिकता एवं शौर्य मूलक विशेषण इनके ब्रह्मत्व

१: परमानन्दसागर प. सं. ३३६
२: मीरा सुधा सिन्धु प. सं. ८
३: श्री विट्ठल विपुलदेव, निम्बार्क माधुरी प. सं. १२.
४: निम्बार्क माधुरी : स्वामी हरिव्यास जी प. सं. १३.
५: " " " २२

के बोधक हैं' ये विशेषण इस प्रकार हैं'-

१ स्थान सूचक. वृन्दावन चन्द्र, कदम्ब तरु मूलस्थ, कदम्ब कृत कासक, सदा वृन्दावने विहरन् राधया नित्यम्।

२. रूप सूचक
..... स्फुट इन्दीवर श्याम, त्रिभंगी ललित, स्निग्धक ग्रीव त्रैलोक्य मोहन, पिच्छचौलिपीतवास, कोपार सौन्दर्य, वेणुरन्ध्र, चलाङ्गुल्याभातिरत्नौमिका छवि महारासौ विश्वमूर्ति, महानन्दमयोदेव।

३ अलौकिकता सूचक. सान्द्रानन्द, एकविद्ग्धन, अत्याश्चर्यानन्तशक्ति प्रवर्तक: अत्याश्चर्यानन्दरस, अविशेषेण सर्वस्य कामपूरक: सकृन्नत्या भासतो सर्वोपद्मयस्वकारतान्।

४. कुल सूचक
..... प्रवेन्द्रकुलनन्दना.

५. शौर्य सूचक. महाचमत्कारि सर्व निज शक्ति प्रवर्तक:, अत्यन्तापारकारुण्य स्वतंत्रैव लक्ष्मी, कृष्ण उद्दाम शक्तिमान्.

६. सम्बन्ध सूचक.
..... श्रीस्वन श्रीराधा कौमुदीचन्द्र, राधा केलि तुष्ट, कौस्तुभोदारवक्ष, विलुठ रत्नकिंकिणी जाल मणि नूपुर मंडित, विद्युतवत् पिच्छ मुकुट से युक्त गलाल तुलसीदाम से युक्त, कारु एवं चन्दन से लिप्त, राधा के प्रेम में विवश, राधा के हृदय प्राण.

७ कार्य सूचक.
.....
मुरली वादन कला से स्थावर एवं जंगम को मुक्त करने वाले व्रज सीमान्त पर स्थित युवतियों को वेणीनाद से आकृष्ट करने वाले, अनेक बार गोपियों के आलिंगन से शोभायित शरीर वाले, रूपलीला की निधि, महाकामाग्नि से सन्तप्त, गोपीगीत के सुधा से आप्लावित हृद, रसाम्बुधि में मग्न.

कृष्ण के ये विशेषण मध्यकालीन वृत्ति के सूचक हैं। इनके अतिरिक्त कृष्ण भक्ति साहित्य में विलासितासूचक विशेषणों की संख्या पर्याप्त है। ये विशेषण भक्तिसाहित्य की मध्यकालीन प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु सम्म

रामभक्तिसाहित्य में राम से सम्बन्धित विलासिता मूलक विशेषणों की संख्या कम है। रामभक्ति के मधुर सम्प्रदाय में विलासितामूलक विशेषणों की न्यूनता है किन्तु मधुर सम्प्रदाय के राम एवं कृष्ण अनेक स्तर पर एक हो जाते हैं। तुलसी ने भी रामसौन्दर्य निरूपण के समय अनेक स्थलों पर उन्हें काम के मद को मर्दन करने वाला, कोटि काम स्वरूप, कन्दर्प को लज्जित करने ~~वाला, कोटि-काम-स्वरू~~ वाले आदि विशेषणों से युक्त बताया है। किन्तु कृष्ण स्वरूप निरूपण के क्रम में प्रयुक्त विशेषणों को देखते हुए इन्हें अति सामान्य कहा जा सकता है। कृष्ण के विलासिता मूलक विशेषण इस प्रकार हैं लोभी लाल, रस विवश, रसिक, रसिक शिरोमणि, कौतुकता प्रवीण, मोरकिशोर, कौतुक मुखल, रति तप्त, कामिनी के लिए कुंज में भटकने वाला, भृकुटि कटाक्ष से व्यर्थ संकेतों पर नाचने वाला, राधा के कुच से रक्षित :— अंग अंग के रस रंग में प्रवाहित, राधा के अधर रस के भोक्ता, राधा के मुख विलास से खरीदा हुआ, वृन्दावनी, राधा के मुस्कान मात्र से विवश, रति रस रसिक, राधा के आधीन, राधा के वियोग में जीर्ण शीर्ण, हा राधे, हा राधे कहकर विलाप करने वाले, स्वामिनी के कुचों के बीच स्थित, सुरति के रस सिन्धु में अवगाहन विहार करने वाले, राधा रमण, नखक्षित कुसुमबाण से पीड़ित आदि।

राधा के विशेषण कृष्ण की भाँति इन कवियों ने राधा को अनेक रूपों में प्रयुक्त किया है किन्तु यहाँ उनका रसिक स्वरूप ही अभिप्रेत है। राधा की रसिकता की तुलना में गोपियों की रसिकता निरर्थक जान पड़ती है। इन विशेषणों में भोग का उत्कट स्वरूप इनकी रसिकता का मूलक है। रूपगोस्वामी ने उज्वलनीलमणि के नायिका भेद निरूपण के अन्तर्गत राधा प्रकरण[1] नाम से इनकी विशेषताओं से सम्बन्धित एक नया अध्याय ही लिखा है। यहाँ राधा को कृष्णकान्ता, धृतषोडश शृंगारा, द्वादशा भरणाश्रिता, तथा वृन्दावनेश्वरी की संज्ञा मिली है। वृन्दावनेश्वरी के रूप में इनके गुण इस प्रकार हैं—मधुरा, नवयया, चलापांगी, उज्वलस्मिता, गन्धोन्मादित माधवा, संगीतप्रसराभिज्ञा, रम्यवाक्, नर्मपंडिता, विनीता, करुणापूर्णा, सुविलासा महाभावपरमोत्कर्षिणी इत्यादि। सम्बोधनों से पुकारा है

१. उज्वलनीलमणि : अथ राधा प्रकरम्

वैष्णव भक्त कवियों ने राधा को परम रसिक कहा है। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्वरूप किंचित संयमित है किन्तु हरिव्यासी, हरिदासी, राधावल्लभी एवं गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा का शृंगार एवं भोगपरक रूप अधिक प्राप्त है। राधा वल्लभी सम्प्रदाय में संभोग शृंगार नायिका आरंभ ही मिलता है वहां राधा को कृष्ण प्रभावित नहीं करते अपितु कृष्ण को स्वतः राधा अपने लावण्य से प्रभावित करती है। राधा की चेष्टाएं इनमें प्रधान है। कृष्ण इन चेष्टाओं से प्रभावित होते हैं। सूरसागर में राधा की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। रस रूप से युक्त, श्याम की प्यारी, काम से द्वन्द करने वाली, आनन्दपरिपूर्णा कृष्ण सौन्दर्य को देखकर विस्मृत होने वाली, कृष्ण के मुख शशि के लिए चकोर, कृष्ण के सौन्दर्य मात्र से थकित, लोक लज्जा का विस्मरण कर देने वाली, कृष्ण के दर्शन मात्र से गदगद, कृष्ण के दर्शन से आनन्दित, रसिक राधिका, कृष्ण की शोभा में विभोर, रूपसुधानिधि में लुप्त, हरिरूप पर लुब्ध, कृष्ण प्रेम के पुलक तथा स्वेद से भीगी, श्याम के रंग में रंगी, रूप रस राशि से रचित, नन्द भुवन के हाथों बिकी, कृष्ण के पद पराग में अनुरक्त आदि।

राधा की इन विशेषताओं का विकास पुराणों से ही हुआ है। इसका संकेत ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिल जाता है। यहां राधा के १६ नाम हैं राधा, रासेश्वरी, रास वासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्ण प्राणाधिका, कृष्णवामांश संभूता, परमानन्दरूपिणी, कृष्णा, वृन्दावनी, वृन्दा, वृन्दावन विनोदिनी चन्द्रावली, चन्द्रकान्ता, शतचन्द्रनिभाननां।[१]

हरिव्यास स्वामी ने राधा की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है। यह उल्लेख कृष्ण सम्बन्धी पूर्व कथित विशेषता की ही भांति है।

रूपपुंज विशेषण - अद्भुत बानी, मनहरमानिनी, गुणनिधिगर्विता, अधर आब प्रवालिनी, लल अढालिनी, नासा चटकिनि, पियमन अटकनी, नैन विसालिनी, रूप रसालिनी, अंजन रंजिता, चितवनि चातुरा, मोहे सोहिनी, कंठ अलूझना, मुक्तादामिनी नाम उदेशिनी, छन्द छीवनी, सोभा सींवनी, बाहु विचित्रनी, पुहुप नितंबिनी।

कार्यात्मक मुद्रा मधु मुसकनि, प्रियाजनी, विरह विमोचिनी, प्रेम पयोधिनी रति रस बोधिनी, सब गुन सागरी, बीरी चर्विता, चिबुक उचालिनी, चुंबकि कसवनी, नवरंगवासिनी, उरज उघारिनी, मनिगनहारिनी, दूरी चितवनी, नखशिखरिधरा, कंचन कंचना, महारस रचना, पहुंचिप्रभाविका, हरिकरपानिनी रूपविधानिनी, रस मुललितनी, रस मुकेलिनी, किंकिन बाजनी, महारससंधना, पियहियहारिनी, रसविस्तारनी इत्यादि।

अलौकिक प्रभाव सूचक. मनमोहनिम्बा, प्रबलमोहिता, हरियविरहितदा.

स्वभाव एवं अलंकरण सूचक. कानित भाजिका, प्रेमप्रदायका, बुद्धिप्रदायनी कान्ताकामिनी मुलफुसज्जिता, रहोरहस्यता, नखमनिरंजनी।

राधा के साथ यहां गोपियों की प्रेमस्थिति से सम्बन्धित विशेषण भी मिलते हैं राधा सम्बन्धी इन विशेषणों की तुलना में ये सामान्य हैं ये इस प्रकार हैं :-

कृष्ण के प्रति आतुर, कृष्णस्वरूप को देखकर थकित, कृष्ण की शोभा भाव से उत्कंठित, कृष्ण के विरह में विह्वल, श्याम वियोग में ठगी, नित्य प्रति प्रीति की कथा दुहराने वाली, विरह दावाग्नि में नखशिख प्रज्वलित, काम शर से पीड़ित, हरिदर्शन के लिए तृषित, अनाथ, व्याकुल, अतृप्त, दुखित, विरहित. अपराधी लोचनों वाली इत्यादि।

राधा के ये विशेषण मध्यकालीन शृंगारपरक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। मध्यकालीन हिन्दी कवियों की प्रवृत्ति स्त्रियों के प्रति अत्यधिक प्रेमपूर्ण हो चुकी थी। साम्प्रदायिक एवं सम्प्रदाय मुक्त सभी प्रकार के कवि नख शिख वर्णन, अलंकरण, युवावस्था के उद्दीपक भावों को केन्द्र में रखकर ही नारी का मूल्यांकन करते थे। भक्त कवियों पर भी इस दृष्टि का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। आरम्भिक भक्त कवि अपने को विवेक एवं भक्ति के आदर्शों से बचाते रहे हैं। किन्तु परवर्ती कवियों में यह शृंगारिक प्रवृत्ति अत्यधिक प्रधान हो गई। विशेष रूप से निम्बार्क तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में इस भाव की अधिकता मिलती है।

इस प्रकार ऐन्द्रिक प्रेम की अभिव्यक्ति एवं तत्सम्बन्धी व्यंजना के उपकरणों' अंग प्रत्यंग, अलंकरण, चेष्टा आदि के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनके द्वारा स्थापित प्रेमलीलावाद का प्रथम चरण वासनात्मक एवं ऐन्द्रिक है। किन्तु यह ऐन्द्रिक प्रेम भक्त कवियों' का अभीष्ट नहीं है। व्यवहारजगत में' यह सन्त, उदासीन, कृष्ण के उपासक एवं वासनाविरत हैं। वैराग्यमूलक प्रवृत्ति के विरोध में' ये भौतिक जैन, ऐन्द्रिक उपासना, प्रकृत्या, उपेक्षित समझते हैं'। यह सत्य है और जैसा कि इस प्रेम सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट करते समय कहा गया है कि आन्तरिक विषय वासना का उदात्तीकरण इनके प्रेमलीलावाद की मानसिक चेतना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विषय वासनाओं' को ही आधार बनाकर तत्सम्बन्धी वासना का कृष्णार्पण उनका मूल उद्देश्य है। मध्यकालीन सामन्तीय वातावरण के प्रभाव से राधा और कृष्ण की लीला पूर्णरूपेण वासनात्मक हो चुकी थी। इसके हिन्दी के उल्लेख के अनुसार सामान्य वातावरण में' राधा कृष्ण के प्रेम शृंगारमूलक गीत अपने लोक प्रचलन में' थे। जयदेव ने राधा कृष्ण की लीला के लिए विलास कला के कुतूहल को मूलाधार माना है। आइने अकबरी में' संगीतकारों' द्वारा राधा कृष्ण की रति क्रीडा पर कथा के गाए जाने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है[1]। मुगलकालीन चित्रकला में' राधा कृष्ण की परस्पर मग्न शृंगारपरक चेष्टाएं प्रमाण हैं' कि इन्हें' सामान्य लौकिक शृंगार के वातावरण पर उतारा जा चुका था। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का वातावरण सूर आदि की भूमिका में' कम निर्मित हुआ है। उसके निर्माण की प्रक्रिया ही पृथक थी। इन कवियों' ने तो लोक प्रचलित राधा कृष्ण की प्रेम लीला को आध्यात्मिक अर्थ देकर उसे गर्हित होने से बचाया है।

१: सूर पूर्व ब्रजभाषा साहित्य : शिवप्रसाद सिंह पृ० १४६, २२५ तथा २२८.

शृंगार का आध्यात्मीकरण

इन भक्त कवियों ने कृष्ण के लौकिक व्यक्तित्व के उदात्तीकरण की ओर निरन्तर चेष्टता प्रगट की है। लौकिक व्यक्तित्व एवं ऐन्द्रिक प्रेम की स्थिति, लीलाप्रेम के अन्तर्गत देखी जा चुकी है। किन्तु इनका प्रयोजन मात्र उसकी अभिव्यक्ति नहीं है समस्त लीला लौकिक एवं अलौकिक भाव से संकेतिक है। शृंगार रस का मधुर रस में पर्यवसान उज्ज्वल पवित्र रस के रूप में हुआ है राधा और कृष्ण के लौकिक व्यक्तित्व मात्र एक निश्चित दृष्टि तक ही सीमित है। यह दृष्टि है प्रेमपात्रता की। दोनों प्रेमपात्र हैं। प्रेम की संभोग स्थिति में उनका भाव शृंगार है किन्तु यह शृंगार आध्यात्मिक वातावरण के प्रभाव से उदात्त एवं उत्कृष्ट हो गया है। उसकी भोगपरकता इन कवियों को कदापि प्रयोज्य नहीं है। इनके इस उदात्त शृंगार की व्याख्या इनके काव्य में प्राप्त आनन्द से ही की जा सकती है।

प्रेम का अध्यात्मीकरण इनके काव्य की मूल समस्या है। एक शृंगारपरक पद की अनुभूति हमें उसी रूप में न होकर, क्यों लात्विक रूप में होती है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है। धार्मिक वातावरण लीला की व्याख्या करते हुए बाल अली ने कहा है "कि सृष्टि एकाकी हो नहीं सकती सीताराम की शक्ति है स्वेच्छया राम सीता के संयोग से स्वेच्छया लीला सृष्टि करते हैं"[1]। लीला विषयक आचार्य वल्लभ की भी यही व्याख्या है, कृष्ण की प्रेम लीला को वैष्णव भक्त कवि आप्त, हुसैन, विचित्र आदि नामों से पुकारते हैं। इसका मूल रहस्य यही है कि लौकिक लीला अन्ततः अध्यात्मिकता में कैसे परिणत हो जाती है। वस्तुतः लीला का यही रहस्य है। लीला के पात्र, स्वतः लीला की स्थिति एवं लीला के फल अपने मूल में शृंगार के उद्दीपक न होकर आध्यात्मिक अनुभूति के संयोजक हैं। यही अनुभूति लीला को भोगपरक होने से बचाती है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में शृंगार विषयक दो प्रवृत्तियां मिलती हैं। प्रथम के अनुसार शृंगार मर्यादोचित नहीं है, फलतः काव्य में इसका निरूपण नहीं होना चाहिए

---

१ रामभक्ति में मधुर उपासना, अनेन्द्र मिश्र माधव पृ. १३७.

यदि यह संयोगवश होता है तो विवेक एवं मर्यादा से इतना शासित रहे कि उसका रतिभाव उत्तेजक न हो सके तुलसी की धारणा कुछ इसी प्रकार की है[1]। मानस में जहाँ कहीं शृंगार निरूपण का प्रश्न आया कवि ने उसे अपने विवेक से संयमित कर दिया। बालकांड में धनुभंग के अवसर पर कवि ने सीता का सौन्दर्य चित्रण किया है।[2] किन्तु उसमें शृंगार भाव को विकसित होने का वह अवसर नहीं देता। कवि द्वारा लाए गए प्रतिबन्ध अत्यधिक सशक्त हैं -

१ सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
२ बोले सुचि मन अनुज सन मधुर बचन लतगारि।
३ तात जनकतनया यह सोई। धनुषजज्ञ जेहि कारन होई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि शृंगार को उद्दीपित होने का अवसर नहीं देता[3]। किन्तु इसके साथ ही साथ वैष्णव भक्तिकाव्य में एक ऐसी भी विचारधारा है, जो शृंगार को अपने काव्य का प्रधानरस स्वीकार करती है। इस विचारधारा के समर्थक हैं, लीलावादी कृष्ण कवि तथा मधुरोपासक रामभक्त। उनके अनुसार कृष्ण की समस्त शृंगार लीला भक्ति काव्य के लिए अनिवार्य है। लीला के संदर्भ में इसकी अनिवार्यता के कारण पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस शृंगार का स्वरूप क्या हो इसके विषय में उनकी व्याख्या स्पष्ट है। वे शृंगार लीला को शृंगार के रूप में न देखकर भक्ति के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार शृंगार का तात्पर्य लीला के अर्थ में उज्ज्वलरस से है। रूपगोस्वामी का उज्ज्वलरस शृंगारमूलक भक्तिरस ही है। आचार्य वल्लभ ने इस शृंगार के लिए धर्मसहित संभोगरस की सेवा दी है। उनके अनुसार पुष्टभक्ति भाव की निष्पत्ति इसी धर्मसहित संभोग में ही सम्भव है[4]। इस प्रकार स्पष्ट है कि वे शृंगार लीला को अपने काव्य का

.....

१: जगत मातु पितु संभु भवानी तेहि सिंगारु न कहौं बखानी :मानस:बालकांड. दो० १०३.

२: मानस : बालकांड : दो० सं० २४६, २४७, २४८.

३: विस्तृत के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध का दे० अध्याय ७.

४: दे० प्रस्तुत प्रबन्ध : भक्तिरस बोध के सिद्धान्त.

कौंयवस्तु मानने के लिए तैयार हैं, किन्तु किंचित संशोधन के साथ। तात्पर्य यह कि इनके काव्य में वर्णित शृंगार रस न होकर वस्तु है, जिसकी व्यंजना भक्तिरस की निष्पत्ति कराती है। इसीलिए भक्त कवि स्थल स्थल पर चेतावनी देता चलता है कि भक्त पाठक उनके काव्य को कहीं शृंगार मानकर अर्थ न कर बैठे।

यह उज्वल रसमाल कोटि जतनन के पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ इहि तोरौ मति कोई।[1]

सिद्धान्त पंचाध्यायी में कवि ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि लीलामूलक भक्तिकाव्य में जो शृंगार दीखता है, उसकी दृष्टि दूषित है-

जे पंडित शृंगार ग्रन्थ मत यामे सानै।
ते कछु भेद न जानैं हरि को विषई मानै।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन लीलावादी कवि शृंगार को स्वीकार करते हैं किन्तु परिष्कृत रूप में। इस परिष्कार के लिए उन्होंने आध्यात्मिक या धार्मिक वातावरण की सृष्टि की है दूसरे शब्दों में उनके काव्य में शृंगार का आध्यात्मीकरण किया गया है।

इस आध्यात्मीकरण के लिए कवि ने किन माध्यमों को आधार बनाया है, यही विवेच्य प्रश्न है -

क रूपयोजना के द्वारा आध्यात्मीकरण

वैष्णव भक्त कवियों की आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति के अन्तर्गत रूप योजना की शैली प्रमुख है। इस शैली के माध्यम से वे कृष्ण के रूपनियोजन के क्रम में आध्यात्मिक, धार्मिक या अलौकिक प्रसंग जोड़ते चलते हैं। इस रूपनियोजन की पद्धति इस प्रकार है,

१ पुराण कथित कृष्ण का उपकरण

पुराणों में कृष्ण के रूप नियोजन एवं सौन्दर्य चित्रण के क्रम में गोधूलि, गोरोचन, टीका, वंशी, वैजयन्ती, लकुटी, मोरचन्द्रिका

१: रासपंचाध्यायी अध्याय ५ पंक्ति सं. ५६७, ६८.
२: सिद्धान्त पंचाध्यायी : पंक्ति सं. ६७, ६८.

पीताम्बर, वनमाल आदि उपकरणों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण की पुरालीला के संदर्भ में ये उपकरण अत्यधिक रूढ़ हो गए हैं। शृंगार लीला के उनके संकेतों द्वारा कवि बोध कराता चलता है कि यह लीला सामान्य व्यक्ति नहीं पुराण पुरुषोत्तम की है।

कृष्ण का कैसा वर्णन.

भक्ति एवं पौराणिक परम्परा में कृष्ण का कैसा प्रत्यक्ष वर्णन प्रायः रूढ़ सा हो गया है। कमल नयन, शंख ग्रीव, श्याम वपु, घनीकटि विशाल भ्रकुटी आदि विशेषणों से युक्त श्रीकृष्ण पौराणिक परम्परा से ही मान्य होते चले आ रहे हैं। इन विशेषणों की लम्बी सूची पहले दी जा चुकी है। कृष्ण के विषय में प्राप्त ये विशेषण तत्सम्बन्धी शृंगारिकता का मार्जन करते चलते हैं।

ख. क्रिया एवं अलौकिक लीला का संकेत.

१ - कृष्ण के महत्व की सूचना देकर कवि अनेक स्थल पर उनकी लीला को शृंगारिक होने से बचाता है। वैष्णव भक्तिकाव्य में यह प्रवृत्ति अधिक प्रधान है कोई भी शृंगारिक वर्णन होगा, कवि उसके बीच में कृष्ण के विष्णुत्व का संकेत अवश्य कर देगा-

स्याम भये वृषभानु लला वस, और नहीं कछु भावै हो।

वृषभानु लला के वश में होना शृंगार का सूचक है किन्तु इसके मार्जन के लिए कवि अन्त में कृष्ण के विष्णुत्व की ओर संकेत करने लगता है -

जो प्रभु त्रिभुवन को नायक, सुर मुनि अन्त न पावै हो,
जाको सिव ध्यावत निसि वासर, सहस्रानन जिहि गावै हो।[1]

नन्ददास आदि कवियों ने कृष्ण के विष्णु स्वरूप का लीला के संदर्भ में अनेक बार स्तवन किया है।

२ - रसास्वाद के कारणों की ओर भी संकेत करके कवि कृष्णलीला का आध्यात्म रूप कराता है। ऐसे प्रसंगों से सम्बन्धित अनेक पद कृष्ण भक्त कवियों में प्राप्त होते हैं। राधाकृष्ण की विहार लीला चल रही है। परस्पर आलिंगन के मुग्धभाव में बंधे हैं किन्तु कवि वही संकेतकला है -

---

१: सूरसागर पृ० ७० २६३८

दुष्टनि हनत, सैतन उधरन, कृष्णलीला अवतार।
जै जै धुनि सुमिरत सुर बरषत निरखत स्याम बिहार।
श्रीराधा गिरिधर बर ऊपर, सूरदास बलिहार।[1]

३- अलौकिक क्रिया कलापों का संकेत कभी कभी कवि लीला के मध्य में करता चलता है। रासपञ्चाध्यायी में कहा गया है कि रात्रि रुक गई थी, चन्द्र अपने स्थान पर स्तब्ध था, धुना शान्त हो गई, देवतागण विमानों पर चढ़े इस दृश्य का सुख भोग कर रहे थे[2]। रास ही में नहीं कृष्ण की अन्य लीलाओं में भी इस आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है। राधा कृष्ण विहार के संदर्भ में सूर ने कृष्ण की अलौकिक क्रियाओं का अनेक रूपों में संकेत किया है। कृष्ण कहीं अपनी अलौकिक शक्ति दिखाते हैं, कहीं देवता अत्यन्त कौतूहल पूर्वक जय जय शब्द का उच्चारण करते हैं इस प्रकार यह लीला सामान्य शृंगार लीला न होकर उससे उच्च है।

४- कृष्णलीला की पवित्रता का वे एक और कारण बताते हैं। लीला ब्रह्म कृष्ण की है, सामान्य व्यक्ति की नहीं। वे सीधा तर्क रखते हैं कि कृष्ण विषयक लीला होने के कारण यह पवित्र है। उन्होंने सकल संसार के हितार्थ इस लीला का अनुमोदन किया :-

विविध विलास कला रस की विधि उमय कला परवीने।
अतिशय मानि मान मानिनि मनमोहन सँग दीने।[3]

इन कवियों ने कृष्ण की प्रत्येक लीला को नित्य बताया है क्योंकि कृष्ण नित्य ब्रह्म स्वरूप हैं :-

नित्य धाम वृन्दावन स्थान। नित्य रूप राधा बृज बाम।
नित्य रास जस नित्य बिहार। नित्य मान खंडिता भिसार।[4]

नन्ददास ने भी रास पंचाध्यायी में बताया है :-

.....

१: सूरसागर पृ. सं. ३५२५
२: नन्ददास रास पंचाध्यायी : अध्याय ५: ५७५ . . ८० तक .
३: सूरसागर पृ सं. ३४४४ .
४: " " ३४६१ .

नित्य रास रमनीय नित्य गोपी जन वल्लभ,
नित्य निगम यौं कहत नित्य नव तन अति दुर्लभ।[1]

इस प्रकार कृष्ण की लीला को इन कवियों ने शृंगारमूलक न मानकर नैसर्गिक रूप से भक्ति के पोषक तत्व के रूप में स्वीकार किया है।

फलश्रुति:- इन कवियों ने कृष्ण की शृंगार लीला के फल को मुक्तिदायक माना है। कृष्ण की समस्त शृंगार कथाओं के अन्त में प्रायः फलश्रुति का निर्देश मिलता है। इस फलश्रुति में ये इस लीला को अत्यन्त पवित्र एवं मुक्तिदायक स्वीकार करते हैं। नन्ददास ने कहा है —

जो यह लीला गावै, चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो पावै, अरु सबके जिय भावै।[2]

प्रायः अनेक पदों के अन्त में इस विषय से सम्बन्धित सूर ने अनेक संकेत दिया है।

राधा कृष्ण केलि कौतुक सुख सुनै जो गावै।
तिनके संग सदीप स्याम नितही आनन्द बढ़ावै।
कबहुं न जाहि जठर पातक, जिनकौं यह लीला भावै।
जीवन मुक्त सूर सो जग में अन्त परम पद पावै।[3]

लीला में फलश्रुति के सम्बन्धित संकेत प्रायः समस्त लीलावादी कवियों द्वारा दिये गये हैं। इस संकेत का मूल प्रयोजन कृष्ण की शृंगारिक लीला का आध्यात्मीकरण ही है। इस प्रकार कृष्ण की लीला सामान्य शृंगार से उच्च उदात्त भाव की मूलक है। रामभक्ति शाखा में किए गए प्रयत्न उन्हीं दिशाओं पर ही आधारित है। राम का लीलाभाव अत्यधिक सामान्य है किन्तु जो कुछ भी है, उसकी दिशा इससे भिन्न नहीं है।[4]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि लीलावादी भक्त कवि अपनी लीला विषयक शृंगारमूलक भावना के मार्जन के लिए कृष्ण या राम के ब्रह्मत्व का आश्रय लेते हैं। ब्रह्म से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण कृष्ण की लीला शृंगारिक होने से प्रत्यक्षतः बच जाती है।

१: रासपंचाध्यायी : पंचम अध्याय ६ सं. ५७७, ७८
२: रास पंचाध्यायी : अध्याय ५, पृ.सं. ५८७, ८८.
३: सूरसागर दशम स्कन्ध : पृ. सं. ३४४४.
४: इस विषय पर विशेष के लिए देखिए अध्याय ७ शृंगार रस.

आनन्द

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण को आनन्द के विश्लेषण के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता भक्तिकाव्य में आनन्द सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक है। इसमें प्रेम, भक्ति एवं तत्वदर्शन में स्वीकृत आनन्द परस्पर निहित है भारतीय चिन्तन धारा में आनन्द को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके सामान्य इतिहास की ओर पहले संकेत कर दिया गया है काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रसास्वाद को भी आनन्द की अभिधा दी गई है। भक्तिकाव्य में प्राप्त आनन्द साधना का अंग होते हुए भी इस काव्य का मूल उद्देश्य रहा है। इस प्रकार अनेक स्रोतों से एकत्रित होकर आनन्द तत्व भक्तिकाव्य का मूलउपजीव्य बन गया है।

वैष्णव भक्त कवियों की आरम्भिक दृष्टि उपयोगितावादी रही है। किन्तु इस उपयोगितावादी सिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर उन्होंने काव्य के या भक्ति के द्वारा प्राप्त होने वाले वैयक्तिक सुख एवं संतोष की चर्चा की है। सन्तोष, मानसिक, समत्व, सुख, शान्ति आदि शब्दावली इसी आनन्द की भूमिका मात्र है। भक्तिकाव्य की प्रकृति से परिचित होने के लिए इसकी अविस्तार व्याख्या आवश्यक है।

आनन्द का अर्थ

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों ने आनन्द शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। सूरदास के अनुसार आनन्द कृष्णरस भक्ति एवं साध्यरूप प्रेमरस का पर्याय है। इस सम्बन्ध में उनके अनेक कथन सूरसागर में भरे पड़े है। परमानन्ददास के अनुसार कृष्णरसरूप कृष्णरसास्वाद का पान ही परमानन्द है। नन्ददास के अनुसार रसमय, रसकारण रसिक कृष्ण ही आनन्द है। परमानन्ददास ने एक अन्य स्थल पर बताया है कि कृष्ण द्वारा राधा का अधर खंडित किया जाना ही उच्च आनन्द है। प्राय: सभी वैष्णव भक्त कवियों ने रास लीला से उत्पन्न रस को आनन्द का पर्यायवाची स्वीकार किया है। मीरा के अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम की उत्कृष्ट अनुभूति ही आनन्द है। चैतन्य एवं राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवि युगलकीलालावन्य अनुभूति को आनन्द शब्द से परिभाषित करते हैं;

नन्ददास, सूरदास एवं व्यास जी उज्वलरस को ही आनन्द की संज्ञा देते हैं[१], इस प्रकार इन कथनों से स्पष्ट है कि आनन्द इन कवियों की साधना की उच्चतम अनुभूति है। इन परिभाषाओं में आनन्द के तीन आधारों का संकेत मिलता है,

क भक्तिजनित आनन्द

ख लीलाजनित आनन्द

ग प्रेमजनित आनन्द

भक्तिजनित आनन्द

कई स्थलों पर कहा जा चुका है कि वैष्णव भक्त कवियों की भक्ति पुष्टि रूप पोषिता रूपाश्रिता थी। वे स्वरूप कल्पना के माध्यम से आराध्य की मधुरतम अनुभूति कर लेते थे। मानस में शंकर, कश्यप तथा अदिति एवं सुतीक्ष्ण इसी भक्तिजन्य आनन्द की अनुभूति करते हैं।

---

१ सूरदास. गदगद सुर, पुलक प्रेम रोम रोम भीजे.
सूरदास गिरिधर जस गाई गाय जीजे. प्रा. स्क. प.स.७०

कहौं कहा कछु कहत न आवै. ओ रस लागत सारो री.
इनहि स्वाद जो सुख्य सोइ जानत गूंगे हारो री द. स्क. प. सं. ७५३

हरिराम व्यास एकै प्रेम भक्ति को फल है, मोहनलाल रिझाए.
गदगद सुर पुलकित जस गावत नैननि नीर बहाए.
भक्त कवि व्यास जी. छं. सं. २२५.

* * *

जेहि रस राज परीक्षित राचे बिसरि गये जलनाज.
जिहि रस मगन प्रेम भई. गोपी तजि सुत पति गृहलाज.
सो रस व्यासदास की जीवनि राधा मोहनि आज.
प. सं. २२८.

यह रस चाखि और भूले फूलत लखि मन अति घबराई.
अचरज कहा व्यास सुख बरनत थके रसिक यहि गाई.

नन्ददास सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस
जाके स्रवन सुनत गुनत श्री कृष्ण होत बस.
रास सकल मंडल रस के जे भंवर भये हैं

इसके अन्तर्गत आराध्य के ललित स्वरूप, तत्सम्बन्धी विन्ह आंगिक चेष्टाओं आदि के माध्यम से आनन्द सम्बन्धी भाव को व्यक्त किया है। मानस, सूरसागर परमानन्ददास सागर एवं नन्ददास की रचनाओं में विष्णु के अवतार रूप राम एवं कृष्ण का आंगिक एवं चेष्टागत चित्रण मिलता है। पौराणिक परम्परा से चले आते हुए विष्णु के ये विशेषण इस प्रकार हैं-शरत् पूर्णमा की भाँति सुन्दर शंख की भाँति कंठ से युक्त, ललाट पर तिलक मकराकृत कुंडल मौक्तिकमाला, श्रीवत्स से शोभित सिंह की भाँति स्कन्ध, घुटने तक लंबी भुजाएँ आकर्णिक स्मिति युक्त, पुंडरीक की भाँति विशाल आँखें पीताम्बर युक्त, नीलकमल की भाँति वर्णवाले कंज की भाँति हथेली से युक्त आदि इन विशेषणों से युक्त करके ये कवि इनके रूपचित्रण में आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। रूप की इस अनुभूति को इन कवियों ने परम सुख, सहजसुख, अकथनीयसुख आदि नामों से संबोधित किया है। इस क्रम में में प्रयुक्त मानसिक स्थिति की ओर इन कवियों ने इस प्रकार का संकेत किया है।

कश्यप अदिति

छवि सुख हरि रूप विलोकी। एक टक रहे नयन पुट रोकी।
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा।
हरष विवस तन दसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी।[1]

शंकर → मगन महा छवि ताहु विलोकी। अधिकु प्रीति उस रहत न रोकी।[2]

भरत → कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा।
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।
अगम सनेह भरत रघुबर को। कहि न जाइ मनु बिधि हरिहर को।[3]

हनुमान → प्रभु पहिचानि पैरेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर वेष के रचना।
बार बार कहि पैरेउ चरन सुखाई। निज तनु प्रगट प्रीति उर छाई।[4]

१: रामचरित मानस बालकांड दो० सं. १४८.
२: " " दो सं. ५०.
३: " " अयोध्या २४०, २४१.
४: " " किष्किन्धा २, ३

सुतीक्ष्ण .

"निर्मर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ।
दिसि अरु विदिस पथ नहिं सूझा । को मैं चलेउ कहां नहिं बूझा ।
कबहुंक फिरि पाछे पुनि जाई । कबहुंक नृत्य करै गुन गाई ।
अविरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखै तरु ओट लुकाई ।[1]

भक्ति के क्षेत्र में इसे स्वरूपानन्द की संज्ञा दी जा सकती है। मानस के अतिरिक्त सूरसागर एवं परमानन्ददास सागर में कृष्ण के विश्व रूप के प्रति आनन्दमूलक भक्ति का आवेश प्रकट किया गया है।

स्वरूपानन्द के अतिरिक्त भक्तिकाव्य में भावजन्य आनन्द की भी धारणा मिलती है। यह धारणा प्राय: समस्त कवियों में वर्तमान है। ये कवि मात्र भक्ति को अनुभूति को ही आनन्द की संज्ञा प्रदान करते हैं। भक्ति सम्बन्धी यह आनन्द रहस्यवाद से थोड़ा ही भिन्न है। रहस्यवाद में एक निश्चित रूपाधार की सम्भावना नहीं रहती। फलत: यहां आराध्य विषयक अनुभूति मात्र अनुभूति तक ही सीमित नहीं है। किन्तु वैष्णव भक्तिकाव्य में आराध्य के स्वरूप की स्पष्टता होने के कारण रहस्यात्मकता तिरोहित हो जाती है किन्तु अनुभूति की तीव्रता रहस्यवादियों जैसी ही होती है।

सूरदास

"चकई री चलि चरन सरोवर जहां न प्रेम वियोग ।
जहं प्रेम निसा होत नहिं कबहूं सोइ सायर सुख जोग ।
जहां सनक सिव हंस मीन मुनि नख रवि प्रभ प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि गर गुंजत निगम सुवास ।
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल मुकृत अमृत भरि पीजै ।
सो सर छांड़ि अछांदि विहंगम इहां कहां रहि कीजै ।
लछिमी सहित होत नित क्रीडा सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषय रस लीलर वह सुख की आस ।[2]

.....
१: मानस अरण्यकान्ड . दो० सं. १० .

२: सूरसागर : प. सं. 339

सूरसागर में चित्त बुद्धि संवाद के रूप में चलि सखि तेहि सरोवर जाहि एवं सुवा चलि वा बन को रस पीजै आदि पद रहस्य की ही शैली में निर्मित हैं किन्तु उनमें निहित भावजन्य आनन्द अपनी प्रक्रिया में रहस्यवादियों से पूर्ण रूपेण भिन्न है। इस भावानन्द की कल्पना समस्त कवियों में मिल जाती है। यह भावानन्द निरन्तर स्वरूपानन्द एवं लीलानन्द की परिधि में घूमता रहता है।

लीलानन्द

लीलाजनित आनन्द वैष्णव भक्ति का मूल प्रतिपाद्य है। लीला के संदर्भ में पहले दिखाया जा चुका है कि यह लौकिक एवं अलौकिक तत्वों भावों से युक्त है लीला के लिए कृष्ण को लौकिक होना पड़ता है किन्तु यह मूलतः अलौकिक ही है। इस लीलाजन्य आनन्द के माध्यम से भक्त कवियों ने अपनी मधुर भक्ति की सृष्टि पुष्टि की है। इस लीलानन्द के विषय इस प्रकार हैं -

राधाकृष्ण का युगल दर्शन, युगल समागम, संध्या विहार, एकान्त मनन, वस्त्राभरण, स्नान वेणी बन्धन, दान, मान, खंडिता, अभिसार, वेणुवादन, रास, फागलीला, वसन्त, वर्षा आदि। इन विषयों में कृष्ण की मधुर लीला अत्यधिक उत्कट होकर आनन्द की पर्यायवाची बन गई है नित्य लीला एवं वर्षोत्सव सम्बन्धी पद इसी से सम्बन्धित हैं।

लीला विषयक आनन्द की आभासिक अनुभूति सख्य, वात्सल्य में भी प्राप्त होती है किन्तु इनसे सम्बन्धित पदों की संख्या अधिक नहीं है।

मधुर लीलानन्द के संदर्भ में अंग प्रत्यंग एवं सज्जा वर्णन को भी ग्रहण कर लिया गया है। वातावरण के नियोजन में यह अधिक सहायक ज्ञात होता है।

लीलानन्द का स्वभाव प्रेमानन्द एवं भक्तिजन्य आनन्द से भिन्न है लीलानन्द पूर्ण रूपेण आरोपित भावानुभूति है। प्रेमानन्द में भक्त आराध्य विषयक रति का अनुभव करता है। लीला में इस रति का आरोप किया जाता है। मीरा के प्रेम से इस लीलानन्द की तुलना करने पर यह तथ्यपूर्ण स्पष्ट हो जाता है। ~~मीरा का प्रेमानन्द मीरा ने इसी लिए मुरली, कुब्जा एवं गोपियों की सपत्नी तथा गोपियों ने गोपचन्द्रिका मुरली एवं कुब्जा को अपना शत्रु माना है।~~ मीरा ने मुरली, कुब्जा एवं यह उपभाव उनकी व्यक्तिगत रुचि का अंग है। उनके प्रेम के बीच में

किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता नहीं है गोपियों के प्रेम की भी यही स्थिति है। वे अपने एवं कृष्ण के बीच में कोई तीसरा माध्यम नहीं चाहतीं किन्तु लीला विषयक आनन्द के लिए भक्त तथा आराध्य के बीच में लीला का बना रहना आवश्यक है। यही कारण है कि भक्त कवियों की मनोवृत्ति लीला में अधिक लगी है क्योंकि वे समझते हैं कि यह लीला ही अन्ततया कृष्ण विषयक आनन्दानुभूति कराने में समर्थ होगी।

यह लीलानन्द भक्ति विषयक आनन्द से भी किंचित् भिन्न है। भक्ति विषयक आनन्द पूर्ण-रूपेण समर्पण जन्य आनन्द है। भक्त ईश्वर में आत्म समर्पण के उपरान्त ही उस आनन्द का अनुभव करता है किन्तु लीला के अन्तर्गत भक्त आराध्य के कृत्यों के साथ स्वतः अनुरंजन करके सुख भोग करता है। इस प्रकार लीला जन्य आनन्द में भक्त का आराध्य के कृत्यों के प्रति अनुरंजनात्मक दृष्टिकोण निहित है। वह कृष्ण के साथ, उनकी प्रत्येक क्रीडा में पुलक, रोमांच, हर्ष उत्साह एवं आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है किन्तु भक्ति में पूर्ण समर्पण की भावना वर्तमान है।

ऊपर कहा जा चुका है कि लीला के समस्त विषय लौकिक होते हुए भी अलौकिकता की अनुभूति कराते हैं तात्पर्य यह कि उसमें अलौकिकता व्यंग्य है। शृंगार रस के अध्यात्मीकरण के संदर्भ में इस विषय पर चर्चा की जा चुकी है। भक्तकवि शृंगार लीला के माध्यम से अलौकिक अनुभूति का बोध कराने के लिए उनके ब्रह्मत्व के विषय में दिए गए परम्परागत समस्त तर्कों को दुहराते हैं ब्रह्म के स्वरूप गुण, क्रिया एवं शक्तिमत्ता को मधुर या शृंगारमूलक भावों के बीच इस प्रकार रखते हैं जिससे कि उनका सम्पूर्ण लौकिक भाव पूर्णरूपेण आध्यात्मिक भाव में प्रच्छन्न हो जाय। आरम्भ में शृंगार लीला के अन्तर्गत ऐसा लगता है कि लौकिक भाव प्रधान है किन्तु पद के अन्तर्गत ऐसी शब्दावली का प्रयोग मिलता है जिससे सम्पूर्ण लौकिकता लीलानन्द में परिणत हो जाती है।

इस प्रकार भक्त कवियों का लीला नन्द प्रेमानन्द एवं भक्त्यानन्द से पृथक शुद्ध आध्यात्मिक भाव से पुष्ट अनुरंजनात्मक आनन्द है।

प्रेमानन्द इस प्रेमानन्द का मूलाधार भक्ति है। यह लौकिक प्रेम या शृंगार ..... से भिन्न कोटि का है यह तीन रूपों में प्राप्त है.

१ ऐतिहासिक प्रेमानन्द जिसका अनुभव गोपियों ने किया था .
२ भक्ति से शासित प्रेमानन्द जो मीरा के काव्य मे मिलता है .
३ आभासिक प्रेमानन्द - जिसके अन्तर्गत भक्त गोपियों का अनुकरण करके कृष्णलीला करते हैं। यह आभासिक या आरोपित प्रेमानन्द लीलानन्द का ही एक प्रकार है।

ऐतिहासिक प्रेमानन्द मूलरूप से लौकिक था या अलौकिक स्पष्ट रूप से इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका जो स्वरूप हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त है, उसके आधार पर इसे अलौकिक आधार से सम्पन्न मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वैष्णव भक्त कवियों ने अपने काव्य में अनेक स्थलों पर संकेत किया है कि गोपियों को यह ज्ञात था कि कृष्ण ब्रह्म हैं; यही नहीं अनेक स्थलों पर कृष्ण को विष्णु, राधा को आह्लादिनी चित् शक्ति एवं गोपियों को राधा की शक्ति कहा गया है। इस प्रकार तज्जन्य अनुभूति लौकिक अनुभूति से किंचित् भिन्न हो जाती है। आभासिक प्रेमानन्द पूर्णरूपेण आरोपित या अनुकृत आनन्द के समानान्तर है। इसमें भक्त उस सुख या आनन्द को प्राप्त करना चाहता है, जिसे गोपियाँ एवं कृष्ण परस्पर सम्मिलन से प्राप्त कर चुके हैं। इन सबसे महत्वपूर्ण प्रेमानन्द है, जो मात्र मीरा के ही काव्य में प्राप्त होता है।

इसका स्वभाव रहस्यात्मक आनन्द की कोटि का है। रहस्यात्मक विशेषता के अन्तर्गत ईश्वर के प्रति प्रेमानुभूति, तीव्रता पूर्वक आसक्ति, मिलन की अवस्था में रहस्य व्यंजक अनुभूति आदि की अभिव्यक्ति मीरा के काव्य में मिलती है किन्तु मीरा के प्रेम विषयक आनन्द को शुद्ध रहस्यवाद की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि यहाँ आराध्य के स्वरूपविषयक अस्पष्टता का अभाव नहीं है। रहस्यवाद के क्षेत्र में आत्मिक मिलन को ही प्रमुखता मिली है क्योंकि रहस्यवादी सशरीर मिलन को असम्भव मानते हैं किन्तु प्रेम के क्षेत्र में मीरा कृष्ण से सशरीर मिलन की आकांक्षा प्रकट करती है।

लीलाविषयक प्रेमानुभूति उनके काव्य का वर्ण्यविषयक है। शारीरिक मिलन की आकांक्षा, तत्परता, मिलनजन्य सुखबोध आदि शास्त्रीय प्रेम की समस्त अवस्थाएं उनके काव्य में अभिव्यक्त हैं। इस प्रकार मीरा का प्रेमानन्द अपनी स्थिति में रहस्यवाद से भिन्न ब्रह्मरति से सम्बन्धित आनन्द का विषय है। वे

ईश्वर के कल्पित व्यक्तित्व के प्रति अपनी शृंगारिक आसक्ति प्रकट करता है। ब्रह्मविषयक आसक्ति होने के कारण यह प्रेम शुद्ध ब्रह्मानन्द की कोटि में आता है।

इसके अतिरिक्त भक्तिकाव्य में आभासिक प्रेमानन्द की भी निष्पत्ति मिलती है। इसके सम्पोषक हरिदासी, हरिव्यासी, राधावल्लभ एवं रामोपासक मधुर कवि हैं। जहाँ अष्टछापी कवि प्रेमानन्द के संदर्भ में गोपीलीला को माध्यम बनाते हैं, तथा मीरा कृष्ण से अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है, वहाँ ये भक्त कवि स्वतः अपने ऊपर गोपीभाव का आरोपण करते हैं। रा-रा ललिता, विशाखा आदि एवं रामभक्ति शाखा में अष्ट मैथिलियाँ इनके आरोपण के लिए आधार स्वरूप हैं। ये भक्त अपने व्यक्तित्व को इन्हीं में परिवर्तित करके आराध्य के वास्तविक प्रेम को पाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार आरोपित व्यक्तित्व के कारण इनकी तद्विषयक आनन्दानुभूति आभासिक ही कही जा सकती है।

आनन्द के इस स्वरूप के अतिरिक्त भी यहाँ एक विशेष प्रकार के आनन्दतत्व का उल्लेख करना अनिवार्य है - जिसे काव्यानन्द कहा जाता है। यह वस्तुतः अभिव्यक्ति जन्य आनन्द ही है। कलावादी आचार्य काव्य की क्रीडावृत्ति या भावात्मक आग्रह को काव्यानन्द की संज्ञा देते हैं, किन्तु यह काव्यानंद भी अभिव्यक्ति का ही चमत्कार या फल है। भक्तिकाव्य में ब्रह्मविषयक प्रेममूलक अनुभूति एवं आनन्दतत्व की ही एकमात्र अभिव्यक्ति मिलती है। इस दृष्टि से यही आनन्दतत्व इनकी काव्याभिव्यक्ति का भी अंग है। इस प्रकार इनके काव्य का अभिव्यक्तिजन्य आनन्द काव्यानन्द के नाम से पुकारा जाता है। यह भक्तगायकों को उसी प्रकार प्रिय है, जिस प्रकार ब्रह्म, क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उनकी प्रेममूलक काव्यवाणी इनके लिए सदैव मूलाधार रही है।

अध्याय ६

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य तथा काव्यरूप पौधा

सैद्धान्तिक अध्ययन

संस्कृत काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट काव्यरूप तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त

परम्परया काव्यरूपों के विषय में अग्निपुराण का वर्गीकरण सबसे प्राचीन समझा जाता है। अग्निपुराण अध्याय ३३७ में वाङ्मय के तीन भेदों में काव्य को सर्वप्रमुख महत्ता मिली है। अग्निपुराणकार के अनुसार काव्य के महाकाव्य कलापक, संविधानक, कुलक, मुक्तक तथा कोश ये छः भेद हैं[1]। परम्परा से महाभारत एवं रामायण की गणना भी महाकाव्यों में होती है किन्तु ये आर्ष प्रयोग होने के कारण लक्षणबद्ध नहीं किए गए। अग्निपुराण के ही समकालीन भामह का वर्गीकरण काव्यरूप की दृष्टि से अधिक प्रसिद्ध है। भामह ने समस्त वाङ्मय का ४ दृष्टियों से विचार किया है।

१- रचनास्वरूप के आधार पर इसके आधार पर रचनाओं के दो भेद किये जा सकते हैं गद्य तथा पद्य।

२- भाषा के आधार पर इसके अनुसार काव्य के तीन भेद हैं संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश

३- विषय के दृष्टिकोण से काव्य के चार भेद होते हैं ऐतिहासिक या चरितकाव्य, कल्पित, कलाप्रधान तथा शास्त्रप्रधान

४- रचना शैली के आधार पर काव्य के पाँच भेद हो सकते हैं महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध[2]।

भामह ने एक दूसरे स्थल पर गाथा काव्यरूप का संकेत किया है उनके अनुसार एक श्लोक की प्रबन्ध रहित रचना गाथा होती है[3]।

भामह के इस वर्गीकरण में विस्तार कम है। इसमें सांकेतिक रूप से प्रायः काव्य के सभी रूप समाहित हो जाते हैं। विशेष रूप से महाकाव्य को छोड़कर अन्य काव्यरूपों के लिए उन्होंने अनिबद्ध काव्य की संज्ञा दी है।

.....

१: अग्निपुराण : अध्याय ३३७: श्लोक सं. १२ से ३६:२ तक

२: काव्यालंकार : प्रथमपरिच्छेद : श्लोक संख्या १६ से २३ तक

३: काव्यालंकार : प्रथम परिच्छेद : श्लोक संख्या ३०

भामह के बाद दंडी का वर्गीकरण अधिक स्पष्ट एवं तर्कसंगत है। वे समस्त वाङ्मय के तीन भेद करते हैं गद्य, पद्य तथा मिश्र। उनके अनुसार पद्य के पाँच भेद हैं सर्गबन्ध, मुक्तक, कुलक, कोश तथा संघात। दंडी सर्गबद्ध महाकाव्य को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। उन्होंने पुनः संक्षेप में मुक्तक को एक श्लोक प्रधान कुलक को पाँच श्लोक प्रधान तथा कोश एवं संघात को अनेक असम्बन्धित पद्यों से युक्त बताया है।

भामह की भाँति दंडी ने भी भाषा के आधार पर काव्य का तीन भेद किया है संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश[१]।

वामन ने वाङ्मय के दो भेद बतलाए हैं- गद्य तथा पद्य। इनके अनुसार पद्य के दो भेद हैं निबद्ध तथा अनिबद्ध। निबद्ध काव्य के भीतर प्रबन्धात्मक एवं अनिबद्ध के भीतर मुक्तक काव्यों को रखा है[२]। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने काव्य के भेदों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु, वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य प्रबन्ध का एकदेशीय रूप सम्भवतया वह किसी अध्याय, सर्ग या खंडकाव्य के लिए हो, मुक्तक आदि के संकेत मिलते हैं[३]। संस्कृत काव्य परम्परा में प्राप्त विभिन्न काव्यरूपों का उल्लेख आनन्दवर्धन ने किया है। ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उनका लक्षण निर्धारण करके अत्यन्त विस्तार दिया है। ध्वन्यालोककार के अनुसार काव्य के निम्नभेद हैं मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध खंडकथा, परिकथा, सकलकथा, सर्गबद्ध महाकाव्य अभिनेयार्थ नाटक आदि। परिकथा, सकलकथा, अभिनेयार्थ, आख्यायिका तथा कथा पद्य के भी होते हैं, किन्तु इनको प्रमुखकाव्य से पृथक है[४]। साहित्यदर्पणकार ने आनन्दवर्धन को इस श्लोक को मात्र दुहराया है। उसके अनुसार प्रबन्धकाव्य मुक्तक युग्मक, सन्दानितक, कलापक तथा कुलक काव्य के भेद हैं। इसके साथ साथ उन्होंने काव्य के दो भेद नये रखे खंडकाव्य तथा एकार्थकाव्य[५]। साहित्यदर्पण के पूर्व भोजराज ने भी काव्यरूप के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट किया है। उनके अनुसार काव्य के ६ भेद होते हैं आशीः नान्दी नमस्कार, वस्तुनिर्देश, ध्रुवा तथा प्रबन्धकाव्य[६]। काव्यानुशासन के आठवें अध्याय में

१: काव्यादर्श : प्रथम अध्याय श्लोक सं. ७ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स पी. वी. काने
२: काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १:३:२७, २८
३: हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् : चतुर्थोन्मेष : श्लोक सं. ४, ६ तथा ६
४: ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत: कारिका ७ तथा : अभिनवगुप्त की टीका
५: साहित्य दर्पण : षष्ठ परिच्छेद श्लोक सं. ३१० तथा पृष्ठ ३१
६: सरस्वती कंठाभरण : भोज अध्याय ५ १२६, १४१.

हेमचन्द ने काव्य का दो भेद किया है—श्रव्य तथा प्रेक्ष्य। श्रव्य काव्य के पाँच भेद है- महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध। सांकेतिक रूप से अनिबद्ध काव्य के भीतर महाकाव्य को छोड़कर सभी काव्य आ जाते है'। उन्होंने भाषा के अनुसार ४ भेद किए है'। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राकृतापभ्रंश रुद्रट ने भाषा के आधार पर इसका छ भेद किया था-संस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाच, अपभ्रंश और शौरसेनी[1]।

काव्य के इस वर्गीकरण के अन्तर्गत दंडी कथित ४ आधार ही प्रमुख रहे है'। रचनारूप, भाषा, विषय, तथा शैली काव्यरूपों के वर्गीकरण के आधार रहे है। भोजदेव का वर्गीकरण परम्परा से पूर्ण असम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त काव्य का एक अन्य भेद भी प्रचलित है जो परम्परा से चला आता रहा है। इस वर्गीकरण को आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया था उनके अनुसार काव्य के तीन भेद है'। उत्तम या ध्वनिकाव्य, मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा अवरकाव्य या चित्रकाव्य पंडितराज जगन्नाथ ने इन मूल्यों का खंडन करते हुए काव्य का चार भेद किया है। उभयोत्तम काव्य, उत्तमकाव्य, मध्यम तथा अधमकाव्य[2] भोजदेव के अनुसार इसके तीन भेद है। वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति रसोक्ति इसमें उत्तमकाव्य है तथा शेष दोनों मध्यम।

परम्परा से प्राप्त इन काव्यरूपों को यदि सारणि बनाई जाय तो वह इस प्रकार होगी-महाकाव्य, खंडकाव्य, एकार्थ काव्य, अनेकार्थकाव्य, कुलक, कोष कलापक, संघात, सन्तानितक, विशेषक, पर्यायबन्ध, मुक्तक तथा युग्मक। इनमें प्राप्त परिकथा, खंडकथा, सकलकथा, आख्यायिका तथा कथा कथासाहित्य से सम्बन्धित है'। काव्यानुशासनकार कथाओं का ११ भेद करता है किन्तु काव्य की दृष्टि से उनका अधिक महत्व नहीं है यहाँ मात्र काव्यरूपों का अध्ययन करना अपेक्षित है।

महाकाव्य इसके लिए संस्कृत साहित्य में तीन नाम प्रयुक्त होते है। महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य तथा निबद्धकाव्य। प्रबन्ध तथा निबन्ध कथा प्रधान काव्य के लिए भी प्रयुक्त होता है महाकाव्य के लक्षणों का सर्वप्रथम विवरण अग्निपुराण में मिलता है। उसमें इसके निम्न लक्षण मिलते है'- सर्गबद्धता, इतिहास प्रसिद्ध कथानक वैदिक छन्दों का प्रयोग, खंडकथा, नगर वन पर्वत आदि, रस की प्रधानता

१: काव्यालंकार २:३१

२: भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा पृष्ठ ३५७

चतुर्थ पुरुषार्थ की प्राप्ति, संस्कृत भाषा का प्रयोग।

सर्गबद्धता

अग्निपुराण कथित सर्गबद्धता के लक्षण को मामह ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है।[1] उनके अनुसार महाकाव्य के नामकरण का कारण उसकी महत्ता का है। महत्ता महत्त्व अतु]।[2] दंडी ने भी सर्गबद्धता का उल्लेख किया है। कुन्तक ने सर्गबद्ध को ही महाकाव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन सर्गबद्ध काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता रसबोध बताते हैं। उनके अनुसार यदि सर्गबद्ध काव्य में रस की प्रधानता न होगी तो वह इतिवृत्तात्मक मात्र रह जावेगा। [3]सर्गबद्धे तु रस तात्पर्यं यथा रसमौचित्यम् अन्यथा तु कामचार।[4] साहित्यदर्पणकार को भी यह सर्गबद्धता स्वीकार है।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत महाकाव्य के लिए सर्गबद्ध होना आवश्यक है। सर्गों की संख्या क्या हो इसके विषय में अधिक मतभेद नहीं है। सात, आठ तथा दस तक उसकी संख्या हो सकती है किन्तु व्यवहारिकता में इसका अतिक्रमण मिलता है।

नायक - अग्निपुराणकार के अनुसार नायक इतिहास प्रसिद्ध, सज्जन, दैवी शक्तिसम्पन्न एवं प्रत्यक्ष जगत से सम्बन्धित हो मामह[4] ने नायक को महापुरुष बताया है।[5] दंडी ने नायक को चतुरोदात्त कहा है। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में नायक के विषय में उल्लेख नहीं किया गया है। साहित्यदर्पणकार इसके विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा करता है। उसके अनुसार नायक सद्वंश से सम्बन्धित क्षत्रिय होना चाहिए। आगे चलकर नाटक में कथित नायकों का आरोपण काव्य में कर लिया गया। इसी के फलस्वरूप दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरशान्त, उत्तम, मध्यम, अधम तथा अनुकूल, दक्षिण शठ एवं धृष्ट आदि वर्गीकरण किए गए।

.....

१: अग्निपुराण: काव्यादि लक्षण : अध्याय ३३७ : श्लोक सं. २४, ३४ तक
२: काव्यालंकार : प्रथम परिच्छेद : श्लोक १६
३: हिन्दी ध्वन्यालोक पृ. २५३
४: अग्निपुराण अध्याय ३३७ श्लोक ३४
५: काव्यालंकार परिच्छेद १: श्लोक १८
६: काव्यादर्श अध्याय १ श्लोक १५

कथावस्तु कथावस्तु का स्वभाव नायक पर आश्रित है। फलतः नायक के आधार पर ही यह उदात्त, ख्यात् या कल्पित हो सकती है। काव्यादर्श के अनुसार कथावृत्त तथा इतिहास सज्जनों के सच्चे जीवन पर आश्रित है। भामह ने कथा को देवादि चरित से सम्बन्धित बताया है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार इसे इतिहास सम्मत होना चाहिए।

कथावस्तु के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्व उसके गठन या ग्रन्थन को दिया गया है। कथाग्रन्थ के लिए संधियों का प्रयोग महाकाव्य में आवश्यक बताया गया है। तथा संगठन के विषय में वक्रोक्तिकार कुन्तक तथा ध्वनिकार आनन्दवर्धन अधिक सचेष्ट हैं। उनके अनुसार जब तक कथा पूर्णतः संगठित नहीं होती उसमें प्रबन्धवक्रता या प्रबन्धध्वनि नहीं आ पाती।

प्रमुख कथा के साथ सहायक कथाओं का प्रयोग अनावश्यक नहीं माना गया है। किन्तु इसके साथ शर्त यह है कि वह प्रमुख कथा में बाधक न हो।

उद्देश्य अग्निपुराणकार के अनुसार महाकाव्य में चतुर्थ पुरुषार्थ, अर्थ, धर्म काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए। भामह के अनुसार उसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होना चाहिए किन्तु लौकिक अभ्युदय के परिवेश में दंडी भी महाकाव्य के चतुरोदात्त नायक के चतुर्वर्ग फल प्राप्ति की कामना करते हैं। साहित्यदर्पणकार के अनुसार चतुर्वर्ग में से किसी एक फल की प्राप्ति नायक को होनी चाहिए। चतुर्वर्ग पुरुषार्थ में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष जीवन के अन्तिम मूल्य के रूप में स्वीकृत किए गए हैं। उनमें से किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य के उद्देश्य से सम्बन्धित है।

रस काव्य मूल्यों की दृष्टि से महाकाव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व रस है। भोज के अनुसार स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ रस है। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रबन्धकाव्य की मूलात्मा रस है[1] और जब कि यही रस ध्वनि की भी मूलात्मा है[2]। कुन्तक के अनुसार रस से परिपूर्ण प्रकरण सारे प्रबन्ध का प्राण प्रतीत होने लगता है। अग्निपुराणकार[3] ने रस का स्पष्ट उल्लेख किया है। भामह ने महाकाव्य को उत्कृष्ट अर्थ से युक्त अलंकारों से अलंकृत तथा समस्त गुणों से युक्त माना है[4]। दंडी के अनुसार इसे अलंकृत, असंक्षिप्त तथा रसभाव से युक्त होना

१: वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्
सर्वासु प्राह्लिताहासु रसोक्तिं प्रतिभानते :५:८: सरस्व०

२: रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संस्थिता
रचना विषयापेक्षी तत्र किंचित् विभेदकृत् : तृतीय उद्योत:कारिका ६:ध्वन्या

अग्निपुराणकार[1] ने रस का स्पष्ट उल्लेख किया है।भामह ने महाकाव्य को उत्कृष्ट अर्थ से युक्त अलंकारों से अलंकृत तथा समस्त गुणों से युक्त माना है[2]। दंडी के अनुसार इसे अलंकृत, असंक्षिप्त तथा रसभाव से युक्त होना चाहिए[3] अलंकारमसंक्षिप्तम् रसभाव निरन्तरम्।साहित्यदर्पणकार महाकाव्य के लिए न मात्र रस का उल्लेख करता है[4]अपितु रस विशेष के प्रयोग को अनिवार्य बताता है।उसके अनुसार शृंगार, वीर,शान्त इनमें से किसी एक रस को अंगी तथा अन्य को अंग होना चाहिए।

अन्यवस्तुएं महाकाव्य के ये चार उपकरण अत्यन्त अनिवार्य है।इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे अस्थायी शैली तत्व है जिनमें विषय में प्रायः परिवर्तन होता रहा है। अग्निपुराणकार के अनुसार ये तत्व छन्दप्रयोग, नगर, वन, पर्वत, चन्द्र, सूर्य वाद्य, युद्ध, आश्रम, उत्सव, मधुपान, तथा माया प्रयोग है।
भामह के अनुसार मंत्र, प्रयाण,सन्धि,युद्ध सन्धि, नायकाभ्युदय, कठिन शब्दों का अभाव, गुण, अलंकार, वंश, पराक्रम आदि आवश्यक है।
दंडी के अनुसार नगर, पर्वत, चन्द्र, सूर्योदय, उपवन, जल क्रीडा, मधुपान, रत्नोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोदय, मंत्रकृत, प्रयाण, नायकाभ्युदय, आशीर्वचन, स्तुति, कथावस्तु का निर्देश, महाकाव्य के गौण लक्षण है।विश्वनाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषण में ठीक इन्हीं लक्षणों को दुहराया है।
भोज के अनुसार गौण लक्षणों की सूचि अत्यन्त विस्तृत है इसमें स्थानों का चित्रांकन पुर, वन, राष्ट्र, युद्ध, आश्रम, ऋतु, रात्रि, दिन, चन्द्र, सूर्य का उदयास्त राजकुमार, राजकुमारी, सेना, अंगप्रत्यंग, उद्यान क्रीडा, जलक्रीडा, मधुपान, रत्नोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, शृंगारिक चेष्टा, मंत्र, दूतागमन, युद्ध, नायक,नगरी विरोधियों का निराकरण, शत्रु का वंश, पराक्रम एवं विधा का चयन होना चाहिए

१: तथा यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम्
२: प्राप्ति प्रकर्ष काष्ठाधि रूढ रस निर्भरम् : चतुर्थोन्मेष, श्लोक ४, वक्रो०
२: ग्राम्यशब्दमपार्थं च सालंकार सदाश्रयम् : परिच्छेद १श्लोक ६,काव्यालंकार
३: काव्यादर्श : परिच्छेद १: श्लोक १७
४: अध्याय ६: श्लोक ३१७

कविराज विश्वनाथ इसके निम्न गौण लक्षण बताते हैं -
आदि में नमस्कार, आशीर्वचन, वस्तुनिर्देश, खलादिनिन्दा, सज्जनकादिवर्णन, आठ सर्ग, सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की सूचना, संध्या, चन्द्र, रजनी, प्रदोष ध्वान्त, प्रात, मध्याह्न, अपराह्न, मृगया, शैल, वन, सागर, संभोग विप्रलम्भ, मुनि, यज्ञ, रण प्रयाण, मंत्रणा, पुत्रोदय आदि का वर्णन।

महाकाव्य के ये गौण लक्षण रचना के आन्तरिक तत्व से कम सम्बन्धित हैं इनका सम्बन्ध महाकाव्य के बाह्यस्वरूप से है। महाकाव्य के मुख्य तत्व ४ ही हैं। नायक, कथावस्तु, उद्देश्य एवं रस इनके प्रतिपादन में दृष्टिकोण विशेष का आग्रह इन्हें महाकाव्य बना देता है। डॉ० शम्भूनाथसिंह अपने शोध प्रबन्ध हिन्दी महाकाव्यों का उद्भव और विकास में महाकाव्य सम्बन्धी ७ लक्षण निर्धारित करते हैं किन्तु इनका समाहार इन्हीं चारों में दृष्टिकोण विशेष के परिवर्तन के साथ हो जाता है।[1]

खंडकाव्य खंडकाव्य का लक्षण निर्देश एकमात्र आचार्य विश्वनाथ ने ही किया है उनके अनुसार खंडकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है - खंडकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च।[2]

अर्थात् काव्य के एकांश या एकदेश का अनुसरण करने वाला काव्य खंडकाव्य है। एकदेश का तात्पर्य टीकाकारों ने एकांश अनुरूप लाया है [एकांशानुरूपं काव्यम् इति खंडकाव्यम्] खंडकाव्य का संकेत साहित्यदर्पणकार के पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी साहित्यशास्त्री ने नहीं किया है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने महाकाव्य की एकदेशीय घटना सम्बन्धी वक्रता का उल्लेख किया है -

प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धान् बन्धवान्।[3]

वस्तुत: यह प्रथम प्रकार वक्रता का है। कुन्तक के अनुसार वक्रता प्रकरण में भी आ जाती है। यह प्रकरण महाकाव्य का एकांश एकदेशानुसारि की भाँति भी हो सकता है। महाकाव्य का यह एकांश खंडकाव्य के समानान्तर है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त अग्निपुराणकार तथा हेमचन्द्र आदि ने खंडकथा का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त के

१: महाकाव्य सम्बन्धी विशेष अध्ययन के लिए देखिए हिन्दी महाकाव्यों का उद्भव और विकास डा० शम्भूनाथसिंह
२: साहित्यदर्पण : परिच्छेद : ६: श्लोक ३२८
३: वक्रोक्तिजीवितम्: चतुर्थ उन्मेष : श्लोक ५:

अनुसार किसी बड़ी कथा के एकदेश का अनुसरण करने वाली कथा खंडकथा है[1]। इसके उदाहरण के रूप में साहित्यदर्पणकार ने मेघदूत को रखा है। परवर्ती लक्षणकारों ने मेघदूत तथा वृन्दावन काव्य को खंडकाव्य के अन्तर्गत रखा किन्तु खंडकाव्य तथा खंडकाव्य एक ही प्रकार के काव्यरूप नहीं हैं।

खंडकाव्य के विषय में महामहो हरप्रसाद शास्त्री ने एकमत प्रकट किया है उनका कथन इस प्रकार है। उस समय १४ वीं शती खंड शब्द का व्यवहार सांड के लिए होता था। १३ वीं शती में नेमिचंद्र ने खंडप्रबंध बनाया था। ६ वीं शती में ब्रह्मगुप्त ने खंडखाद्य नामक ज्योतिष ग्रन्थ बनाया था। हम लोग इस समय जो अमिय निमाई चरित कहते हैं उस समय खंडकाव्य का अर्थ मधुमय अमृतकाव्य से था। किन्तु खंडकथा तथा खंडकाव्य[2] में प्रयुक्त खंड शब्द की व्याख्या की ओर किसी भी साहित्यशास्त्री ने अभी तक इस मत को नहीं झुकाया है। खंड अंश के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जो तर्कसंगत भी है।

खंडकाव्य के लक्षणों का जहाँ तक प्रश्न है, वह महाकाव्य से अधिक दूर नहीं है। खंडकाव्य कथारूप को छोड़कर शेष नायक, रस तथा उद्देश्य की दृष्टि से महाकाव्य के सदृश ही हो सकता है। महाकाव्य के अवस्थानों लक्षण आ सकते हैं किन्तु एक निश्चित सीमा ही तक[3]।

एकार्थकाव्य इसका भी सर्वप्रथम संकेत विश्वनाथ ने ही किया था उनके अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है –

भाषाविभाषा नियतकाव्यं सांसृष्टिकं तत्।
एकार्थ प्रबंधैः पद्यैः सन्धि सामग्र्य वर्जितम्[4] ॥

.....

१: ध्वन्यालोकलोचन: उद्योत ३:७
२: उद्धृत पृ. ५ हिन्दी खंडकाव्यों का अध्ययन: शोधकर्ता डा. रामकुमार गुप्त.
३: विशेष अध्ययन के लिए देखिए हिन्दी खंडकाव्यों का अध्ययन रामकुमार गुप्त: अप्रकाशित शोध प्रबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय : क्रम सं. ३२७५-९० १००५
४ साहित्यदर्पण : परिच्छेद ६ श्लोक ३२८,

यह प्रबन्धकाव्य का वह प्रकार है, जो संस्कृत, प्राकृत, किंवा अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया जाता है। इसमें सर्गबन्ध एवं सन्धियाँ आवश्यक नहीं है।[1] इसके उदाहरण के रूप में भिक्षाटन तथा वृन्दावन काव्य रखे गए हैं। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि हिन्दी में कुछ ऐसी भी रचनाएँ देखी जाती हैं, जिनमें जीवनवृत्त तो पूरी लिया गया है, किन्तु महाकाव्य की भाँति वस्तु विस्तार नहीं दिखाई देता। एकार्थ ही की अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य एवं खंडकाव्य के बीच की होती हैं। उन्हें एकार्थ काव्य या केवल काव्य कहना चाहिए।[2] एकार्थकाव्य दर्पणकार ने मात्र दो लक्षण बताए हैं वे हैं सन्धि एवं सर्ग का अभाव। पं. विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र का कथन प्रायः उचित है कि इन काव्यों में कथा सम्पूर्ण महाकाव्य की होती है किन्तु उसके विकास का अभाव मिलता है। उसका कलेवर संक्षिप्त सन्धि एवं सर्गहीन रहता है।

कुलक अभिनवगुप्त के अनुसार पाँच या पाँच से अधिक एक साथ अन्वित होने वाले श्लोकबन्ध को कुलक कहते हैं। इसमें वर्ण्य आदि का वर्णन होना आवश्यक है।[3] अग्निपुराणकार के अनुसार कुलक नामक काव्य में विभिन्न छन्दों का प्रयोग होना आवश्यक है इसे सन्दानितक भी कहते हैं।[4] साहित्यदर्पणकार ने भी कुलक को ५ छन्दों से युक्तकाव्य बताया है[5]।

सविशेषक उस काव्यरूप को कहते हैं जिसमें संस्कृत, भाषा अथवा किसी अन्य भाषा में काव्यसामग्री की प्राप्ति हो।[6]

कुम्मक मात्र साहित्यदर्पणकार ने ही इसकी परिभाषा की ओर संकेत किया है। यह दो छन्दों का पद्यबन्धकाव्य होता है।

सन्दानितक साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह तीन छन्दों का समुच्चय होता है। अभिनवगुप्त इसे मात्र दो ही छन्दों का मानते हैं। अग्निपुराणकार ने इसे कुलक काव्य रूप का पर्याय बताया है। अभिनवगुप्त की परिभाषा के अनुसार यह दो श्लोकों में क्रिया का समन्वय करने वाला छन्दयुग्म युक्तकाव्य रूप में होता है।

१: वाङ्मयविमर्श विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ. ६
२: ध्वन्यालोक ३:७ लोचनटीका.
३: अग्निपुराण अध्याय ३३७ श्लोक ३६:१
४: साहित्यदर्पण ६: ३१४ :
५: अग्निपुराण : अध्याय ३३७: श्लोक ३५, ३६.
६: साहित्य दर्पण : ६: ३१४.

कलापक चार छन्दों में प्रयुक्त एक काव्यरूप विशेष साहित्यदर्पण के अनुसार इसकी परिभाषा है। अग्निपुराणकार के अनुसार एक वृत्ति में प्रयुक्त, कैशिकी वृत्ति से कोमल बनाई गई रचना को कलापक कहते हैं। इसमें प्रवास एवं पूर्वराग का होना आवश्यक है[1]।

मुक्तक इसके सभी परिभाषाकार इसके विषय में एकमत हैं। सहृदयों में चमत्कार उत्पन्न कर देने वाली एक श्लोक प्रधान रचना मुक्तक काव्य है निर्बन्धकाव्य में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

संघात जहाँ कवि एक अर्थ को एक ही वृत्त के द्वारा काव्य में वर्णन करता है, वह संघात है, यथा वृन्दावन या मेघदूतकाव्य[2]। काव्यानुशासन के अनुसार एक घटना के विषय में एक ही कविकृत अनेक मुक्तक समुदायों से संघात काव्य की रचना होती है।[3]

कोष अग्निपुराणकार के अनुसार कोष नामक काव्य शिरोमणि कवियों की प्रभावशाली मुक्तियों का संग्रह होता है। इसमें रस का प्रवाह सतत वर्तमान रहता है। यह चतुर सहृदयों को प्रिय है। इसमें आभास एवं उपक्षम की शक्ति होती है और एक ही वर्ण में भिन्न भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है। इसके दो भेद हैं मिश्रित तथा प्रकीर्णक। प्रथम श्रव्य एवं अभिनेय होता है तथा दूसरा उक्तिसंग्रहमात्र[4]। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्य काव्यशास्त्रों के उल्लेख मिलते हैं यथा प्रेङ्खक, गुणवती, वाणावली, कराहाटक आदि। किन्तु ये सामान्य अतिप्रचलित काव्यरूप होने के कारण प्रयोग विरल हैं।

यदि इन समस्त काव्यरूपों का वर्गीकरण करें तो इनको दो स्पष्ट वर्गों में दृष्टिगत होगा। प्रथम प्रबन्धात्मक या बन्धप्रधानकाव्य द्वितीय निर्बन्ध या बन्धरहित काव्य। प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थ तथा संघात रखे जा सकते हैं, शेष निर्बन्धकाव्य के अन्तर्गत।

१: अग्निपुराण : अध्याय ३३७ श्लोक ३४, ३५

२: काव्यादर्श १, १३ वें सूत्र की टीका प्रेमचन्द्र तर्कवागीशकृत.

३: काव्यानुशासन ८, १३, सूत्र की वृत्ति

४: अग्निपुराण : अध्याय ३३७: श्लोक सं. ३७, ३८, ३९: १

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों के काव्यरूपों के अध्ययन के संदर्भ में संस्कृत का काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत काव्यरूपों के अध्ययन का तात्पर्य मात्र इतना है कि इन कवियों के काव्यरूपों के अध्ययन की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाय। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाल में प्रणीत अनेकानेक काव्यरूप कहाँ से आए? उनके पीछे कौन सी परम्परा सक्रिय रही है? उस परम्परा को इन कवियों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया था किंचित् संशोधन के साथ? इस समस्त प्रश्नों को जानने के लिए इस पृष्ठभूमि का अध्ययन अपेक्षित है।

प्रथम यह कि वैष्णव भक्ति काव्यों की परम्परा का निर्धारण किया जाय उसके पूर्व उन काव्यरूप सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण करना आवश्यक है जो उनमें निहित है। प्राय: अध्ययन की दिशा में परम्परा से चले आते इन काव्यरूपों से सम्बन्धित सिद्धान्तों को उन रचनाओं पर आरोपित कर दिया जाता है। इस आरोप से इन कवियों के स्वतंत्र कृतित्व एवं तत्सम्बन्धी रचनात्मक व्यक्तित्व की स्वतंत्रता पर आघात पहुँचता है। ~~यह सत्य है कि~~ प्रतिभा सम्पन्न कवि प्राचीन काव्य लक्षणों का ज्ञान भली भाँति रखता है किन्तु उसके अन्धानुकरण की ओर संकेत नहीं मिलता। अत: इन बने बनाए सिद्धान्तों के आधार पर भक्तिकालीन काव्यरूपों का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है। रचनाओं के अन्तर्गत का विश्लेषण करने पर स्वत: उनमें ऐसे तत्व मिल जाते हैं, जिनसे तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का ~~के~~ स्थिरीकरण किया जा सके।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित काव्यरूप विषयक इन सिद्धान्तों को पृष्ठभूमि में रखकर हिन्दी वैष्णव भक्तिसाहित्य में प्राप्त काव्यरूपों पर विचार किया जा सकता है. किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त निर्धारण का प्रश्न है वह रचना की प्रकृति एवं स्वरूप पर ही आधारित है. यह आवश्यक नहीं है कि संस्कृत के शास्त्रकारों द्वारा निर्धारित लक्षण इन काव्यों पर पूर्णरूपेण घटितार्थ हो ही सकें. फलत: इस विषय में स्वतंत्र दृष्टि ही पूर्णरूपेण वांछनीय है. भक्तिकाव्य में प्राप्त काव्यरूपों की स्थिति इस प्रकार है.

चरितकाव्य वैष्णव भक्तिकाव्य में चरित नाम से अनेक काव्य प्राप्त हैं किन्तु उनमें से कुछ अप्राप्त हैं तथा कुछ खंडकाव्य की कोटि में आते हैं. चरितकाव्यों में रामचरितमानस का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है. अत: अन्य चरितमूलक महाकाव्यों के अभाव में रामचरितमानस का ही अध्ययन अपेक्षित है.

रामचरितमानस को काव्यरूप की दृष्टि से किस कोटि में रखा जाय, यह विवादास्पद रहा है. डॉ० श्यामसुन्दरदास एवं अनेकान्त शास्त्री इसे पौराणिक काव्य या पुराण रचना तक स्वीकार कर बैठे हैं. डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसे उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य मानते हैं जब कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी चरित काव्य. वस्तुत: डा० द्विवेदी का ही कथन मानस के अन्तर्सौष्ठव एवं रचना विश्लेषण के पश्चात् उचित ज्ञात होता है.

स्वत: तुलसी ने मानस के काव्यरूप के विषय में संकेत किया है. उन्हें रामचरितमानस की चरितात्मक काव्य कहना प्रिय है[1]. उन्होंने प्राय: मानस के तीन दर्पण स्थलों पर इसे चरितकाव्य या चरित से सम्बन्धित बताया है. चरित का सामान्य अर्थ कवि लीला से लेता है. राम की लीला सम्बन्धी पूर्वोक्त प्रबन्ध रचना उसके अनुसार चरितकाव्य है. एक स्थल पर कवि कथा, चरित एवं प्रबन्ध तीनों शब्दों को पृथक पृथक अर्थ का द्योतक बताता है

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना विधि करहीं[2]
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई । परम पुनीत विचित्र बनाई

१: रामचरित मानस: बालकांड : दोहा सं. ११,२५,३२,३३ ..
२: चरित से सम्बन्धित ये स्थल प्रकट करते हैं कि कवि को मानस के लिए चरितकाव्य कहना कितना प्रिय है :
रामचरित मानस-बहि नामा । रामचरित मानस मुनि भावन .
तातें रामचरित मानस वर । रामचरित मानस कवि तुलसी .
अवधपुरी यह चरित प्रकासा आदि ... मानस बालकांड दोहा सं. ३३,३४,३५ से ३८ आदि .

प्रभु के अवतार लेने पर उनके द्वारा की जाने वाली लीला चरित है। इस चरित का जब मुनियों द्वारा गान या कथन होता है तो वह कथा बन जाती है। किन्तु यह जब सुन्दर सुरुचिपूर्ण क्रम से ग्रन्थ में लिख ली जाती है तो प्रबन्ध हो जाती है। इस प्रकार चरित या लीला यदि कथित होती है तो कथा और काव्यबन्ध के रूप में प्रस्तुत की जाती है तो प्रबन्ध रचना बन जाती है। इस तरह स्वतः कवि के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते कि मानस चरितात्मक प्रबन्ध रचना है। चरित शब्द का प्रयोग कवि ने दो दृष्टियों से मानस में किया है-प्रथम सम्पूर्ण मानस की कथा के लिए तथा दूसरा छोटी छोटी कथाओं के लिए। इसी अर्थ में नारद चरित, शंभु चरित, कालचरित[1] आदि का प्रयोग मिलता है। चरित के समानान्तर ही कवि ने प्रायः अनेक स्थलों पर कथा शब्द का प्रयोग किया है। रामकथा, खुबीर कथा, खुपति कथा, कथासंवाद, कथा आदि चरित काव्य के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कथा शब्द प्रयोग के लिए एक दूसरा क्रम भी है वह है पौराणिक। वह कथा के लिए इतिहास शब्द का भी प्रयोग करता है किन्तु इन शब्द प्रयोगों के आधार पर मानस को पुराण या इतिहास नहीं कह सकते। यह सत्य अवश्य है कि पौराणिक कथा के तत्व इसमें अवश्य प्राप्त होते हैं किन्तु उन्हीं के आधार पर इसे पुराण काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कथा में पौराणिक तत्वों का प्रयोग मात्र मानस की ही विशेषता नहीं है अपितु अधिकांश परम्परा की समस्त चरितात्मक रचनाओं में ये तत्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं[2]। कवि ने मानस की कथा

---

१ क : सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान।
ख : बाल चरित हरि बहुविधि कीन्हा।
ग : बाल चरित अति सरल सुहाए।
घ : अब यह चरित कहा मैं भाषा : भाषनिबद्ध कथा सुनहु मन लाई
ङ. : यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं
च : मनुज चरित करि नर तनु लीला पै सादर सुनहिं
छ : शंभु चरित सुनि सरस सुहावा : मानस बालकांड दोहा सं.
क्रमशः २०३, २०४, २०५, २०६, १६१, ३२६, १०३।

२: इसके लिए देखिए चरित काव्य की परम्परा पृ० ४४२ प्रस्तुत शोधप्रबंध

के लिए अनेक स्थलों पर पुराण, गुणगाथा, गाथा, रणवीरप्रताप आदि नामों का प्रयोग किया है किन्तु इनके आधार पर मानस को प्रशस्ति काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यद्यपि इसमें प्रशस्तिकाव्य के अनेक लक्षण मिल जाते हैं। इन शब्दावलियों के साथ मानस के काव्यरूप के विषय में कवि एक शब्द का और भी प्रयोग करता है वह है प्रबन्ध। प्रबन्ध के अन्तर्गत समस्त कथामूलक काव्य खंडकाव्य, एकार्थकाव्य आदि समाहित हो जाते हैं। किन्तु स्पष्ट है, मानस न राम के खंडचरित से सम्बन्धित है और न एकार्थक अतः प्रबन्ध का तात्पर्य मात्र महाकाव्य से ही लगाया जा सकता है। कवि स्वतः कहता है 'जे प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो कवि बादि बाल कवि करहीं।'[1] इससे स्पष्ट है कि प्रबन्ध की रचना बाल कवि नहीं करते महाकवि ही करते हैं तथा इसके सम्मानकर्ता सहृदय बुध (विद्वान) ही होते हैं। शायद बुध को ही संदर्भ में रखकर कवि प्रबन्ध के पूर्व, विविध, सुन्दर सोपान, सानदृष्टि से अवलोक्य, प्रणीत आदि शब्दों का प्रयोग करता है। इससे स्पष्ट है कि कवि स्वतः अपने काव्य को उच्चकोटि का प्रबन्धकाव्य मानने की ओर संकेत कर रहा है। उसके द्वारा कथित प्रबन्धकाव्य महाकाव्य का पर्याय है। अतः इसे कथाकाव्य, पुराणकाव्य कहना उचित नहीं है। यह उच्चकोटि का महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य है। इसमें प्रयुक्त पुराण, चरित, कथा प्रशस्ति शब्द मात्र प्रबन्ध शब्द का पोषण करते हैं। अतः इसे कथा या पुराण समर्थित रामचरित एवं प्रशस्ति सम्बन्धी प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है। स्वतः कवि के अनुसार इस पुराण समर्थित चरित एवं प्रशस्तिमूलक प्रबन्ध काव्य के ये लक्षण हैं।

कवि ने स्वतः गौण एवं मुख्य का भेद करके इसके लक्षणों की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार इस काव्य के गौण लक्षण मुख्य लक्षण के अभाव में निरर्थक हैं।

१: मानस : बालकाण्ड : दोहा सं. १४

रामचरित सर बिनु बन्हवाए । सो श्रम जाइ न कोटि उपाए ।

राम कवित भूमित बिय जानी । मनिहहि सुजन सराहि सुबानी ।

कवि कोबिद अस हृदय बिचारी । गावहि हरि जस कलिमल हारी ।

मंगल करिन कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की,
गति कूर कबित सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।

कवि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल ।

प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिनहि कथा सुनि लागहि फीकी
राम भगति भूमित बिय जानी । सुनिहहि सुजन सराहि सुबानी ।[२]

निष्कर्षत: रामचरित मानस के लिए काव्य मूल्य गौण है। काव्य एवं संस्कृति रामभक्ति एवं चरित प्रतिपादन के बिना निरर्थक है। फलत: चरितात्मक

१- प्रबन्धकाव्य का लक्षण है, ~~लक्षण~~ इष्ट या नायक के चरित्र को प्राथमिकता महत्व देकर प्रतिपादन तदनुरूप अन्य काव्य गुणों को उसकी शोभा के लिए नियोजन[१]

२-चरितात्मक प्रबन्धकाव्य का मूल उद्देश्य है, पापक्षमन, लोक कल्याण, भक्तिप्रचार मुक्ति कल्पना तथा कलिप्रवृत्ति वासना का विनाश सम्पूर्ण मानस में कवि ने इसी का प्रतिपादन किया है। यदि मानस से इन तत्वों को निकाल लिया जाय तो वह पुन: लौकिक या प्राकृत कवियों के धरातल पर उतर आयेगा। पार्वती, याज्ञवल्क्य तथा गरुड ने मानस कथा को आरम्भ करने के पूर्व इन्हीं प्रयोजनों के विषय को ध्यान में रखकर प्रश्न किया था। मानस की कथा को आरम्भ करने के पूर्व स्वत: तुलसी ने ७२ पंक्तियों में स्वोद्देश्य को स्पष्ट किया है[२]।

इस प्रबन्ध काव्य के गौण लक्षण भी हैं: वे रचना शैली से सम्बन्धित हैं इन्हें मुख्य कथा का पूरक लक्षण भी कहा जा सकता है ।

१: रामचरितमानस बालकान्ड दोहा सं. ३३,३७, १४,६ .

२: रामचरितमानस: बालकान्ड : दोहा सं० ३६ से ४३ तक .

रामचरित सर बिनु अन्हवाए । सो श्रम जाइ न कोटि उपाए ।

राम कवित भूमित बिय जानी । मनिहहि सुजन सराहि सुबानी ।

कवि कोबिद अस हृदय बिचारी । गावहि हरि जस कलिमल हारी ।

मंगल करिन कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की,
गति कूर कबित सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।

कवि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल ।

प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिनहि कथा सुनि लागहि फीकी
राम भगति भूमित बिय जानी । सुनिहहि सुजन सराहि सुबानी ।[2]

निष्कर्षत: रामचरित मानस के लिए काव्य मूल्य गौण है। काव्य एवं संस्कृति रामभक्ति एवं चरित प्रतिपादन के बिना निरर्थक है। फलत: चरितात्मक

१- प्रबन्धकाव्य का लक्षण है, ~~लक्ष्मण~~ प्रथम इष्ट या नायक के चरित्र को प्राथमिकता महत्व देकर प्रतिपादन तत्पश्च अन्य काव्य गुणों को उसकी शोभा के लिए नियोजन[1]

२-चरितात्मक प्रबन्धकाव्य का मूल उद्देश्य है, पापक्षमन, लोक कल्याण, भक्तिप्रचार मुक्ति कल्पना तथा कलिकलुष वासना का विनाश सम्पूर्ण मानस में कवि ने इसी का प्रतिपादन किया है। यदि मानस से इन तत्वों को निकाल लिया जाय तो वह पुन: लौकिक या प्राकृत कवियों के धरातल पर उतर आयेगा। पार्वती, याज्ञवल्क्य तथा गरुड ने मानस कथा को आरम्भ करने के पूर्व इन्हीं प्रयोजनों के विषय को धर्म में रखकर प्रश्न किया था। मानस की कथा को आरम्भ करने के पूर्व स्वत: तुलसी ने ७२ पंक्तियों में स्वोद्देश्य को स्पष्ट किया है।[2]

इस प्रबन्ध काव्य के गौण लक्षण भी हैं: वे रचना शैली से सम्बन्धित हैं इन्हें मुख्य कथा का पृथक लक्षण भी कहा जा सकता है ।

१: रामचरितमानस बालकान्ड दोहा सं. ३३,३७, १४,६ .

२: रामचरितमानस: बालकान्ड : दोहा सं० ३६ से ४३ तक .

१ इसमें काण्डों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए कवि ने सात काण्ड को स्वतः मानस के लिए स्वीकृति दी है।

२ इसमें सुन्दर संवादों का प्रयोग अपेक्षित है।

३ औपम्य या साध्यमूलक अलंकारों की प्रमुखता, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण तथा नव रसों का प्रयोग अपेक्षित है।

४ छन्दों के लिए कवि ने चौपाई, दोहा, सोरठा, छन्द काव्य आदि की स्वीकृति दी है।

५ इसमें उदात्त अर्थों की व्यंजना अपेक्षित है।

६ इसके अन्तर्गत अनेक कथाओं एवं प्रसंगों का समावेश आवश्यक है।

७ रचना की मानसिक प्रक्रिया अत्यंत उदात्त कोटि की होनी चाहिए।[1]

कवि द्वारा कथित इन लक्षणों के साथ साथ मानस के रचना स्वरूप में अन्तर्गत प्राप्त कतिपय अन्य लक्षणों की ओर संकेत किया जा सकता है। ये लक्षण इस प्रकार है' —

....

१: रामचरितमानस : बालकाण्ड : दोहा सं० ३६, ३७, ३८

१ कथावस्तु तथा कथा नियोजन

मानस की सम्पूर्ण कथा को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है

१ मुख्य कथा

२ . प्रेरक कथाएं

३ . सहकथाएं

४ . भूमिका से सम्बन्धित कथाएं

मुख्यकथा राम अवतार , जय विजय प्रसंग , मनुशतरूपा , शिवपार्वती , रामराज्य की तैयारी , विघ्न , वनगमन , चित्रकूट निवास , सीताहरण , लक्ष्मणवध , राम के द्वारा सीता का खोज , शबरी भेंट , सीता की खोज , सेतुबंध , लक्ष्मण मेघनाद युद्ध , कुम्भकर्ण वध , मेघनाद वध , अन्य राक्षस वध , रावण वध , रामराज्याभिषेक .

प्रेरक कथाएं ताड़का वध , अहल्योद्धार प्रसंग , परशुराम आगमन , मंथरा की कथा , कैकेयी प्रसंग , भरत कथा , भरत राम मिलन , जयन्त की दुष्टता , सूर्पणखा का नाक कान काटा जाना , खरदूषण प्रसंग , बालिवध , सुग्रीवसखा तथा सेनापति प्रसंग , लंका , लंका में राक्षस समाज परिचय , अक्षयकुमार वध , लंकादहन , लंका रावण संवाद , सीता की अग्नि परीक्षा .

सहकथाएं बछित्या कथा , गंगा की उत्पत्ति कथा , देवदेवतापक्ष , वाल्मीकि प्रसंग , अहिल्या , जनक , कौसल्या , विराट , नारद , शबरी के प्रसंग , विभीषण तथा लंका में रावण संवाद , दशरथ का आगमन , विभिन्न स्त्रियां , राम का प्रजा का उपदेश , अग्निशुद्धि सीता संवाद एवं अन्य अन्तर्कथाएं .

भूमिका से सम्बन्धित कथाएं . नारद कथा , उत्पत्ति अहिल्या , प्रतापभानु कथा , शंकर पार्वती प्रसंग , रामजन्मोत्पत्ति , याज्ञवल्क्य मनुशतरूपा संवाद , अग्निशुद्धि एवं गरुड़ संवाद , कवि के स्वगत प्रसंग आदि .

इन कथाओं के देखने से रामचरित मानस की कथावस्तु विषयक जटिलता का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है . मानस के ये कथाएं परस्पर संश्लिष्ट हैं महाकाव्य के लक्षणों में सम्पूर्ण कथावस्तु को दो भागों में विभक्त करके अध्ययन किया गया है . मुख्य कथावस्तु तथा प्रेरक कथाएं पौराणिक एवं लौकिक परम्परा से सम्बन्धित होने में अन्तर्कथाओं का प्रयोग मिला है . वाल्मीकि रामायण में भी उपाख्यान के रूप में अनेक से कथाएं मिलती हैं . मुख्य का प्रयोग एक निश्चित फलसिद्धि के लिए होता है प्रेरक कथाएं इसी निश्चित फलोद्देश्य की प्राप्ति

में सहायक होता है . मानस की प्रकरण व्यवस्था को भी यही स्थिति है:

१ फल को ध्यान में रखकर मुख्य कथा का नियोजन होता है. साथ ही फलोद्देश्य की पुष्टि एवं उसी के नायक का चरित्र नियोजन इसका लक्ष्य है इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए एक कथा को दूसरी कथा का सोपान दिया जा सकता है . ये प्रकरण कथाएँ मुख्य कथा की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में भी सहायक हुई हैं. मानसकार ने अनेक स्थलों पर मुख्य कथा के उद्देश्य को स्पष्ट किया है . उनके अनुसार सन्देह एवं भ्रम का विनाश, कलिमल की समाप्ति, विवेक की जागृति, साधु समाज का पोषण, अविद्या, पापमल, कपट, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि का समूल विनाश, आनन्द का प्रसार, वैराग्य की वृद्धि आदि उसके मुख्य उद्देश्य हैं. किन्तु इन उद्देश्यों से कहीं अधिक सशक्त रूप में रामभक्ति का प्रचार मुख्य कथा का फल माना जा सकता है[१] प्रकरण कथाओं का प्रयोग मुख्य कथा के इस लक्ष्य दृष्टि की ही दृष्टि से होना चाहिए .

२ . मानस में प्रकरण व्यवस्थाओं का स्थिति स्वतंत्र है . ये मुख्यकथा का सहायिनी मात्र रह सकती हैं, तथा उनसे मूल भी . कथावस्तु को फलोद्देश्य तक पहुंचाने में उनका सहयोग अपेक्षित नहीं है . उनका प्रयोग, नैतिक उपदेश, लोक निरूपण, आध्यात्मिक उलझनों एवं भक्तिविषयक मान्यताओं के स्पष्टीकरण में है :

३ . भूमिका भाग में प्रकरण व्यवस्थाएँ मुख्यकथा के स्पष्टीकरण के लिए हैं. उनसे कथा के मुख्य प्रयोजन का अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है . कवि वाद एवं ईश्वर आख्यान से सम्बन्धित प्रसंग कथा स्वरूप के स्पष्टीकरण तथा माहात्म्य निरूपण के लिए प्रयुक्त हैं.

पात्र नियोजन

कथावस्तु की ही भाँति पात्रनियोजन की समस्या मानस में अत्यधिक जटिल है . मानस में कुल मिलाकर ८० पात्र हैं . ये पात्र कथा की विभिन्न प्रकृति के आधार पर नियोजित होने के कारण उसके मुख्य फल नियोजन में सहायक हैं. कथावस्तु के ही आधार पर इन्हें निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है

मुख्य कथा के पात्र . राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथ, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, जनक, राजा, मारीच, सहस्रबाहु, मेघनाद, कुम्भकर्ण, सुबाहु, खरदूषण, त्रिजटा आदि .

१: मानस बालकाण्ड : दोहा सं. ३१, ३२ तथा ४३ .

मुख्य कथा के पात्र : दशरथ, विश्वामित्र, वशिष्ठ, कैकेयी, सुमित्र, हनुमान, अंगद, बालि, जाम्बवन्त, रावण, विभीषण, सुर्पणखा, त्रिजटा, सरमा, घटोत्कच, अहिरावण, निषाद, स्वयंप्रभा, तारा, मारुतनन्दन आदि.

प्रकरण कथा के पात्र : ताड़का, अहिल्या, वाल्मीकि, परशुराम, भरद्वाज, कागभुशुण्डि, शबरी, सुतीक्ष्ण, नारद, अगस्त्य, तापस, गुह, जटायु, सम्पाति, इन्द्रजित, त्रिजटा, मन्दोदरी, सीता (बालकाण्ड को छोड़कर), जयन्त, शूर्पणखा आदि.

आनुषंगिक कथा के पात्र : शंकर, पार्वती, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, गरुड़, काकभुशुण्डि, कश्यप, अदिति, प्रतापभानु, अरिमर्दन, नारद, विश्वमोहिनी, विष्णु, मनु, शतरूपा, कामदेव, अरुणा, जयविजय आदि.

आनुषंगिक पात्र : देवगण, मुनिगण, अयोध्या तथा जनकपुर दोनों स्थानों के नर-नारी, निषाद परिवार, जनवासी, बन्दीजन एवं राक्षसगण.

मूलकथा के नायक राम एवं विरोधी कथा का नायक रावण है. कथा का फलोद्देश्य विरोधी नायक रावण के ऊपर राम की विजय है. मुख्य कथाफल तक पहुँचने के लिए राम का राज्य न पाना एक सशक्त कारण है. रामकथा का विकास राम के विशिष्ट विवाह तक ही जाता है. रामकथा एवं विरोधी कथा में परस्पर कड़ी बैठाने का कार्य सुर्पणखा एवं सीता के द्वारा सम्पन्न होता है. रावण सुर्पणखा के नाक कान काटे जाने का बदला सीताहरण से लेता है तथा राम अपनी पत्नी के हरण का बदला रावण वध से लेते हैं.

इस मुख्यकथा को अनेक संदर्भों से पुष्ट करने के लिए विभिन्न पात्र योजनाएँ निर्मित की गई हैं. राम के सहयोगी लक्ष्मण हैं, तथा रावण का सहयोगी मेघनाद. एक ओर वानर सेना है, दूसरी ओर राक्षस सेना, राक्षस सेना का प्रतिनिधित्व मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि राक्षस करते हैं तथा राम का लक्ष्मण, हनुमान आदि. इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकरण कथा के पात्र इस फलोद्देश्य की सिद्धि में प्रतिबद्ध दिखते हैं. शेष अन्य मुख्य एवं प्रकरण कथा के पात्र इसी फलोद्देश्य में किसी न किसी रूप में सहायता पहुँचाते हैं.

अवान्तर कथाओं का सम्बन्ध मुख्य कथाफल से सम्बद्ध नहीं है. उनका अपने आप में एक निश्चित फलोद्देश्य है. इन कथाओं के नायक राम ही होते हैं, किन्तु यह नायकत्व रावण वध से सम्बन्धित नहीं है. इन पात्रों के द्वारा कवि ने निम्न उद्देश्यों को पुष्ट किया है.

१ नैतिक आदर्श की पुष्टि के लिए प्रमुख पात्र . वाल्मीकि,कालनेमि ,सुरसा आदि पात्रों से सम्बन्धित प्रसंग नैतिक आदर्श से सम्बन्धित है .

२ .ज्ञान की पुष्टि के लिए प्रमुख पात्र . निषाद,नारद ,भुशुन्डि आदि की सहकारिता इसी से सम्बन्धित है .

३.भक्ति की पुष्टि के लिए प्रमुख पात्र . ये प्रचुर मात्रा में अधिक है . इनसे एक ओर राम माहात्म्य की पुष्टि मिलती है दूसरी ओर भक्ति की . ताड़का ,अहिल्या,कालनेमि,सुरसा आदि से सम्बन्धित कथानक इसी की पुष्टि के लिए है .

भूमिका भाग में प्रमुख कथापात्रों का दो उद्देश्य है वे एक ओर मुख्य कथा को स्पष्ट करते हैं, दूसरी ओर नैतिक एवं सैद्धान्तिक निरूपण में सहयोगी है . सांकेतिक पात्रों का प्रयोग कथा को गति एवं राम माहात्म्य के उद्देश्य में हुआ है .

इस प्रकार कथा एवं पात्रों का स्थिति परस्पर सश्लिष्ट एवं अन्योन्याश्रित है वे परस्पर एक ही लक्ष्य की पुष्टि के लिए प्रयुक्त है'

फलोद्देश्य कथावस्तु एवं पात्रों की स्थिति पर आश्रित है .कथावस्तु एवं पात्रों के प्रयोग का अभिप्राय फलोद्देश्य की पुष्टि करना है .

मुख्य कथा का फलोद्देश्य

मुख्य कथा का सामान्य फलोद्देश्य रावण पर राम की विजय है किन्तु कवि एवं अवतारवाद की धारणा से पुष्ट कर देता है .रामावतार का कारण धर्म की पुष्टि , पृथ्वी ,विप्र ,गौ एवं देवताओं एवं भक्ति की सुरक्षा तथा धर्म का प्रचार है . इनके विरोधी असुर एवं राक्षस पृथ्वी पर अनाचार का प्रचार करते हैं .फलतः उन्हीं के विनाश से अवतारवाद की धारणा पुष्ट होती है .राक्षस वध असुर या राक्षस वध से सम्बन्धित है ,जिसका उद्देश्य पृथ्वी पर सदाचार का प्रचार करना है इस प्रकार इस चरितकाव्य का लक्ष्य है अवतारवाद के कारणों की पुष्टि जिसके अन्तर्गत,धर्म,आदर्श भक्ति ,विप्र ,गौ ,पृथ्वी एवं देवताओं की सुरक्षा सम्बन्धी धारणाएं निहित है .

सहकारियों का उद्देश्य पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है ,उनका प्रयोग कवि अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए करता है .ये सिद्धान्त आदर्श भक्ति एवं दर्शन से सम्बन्धित है . निष्कर्षतः चरितकाव्य का फलोद्देश्य भक्ति एवं धर्मप्रचार से सम्बद्ध है .

रामचरित मानस में संस्कृत काव्य परम्परा में स्वीकृत महाकाव्य के अन्य शैलीगत उपादान भी वर्तमान है' ये इस प्रकार है' सर्गबद्धता एवं छन्द का प्रयोग,नायकत्व, एवं खलत्व ,कथावृत्त एवं रचना विधान ,संध्या ,सूर्य ,चन्द्र ,रजनी,प्रदोष,प्रभात,अंधकार,वन,सागर,नदी

स्वर, संभोग विप्रलम्भ, मुनि, संप्रयोग, उपोद्घात एवं उपोद्घात आदि अध्याय ७ में 'काव्यशास्त्रीय रूढ़ियाँ' के अध्ययन के क्रम में इनका विशेष अध्ययन हुआ है।

वर्णनात्मक काव्य तथा एकार्थकाव्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत हम वर्णनात्मक काव्य पाते हैं और हम एकार्थ वर्णनात्मक एवं एकार्थ काव्य में थोड़ी सी भिन्नता है। वर्णनात्मक काव्य प्रायः सम्पूर्ण जीवन वृत्त का वर्णनात्मक काव्य शैली में प्रस्तुत किया गया विशेष काव्यरूप है। काव्यात्मकता के स्थल प्रायः वर्णनात्मक शैली के कारण अप्रभावशाली हो जाते हैं। एक सामान्य छन्द में पूरी कथा से परिचय कराना एवं कथा सम्बन्धी उद्देश्य को प्रगट करना इसका मुख्य प्रयोजन है। दूसरी ओर एकार्थ काव्य मूलतः वैशिष्ट्य होता है। फिर भी सम्पूर्ण कथा उसमें निहित रहती है। सूरसारावली, भागवत भाषा दशम स्कन्ध को वर्णनात्मक (नैरेटिव पोएट्री) काव्य के अन्तर्गत तथा वरवैरामायण को एकार्थ काव्य को रखा जा सकता है भागवत भाषा दशम स्कन्ध को अनुवाद नहीं कहा जा सकता भागवत दशम स्कन्ध के प्रसंगों के सामान्य आधार के अनुमोदन की बात अवश्य है क्योंकि कवि इसमें स्वतः अपने रचनात्मक व्यक्तित्व को सृजना देता है। फलतः इसमें रचनाकार का व्यक्तित्व प्रधान हो गया है।

वर्णनात्मक काव्य सूरसारावली को विद्वानों ने या तो सूरसागर की अनुक्रमणिका की संज्ञा दी है, या एक अप्रामाणिक रचना मानी है। यहाँ यह मानकर इस पर विचार किया गया है कि यह मध्यकालीन वैष्णव भक्तिकाव्य की वर्णनात्मक रचना है क्योंकि वैष्णव भक्ति के तत्व उसमें वर्तमान हैं, तथा काव्यरूप की दृष्टि से यह वर्णनात्मक काव्य है, इसे अनुक्रमणिका कहना तो पूर्ण भ्रामक है। अनुक्रमणिका की भाँति यह काव्यगुणों से हीन तथा कवि की रचनात्मक प्रतिभा से च्युत नहीं है। फलतः इसे वर्णनात्मक काव्य नैरेटिव पोएट्री कहना मूलतः उचित होगा। दूसरी ओर भागवत भाषा दशम स्कन्ध भी वर्णनात्मक काव्य है। रचना में 'भाषा' शब्द का प्रयोग अनुवाद के अर्थ का द्योतकवाची न होकर भाषा में प्रणीत रूप का द्योतक है इन दोनों काव्यों की निम्न विशेषताएँ हैं जिनके कारण उन्हें वर्णनात्मक काव्य कहा जा सकता है -

१ -सम्पूर्ण काव्य में एक प्रकार के ही छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये छन्द वर्णनात्मक काव्यरूपों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मध्यकालीन चरितकाव्यों में इसका प्रयोग हुआ है। ये छन्द वर्णनात्मक काव्यरूप के लिए अधिक उपयुक्त ठहरते हैं। दशम स्कन्ध भाषा में चौपाई और दोहा तथा सूरसारावली में वर्णनात्मक सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है।

२- भागवत भाषा दशम स्कन्ध की कथा मूलतः भागवत पर आधारित है किन्तु कवि ने उसका अनुवाद नहीं किया है। वह मात्र भाषाबद्ध करने की बात करता है।

वह रचना के आरम्भ में ही कहता है ।

परम विचित्र मित्र इक रहैं। कृष्ण चरित्र सुन्यौ सो चहैं।
तिन कहा दशम स्कन्ध बनाहि। भाषा करि कछु बरनौ ताहि।
सबद संस्कृत के हैं जैसे। मौपै सकति पत नहिं तैसे।
ताहि सरल कै भाषा कीजै। परम अमृत पीवै सुख जीजै।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि ने अपने मित्र को भागवत के दशम स्कन्ध के कृष्ण चरित्र को समझाने के लिए सरल भाषा में उसी के आधार पर इसकी रचना की। 'सरल कै भाषा कीजै' का स्पष्ट अर्थ वर्णनात्मक काव्य का ओर है। कवि ने भागवत को आधार बनाकर रचना करने की ओर भी संकेत किया है वह ५ स्थलों पर शुक का नाम तथा शुक परीक्षित के वक्ता श्रोता की परम्परा का उल्लेख करता है। भागवत की भाँति कतिपय लीलाओं को इति बत्सासुर लीला, इति बच्छहरण लीला, इति धेनुकमर्दन लीला जैसे पौराणिक ग्रन्थों का प्रयोग करता है। किन्तु कवि ने अनेक स्थलों पर इति सम्बन्धी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की सूचना दी है[2]। कवि के द्वारा प्रयुक्त यथामति शब्दावली इसी को सूचक है। यहाँ भागवत की भाँति कथा का सम्पूर्ण विस्तार एवं तत्तत्कथाओं अध्यायों तथा लीलाओं को विशेष प्रमुखता नहीं मिली है। कवि ने भागवत दशम स्कन्ध की सम्पूर्ण कथा को २६ अध्याय २८०० पंक्तियों में कहा है। ठीक यही स्थिति सूरसारावली की भी है[3]। प्रभुदयाल मीतल सूरसारावली की कथा सूरसागर पर आधारित मानते हैं, + जो सर्वथा भ्रामक है। नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित सूरसागर की सारावली के सम्पादन मीतल ने कथा योजना की दृष्टि से सूरसागर से प्रभावित है, किन्तु सूरसारावली की कथा में स्वेच्छया अनेकानेक परिवर्तन किए गए हैं; ये परिवर्तन वर्णनात्मक काव्यरूप की दृष्टि से प्रीत: उपयुक्त प्रतीत होते हैं; ये परिवर्तन इस प्रकार हैं:+

१-भागवत या सूरसागर की कथा का आरम्भ, महाभारत की कथा, परीक्षित उत्पत्ति, शाप, तथा शुक द्वारा भागवत कथन से आरम्भ होती है

.....

१: दशम स्कन्ध भाषा : अध्याय १ पंक्ति ४, ६ नन्द० ग्रं० पृ० उमाशंकरशुक्ल
२: नन्द यथामति के तथा बरन्यो प्रथम अध्याय ३ : अध्याय २ पंक्ति १६७
३: सूरसारावली : सम्पा० प्रभुदयाल मीतल भूमिका भाग ।

भागवत की उत्पत्ति के लिए इस कथा का अंश पौराणिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, कवि इस पौराणिकता का त्याग कर सृष्टि की उत्पत्ति का सामान्य संकेत होली के रूपक से शुरु करता है। कवि परीक्षित की जन्म कथा का संकेत काव्य के अन्त में करता है। वस्तुत: वैज्ञानिक कथा नियोजन की दृष्टि से कवि ने सम्पूर्ण कथा को ही यहाँ उलट दी है।

२-कथा नियोजन में कवि एक और भी परिवर्तन करता है। भागवत तथा सुरसागर में वर्णित २३ अवतारकथाओं को क्रम से अत्यन्त संक्षेप में कहने के बाद कृष्ण की सम्पूर्ण जीवन कथा को आदि से अन्त तक कह जाता है। सुरसागर एवं भागवत का क्रम दूसरा है। उसमें रामकथा के बाद कृष्ण अवतार की कथा आती है। बुद्ध एवं कल्कि अवतार की कथा सबसे अन्त में आती है, किन्तु सारावली में बुद्ध और कल्कि अवतार के बाद रामकथा का कथन शुरु होती है।

३-इस कथा की एक अन्य विशेषता है कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण जो भागवत में मात्र संकेतिक है तथा सुरसागर में है ही नहीं। कवि कृष्ण जन्म की कथा से आरम्भ करके अपने काव्य की समाप्ति कृष्णप्रशस्ति के बाद करता है। कृष्ण की यह कथा छन्द से २ से ८७ तक समाप्त हो जाती है। उसके बाद भी राधा कृष्ण विहार एवं दृष्टकूट सम्बन्धी पंक्तियाँ मिलती है किन्तु वे उस क्रम में नहीं आती।

वर्णनात्मक काव्य की दृष्टि से इनकी ये विशेषताएँ या लक्षण बतलाए जा सकते हैं,

वर्णनात्मकता की ओर कवि की दृष्टि अधिक सजग रही है। भाव गाभीर्य तथा भावात्मक स्थलों पर रम जाने की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं मिलती। रूप, प्रकृति चित्रण, सौन्दर्य तथा भावाभिव्यक्ति की ओर सजगता का अभाव मिलता है। कवि अपनी वर्णनात्मक प्रवृत्ति के अन्तर्गत कथाओं एवं घटनाओं का समावेश करता चलता है। खंड कथानकों को स्पष्ट करने के लिए अध्यायों एवं शीर्षकों के प्रयोग की सूचना पंक्तियों में ही मिल जाती है। प्रेमसागर मीरबल सारावली में कवि कथित पंक्तियों के आधार पर शीर्षक विभाजन भी कर डाला गया है जो कवि अभीष्ट नहीं है यह वर्गीकरण वर्णनात्मक काव्य की प्रवृत्ति के अनुरूप भी नहीं है। दशम स्कन्ध भाषा में अध्यायों का सामान्य वर्गीकरण है। यह वर्गीकरण वस्तुत: भागवत का प्रभाव के प्रभाव का फल है।

सम्पूर्ण कथा के लिए कृष्णचरित्र पौराणिक कथा कृष्ण के जन्म, बाल्य, युव

यश गान की कथा आदि शब्दावलियों का प्रयोग मिलता है इससे रावलोकार किसी एक लक्ष्य प्रबन्ध के रूप में कथित कृष्ण कथा का सार रूप उसे स्वीकार करता है ।

निष्कर्ष रूप से इसके निम्न लक्षण बताए जा सकते हैं -

१ वर्णनात्मक काव्य में एक सम्पूर्ण कथा का आद्योपान्त चित्रण मिलता है ।

२ - शैली वस्तुविन्यास तथा छन्दयोजना मूलतः वर्णनात्मक काव्य के अनुकूल हो । शैली में अलंकरण, माधुर्यता एवं एक स्थल पर रमकर चित्रण करने की प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव होना चाहिए ।

३- मुख्य कथाओं को उभारने की ओर कवि को लक्ष्य रहना चाहिए . संहकथाओं का मुख्य उद्देश्य प्रमुख कथा को पुष्ट बनाना है

४-इस प्रकार के काव्यों का सर्वप्रमुख गुण है सरलता इस सरलता से कथा एवं शैली सम्बन्धी रोचकता का विकास होता है।

५-अवान्तर कथाओं का प्रयोग आवश्यक नहीं है यदि भूमिका के रूप में इनका प्रयोग होता है तो अति वैचित्र्य रूप में सम्पूर्ण कथा का अत्यधिक अपेक्षित नहीं है ।

६ - अवान्तर तथा मुख्य कथाओं के अन्तर्गत सेवा, भावना, सिद्धान्त तथा अन्य धार्मिक सिद्धान्त विषयक टिप्पणियां जोड़ी जा सकती हैं ।

सैंडकाव्य

.....

हिन्दी सन्दकाव्यों का अध्ययन सन् १९६३ में प्रयाग विश्वविद्यालय से हो चुका है। शोधकर्ता ने प्रस्तुत विषय की सीमा के अन्तर्गत मात्र ४ काव्यों का उल्लेख किया है - रुक्मिणी मंगल, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, तथा रुक्मिणी[1] सैंडोप में उसके अनुसार सैंडकाव्य के निम्न लक्षण है:-

१ रचना का प्रबन्धात्मक रूप

२ कथा की ऐतिहासिकता

३ नायक की उदात्तता

४ आद्यन्त एक रस की प्रधानता

५ नायक को फल की सिद्धि

६ कथा के एक अंश का चित्रण

इन प्रमुख लक्षणों के साथ आरम्भ में मंगल स्तुति, चतुर्वर्ग फल का संकेत[2] होने चाहिए। किन्तु ये लक्षण भक्तिकालीन सैंडकाव्यों के विषय में पूर्णतः चरितार्थ नहीं होते। निष्कर्ष रूप में ये मात्र प्रबन्धकाव्य के रचना स्वरूप पर ही आधारित है। भक्तिकालीन सैंडकाव्यों की सम्पूर्ण प्रकृति का निर्देश इन लक्षणों के आधार पर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः कथा एवं काव्य की दृष्टि से हिन्दी के सैंडकाव्यों के अन्तर्गत निम्न काव्यों को लिया जा सकता है। जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामपंचाध्यायी, नन्द रुक्मिणी, रुक्मिणीमंगल, श्यामसगाई रामलालनेछू। यदि सामान्य छोटे काव्यों को लिया जाय तो इनमें रामपंचाध्यायी व्यास जी, नन्ददास आदि को लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कतिपय अप्राप्त लुप्तप्राय काव्य हैं - जिनके विषय में मात्र संकेत ही मिलता है। ये रचनाएं सम्प्रति अप्राप्त हैं। मदालसा आख्यान, ग्वालिन अरी, (अ० ग्वाल०) दानलीला, दयाल मंगरी आदि रचनाएं इसी श्रेणी में आती हैं;

.....

१ हिन्दी सैंडकाव्यों का अध्ययन : रामकुमार गुप्त: अप्रकाशित प्रबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय क्र. सं. ३२७५, १०

१००५

२ हिन्दी सैंडकाव्यों का अध्ययन पृष्ठ १२, १६, २०

प्राप्त काव्यों के कथास्वरूप, शिल्प एवं रचनाशैली की दृष्टि से अध्ययन करना अपेक्षित है।

१- समस्त काव्यों में नायक अलौकिक व्यक्तित्व या अवतार से सम्बन्धित है। जानकी मंगल, तथा रामललानेहछू के नायक राम एवं रास पंचाध्यायी, श्यामसगाई रुक्मिणीमंगल, रुक्मिणी तथा सुदामाचरित्र के नायक कृष्ण हैं। पार्वतीमंगल के नायक शिव हैं इस प्रकार इन काव्यों के नायक का सम्बन्ध अलौकिक व्यक्तित्व से है।

२- सभी रचनाओं में कथा संघठन कम है कथा के विकास की परिस्थितियां दीख कर दी गई हैं। जानकी मंगल, पार्वतीमंगल, रामललानेहछू, रुक्मिणीमंगल, रुक्मिणी सुदामाचरित आदि में कथा विस्तार एवं फल की अन्तिम प्राप्ति को असहत्वपूर्ण बना दिया गया है। कारण कि इनमें 'कांडों' का विभाजन नहीं है कथादृष्टि सैद्धान्तिक बहुलता के कारण गौण है। फलत: किसी में भी संघठन पूर्ण परिस्थिति का नियोजन नहीं मिलता रासपंचाध्यायी में पांच अध्याय हैं। किन्तु अध्याय का यह विभाजन उपयुक्त नहीं है। तीसरे चौथे तथा पांचवें अध्याय में सामान्यत: गतिशीलता है ही नहीं।

३- इनके आरम्भ में गुरु, गणेश, शुक, वृन्दावन, कृष्ण, शंकर, पार्वती, उमा सरस्वती, शेष, वृहस्पति, वेद, सरलमति सन्त, राम, सीता आदि की स्तुति का विधान मिलता है। श्यामसगाई में किसी की भी वन्दना नहीं मिलती। रुक्मिणीमंगल में इस काव्य की फलप्राप्ति का आरम्भ में संकेत मिलता है किसी की वन्दना नहीं। रुक्मिणी में भक्तिमाहात्म्य से सम्बन्धित लगभग 30 पंक्तियां दी गई हैं। रासपंचाध्यायी के आरम्भ में शुक, भागवत, वृन्दावन, कृष्ण के माहात्म्य का निरूपण है।

४- अन्तिम फल के रूप में भक्ति की प्रमुखता मिली है। जानकी तथा पार्वतीमंगल में फल के रूप में स्त्री पुरुष का आनन्दित रहना, भक्ति की प्राप्ति, रुक्मिणीमंगल में समस्त मंगलों की प्राप्ति, लोकप्रियता की प्राप्ति, कृष्ण तथा रुक्मिणी की पात्रता आदि का संकेत है। श्यामसगाई में राधाकृष्ण की भक्ति तथा रुक्मिणी में परम प्रेम फल की प्राप्ति, को इसका अन्तिम फल निर्दिष्ट किया गया है। रासपंचाध्यायी में मंगल की प्राप्ति, अघ का विनाश प्रेम का वितरण इसका फल कहा गया है। इस प्रकार अन्तिम फल के रूप में इन रचनाओं का दृष्टिकोण लोकमंगल एवं भक्ति का प्रचार करना है।

५- इन रचनाओं में गीतात्मकता को अधिक प्रधानता मिली है जानकी तथा पार्वती मंगल के उपवीत, ब्याह, उछाह एवं अन्य मांगलिक अवसरों पर गाए जाने की चर्चा मिलती है। नेछू के जन्म के समय गाने का संकेत मिलता है। रुक्मिणी में कवि ने कथन शैली की परम्परा का संकेत किया है।[१] आरम्भ में[२] प्रेममार्गी कथात्मक पद्धति पर वह काव्य लिखने की चर्चा है। नन्ददास रासपंचाध्यायी में उसके गाये जाने की चर्चा करते हैं। किन्तु यह पूर्ण गेय रचना नहीं है कवि ने एक स्थल पर स्पष्टत: से कथा[४] कहा है। रुक्मिणी मंगल को भी कवि गेय रचना कहता है[५]। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये अधिकांशत: रचनाएं गेय हैं। किन्तु गेय का तात्पर्य उत्कृष्ट गेय से नहीं है। वस्तुत: इसका अर्थ लोक गेयता से है। मंगल सम्बन्धी रचनाएं लोकगेयता के अधिक समीप है। रुक्मिणी की प्रेम आख्यान मूलकता वस्तुत: लौकिक काव्यों के समीप अधिक है।

६- इनमें पात्रों की अधिकता नहीं मिलती। इनकि कथा मात्र निश्चित लक्ष्य तथा बिना कथा उलझावों के आगे बढ़ती है, अत: गौण पात्र प्राय: न्यून हैं। पार्वतीमंगल में शिव पार्वती प्रमुख पात्र हैं। गौण पात्रों में मयना, पर्वतराज, सप्तऋषि हैं। जानकी मंगल में राम और सीता प्रमुख पात्र हैं। जनक, परशुराम, विश्वामित्र, दशरथ आदि प्राय: गौण हैं। नेछू में राम, कौशिल्या के अतिरिक्त दशरथ, नाइन, आदि गौण पात्र हैं। रुक्मिणी में रुक्मिणी कृष्ण, प्रमुख पात्र हैं- धर्मधीर, इन्दुमती गौण हैं श्यामसगाई में कृष्ण राधा प्रमुख पात्र हैं। गौण पात्रों में यशोदा तथा कृष्णमात्र पत्नी हैं। रुक्मिणी मंगल में कृष्ण तथा रुक्मिणी प्रमुख एवं शिशुपाल, विप्र गौण पात्र हैं।

.....

३ जो यह लीला गावै चित दै सुनै सुनावै.

^ ^ ^ ^

रसिक जनन सो सेस कहै हरि लीला गावै.: पंचम अध्याय पंक्ति सं. ७८ तथा ७९५

४: ताते मैं यह कथा यथामति भाषा कीन्हीं : प्रथम अध्याय: पं.४०

५: विधिवत कियो विवाह, तिहु पुर मंगल छायो, जो यह मंगल गावै, चित दै सुनै सुनावै.

नन्ददास अपने प्रभु को यह मंगल गावै. : पंक्ति २६१, २६२, २६६.

रासपंचाध्यायी में कृष्ण, गोपियाँ प्रमुख हैं। गौण पात्रों में मदन, रति का उल्लेख है शुक, परीक्षित पुनः शुक पात्र हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कथा संकोच के साथ साथ पात्रों की भी न्यूनता मिलती है।

७- रुढियों का प्रयोग इन काव्यों में कथा रुढियों एवं काव्यरुढियों का प्रयोग अधिकाधिक मिलता है। कथा रुढियों में नायक या नायिका को फल प्राप्त कराने उनका उत्कर्ष तथा महत्व प्रतिपादित करने के लिए कथा रुढियों का प्रयोग हुआ है। नहछू में रामजन्म के अवसर पर नाउन को ठनगन, दशरथ का शुकहस्तदाना तथा लोहारिन, बरायन, अहिरिन, तंबोलिन, दहेडो, बोदा, दरजिन आदि के प्रसंग मायन [विवाह] से सम्बन्धित हैं। जानकी मंगल में लग्नपत्रिका का अयोध्या भेजना, पार्वतीमंगल में ब्याह सम्बन्धी रुढियों का प्रयोग, नन्ददास की रुक्मिणी मंगल में पत्र लेकर विप्र भेजना, देवी अम्बिका के मन्दिर में रुक्मिणी का जाना और उनका वरदान देना, श्यामसगाई में राधा का बहाना बनाकर मुक्ति हो जाना, गारुडी के रुप में कृष्ण का आना रुक्मिणी के अन्तर्गत स्वप्न में रुक्मिणी का कृष्ण को देखना, स्वप्नमिलन, ब्याह में सोमा ब्राह्मण का विश्वासघात, रासपंचाध्यायी में कामदेव का मुक्ति हो जाना पौराणिक कथारुढि आदि कथा रुढियों का प्रयोग मिलता है।

कथा रुढियों के साथ इन काव्यों में परम्परागत काव्यरुढियों का भी प्रयोग है। इन काव्यरुढियों की स्थिति इस प्रकार है। काव्य के आदि अन्त में मंगलाचरण तथा फलश्रुति, नगर का विस्तृत वर्णन, इस वर्णन का स्वरुप दो प्रकार का है। नगर की सम्पन्नता, ऊंची अट्टालिकाओं का एक ओर वर्णन है - दूसरी ओर उसकी चहल पहल का। नन्ददास निर्मयपुर नगर के वर्णन में केलि से युक्त कैलाशपर्वत के समान अट्टालिकाएं, शिखंडो से युक्त अमराइयाँ, फुलवारी, फुलमाला, शुक, सारिका, पिक, तोती, कपोत, कपोती, सारस, हंस, कमल, सरोवर आदि मिलते हैं। रुक्मिणी मंगल में द्वारिकापुरी का वर्णन करते समय कवि ने ऊंची अट्टालिकाओं का वर्णन किया है।

राजा का वर्णन- यह प्रसंग विशेष में दशरथ, जनक, रुक्मिणी के पिता, धर्मधीर नन्द, पर्वत राज आदि का उल्लेख मिलता है।

.....

१: रामलालनेछू छै. सं. ५१

विरह तथा शृंगार के प्रसंग प्रायः प्राचीन रूढ परम्परा से सम्बन्धित हैं। रुक्मिणी में कवि ने विरह के अवसर पर षट्ऋतु का वर्णन प्रस्तुत किया है। यह वर्णन पावस से शुरु होकर ग्रीष्म में समाप्त हो जाता है। शृंगार के अवसर पर वयः सन्धि अवस्था के अवसर पर नखशिख वर्णन रुक्मिणी में मिलता है। विप्रलोग के अवसर पर नन्ददास ने रासपंचाध्यायी में पौराणिक काव्यरुढि का प्रयोग किया है। गोपियाँ कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर मालति, यूथिका, जाति, केतकी, मुक्ताफल, केलि, मन्दार, कदंब, चन्दन, कदम्ब, निम्ब, अशोक, कमल, अनार तुलसी, कटहल, बट आदि वृक्षों को सम्बोधित करके कृष्ण के विषय में पूछती हैं। सम्प्रयोग की स्थिति भी प्रायः परम्परा का अनुमोदन करता है।

भक्ति सम्बन्धी रुढियां

इन काव्य रुढियों का प्रयोग मात्र भक्ति के ग्रन्थों में ही मिलता है शुद्ध काव्यों में इनका अभाव है ~

नायक को सर्वोच्च दैवी गुण से सम्पन्न मानना: कहीं भय के कृष्ण श्यामसगाई में वृषभानु पत्नी, रुक्मिणी मंगल में शिशुपाल, रुक्मिणी में स्वप्नमिलन, रास पंचाध्यायी में मदन पार्वतीमंगल में भी शंकर को पूर्ण व्यक्तित्व जानकी मंगल में धनुष को कटोरता तथा परशुराम का प्रसंग दैविकशक्ति से युक्त हैं। कथा में भक्ति का समावेश भी भक्तिरुढियों से सम्बन्धित है। रुक्मिणी का कृष्ण मिलन, गोपियों का कृष्ण के साथ कामकेलि क्रीडा को कवि ने आध्यात्मिक बताया है, लौकिक नहीं इन काव्यों में कहीं कहीं भक्तिसिद्धान्तों का भी प्रतिपादन मिलता है। विशेष रुप से रासपंचाध्यायी तथा रुक्मिणी में कवि ने काव्य एवं कथातत्व से पृथक अपने भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

कथा का लौकिक या पौराणिक रुप. इन कथाओं का स्वरुप ऐतिहासिक नहीं है। रुक्मिणी की घटना प्रायः कल्पित है। पार्वतीमंगल, जानकीमंगल तथा रुक्मिणीमंगल की कथा में लोकतत्व अधिक है। वस्तुतः ये रचनाएं लोक प्रचार के दृष्टिकोण से लिखी भी गई हैं। इनका आधार पौराणिक ही है। श्याम सगाई की घटना अन्यत्र नहीं उपलब्ध होती। वल्लभ सम्प्रदाय के तीन कवियों सूरदास, परमानन्ददास, तथा नन्ददास ने राधा कृष्ण व्याह विषयक पदों की रचना की है। यह प्रसंग राधा को स्वकीया बनाने की

के अनुसार राधा विवाहिता है, रासलीला नेहरू रामकथा से सम्बन्धित है। किन्तु लौकिकत्व की प्रेरणा से निर्मित हुई है। रासपंचाध्यायी में कवि ने भागवत प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रभाव कथन के साथ साथ इसके रचना शिल्प पर भी भागवत का प्रभाव स्पष्टत: लक्षित होता है। अध्यायों का विभाजन तथा घटनाओं का उसी रूप में चयन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्यामसगाई में राधा कृष्ण के व्याह का प्रेरक कवि रासपंचाध्यायी में राधा का नाम न लेकर भागवत से प्रभावित होकर केवल कृष्ण प्रिय गोपी का उल्लेख करता है।

अन्य इसके अतिरिक्त इन खंडकाव्यों की कतिपय शैलीगत विशेषताएं हैं

१- अध्याय विभाजन की ओर स्पष्टता नहीं मिलती। इनमें मात्र रासपंचाध्यायी में ही अध्याय विभाजन है जो कथा के विकास की दृष्टि से नहीं है। शेष रचनाओं में अध्याय विभाजन नहीं है।

२- इन खंडकाव्यों में छन्दों की विविधता का प्राय: अभाव है। रचना की लघुता कथात्मक काव्य के लिए एक प्रकार के छन्दों के प्रयोग की परम्परा के कारण प्राय: सम्पूर्ण रचना में समान छन्दों का ही प्रयोग मिलता है।

निष्कर्ष. सम्पूर्णत: यदि इन काव्यों के लक्षणों का निर्धारण करें तो वे इस प्रकार होंगे :-

१ नायक के महत्व का ~~मूल विष्णुत्व~~ प्रतिपादन। ~~जैसे को, ईश्वरत्व का प्रतिपादन करते हैं~~

२ कथा में गतिशीलता का अभाव तथा उनका अपेक्षाकृत छोटा होना।

३ आरम्भ में मंगलाचरण तथा अन्त में फलनियोजन।

४ काव्य के अन्तिम उद्देश्य के रूप में भक्ति की प्रमुखता।

५ गीतितत्व की प्रधानता तथा लोकपदों की समीपता।

६ रूढ़ियों का प्रयोग।

७ कथा का लौकिक या पौराणिक होना।

अन्य अध्याय छन्द तथा पात्रों की अल्पता।

एकार्थकाव्य

इसके अन्तर्गत तुलसीकृत बरवै रामायण को रखा जा सकता है। सम्पूर्ण रामकथा को आधार मानकर अति संक्षिप्त प्रबन्ध रूप में यह कृति लिखी गई है। सम्पूर्ण कथा को बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका तथा उत्तर काण्डों में विभक्त किया गया है। रामकथा लंकाकाण्ड में ही समाप्त हो जाती है। उत्तरकाण्ड में भक्ति सिद्धान्त एवं विनय सम्बन्धी कथन मिलते हैं। यदि लंकाकाण्ड को इसकी समाप्ति मान ली जाय तो रामकथा सम्बन्धी यह रचना ४२ बरवै छन्दों में समाप्त होती है।

किन्तु यह रचना सम्पूर्णतः एकार्थ काव्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। कवि ने कथात्मक कड़ियों को अस्पष्ट एवं विशृंखल बना दिया है। इस कृति के आधार पर रामकथा का अनुमान नहीं किया जा सकता। किष्किन्धा एवं लंकाकाण्ड में कथा का कोई संकेत है ही नहीं। कवि की मूलदृष्टि सौन्दर्य निरूपण की ओर अधिक लगी रही है। वस्तुतः इस काव्य की प्रवृत्ति मुक्तात्मक काव्य की ओर झुकी है।

तुलसीकृत रामाज्ञा प्रश्न का भी स्थान एकार्थकाव्य के ही अन्तर्गत आता है। इसकी सम्पूर्ण कथा सात काण्डों में विभक्त है, तथा सम्पूर्ण रचना दोहे में है।

प्रथम रचना छन्द प्रधान है। छन्दनामवाची रचनाएँ मुक्तक काव्य परम्परा में बहुत पहले से ही मिलने लगती हैं। बत्तीसपत्तसती, गाथा सप्तशती इसके अनन्य प्रमाण हैं। भक्तिकाव्य में छन्दनामवाची काव्यों के अन्तर्गत कवितावली बरवै, कुंडलिया रामायण, दोहावली आदि को रखा जा सकता है। दोहावली शुद्ध मुक्तक काव्य है तथा शेष कथात्मकता एवं काव्य की मुक्तकपूर्ण प्रकृति के मिश्रण के रूप में उपलब्ध होते हैं।

प्रबन्धात्मक या चरितात्मक गीतिकाव्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत प्रबन्धात्मक गीतिकाव्यों का एक पृथक श्रेणी मिलती है इसमें ४ ग्रन्थ रखे जा सकते हैं सूरसागर, परमानन्ददास सागर, गीतावली तथा कृष्णगीतावली। सूचीकृत रामगीतावली तथा कृष्णगीतावली का स्वरूप सूरसागर एवं परमानन्ददास सागर से भिन्न है। परवर्ती दोनों रचनाओं में पौराणिकता, सैद्धान्तिक विवेचन आदि अधिक है जब कि गीतावली एवं कृष्णगीतावली में शुद्ध, चरितात्मक गीतितत्व निहित है।

सूरसागर एवं परमानन्ददास सागर की स्थिति में प्रकाशित संस्करणों को देखते हुए अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सूरसागर मागवत श्रुमोदित विष्णु के चौबीस अवतार की घटनाओं से युक्त है। परमानन्दसागर मात्र कृष्ण के चरित्र को आधार बनाकर निर्मित की गई रचना है। इन काव्यों में कथावस्तु का स्वरूप इस प्रकार है -

सूरसागर -

सूरसागर की सम्पूर्ण कथा शिल्प की दृष्टि से चार भागों में विभक्त की जा सकती है :-

१ कृष्णकथा की भूमिका रूप में प्रयुक्त कथाएं
२ विवरणात्मक या परिचयात्मक कथा रूप
३ लीला सम्बन्धी प्रमुख कथाएं .
४ कथाहीन सैद्धान्तिक भक्ति विषयक प्रसंग .

१—कृष्ण कथा की भूमिका तथा परम्परा से सम्बन्धित कथाएं

कवि ने सूरसागर में भागवत पुराण को आधार मानकर काव्य रचने की चर्चा अनेक बार की है भागवत प्रसंग के अन्तर्गत कवि ने तीन भागवत के आधार पर वक्ता श्रोता के नियोजन की चर्चा की है

क विष्णु ने चार श्लोक ब्रह्मा को सुनाए थे

ख ब्रह्मा ने इसे नारद को बताया

ग नारद ने यह कथा व्यास को समझाई

व्यास ने इस कथा को द्वादश स्कन्धात्मक रूप देकर शुकदेव को कहा। सूरदास उसी को पदबद्ध रूप में गाने के लिए कहते हैं[1]। भागवत की एक दूसरी लौकिक परम्परा का भी कवि ने उल्लेख किया है उसके अनुसार व्यास ने भागवत को शुकदेव को पढ़ाया, शुकदेव ने परीक्षित को, सूत ने इसे शौनकादि ऋषियों से कहा तथा विदुर ने मैत्रेय को सुनाया। इस प्रकार सब के लिए उसका भागवत को गाकर सुनाने की बात सूरदास कहते हैं[2]। एक स्थल पर सूर ने शुक के यथातथ्य अनुकरण की चर्चा सूरसागर में की है। सूरदास स्पष्ट शब्दों में कहते हैं जैसे शुक को व्यास ने भागवत पढ़ाया था ठीक उसी क्रम में मैं इसे गाकर सुना रहा हूँ। एक अन्य स्थल पर जो वस्तुतः महाभारत की घटनाओं पर आधारित है, कवि महाभारत की चर्चा करता है[3], किन्तु यह चर्चा मात्र प्रासंगिक ही है। सांकेतिक रूप से भागवत शुक आदि का उल्लेख सम्पूर्ण सूरसागर में किया गया है[4]। इन कथनों से स्पष्ट है कि कवि सम्पूर्ण भागवत की कथा का प्रयोग करना चाहता है। इसके संदर्भ में दूसरी बात यह है कि उसने अपनी कृति को गान रूप में प्रस्तुत करने की भी चर्चा की है। इससे स्पष्ट रूप से इसे गीतिकाव्य माना जा सकता है। किन्तु कथात्मक या कथितात्मक की प्रधानता के कारण इसे स्पष्टतः कथात्मक या कथितात्मक गीति काव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

जहाँ तक परम्पराअनुमोदन का तात्पर्य है इस दृष्टि से भागवत इसका प्रमुख आधार है किन्तु काव्यकुशलता की दृष्टि से भागवत के ये संदर्भ मात्र परिचयात्मक

१: भागवत प्रसंग पद सं. २२४

२: भागवत प्रसंग पद सं. २२७

३: भारत माहिं कथा यह विस्तृत कहत होइ विस्तार
सूरमकत वत्सलता वरनी सब कथा को सार ।

४: भागवत का संदर्भ सूरसागर पदों में उल्लिखित है पद सं. २२६, २३०, २३२,

एवं काव्यशैली से हीन कोटि के हैं।भागवत मूल्यवान घटनाओं की सूची इस प्रकार है

प्रथम स्कन्ध

* .....

भागवत प्रसंग, भागवत कौन, श्री शुकजन्म कथा, भागवत के वक्ता श्रोता सूत शौनकादि संवाद, व्यास अवतार, भागवत अवतरण का आशय, नाम माहात्म्य मोक्षोपदेश, मोक्ष का देह त्याग, भगवान कृष्ण का द्वारिका गमन, कुन्ती विनय, धृतराष्ट्र का वैराग्य तथा वनगमन, हरिविलोग, पाँडव राज्य का त्याग तथा उत्तरगमन, अर्जुन का द्वारिका जाना तथा शोक समाचार, गर्भ में परीक्षित की रक्षा तथा उनका जन्म. परीक्षित कथा

द्वितीय

द्वितीय स्कन्ध

****

नृप विचार श्री शुकदेव के प्रति परीक्षित वचन, श्री शुकदेव वचन शुकदेव, नारद, तथा ब्रह्मा संवाद, चौबीस अवतार वर्णन, ब्रह्मा की उत्पत्ति

तृतीय स्कन्ध

****

श्री शुक वचन, उद्धव का पश्चाताप, मैत्रेय विदुर संवाद, विदुरजन्म सनकादि अवतार, रुद्रउत्पत्ति, प्रजापति दक्ष प्रजापति तथा मनु की उत्पत्ति सुर असुर उत्पत्ति, वाराह अवतार, जय विजय कथा, कपिलदेव अवतार तथा कर्दम का शरीर त्याग, देवहूति कपिल संवाद.

चतुर्थ स्कन्ध

****

दत्तात्रेय अवतार, यज्ञपुरुष अवतार, पार्वती विवाह, ध्रुवकथा, पृथु अवतार, पुरंजन कथा

पंचम स्कन्ध

****

ऋषभदेव अवतार, जड़भरत कथा, जड़भरतराजा संवाद,

इन्द्रवहित्याकथा ,

सप्तमस्कन्ध
.....

श्रीनृसिंहअवतार, भगवान का श्री शिव को साहाय्य ,नारद उत्पत्तिकथा,

अष्टमस्कन्ध
.....

गजमोचनअवतार, कूर्मअवतार, शङ्खउपशङ्खवध, वामनअवतार, मत्स्यअवतार,

नवम स्कन्ध
.....

राजा पुरुरवा का वैराग्य ,च्यवनऋषि की कथा, सुधन्वाविवाह ,
अम्बरीषकथा, सौभरिऋषि की कथा ,श्री गंगाआगमन , परशुरामअवतार .

दशम स्कन्ध
.....

काश्य का दहन ,द्वारिका प्रवेश ,द्वारिका शोभा ,रुक्मिणी
परिणय , प्रद्युम्नजन्म , जाम्बवन्ती और सत्यभामा का विवाह , शतधन्वावध
पंचपटरानी विवाह ,भौमासुरवध, तथा कल्पवृक्ष का आनयन ,रुक्मिणीपरीक्षा
प्रद्युम्न विवाह , नृगराज उद्धार , पौण्ड्रकवध, शतधिवधध, साम्बविवाह ,
नारद गर्वभंग ,रुक्मिणीप्रश्न , उषा विवाह , जनक श्रुतदेव और श्रीकृष्णमिलाप
भस्मासुरवध, प्रद्युपरीक्षा, अर्जुन को निज रूप दर्शन ,तथा ऋतुओं के पुत्र का
आनयन .

एकादश स्कन्ध
.....

नारायण अवतार, हंसअवतार,

द्वादश स्कन्ध
.....

बुद्धअवतार, कल्कि अवतार वर्णन , राजा परीक्षित हरिपदप्राप्त
वंशवर्णनकथा .

~~विवरणात्मक~~

2- विवरणात्मक कथारूप
.....

उदात्त हैं। यद्यपि उनमें वर्णन अधिक है और गीति के तथ्य अत्यल्प हैं फिर भी काव्य के उत्कृष्ट गुणों की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है ।

नवम् स्कन्ध
.....

रामावतार की कथा बालकांड, अरण्यकान्ड, किष्किन्धाकांड सुन्दरकांड, लंकाकांड ।

दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध
.....

पूतनावध, शोधरंगमंन, कागासुरवध, सालिग्राम प्रसंग शकटासुरवध, तृणावर्तवध, यमलार्जुनउद्धारकथा, बकासुरवध, ब्रह्मबालक वत्सहरण वत्सहरण की दूसरी लीला, धेनुकवध, कालीदहजलपान, कालीदमनलीला, दावानल पानलीला, प्रलम्बवध, चीरहरणलीला, यज्ञपत्नीलीला, गोवर्द्धनपूजा तथा गोवर्द्धन धारण, वरुण के पास से नन्द को छुड़ाना, श्रीकृष्णविवाह वर्णन, शिवाधार शापमोचन, शंखचूड़वध, श्रीकृष्णजेवनार, विषमासुरवध, केशीवध, व्योमासुरवध, अक्रूरव्रजागमन, श्रीकृष्ण का मथुरा गमन, रजकवध, कुब्जावध धनुर्भंगदर्शन, यज्ञोपवीतउत्सव, नन्दविदाई, नन्दव्रजागमन ।

दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध पूर्वधि
.....

दन्तवक्रवध, सुदामाचरित्र, शिशुपालवध, शाल्ववध, भौमासुरवध द्वारका में श्रीकृष्ण यशोदा तथा गोपीमिलन, श्रीकृष्ण का द्वारका आगमन, मत्स्यासुरवध,

2 - सामान्य कथात्मक प्रसंग
.....

यह समूचा प्रसंग गीतिकाव्य की दृष्टि से उत्कृष्टकोटि के हैं कवि की प्रतिभा ऐसे प्रसंगों में प्रत्यक्षतः दृष्टिगत होती है

नवम् स्कन्ध.
.....

केवल अयोध्याकान्ड

श्रीकृष्णजन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्णगाठ, घुटने के बल चलना, पाव चलना, बाल छवि वर्णन, कनछेदनप्रस्ताव, चूड़ प्रस्ताव, वर्णन वर्णन, प्रथम माखनचोरी ऊखलबन्धन, गोदोहन, वृन्दावनप्रस्ताव, गोचारण, वृजप्रवेश शोभा, मुरलीस्तुति गोपिकावचन, श्रीराधाकृष्णालाप, रासविलास, गृहगमन, राधा का यशोदा गृह गमन, कृष्ण का राधा गृह गमन, राधा का पुनरागमन, परस्पर केलि तथा विहार, चीरहरलीला, रासपंचाध्यायी का आरम्भ, विलाप, श्रीकृष्ण का अन्तर्द्धान होना, गोपीगीत, रासनृत्य, जलक्रीडा, गोपी वचन मुरली प्रति, मुरलीवचन श्रीकृष्ण का वृजागमन, पनघटलीला, दानलीला, गोष्ठलीला, यमुनागमन, गोपसम्मागम, मानलीला, नयनसमय के पद, वामसमय के पद, मानलीला तथा दम्पतिविहार, खंडिता प्रकरण, राधा का मान, राधा का मध्यम मान, श्यामागृहगमन, श्यामा के घर सखियों का आगमन, वृन्दागृहगमन, वृन्दा के घर से प्रस्थान के घर में कृष्ण का जाना, कोपमानलीला तथा इसकी गुरुमानलीला, फूलन, वसन्त तथा होली, स्वप्नदर्शन, विरहवर्णन, चन्द्रोपालम्भ, उद्धवकृष्णागमन श्यामरंग पर तर्क, यशोदा का संदेश, उद्धव आगमन, भ्रमरगीत सन्देश, उद्धव प्रत्यागमन।

8- कथाहीनप्रसंग

****

ये प्रसंग मात्र तीन स्कन्धों में ही प्राप्त हैं। इनके आधार पर कवि के भक्तिविषयक दृष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है। ये इस प्रकार हैं

प्रथम स्कन्ध.

****

विनय, मंगलाचरण, स्तुतिउपासना, भक्तवत्सलता, माया वर्णन, अविद्यावर्णन, कृष्णवर्णन, नाममहिमा, विनती, नाम माहात्म्य, मनप्रबोध चित्तबुद्धिसंवाद।

द्वितीय स्कन्ध

****

नाम माहात्म्य, अनन्यभक्ति की महिमा, हरिविमुख की निन्दा सत्संग महिमा, भक्तिसाधन, वैराग्यवर्णन, विराट्रूप वर्णन, आरती चतुःश्लोकी श्रीभुवनवाक्य

तृतीयस्कन्ध

भक्तिविषयक प्रश्नोत्तर , भगवान का ध्यान , चतुर्विधभक्त हरिविमुखनिन्दा , भक्तमहिमा ।

परमानन्दसागर

इस ग्रन्थ की स्थिति सूरसागर से कुछ भिन्न है । परमानन्ददास ने कृष्णलीला मात्र को ही आधार बनाया है । फलत: सूरसागर की भाँति इनके काव्यसंग्रह में निरर्थक , प्रसंग अप्राप्य हैं । श्रीकृष्ण की कथा को मूलाधार बनाकर इन्होंने अपना काव्य प्रस्तुत किया है । सूर के अतिरिक्त भी इनके पदों में साम्प्रदायिक उत्सव विषयक पद प्राप्त हैं । इनके सम्पूर्ण पद साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है :-

१ कृष्णचरित सम्बन्धी पद ।

२. नित्यसेवा तथा उत्सवविषयकपद ।

१ कृष्णचरित्र सम्बन्धी पद

इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के प्रसंग मिलते हैं -

क . कथात्मक प्रसंग
ख . दार्शनिकथात्मक प्रसंग
ग . विभिन्न पर्व विषयक प्रसंग

क. कथात्मक प्रसंग .

इसके अन्तर्गत निम्न कथाएं आती हैं

नवकुवलयउद्धार , माखनलीला , अघवध , गोवर्द्धनलीला , तथा इन्द्रमानभंग एवं मथुरागमन प्रसंग

ख. दार्शनिकथात्मक प्रसंग .

श्रीकृष्णजन्माष्टमी की बधाई , नन्दमहोत्सव , पलना, अन्नप्राशन, कनछेदन , कावट , भूमि पर बैठना , देहली लंघन, मृत्तिकाभक्षण , माता की अभिलाषा , बालक्रीडा , पाँव उठायने के पद , माखनचोरी, भोजन के लिए आह्वान , दधिमंथन , गोदोहन , गोचारण , छटरी , उराहने के पद राधा की बधाई , राधा जी के पलना के पद , दानलीला , झूलने के पद

राधा जी के पलना के पद ,दानलीला ,होली के पद,रासलीला ,व्याह के पद, धमार , स्वामी जी के आत्मनिवेदन , सख्यताबोधक पद,स्वामिनी जी की उत्कृष्टता ,मानाफनोदन ,अभिसार ,मथुरा प्रवेश, नन्द का गोकुल प्रत्यागमन ।

ग विभिन्न पर्व सम्बन्धी प्रकार

श्री वामन जी के पद ,विजयदशमी के पद,दशहरे के पद ,धनतेरस के पद , रूपचतुर्दशी के पद , गोपाष्टमी के पद , देवप्रबोधिनी के पद ,मोगा संक्रान्ति के पद ,मकर संक्रान्ति के पद , वसंतपंचमी के पद , श्री रामनवमी के पद ,आचार्य जी की बधाई , श्री नृसिंह चतुर्दशी के पद ।

२ नित्य सेवा कीर्तन सम्बन्धी पदों की स्थिति प्राय: इसी प्रकार है उनके भिन्न नाम किए जा सकते हैं

क - कृष्ण की नित्य नैमित्तिक लीला विषयक पद . जगाने के पद,सेंडिता के पद, कलेऊ के पद , ग्वाल के पद, शाक के पद , बांकी के पद,राजभोग के पद , पौढाने के पद , संयम (शयन) समय के पद , उत्थापन पौढिये के पद , धेनु के पद, कारु के दूध के पद, बीरी के पद, बिदा आकर्षण के पद, सेंडिता के पद मान छुटिबे के पद , पनघट के पद, कुंज के पद, मौर के पद ,

ख- कृष्ण के स्वरूप एवं अलंकरण विषयक प्रकार शृंगार के पद,पिटारा के पद, किरीट के पद, आरती के पद ,चन्दन के पद,स्नानयात्रा के पद, रथयात्रा के पद, नाव यात्रा के पद, मन्दिर की शोभा , झूलनी घटा के पद , श्यामघटा के पद. झूलनी के पद , फूल मंडली के पद ।

ग- उत्सव विषयक पद मंगल आरती के पद , देवी पूजन के पद ,अक्षयतृतीया संवत्सर के पद , पवित्रा के पद , हिंडोला के पद , राखी के पद ,मलहार के पद,।

घ- स्तुति विषयक

श्री महाप्रभुस्मरण , श्री यमुना जी के पद , श्री गंगा जी के पद , श्री व्रजभक्त के भोजन के पद ,व्रजभूमि के प्रति आस्था , व्रजमाहात्म्य , व्रजवासी माहात्म्य ।

ङ- कथाधीन भागवत और प्रेमभक्ति की महत्ता ,गोपी प्रेम महिमा , राधावंदना नाम माहात्म्य , सद्गुरुभक्ति,माहात्म्य विनती , सम्प्रदाय के पद ,इष्टकूट ।

१ परिचयात्मक कथारूप ..... परिचयात्मक कथारूप मात्र सूरसागर में ही प्राप्त है। ऊपर कहा जा चुका है कि इनका आधार भागवत है। परिचयात्मक कथारूप की विशेषता है मात्र भागवत की कथा का सामान्य विवरण प्रस्तुत करना कवि प्रत्येक अवतारों एवं स्कन्धों में उक्त कथा परीक्षित का स्मरण करता है।

द्वितीय स्कन्ध
.....

शुकदेव हरि चरननि सिरनाइ। राजा सों बोल्यो या भाइ।
तुम कह्यो सप्त दिवस मध आइ। कहौ कथा सुनौ चितलाइ[1]।

तृतीय स्कन्ध
.....

शुकदेव हरि चरननि सिर नाइ। राजा सों बोल्यो या भाइ।
कहौ हरि कथा सुनौ चितलाइ। सूरदास हरि के गुन गाइ[2]।

चतुर्थ स्कन्ध
.....

शुक हरि चरनन कौं सिर नाइ। राजा सों बोल्यो या भाइ।
कहौ हरि कथा सुनौ चित लाइ। सूर तरौ हरि के गुन गाइ[3]।

पंचमस्कन्ध
.....

हरि चरननि शुकदेव सिरनाइ। राजा सों बोल्यो या भाइ।
कहौ हरि कथा सुनौ चितलाइ। सूर तरौ हरि के गुन गाइ[4]।

षष्ठस्कन्ध
.....

शुक हरि चरननि कौं सिर नाइ। राजा सों बोल्यो या भाइ।
कहौ हरि कथा सुनौ चित लाइ। सूर हरि के गुन गाइ[5]।

सप्तमस्कन्ध
.....

हरि चरननि शुकदेव सिर नाइ। राजा सों बोल्यो या भाई।
कहौ सो कथा सुनौ चितलाइ। सूर तरौ हरि के गुन गाइ[6]।

.....

१: द्वितीय स्कन्ध प. सं. १
२: तृतीय स्कन्ध : प. सं. १
३: चतुर्थ स्कन्ध प. सं. २
४: पंचमस्कन्ध : प. सं. १.
५: षष्ठ स्कन्ध प. सं. १
६: सप्तम स्कन्ध, प. सं. १

अष्टमस्कन्ध

हरि चरनन्हि सुकदेव सिर नाइ । राजा सौं बोल्यौ या भाइ ।
कहौ हरि कथा सुनौ चितलाइ । भव तरौ हरि के गुन गाइ ।[1]

नवम स्कन्ध

सुकदेव हरि चरनन्हि सिर नाइ । राजा सौं बोल्यौ या भाइ ।
कहौ हरि कथा सुनौ चितलाइ । भव तरौ हरि के गुन गाइ ।[2]

दशमस्कन्ध

इसमें इस प्रकार की विवरणात्मकता नहीं मिलती यद्यपि आरम्भ में भागवत माहात्म्य का वर्णन है फिर भी उसका क्रम पृथक है। आरम्भ में भागवत के वक्ता श्रोता की परम्परा का संकेत है, दूसरे पद में मात्र एक पंक्ति में परम्परा का वह संकेत करता है –

जैसे सुक नृप कौं सुनवायौ । जहाँ जहाँ ह्यौं ही कहि गायौ ।[3]

एकादश स्कन्ध

इसमें शुक एवं परीक्षित का उल्लेख नहीं मिलता, मात्र दो स्थलों पर 'कहौ सो कथा सुनौ चितधार-' का उल्लेख मिलता है।[4]

द्वादश स्कन्ध

सुकदेव हरि चरनन्हि सिर नाइ । राजा सौं बोल्यौ या भाइ ।
कहौ हरिकथा सुनौ चितलाइ । भव तरौ हरि के गुन गाइ ।[5]

दशमस्कन्ध को छोड़कर अन्य सभी विवरणात्मक हैं, और सभी के आरम्भ में शुकदेव और परीक्षित का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

२- इन विवरणात्मक या परिचयात्मक प्रसंगों की छन्द संख्या अत्यधिक कम है। प्रसंगों की दृष्टि से दशम स्कन्ध की तुलना में प्रसंग कहीं अधिक हैं किन्तु

---

१ अष्टमस्कन्ध प. सं.१
२ नवम स्कन्ध . प. सं.१
३ दसम स्कन्ध प. सं. २ .
४ एकादश स्कन्ध प. सं.१,४ .
५ द्वादश स्कन्ध प. सं. १ .

इनमें कथा का विकास, विश्लेषण, प्रयोग किसी में भी मौलिकता नहीं मिलती। एक ही प्रकार की कथा को सामान्य वृत्ति से कवि दुहराता है। ये मुख्य कथा के स्मरक प्रसंग को भी कोटि में नहीं रखी जा सकते। भूमिका की दृष्टि से इनका सामान्य महत्व है -

३ — ये प्रसंग अवतार कथाओं से सम्बद्ध हैं। विष्णु के अवतार परम्परा से सम्बन्धित मात्र हैं। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण एवं बुद्ध [का तत्सम्बन्ध जीवनीपरक अवतारों से है] तथा भविष्य अवतार की संख्या १४ है। ये इस प्रकार हैं- सनकादि कपिल, हंस, नारायण, ऋषभदेव, नारद, धन्वंतरि, दत्तात्रेय, पृथु, यज्ञपुरुष, कल्कि, मनु, इक्ष्वाकु, तथा ध्रुव। इस प्रकार कृष्ण को मिलाकर इन अवतारों की संख्या २४ है जो भागवत पुराण के ठीक अनुकूल है।

४ - अवतार से सम्बन्धित इन कथानकों की मूलदृष्टि में नवीनता या मौलिकता का अभाव है। प्रत्येक अवतार का आरम्भ वह हरिहर, हरिहरि, सुमिरन करो से शुरु करता है। निष्क्रिय कथानक मात्र कुछ थोड़ी पंक्तियों के बाद समाप्त हो जाता है। कवि को उसके प्रयोजन से कोई रुचि नहीं है। वह अन्त में और कह्यौ भागवत अनुसार कहकर प्रसंग को समाप्त कर देता है

निष्कर्ष. इन प्रसंगों का काव्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। सूरसागर की महत्ता इनसे नहीं निर्धारित की जा सकती। ये सूरसागर को भागवत का अनुकरण करने की ओर संकेत करते हैं। इनमें न कथात्मकता की ओर कवि की दृष्टि गई है और न [इसमें] गीति के तत्व ही उभर सके हैं। भागवत अनुमोदित अवतार सम्बन्धी सामान्य कथा का विवरण देना यहां कवि का मूल्य उद्देश्य रहा है।

२- विवरणात्मक कथारूप

सूरसागर नवम स्कन्ध, दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध तथा परमानन्दसागर में कथात्मक प्रसंग को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है इस विवरणात्मक कथारूप की निम्न विशेषताएं हैं

ये प्रसंग अनुरंजन तथा शौर्यमूलक भावों से सम्बन्धित हैं कथात्मक

१ - ये प्रसंग अनुरक्षण तथा शौर्यमूलक भावों से सम्बन्धित हैं, कथात्मक दृष्टि से कृष्ण का व्यक्तित्व शौर्य एवं वीरता मूलक भावों का प्रतिनिधित्व करता है। अनुरक्षण, भक्तों का उद्धार, पापक्षमन, पृथ्वी से भारवक्रता का निवारण आदि इन प्रसंगों के मुख्य भाव हैं। कथात्मकता की दृष्टि से कवि कथा का एक सामान्य परिचय देकर उससे सम्बन्धित भावों को तीव्र बनाता है। ये कथाएँ प्रौढ़ पैमाने भागवत अनुमोदित हैं। किन्तु भागवत जैसी पौराणिक कथाशिल्पता का इनमें अभाव है कवि कथा का विस्तार नहीं करता है। कथा के मूल के निहित भाव को निरन्तर तीव्र बनाने का प्रयत्न करता है।

२- गीतात्मकता की दृष्टि से ये पद गेय हैं। इनकी रचना छोटे गेय पदों में हुई है। इन प्रसंगों में एक छोटे कथानक को लेकर एक निश्चित पद में ही पूर्ण कर दिया गया है। इस प्रकार प्रत्येक पद मुक्तक गीतिकाव्य की विशेषताओं से मंडित है, जहाँ पर कथात्मकता अधिक प्रबल हो उठी है। कवि ने गीतितत्व का त्याग करके वर्णनात्मक शैली एवं छन्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार गोधन अपहरण, यमलार्जुन उद्धार की दूसरी लीला, अघासुरवध, ब्रह्मा, बालक, वत्सहरण, वत्सहरण दूसरी लीला, कालियनाग पाश दूसरी लीला आदि प्रसंग कथात्मक प्रवृत्ति के होने के कारण गीतात्मक छन्द योजना के अनुकूल नहीं हो पाये जाते हैं।

३ -जहाँ तक कवि के वैयक्तिक भावों का प्रश्न है इन प्रसंगों में उसको आत्मरक्षा समाज सुरक्षा, लोकहित, सम्बन्धी भावों की प्रबलता की मिलती है प्रेम क्रीडा, रमण आदि प्रवृत्तियों के अभाव में कवि विस्तृत लोक सुरक्षा की भावना को अपने गीतिमूलक रचनाओं का आधार मानता है।

निष्कर्ष इस प्रकार कृष्णचरित विषयक कथानक वस्तुनिष्ठ, एवं चरितात्मक होते हुए भी गीतितत्व से युक्त हैं, इनकी शैली अधिकाधिक गीतात्मक है। वस्तुनिष्ठता के दृष्टिकोण से इन गीतों की मूल भावना शौर्य एवं वीरता मूलक भावों को प्रकट करता है तथा आत्मनिष्ठता के दृष्टिकोण से इनमें आत्मरक्षा तथा समाज सुरक्षा की भावना निहित है।

३-सामान्य कथात्मक प्रसंग - ये प्रसंग कथात्मकता की दृष्टि से अधिक विकसित नहीं हैं किन्तु मार्मिक गीतिवत्व एवं काव्य की उच्चता की दृष्टि से सूर एवं परमानन्ददास के काव्य के मुख्याधार हैं। इन पदों में तीन प्रकार के भाव अधिक महत्वपूर्ण हैं वात्सल्य, सख्य, तथा मधुर।

१-वात्सल्य - वात्सल्य जीवन से सम्बन्धित सूरसागर एवं परमानन्ददासागर में दो प्रकार के भाव हैं। प्रथम का सम्बन्ध सुरबध से है तथा जिनमें विशेष प्रधान कथाएं हैं। इन कथाओं से वात्सल्यभाव की व्यंजना न होकर उदात्त की व्यंजना होती है। किन्तु इन दोनों रचनाओं में कृष्णचरित से सम्बन्धित उदात्तभाव से भिन्न शुद्ध वात्सल्यभाव की अभिव्यक्ति मिलती है।

क. सम्पूर्ण वात्सल्य भाव कृष्ण को केन्द्रित करके अभिव्यक्त हुआ है इस वात्सल्यभाव के भोक्ता, यशोदा, नन्द, गोपी, गोप तथा भक्त एवं कवि हैं।

ख. इस वात्सल्य का आरम्भिक स्वरूप लौकिक है। कृष्ण लोक जीवन के बीच सामान्य वात्सल्य भाव की लीला करते हैं। लीला के ये भाव कई भागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

अ. उत्सव एवं मंगल से सम्बन्धित हर्ष के भाव।

आ. कृष्ण की रूपाकृति से प्रभावित भोक्ताओं के आनन्द का भाव

इ. कृष्ण की क्रियाओं से सम्बन्धित विह्वलता का भाव।

अ. उत्सव एवं मंगल से सम्बन्धित हर्ष का भाव - इस भाव के प्रत्यक्ष आलम्बन कृष्ण न होकर वे उत्सव हैं, जो कृष्ण जन्म अवसर, विकास से सम्बन्धित विभिन्न अवसरों पर व्यवहृत हुए हैं। प्रायः सूर और परमानन्ददास के पदों में ये इस प्रकार हैं- नन्द महोत्सव, छठी पूजन, पलना, अन्नप्राशन, कनछेदन, नामकरण तथा जन्म महोत्सव, बधाई, वर्षागांठ। ये प्रसंग हर्ष एवं उत्सव सम्बन्धी आनन्द के भावों से सम्पृक्त: ओतप्रोत हैं।

आ कृष्ण की रूपाकृति से प्रभावित आनन्द के तत्व

सूरसागर एवं परमानन्ददास सागर के वात्सल्य भाव के पदों में रूप के प्रति आकर्षण का भाव अधिक है। इससे सम्बन्धित पदों की संख्या भी अधिक है। इन पदों के मूल में आत्मिक आनन्द का भाव निहित है,

सूरसागर में वात्सल्यमूलक पदों में कुछ ऐसे भी पद हैं जिनमें गोपवधूओं की वात्सल्य का भी संकेत मिलता है। किन्तु ये पद अत्यल्प ही हैं।

३ - कृष्ण की क्रियाओं से सम्बन्धित वात्सल्य के भाव यहाँ अधिक हैं। इन क्रियाओं में करवट, भूमि पर बैठना, घुटनों के बल चलना, देहली उल्लंघन, मुक्तिका भक्षण, बाललीला के संदर्भ में प्रयुक्त विभिन्न क्रियाएँ प्राय: वात्सल्य के भावों से युक्त हैं।

४ - कृष्ण के संदर्भ में शुद्ध बाललीला से सम्बन्धित पद १ वर्ष से ५ वर्ष तक के ही हैं। ५ के बाद से १० वर्ष तक की अवस्थाओं में वात्सल्य के भाव प्राप्त होते हैं। १० के बाद १५ तक किशोरावस्था की शृंगारलीला है। यहाँ राधा और कृष्ण प्राय: १० वर्ष की अवस्था में ही परस्पर वात्सल्यात्मक प्रेमभाव से आकर्षित हुए हैं।

५. कथात्मकता. वात्सल्यभाव के पदों में जहाँ शुद्ध वात्सल्य का प्रश्न है उसमें कथा विविधता का अभाव है। वात्सल्य भाव के पदों में निहित कथा अनुबंध सम्बन्धी घटना को छोड़कर कृष्ण के विकास के संक्षिप्त भाव पर केन्द्रित है। कृष्ण का यह भावनामूलक विकास से कथात्मकता की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझा जा सकता है।

कृष्ण की वात्सल्य कथा से सम्बन्धित विभिन्न पात्र. इन पात्रों में नन्द, यशोदा, देवकी वसुदेव, गोप, गोपवधूएँ आदि सभी हैं। इनमें प्राय: हर्ष उल्लास, पुलक, आनन्द, आसक्ति के भाव मिलते हैं। वात्सल्यभाव के पदों में भक्तों तथा कवियों में भी ठीक यही भाव है। किन्तु अनेक स्थलों पर भक्तों में श्रद्धा एवं भक्ति के भी भाव देखे जाते हैं। कहीं कहीं शंकर, ब्रह्मा देवगण आदि भी गोप गोपियों तथा भक्तों के विभिन्न भावों से प्रभावित होते हैं।

किशोरलीला. किशोरलीला के भाव वात्सल्य से सम्बन्धित हैं। अनुबंध सम्बन्धी घटनाएँ इसमें भी प्राप्त हैं। इस कथा के मुख्य आलम्बन कृष्ण बलराम तथा ग्वाल बाल हैं। यशोदा, नन्द, गोपवधू एवं गोपिकाओं का स्थान गौण है। यशोदा, नंद

१: सूरसागर सभा, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध पृ. सं. २७२, २७३, २७४, २७५, २९८, ३००, ३०१, ३०५, ३३६. आदि

एवं गोपबधुएं इस भाव के पदों में सामान्य महत्व के हैं। इसमें रूप चित्रण एवं क्रियाओं की बहुलता है। रूपसम्बन्धी पद अत्यल्प हैं। ये पद कृष्ण के आभूषण वस्त्र विन्यास, मुरली, रूसज्जा एवं आकर्षण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसीलिए इस प्रसंग में कलेवा, हाक, माखनचोरी, उलहन, गोदोहन, गोचारण, वृन्दावन प्रस्थान आदि लीलाएं आती हैं। परमानन्ददास ने इस प्रसंग में कई नए प्रसंगों को जोड़ा है। पक्षी उड़ाने के पद तत्कालीन सामाजिक प्रसंग से सम्बन्धित है। इन पदों के मुख्य भाव का जहां तक सम्बन्ध है इनमें प्रीति एवं सौहार्द की प्रमुखता है। किशोरावस्था की लीला में स्वाभाविक सम्बन्धी घटनाओं का अधिकता है।

प्रौढावस्था की लीला प्रौढावस्था की लीला तथा तत्सम्बन्धी पद गीति काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। यद्यपि सम्पूर्ण पदों में विप्रलम्भता है। किन्तु यह प्रेम एवं शृंगार के भाव से ओत प्रोत होने के कारण गीतिशैली के पूर्ण उपयुक्त बन गई है। विषयवस्तु, भाव एवं भाव के आधार की दृष्टि से इनकी विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

विषयवस्तु – कृष्ण की युवावस्था सम्बन्धी सम्पूर्ण लीला विषयक कथानक इससे सम्बद्ध है। कथा की दृष्टि से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१ प्रबाहपूर्ण कथानक
२ खंडित कथानक या स्वतंत्र कथानक.

प्रबाहपूर्ण कथानक मुरली स्तुति, गोपिका वचन, राधाकृष्ण मिलाप रास विलास, गृह गमन, राधिका का यशोदा गृहगमन, राधागृहगमन, राधिका का पुनरागमन, कृष्ण और गोपियों का यमुनागमन मुरली सम्मेलन लक्ष्मणलीला, दंपतिविहार, खंडिता प्रकरण, राधा का मान, मधुपान, मध्यमान, बृहत्मान, कृष्णागृहगमन, कृष्णा के घर सखियों का आगमन वृन्दागृहगमन, वृन्दा के गृह से प्रेमदा के गृहगमन, कृष्ण का मथुरा गमन, व्रजदशा, परस्पर नन्द यशोदा वचन, वंशीवचन, गोपीविरह वर्णन, स्वप्नदर्शन चन्द्रोपलम्भ, उद्धव कृष्ण आगमन, यशोदा का सन्देश उद्धव का आगमन, प्रेमलीला, संदेश, उद्धव प्रत्यागमन कुरुक्षेत्र में यशोदा, गोपी कृष्ण मिलन

स्वत: पूर्ण कथानक ..... सूरसागर तथा परमानन्ददासजी सागर में कुछ ऐसी लीलाएं मिलती हैं जो अपने आप में पूर्ण एवं गठित कथानक तत्व से युक्त हैं। बालावस्था सम्बन्धी शृंगारलीलाएं, चीरहरणलीला, रासपंचाध्यायी, पनघटलीला, दानलीला ग्रीष्मलीला, कुंज तथा वसन्तलीला इन्हीं को स्वतंत्र विषय बनाकर भी अनेक लीलाकाव्य इन कवियों द्वारा रचे गए हैं।

१ प्रबन्धपूर्ण कथानक के तीन भागों में विभक्त है।

क परस्पर विलास क्रीडा विषयक कथाएं

ख. विलासोत्सुक कथाएं .

ग . परस्पर विलासक्रीडा से विमुक्त होने के कारण दु:खात्मक कथाएं

क . परस्परविलास क्रीडा के प्रसंग सूरसागर एवं परमानन्दसागर में अधिक हैं। श्रीकृष्ण की मुरली, मादक वातावरण की सृष्टि में सहायक है राधा और कृष्ण परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं। उनका मिलाप, सुख, विलास में परिणत हो जाता है। राधाकृष्ण के सुखम समागम का वर्णन सूरसागर में कई स्थलों पर है।

कृष्ण राधा को छोड़कर गोपियों की ओर आकृष्ट होते हैं। सुषमा, वृन्दा, प्रभुदा आदि इसी श्रेणी में हैं।

प्रेम को तीव्र करने के लिए शृंगार के शास्त्रीय वातावरण का विधान मान एवं खंडिता के प्रकरण में मिलता है।

अन्तत: प्रेम को और अधिक तीव्र बनाने के लिए कृष्ण के प्रवास की स्थिति की योजना मिलती है।

इस प्रेम को और भी उत्कट बनाने के लिए एक लम्बी अवधि के बाद कुरुक्षेत्र मिलन दिखाया जाता है। यहां का चिरकालिक विरह प्रेम इस दृष्टि से सर्वाधिक उत्कृष्ट है इस प्रकार के प्रबन्धपूर्ण कथानक में कई स्तर भेद दिखाई पड़ते हैं।

क प्रथम दर्शन तथा प्रेम एवं विहार .

ख. मान तथा खंडिता आदि प्रकरण से उत्पन्न विरह

ग . प्रेम की तीव्र भाव योजना .

घ . प्रवासजन्य वियोग

ङ. कुरुक्षेत्र मिलन के अवसर पर प्रेम सम्बन्धी तीव्रता का उच्चतम भाव दिखाई पड़ता है

स्वतः पूर्णकथानक

.....

इसमें की चार लीलाएं लौकिक दृष्टि से नग्न शृंगार का प्रतिनिधित्व करती हैं- चीरहरणलीला, रासपंचाध्यायी, पनघट तथा दानलीला। चीरहरणलीला में कृष्ण के प्रति लज्जा का त्याग करके सर्वात्म समर्पण की भावना निहित है रासपंचाध्यायी में लौकिकबन्धन का त्याग एवं मात्र कृष्णासक्ति का संकेत है पनघट लीला में कृष्ण की अनेक प्रकार की यातनाएं स्वच्छन्द (Romantic love) प्रेम की सूचना देती है। किसी का घड़ा फोड़ देना, किसी का अंग छू लेना किसी की बाँह थाम्हना आदि प्रेम के अनेक वासनात्मक चित्र इसमें मिलते हैं। कृष्ण की दानलीला, लौकिक दृष्टि से लंपटता का उदाहरण है। इसी दृष्टि से सूर ने इसे अंगदान, रक्तिदान, कहकर पुकारा है एक वेवश गोपी अपनी पराधीनता की सूचना इस प्रकार देती है।

ऐसे दान माँगिये नहिं, जो, हम पै दियो न जाइ[1]।

दूसरी कहने का साहस करती है

जोबन दान कहूं कोउ मांगत, यह सुनि सुनि अति लाजनि मारौ[2]।

इन अंशों के कई पद पूर्णरूपेण अश्लील कहे जा सकते हैं

अपि कथानक पूर्णतः अश्लील है, किन्तु कवि ने स्थल स्थल पर आध्यात्मिकता का बाना पहनाया है। फिर भी आध्यात्मिकता के बीच इन पदों की अश्लीलता नहीं छिप सकी है।

ग्रीष्म, वर्षा एवं वसन्त - तीन ऋतुओं के तीन विशिष्ट आनन्दमूलक उत्सव हैं।

ग्रीष्मलीला में गोपियों के परस्पर विहार, राधा का स्वरूप कथन, राधा का कृष्ण के प्रति तीव्र आसक्ति का कथन मिलता है। कृष्ण का अपार रूप सौन्दर्य ग्रीष्मलीला के अंतर्गत गोपियों एवं राधा द्वारा दृष्टिगत होता है। वे रूप गुण, यौवन, शील, यश, आनन्द, दया, विद्या, कला, चातुर्य, छल, सौन्दर्य की राशि कृष्ण के प्रति तीव्र आसक्ति प्रकट करती हैं।

.....

१: सूरसागर प. सं. २०८०.

२: सूरसागर प. सं. २०८१.

झूलन यह लीला वर्षाऋतु के झूला उत्सव से सम्बन्धित है एक ओर कृष्ण तथा दूसरी ओर राधा तथा गोपियाँ हैं। वे स्वत: झूला झूलती और अपने प्रियतम कृष्ण को झुलाती हैं। झूला के वर्णन में शृंगारिकता का अभाव है। प्रकृतिचित्रण, शृंगार, आभूषण, तथा सज्जा को विशेष महत्व दिया गया है। वस्त्रों में चीर, चुनरी, नीला लहंगा, लाल चोली, नग, हीरा, रेशमवस्त्र, श्वेत अंगिया हैं। इस अवसर पर धनाश्री, सोरठ, रोडो, भैरव, सोरठा, केदार मालवा, गौरी, अलावरी आदि रागों के गाए जाने का उल्लेख है। इस हिंडोले की आयोजना यमुना के तट पर की गई थी। झूलन के पश्चात् वसन्तलीला का महत्वपूर्ण स्थान है। कवि इस वसन्तलीला में नित्यवृन्दावन, नित्यराधा, नित्यरास, नित्यवनविहार, नित्यनाम, नित्य संहिता, नित्यअभिसार, एवं नित्य कृष्णलीला चरित्र के गान की कल्पना देता है। प्राकृतिक वातावरण में परस्पर काम भावना व्याप्त हो उठी है। आम्र पाटल परस्पर मिल रहे हैं, कुंजी मानकर बैठी है, लताओं के प्रथम समागम के लिए पृथ्वी ने उनके बाल सँवार दिए हैं, केतकी ने कंचनवर्णी कुचकलश की चुकी से कस लिया है, मालती मदविह्वल बोलों से मुस्करा रही है। इस प्रकार सारी पृथ्वी काम पीड़ित हो उठी है। इस रमणीक वातावरण में कृष्ण राधा तथा गोपियाँ परस्पर कामक्रीडा में उद्यत होती हैं। केसर, कुंकुम, अबीर, गुलाल, मृगमद, कस्तूरी चन्दन की लहरें उठ रही हैं। गोपियाँ राधा को आगे करके परस्पर काम पीड़ित कृष्ण का उन्मत्त भाव से आलिंगन करती हैं। वसन्तलीला के अवसर पर होली का मादक चित्र अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार पूरी कथानक से सम्बन्धित यह शृंगार एवं लौकिक प्रेम के मांसल चित्रों से युक्त है, इनमें आध्यात्मिकता का भाव सामान्य है।

कवि की वैयक्तिक रुचि या आत्मतत्व

इन चरितात्मक गीतों में कवि का आत्मतत्व भी अधिक सघन है।

१: सूरसागर पृ. सं. ३४६१

२: सूरसागर पृ. सं. ३४६२

~~अनेकानेक~~

अनेकानेक स्थलों पर कवि ने लीलावैचित्र्य आनन्द को स्वीकृति दी है। अनेक पदों में सूर ने आत्मदैन्य का भी संकेत किया है।

सूर सिन्धु सरिता मिल जैसे मनसा हंदहिरानी ~~मन से.~~ +
" " "
अब कैसे निरवारि जाति है मिलो दूध ज्यों पानी ।
विहि रंग सूर रंग्यौ मिलि के मन, होइ न स्वेत अरु भिन्न पिछान्यौ

इस प्रकार कवि अपने आराध्य की शृंगार लीला की अभिव्यक्ति के अवसर पर अधिकाधिक विह्वल एवं आनन्दपरिप्लुत हो जाता है आत्मदैन्य, इस अवसर पर अधिक है।

शृंगार निरूपण के अवसर पर कवि शृंगारजन्य कामुकता के आध्यात्मीकरण की ओर सदा मिलता है। प्राय: सूरसागर में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं। जहां कवि मात्र शृंगार न मानकर इसे उच्चकोटि का महारास स्वीकार करता है।[1]

इस प्रकार शृंगार विषयक पदों में गीतितत्व अधिक प्रद्योत होता है।

कथाहीन प्रसंग

सूरसागर तथा सूरसारावली में कुछ कथाहीन प्रसंग भी हैं। जिनका सम्बन्ध भक्ति से है। ये पद भक्ति, दर्शन, सिद्धान्त, निरूपण, आत्मदैन्य भक्ति, माया आदि आध्यात्मिक एवं व्यवहारजन्य विषयों से सम्बन्धित हैं।

१ यह सुख देखि सूर के प्रभु को थकित अमर अरु नारी प. सं. २२२३
२ और प्रभु दान मांगत धन्य सूरदास : २२२१
३ सूर प्रभु के चरित्र देखि सुरगन थकित, कृष्ण लला, सुख करति घोष नारी : २२१४
४ सूरदास प्रभु अन्तरजामी तुम्हहि बोलन दान दयौ : २२०६
५ सूरज सूर तरुनी बोलन मद, तापर स्याम महारस पाये : २२५५
६: सूरदास हरिबेरी कीन्ही मन मनसिज के बैरे : २२७१ : आदि आदि

विशेष के लिए दीजिए सौन्दर्य सिद्धान्त: शृंगार एवं प्रेम का अध्यात्मीकरण

इनकी रचना गेयशैली में है। इसके मुख्य आलम्बन कृष्ण तथा भक्त हैं। कृष्ण अनन्त सामर्थ्य के प्रतिनिधि ब्रह्म या विष्णु के अवतार हैं। भक्त, माया, अविद्या, तृष्णा आदि से ग्रस्त जीव का प्रतिनिधि है। वह दीन, कातर मुक्त्यैच्छु है। फलतः ईश्वर की दया की प्राप्ति के लिए दीनता, विनय, आत्मग्लानि, एवं अज्ञानता का भाव इनमें निहित है। आत्मतत्व की दृष्टि से ये पद भक्तों के मलिन अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति से पूर्ण हैं।

धार्मिक रुढियां

इनके अतिरिक्त परमानन्ददास के पदों में विभिन्न पर्व एवं नित्य सेवा से भी सम्बन्धित हैं। यह वस्तुतः भक्ति विष्णु के साम्प्रदायिक आवेश है। वैष्णव भक्तिकाव्य में भक्ति परम्परा से प्राप्त होने वाली अनेकानेक धार्मिक रुढियां चलती रही हैं। ये पद इसी धार्मिक रुढि से सम्बद्ध हैं पर तथा उत्सव सम्बन्धी पद यहां पूर्णतः रुढ हो गये हैं, जिनका विवरण आगे किया जावेगा।

विश्लेषण. विषय वस्तु एवं भाव विश्लेषण के आधार पर वैष्णव भक्तिकाव्य रुप में प्राप्त चरितात्मक गीति काव्य के निम्न लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं।

कथा १— सम्पूर्ण रचना कथात्मक या चरितात्मक है। इस कथा का सम्बन्ध अवतारों से होता जिनमें राम और कृष्ण के चरित्र को प्राथमिकता मिलती है

२— अन्य अवतार मात्र सामान्य भूमिका के रुप में परम्परानुमोदन के ही रुप में स्वीकृत हैं। उनमें काव्यतत्व के प्रति कोई झुकाव नहीं दिखाई पड़ता है।

३— राम और कृष्ण दोनों अवतारों से सम्बन्धित कथाएं दो प्रकार की हैं, लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक कथा चरित्र का विकास सम्पूर्ण कथा रुप में प्राप्त है तथा अलौकिक चरित्र प्रासंगिक मात्र होते हैं।

४— कुछ कथाहीन प्रसंग भी हो सकते हैं किन्तु इनका मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही है।

५— लौकिक कथाओं के अनेक अंश खंडित घटना के रुप में हैं; यथा सूरसागर में रासपंचाध्यायी, दानलीला आदि।

भाव १— कथा की कड़ियों के विकास पर अधिक बल न देकर भाव योजना के प्रति अधिक झुकाव का प्रदर्शन मिलता है

२-अलौकिक घटनाओं में कृष्ण के ब्रह्मत्व, शक्ति, तेज का पूर्ण प्रतिपादन मिलता है तथा उन शक्ति के प्रति भक्तों में श्रद्धा का भाव है।

३-लौकिक घटनाओं में तीन प्रकार के भाव प्रमुख हैं-वात्सल्य, सख्य तथा मधुर विषयक। किन्तु भावविस्तार मधुर या शृंगार लीला से ही सम्बन्धित है।

४-लौकिक घटनाओं के प्रवाहपूर्ण कथानकों का अन्तिम लक्ष्य प्रेम को तीव्रतम बनाना है इसके लिए वह कथा को उद्भान्त एवं प्रशान्त तत्वों के अनेक परिवर्तनों से पुष्ट करता है।

५-खंडित या स्वतः पूर्ण कथानकों में अश्लीलता अधिक उभरी है किन्तु दार्शनिकता का आश्रय लेकर कवि उसे रहस्यपूर्ण बना देता है।

६-यहाँ प्रेम के आध्यात्मीकरण की ओर झुकाव मिलता है।

अन्य- क - पर्व, सेवा, उत्सव एवं विहार से सम्बन्धित अन्य लीलाएं धार्मिक रूढ़ि बनकर वैष्णव भक्ति साहित्य में अब तक चली आ रही हैं। इन रूढ़ियों सम्बन्धित कीर्तन के रूप भी प्राप्त हो जाते हैं।

ख. कथाहीन प्रसंगों में भक्ति से सम्बन्धित आत्मदैन्य, जिज्ञासा तथा ग्लानि के भाव मिलते हैं साथ ही, ब्रह्म की कृपा, दयालुता का भी इनमें संकेत है।

....

कथात्मक गीतिकाव्य में प्रयुक्त अनेक लीलात्मक भाव तुलसी की कृष्ण गीतावली में उपलब्ध हो जाते हैं . प्रचलित गीतावली के संस्करण में मात्र ६२ गीत हैं जो कृष्णलीला के ठीक उन्हीं भावों पर निर्मित हैं जिन पर सूरसागर या परमानन्ददास सागर . किन्तु सूरसागर एवं परमानन्ददाससागर से इसमें अनेक अंशों में भिन्नता देखी जाती है . कृष्णभक्त कवियों का सामान्य साम्प्रदायिक मोह यहाँ नहीं मिलता है . पर्व , उत्सव , वल्लभ स्तुति के पदों के अभाव के साथ साथ कृष्ण भक्ति भक्तकवियों की याचनात्मक प्रवृत्ति भी यहाँ नहीं मिलती . यहाँ श्रुतिगीति काव्य के वे समस्त भावात्मक तत्व वर्तमान हैं , जो सूर के दशमस्कन्ध में हैं कवि आधार के रूप में भागवतपुराण की सामग्री नहीं ग्रहण करता . वस्तुत: लोक प्रचलित या वैष्णव सन्तों को श्रुत परम्परा में प्राप्त कृष्णकथा को अपनी काव्यरचना का आधार बनाता है . या फिर सम्भव है , कवि सूरसागर के तत्कालीन प्रचलित संस्करण या पदों से प्रभावित रहा हो, क्योंकि इसमें एवं रामगीतावली में कहीं पर सामान्य परिवर्तन के साथ मिलते हैं . रामगीतावली भी भावात्मकता की दृष्टि से कथात्मक गीतिकाव्य के उन तत्वों से मेल खाती है , जिनका उल्लेख निष्कर्ष के रूप में किया जा चुका है . गीतात्मकता की दृष्टि से इसमें अनेक परिवर्तन किए गए हैं . मानस की रामकथा की सम्पूर्ण प्रकृति ही यहाँ बदल जाती है . प्रेम नियोजन में वस्तुत: दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव की ओर कवि अधिक संवेदना दिखाता है . वीरता एवं शौर्य विषयक भाव यहाँ कम हैं .. सूरसागर एवं परमानन्ददास सागर में प्राप्त भक्तिकाव्य के ये भाव कवि को भी प्रिय हैं .

१ बालवर्णन के प्रति सूर की भाँति यहाँ संवेदना मिलती है . घुटना, घुटनों के बल चलना , अयोध्या की वीथियों में विहार, सखाओं के साथ खेलने जाना, गोली , भँवरा , चक डोरी , कन्दुक , चौगान , सवारी आदि का वर्णन विशेष रुचि से करता है .

२ वनपथ में राम का वात्सल्यमूलक वर्णन , अयोध्याकाण्ड में वनमार्ग में ग्राम वधूटियों के प्रेम का विस्तार , लगभग १० पदों में ग्रामवधूटियों का विरह वर्णन चित्रकूट में लवकुश तथा कौशल्या का वात्सल्य विरह तथा सीता का वियोगवर्णन आदि प्रसंगों के प्रति कवि विशेष रुचि दिखाता है .

३ . उत्तरकाण्ड का प्रसंग यहाँ सर्वाधिक भावात्मक बना दिया गया है . यहाँ इसके अन्तर्गत अयोध्या , राम का सौन्दर्यवर्णन , हिंडोला तथा कुश,दीपमालिका वसन्तविहार , अयोध्या का आनन्द आदि प्रसंग हैं .

४ रामगीतावली में 'कथात्मक रूढ़ियों' के ऊपर कम महत्व दिया गया है. विशेष रूप से अलौकिक एवं कथा संघटनों के विकास की परिस्थिति का अभाव मिलता है.

कहा जा चुका है कि इसके कुछ पद सूरसागर से मेल खाते हैं. सूरसागर के पदों को यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ रख दिया गया. किन्तु वस्तुस्थिति क्या है. अभी तक इस विषय में कोई निश्चित समाधान नहीं मिलता. यही सम्भावना अधिक है कि सूरसागर के ही प्रभाव से कवि ने इन्हें ग्रहण किया होगा.

संग्रहात्मक गीतिकाव्य

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय में सेवा एवं संगीत नियोजन की परम्परा वर्तमान थी। इन सेवाओं का क्रम दिन चर्या के रूप में अष्टयाम से सम्बन्धित था। यहां दैनिक सेवा के अतिरिक्त वार्षिक सेवा का भी विधान मिलता है। इस वार्षिक सेवा के अन्तर्गत ३ प्रकार की सेवाओं का विधान मिलता है। प्रथम तो सम्बन्धों तथा द्वितीय वैष्णवधर्म में स्वीकृत विभिन्न पर्व सम्बन्धित। वर्षोत्सव की इस सेवा के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ उनकी वंश परम्परा, विट्ठलनाथ, गोकुलदास आदि से सम्बन्धित भी कीर्तन मिलते हैं। वर्षोत्सव के पदों में तीसरा विधान लीला का मिलता है। दैनिक क्रम एवं वर्ष की समूची ऋतुओं के विशिष्ट संदर्भों यथा वर्षा, वसन्त, शरद् आदि समयों में नियोजित ये लीलाएं अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। संग्रहात्मक गीतिकाव्य समय समय पर कई हुए हिन्दी कवियों द्वारा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं, वैष्णवपर्वों, वर्षोत्सव, आदि से सम्बन्धित कीर्तन हैं। इन कीर्तनों या पदों का संकलन इन विशिष्टताओं के आधार पर नियोजित करके उनकी पदावली के रूप में रखा गया है।

रचनाएं पद संग्रह के रूप में सूरदास तथा परमानन्ददास को छोड़कर शेष अन्य अष्टछापी कवि नन्ददास, छीतस्वामी, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी चतुर्भुजदास तथा व्यास छित हरिवंश के हरिदास, हरिव्यास, सूरदास मदनमोहन आदि के पद, जैसे इस सीमा में आते हैं। फुटकर रूप में प्राप्त कीर्तन संग्रह भी इसी के अन्तर्गत हैं:-

इन संग्रहों में काव्यरूपों का सहज संकेत मिलता है। सम्मिलित रूप से इन सभी कवियों ने अपने पदों को हरिगुणगान, गुणगान, लीलागान विलासलीला, मंगलगान, रासलीला, लीलागान, नित्यविहारगान, गोपाल कथन, कीर्तन, मोहन महिमा, यशगान, केलिगान, अलबेलागान कृष्णगीत प्रेमकथा, चरितगान, रासलीलागान, कीर्तिगान, विलासगान आदि नामों से सम्बोधित किया है। गान की प्रमुखता के कारण इन पदों को गीति की संज्ञा दी जा सकती है। साथ साथ इन कवियों से कृष्ण का चरित्र भी नहीं छूट सका है।

विषयवस्तु इन संग्रहात्मक गीतिकाव्य में एक ओर कृष्ण का चरित्र निहित है

दूसरी ओर सेवा एवं वर्षोत्सव की भी दूसरी मिल जाती है। अतः विषयवस्तु के विश्लेषण के लिए इनका परस्पर विभाजन आवश्यक है। इन सम्पूर्ण पद राशि को तीन भागों में विभक्त किया जाता है –

१ नित्यलीला

२ वर्षोत्सव

३ विनय तथा गुरु सेवा एवं माहात्म्य

१नित्यलीला

नित्यलीला विषयक पदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है बाललीला तथा किशोरलीला। बाललीला सम्बन्धी पदों की संख्या कम है। नित्यलीला में किशोरलीला ही अधिक महत्वपूर्ण है। इस किशोरलीला में दान, बधाई, बधाई, बेणुगान, मान, रास, महारास, सुरति, सुरतान्त आदि से सम्बन्धित पद अधिक हैं। निम्बार्क, गौडीय तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के कीर्तनों में परस्पर केलि एवं शृंगार लीला विषयक पदों की अधिकता है। वहाँ बाललीला, विनय आदि पदों का पूर्ण अभाव है।

वर्षोत्सव

१ – वर्षोत्सव के पदों में कवियों ने बाललीला को भी समाविष्ट कर लिया है। यह लीला जन्माष्टमी अर्थात् कृष्ण की जन्मलीला से आरम्भ होकर सगाई तक चलती जाती है। कृष्णाष्टमी के साथ साथ राधाष्टमी के पद भी यहाँ प्राप्त होते हैं। इन पदों में बधाई, पलना, कृष्णमिलन, प्रेम आदि के विषयों से सम्बन्धित भावों का चित्र मिलता है। इन दो पर्वों के अतिरिक्त वैष्णवधर्म में स्वीकृत दशहरा, दीपावली, वसन्त, होली, गनगौर, अक्षयतृतीय, रथयात्रा, हिंडोरा, पवित्रा, राखी, हटरी, भाईदूज, रामनवमी, पर्वों से सम्बन्धित पद मिलते हैं।

२ – इन पर्वों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट लीलाओं को वर्षोत्सव के रूप में रख लिया गया है। ये गोवर्धन पूजा, प्रबोधनी रास, गिरिधर उत्सव आदि हैं।

३ – आचार्य वल्लभ तथा उनकी वंश परम्परा से सम्बन्धित अनेक पद वर्षोत्सव के रूप में ही मिलते हैं। इनमें वल्लभकृत खडी, गोसाईं जी उत्सव,

श्री गुंसाँ विट्ठल ८ उत्सव , वादि से सम्बन्धित पद प्राप्त होते हैं।

४- इन विषयों के अतिरिक्त वर्षोत्सव के अन्तर्गत भक्त महिमा , भागवतमाहात्म्य , आश्रयपद , गंगा तथा यमुना स्तुति , ब्रज , गोकुल माहात्म्य आदि के पद लिखे गए हैं।

भाव

१- इनके पदों का कृष्णचरित्र की माधुर्यलीला इनके पदों का मुख्य आश्रय है। प्राय: सभी कवियों ने एक निश्चित क्रम में कृष्ण की शृंगार लीला का ही गान किया है। फलत: गीतात्मक वस्तुकाव्य के सम्पूर्णभाव इनके गीतों में प्राप्त हो जाते हैं। वात्सल्य एवं सख्यभावों की संख्या न्यून है , मथुरा या कृष्ण की शृंगार लीला से सम्बन्धित पदों की संख्या अधिक है।

२- कथा से सम्बन्धित भाव इनमें तीव्र नहीं है। कृष्णचरित्र के लौकिक पक्ष के शृंगार विशेष की ओर इनकी दृष्टि अधिक टिकी है। चूंकि इनकी पद रचना काव्य प्रक्रिया के क्रम में निर्मित न होकर पूजाविधान के रूप में आती है। अत: काव्य की रचनात्मक शक्ति का इन पदों में कहीं अभाव मिलता है। स्तुति एवं प्रार्थना के सामान्य भाव इनमें अधिक मिलते हैं।

३ - समस्त कवियों का वर्ण्य विषय एक सा है। फलत: समान पुनरावृत्ति एवं भावों का पुनरकथन इन कवियों की प्रधान विशेषता है। अष्टयाम , नित्यसेवा वर्षोत्सव के समान भाव वाले पद सभी संग्रहों में हैं। पुनरावृत्ति एवं पूजा विषयक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण भाव स्वातंत्र्य का ह्रास मिलता है।

४ - शृंगार निरूपण के क्रम में इनकी भावगत एक अन्य विशेषता है। शृंगार का नग्नचित्रण सूर एवं परमानन्ददास के साथ साथ प्राय: अष्टछाप के समस्त कवि शृंगार के संयमित चित्रण की ओर सजगता दिखाते हैं। किन्तु निम्बार्क , गौड़ीय तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने शृंगार निरूपण की स्थिति में अश्लीलता को मर्यादित नहीं कर पाये। ~~सूरदासमदनमोहन~~ सूरदासमदनमोहन , हरिरामव्यास , श्रीभट्ट , हरिव्यास , हरिदास आदि सभी ने राधाकृष्ण की केलि का स्पष्ट चित्रण किया है। इस क्रम में शृंगार , शृंगारान्त के अनेक चित्रण इन काव्यों में मिलते हैं।

५-इन काव्यों में प्राय वर्ण्य विषय प्राय: रूढ हो गये। ये उसी परम्परा के रूप में अब तक स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। अत: उन्हें काव्य रचना प्रक्रिया की दृष्टि से साम्प्रदायिक्ता का धार्मिक काव्यरूढि का संज्ञा दे सकते हैं।

गीतिकाव्य

चरितात्मक, ~~कथात्मक~~ वर्णनात्मक तथा संग्रहात्मक गीतिकाव्यों के अतिरिक्त वैष्णव भक्तिकाव्य में भावात्मक गीतिकाव्य भी पाये जाते हैं। मीरा के पद, तथा तुलसी की विनयपत्रिका का गणना इसी के अन्तर्गत की जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि मीरा के पदों एवं तुलसी की विनयपत्रिका में मध्यकालीन गीतितत्व की कथात्मकता निहित है किन्तु वह भावतत्व के समक्ष हीनकोटि की ज्ञात होती है। इनकी आन्तरिक प्रकृति के अनुसार इनके निम्न लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं।

१ कथात्मकता का दीप्त संकेत

मीरा के गीतों में जहाँ तक वस्तुपरकता का प्रश्न है कृष्णचरित्र उसका आधार है। कृष्णचरित्र को आधार बनाने के कारण उसकी कथात्मकता के अनेक सूत्र मीरा के पदों में स्वत: आ गए हैं। तुलसी की निज विनयपत्रिका की भी यही स्थिति है। वियोगी हरि ने आठ भावनाक्रम के आधार पर विनयपत्रिका में निहित कुछ कथा तत्व की ओर संकेत किया है। वस्तुत: राम के हाथ से स्वीकृति मिलने तक की कुछ घटनाएँ उसी की भूमिका मात्र हैं। इस पत्रिका का अन्तिम फल राम की स्वीकृति है। किन्तु ये कथाएँ इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं कि भावगीति तत्व के उनसे व्याघात पहुँचा सकें।

मीरा के पद शुद्ध भावात्मक गीतिकाव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं किन्तु प्रभाव के रूप में कृष्ण कथा के अनेक प्रसंग आ गए हैं। वृन्दावन महिमा, बाललीला, झूलनलीला विरहभाव, राधाविरह, जलक्रीड़ा, चीरहरण, गोपी, प्रेमालाप, गोपीभाव उद्धवलीला, दानलीला, दधिबेचन, गोपीभाव, नटखटपन, शरदोत्सव, श्रीकृष्णप्राकट्य, कुब्जाभाव, राधाकृष्ण संवाद, रासशृंगार आदि लीलाओं के पद मिलते हैं। किन्तु अन्य भक्त कवियों से यहाँ भिन्नता मिलती है। अन्य भक्त कवि वस्तु विषय से जहाँ अधिकाधिक प्रभावित हैं, वहाँ मीरा इन

कथात्मक स्थलों में भी वैयक्तिक अनुभूति या विषयीगतता (Subjectivity) का आरोप करती है। कथात्मकता उनके भावाभिव्यंजन को पुष्ट करती है।

२ - मीरा के समूचे पद विषय विवेचन की दृष्टि से ७ भागों में विभक्त किए जा सकते हैं-

१ वैयक्तिक प्रेम एवं विरह सम्बन्धी पद
२ स्वकीया के पद
३ प्रार्थना तथा विनय के पद
४ भक्ति, वैराग्य तथा सैद्धान्तिक कथन से सम्बन्धित पद
५ प्रेमालाप तथा दर्शनानन्द के पद
६ व्रजभाव, सखी तथा होरी के पद
७ सत्संग सम्बन्धी पद

इन समूचे विषयों में कथात्मकता प्रायः संकेत जीवन एवं व्रजभाव के पदों में मात्र मिलता है, अन्यथा उनके पदों में उनकी वैयक्तिक भावना की ही पूर्ण अभिव्यक्ति है

३- इस वैयक्तिक भावना में प्रेम तथा विरह की प्रधानता है स्वकीया एवं भक्ति तथा वैराग्य के पद इस प्रेम की भूमिका है कृष्ण प्रेम के लिए जीवन में किए गये संघर्षों का कथन अनेक रूपों में इनके पदों में अभिव्यक्त हुआ है वैयक्तिक प्रेम, प्रेमालाप, दर्शनानन्द तथा उसके वियोग में विरह सम्बन्धी कहे गये पद उच्च आध्यात्मिक प्रेम के द्योतक हैं फलतः मीरा के गीतिकाव्य का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण के प्रति उच्चतम प्रीति की अनुभूति मात्र है

४ - इस प्रेम की भूमिका में अनन्यता, प्रेमालाप, तीव्रता, आसक्ति, प्रतीक्षा व्याकुलता, अन्तर्व्यथा, लगन, विरहताप, वेदना, प्रेमोत्कंठा, प्रेमव्याधि प्रेमविषयक, तल्लीनता के भावों का कथन मिलता है यह प्रेम की भावना इतनी सान्द्र है कि भक्ति, वैराग्य आदि के पदों में यही सर्वोच्च हो गई है वैराग्य की स्थिति में मीरा का योगिन भाव सम्बन्धी पद उच्चतम प्रेम एवं वैराग्य का उदाहरण है

विनय पत्रिका में भी भावों के संवेदन अन्य प्रभाव ग्रहण की ओर कवि संलिष्ट है। समूचे पदों को निम्न पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है

१ स्तोत्रात्मक पद

२ उपदेशात्मक पद

३ सैद्धान्तिक भक्ति ,ज्ञान तथा वैराग्य विषयक पद

४ आत्मचरित विषयकपद

५ विनय तथा दैन्य सम्बन्धी पद

विनय पत्रिका में 'स्तोत्रात्मक पदों' को छोड़कर अन्य समस्त पदों' गीति के उच्चतम गुणों' का समर्थन मिलता है ।अनुभूति की दृष्टि से इन पदों' को दो भागों' में विभक्त किया जा सकता है ।

१- आत्मविषयक तत्व जिसमें' कवि व्यक्तित्व के अनेक रूप अभिव्यक्त हुये हैं' ।

२ वस्तुगत तत्व जिसमें' दार्शनिकता ,सैद्धान्तिक कथन , भक्ति ,ज्ञान एवं वैराग्य विषयक कथन मिलते हैं' ।

आत्मविषयक पदों' का मूलभाव आत्मशोधन ,दैन्य,मन पीड़ा एवं भौतिकता के उदात्तीकरण से सम्बद्ध है। गीतिकाव्य के लिए बताई गई अनुभूति की सान्द्रता एवं आत्मिक स्राव इस प्रकार के पदों में सर्वत्र प्राप्त है।कवि भौतिक पीड़ा ,आत्महीनता , शरीरक्षय,सांसारिक नश्वरता एवं ईश्वरात्मन के आदि के भावों' से तीव्रतापूर्वक प्रभावित है। इस प्रकार विनयपत्रिका का वस्तु विषय एवं भावतत्व अन्य भक्तिगीतिकाव्यों' से पूर्णरूपेण पृथक है मात्र हर के विनय एवं दैन्य सम्बन्धी पदों' में इस प्रकार की भावनात्मक एकता देखी जा सकती है ।अन्यथा यह भक्तिकाव्य में शुद्ध गीतित्व की दृष्टि से सर्वथा ,स्वतंत्र कृति है ।

वस्तुगत तत्व का जहां तक प्रश्न है कवि सैद्धान्तिक आरोपण के बीच आत्मतत्व का समावेश करता चलता है।' केशव कहि न जाइ का कहिए ' है हरि यह भ्रम की अधिकाई ' आदि शीर्षकों' से सम्बन्धित पद शुद्ध दार्शनिक अभिव्यक्ति से सम्बन्धित हैं' ।किन्तु इनके मूल में' कवि आत्मपीड़ा ,सांसारिक नश्वरता ,क्षय ,आत्मशोधन ,मन आदि भावनाओं' को आरोपित करता चलता है

इन गीतितत्वों' में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है व्यक्तित्व का सामाजीकरण ये कवि 'हे मन ' रे मन ,' सन्त ,'साधु ' आदि सम्बोधनों' से सामाजिक जनों' को सम्बोधित करके उन्हें' उसी भाव से प्रभावित करते हैं' जो इनका व्यक्तिगत भाव है ।इस प्रकार ये कवि अपनी वैयक्तिक पीड़ा ,मन एवं

शोधन आदि के भावों को सामाजिक अभिव्यक्ति का क्षेत्र बनाने की ओर अधिक सजग है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का सम्पूर्ण पद साहित्य संगृहात्मक गीतिकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। एक ही प्रकार का रूपविन्यास एवं भाव नियोजन दोनों कोनों साहित्यों में प्राप्त है।

निम्बार्क सम्प्रदाय की रचनाओं में श्रीमद्भुकृत जगतशतक, हरिव्यास कृत जगतशतक का श्री महावाणी भाष्य, स्वामी हरिदास कृत केलिमाल, विट्ठल विपुल की पदावली, बिहारिन देव के शृंगार सम्बन्धी पद इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों में परशुराम देवाचार्य की रचनाएं पृथक् श्रेणी में रखी जा सकती हैं। बिहारिन देव के शृंगार विषयक पदों को छोड़कर शेष दोहे तथा पद परशुरामदेव की रचनाओं की प्रवृत्तियों से मेल खाते हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन रचनाओं में कृष्ण की शृंगार लीला विषयक विपुल कथावस्तु का संकेत मिलता है। इन विषयों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। सेवा एवं माहात्म्य सम्बन्धी पद तथा कृष्ण के शृंगार लीला विषयक पद।

सेवा तथा माहात्म्य चरण कमल की सेवा, वृन्दावन माहात्म्य, राधाकृष्ण की युगल उपासना, स्वामिनी के पद राधाकृष्ण की उपासना, कृष्णोपासना की तुलना में जप, तप, तीर्थ, नियम, प्रेम, व्रत, भक्ति साधन, की व्यर्थता वृन्दावन की केलि विलास की उपासना, आचार्य को पद वन्दना अपने हाथ से राधा कृष्ण को भोजन कराना, भोजन के समय गान, माला पहिनाना, बीरी खिलाना, आरती उतारना, चँवर ढारना, पाँव धुलाना, बिस्तरा लगाना, स्वप्न विधि से अनेक प्रकार के व्यंजन खिलाना, पान सुपारी देना, मिश्री मिलाकर औटे हुए दूध को श्री कृष्ण को देना, सोते हुए राधा कृष्ण के ऊपर चँवर ढारना आदि।

श्रीकृष्ण की शृंगार लीला सम्बन्धी पद

कृष्ण की बाल्यावस्था केलि से सम्बन्धित युगल स्वरूप वर्णन, राधारूप वर्णन, कुंजविलास, परस्पर शृंगार, राधाद्युति, सखिका वचन, होरी, सुरति वर्णन, राधा मान, राधा का संगीत, रासनृत्य

कृष्ण के द्वारा राधा का रूप वर्णन, क्षण शयन, संगीत, उन्माद तथा वासस्य शतरंज क्रीडा, छिरका खेल, राधाकृष्ण केलि वर्णन, वसन्त, फाग, निकुंज आगमन सुरति चिन्ह, वनविहार, हिंडोल, राधा के द्वारा कृष्ण को बीडा खिला, राधा कृष्ण केलि, सुरत युद्ध[१] विषयक पद प्राप्त हैं।

गीतितत्व की दृष्टि से इनकी निम्न विशेषताएं हैं' -

जहाँ तक नित्य सेवा का प्रश्न है संग्रहात्मक गीतिकाव्यों की सामान्य विशेषताएं इनमें निहित हैं' रचना रूप, वर्णन, संदर्भ तथा निरूपण शैली ठीक संग्रहात्मक गीतिकाव्य की ही भांति है विषयों में थोड़ा संशोधन अवश्य मिलता है जहाँ अष्टछाप के कवि नित्य सेवा तथा वर्षोत्सव में भागवत श्लोकोदित कृष्णलीला को आधार मानते हैं, ठीक वहीं निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि कृष्ण लीला को सामान्य दिनचर्या तक समेट लाये हैं। भोजन, बीरी एवं चोटाकर दूध पिलाना आदि प्रसंगों का परवर्ती अष्टछापी एवं राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवियों ने भी वर्ण्यविषय बनाया है किन्तु अतिसामान्य रुचि के साथ नित्य सेवा के प्रति इतनी आसक्ति उन कवियों में नहीं है।

२-गीतिकाव्य के लिए कृष्णलीला के शृंगार विषयक प्रसंग इनको अभीष्ट हैं। यह शृंगारलीला, केलि एवं परस्पर मिलन सम्बन्धी भावों से युक्त है। रास, विहार, शयन, परस्पर केलि, प्रेमवचन, हिंडोल फाग, वनविहार, शतरंज, छिरका, फाग वीणावादन आदि प्रसंग कृष्णराधा तथा गोपियों में परस्पर शृंगार उद्बोधन के उद्दीपक हैं। केलि के अन्तर्गत अधिकांश शृंगार विषयक पद प्राप्त होते हैं। शृंगार के अन्तर्गत आनन्दोपभोग, अनेक रूप धारण करके प्रेमक्रीडा, राधाकृष्ण का परस्पर पर्यंक शयन, संभोग निकुंज सुरति एवं सुरति युद्ध जैसे गर्हित प्रसंगों के अनेक पदांश उपलब्ध हैं।

३- भावों की उत्कृष्टता एवं कृतिकार का सामान्य व्यक्तित्व इन रचनाओं में दृष्टिगत होता है। भाव सामान्य कोटि के शृंगार से सम्बन्धित है। इस शृंगार की मूलभावना प्रेम न होकर वासना एवं ऐन्द्रिक भोग है। इस भोग के प्रति इन कवियों की रुचि अत्यधिक तीव्र है। वे कृष्ण की सुरति लीला के प्रसंगों में उनके साथ

१: ये प्रसंग निम्बार्क माधुरी के आधार पर संकलित हैं'

रहने की कामना प्रकट करते हैं।

४ - गीतिकाव्य की दृष्टि से इनमें एक ही तत्व प्रधान है, वह है भावात्मकता। कवि प्रत्येक लीला के साथ अपना भावात्मक सम्बन्ध बनाए रखता है। उसकी इस भावुकता का आधार शृंगार है। कृष्णलीला की शृंगारिक अभिव्यक्ति केलि तथा विहार से सम्बन्धित भावों की ओर इन कवियों की मानसिक वृत्ति अधिक तन्मय मिलती है।

मुक्तक काव्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में गीतिपरक एवं कथात्मक रचनाओं के संकेत अवश्य प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु मुक्तक काव्यों के लिए कोई उल्लेख नहीं मिलता। मुक्तकाव्य की परम्परागत परिपाटी के ही आधार पर भक्तिकाव्य में प्राप्त मुक्तककाव्यों का अध्ययन किया जा सकता है। प्राप्त परम्परा के अनुसार मुक्तक एक श्लोक प्रधान सहृदयों में चमत्कार उत्पन्न करने वाली रचना को कहते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से राजा की कीर्ति का वर्णन, इष्ट या आराध्य की स्तुति, उक्तियों का प्रयोग, शृंगारमूलक क्रीडा या वृत्ति के प्रयोग से आत्मरंजन, आत्मरक्षा विषयक प्रयोग, नैतिक, व्यवहारिक, आचरणमूलक तथा भक्तिपरक भावनाओं का प्रचार इसके मुख्य आधार हैं। मुक्तककार कलाप्रियकवि, भक्त, नीतिज्ञ, आचार्य शृंगारप्रिय, विनोदशील मनोवृत्ति का हो सकता है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में मुक्तक की श्रेणी में निम्न रचनाएं आती हैं- दोहावली, कवितावली, हनुमान बाहुक, द्वादशयश (अप्रकाशित), अष्टयाम हरिव्यास अष्टयाम (सामा०) ध्रुवभाषागान तथा पद से युक्त रचना (अप्रका०)। कृष्णकथा से सम्बन्धित हित हरिवंश के हितचतुरासी एवं हरिदास कृत केलिमाल की प्रवृत्ति मुक्तात्मक है, किन्तु गीतितत्व की प्रधानता के कारण उन्हें गीतिकाव्य की ही श्रेणी में रखा जा सकता है।

वैष्णव भक्तिकाव्य में उपलब्ध मुक्तक रचनाओं में इस प्रकार तुलसीकृत दोहावली, कवितावली एवं बाहुक को ही रखा जा सकता है। विषय की दृष्टि से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - शुद्धमुक्तक एवं कथात्मक मुक्तक।

शुद्धमुक्तक

तुलसीदास की दोहावली को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। दोहावली में कवि ने रस को काव्य का उच्चगुण स्वीकार किया है। उसके अनुसार गुण दोष का सम्यक विवेचन करके विरला रसिक ही काव्यरीति को समझ सकता है, किन्तु इस कथन से मुक्तक के स्वरूप का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। रस एवं रसिक काव्य की उच्च कसौटी के विधायक हैं, किन्तु मुक्तककाव्य के क्षेत्र में उनका क्या अस्तित्व है, इस ओर कोई भी संकेत नहीं मिलता।

दोहावली का वर्ण्यविषय मुक्तककाव्यों की ही भाँति दोहावली का सम्बन्ध निम्न विषयों से है - रामगुणमाहात्म्य, भक्ति एवं राम के प्रति प्रेम, धार्मिक एवं नैतिक उपदेश, रामकथा तथा राम के स्वजनों का माहात्म्यवर्णन, आत्मपीड़ा, शारीरिक असारता एवं तत्सम्बन्धी दार्शनिक टिप्पणियाँ, धर्मतीर्थों का माहात्म्य, उद्बोधन, भक्ति एवं प्रेम की अनन्यता के लिए चातक, मृग, सर्प, कमल, मीन, मूषक सिंह बड़ी आदि का उदाहरण सामाजिक व्यवहारिकता एवं अनीति, नैतिक आचरण, वैष्णव धर्म में स्वीकृत आचरण विषयक उच्चतम शुभ, अशुभ, सामाजिक व्यवहार, सज्जन दुर्जन स्वभाव एवं कलिप्रभाव। इस प्रकार तुलसी के ये विषय मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति से पूरी तरह मेल खाते हैं।

चमत्कारवृत्ति

संस्कृत के आचार्य चमत्कारवृत्ति को मुक्तक का मूलतत्व स्वीकार करते हैं। यह चमत्कारवृत्ति कवि को कहीं कहीं अधिक प्रिय दिखाई पड़ती है। राम एवं रामनाम माहात्म्य के उदाहरण में श्लेष विषयक उक्ति, स्थल स्थल पर रूपक, उपमा उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति गर्भित उक्तियाँ, कार्यकारणमूलक अलंकार प्रयोग परम्परागत मुक्तकों के उदाहरण लोक में प्रचलित कथन आदि मूलतः चमत्कृति से ही सम्बद्ध हैं। कहीं कहीं संस्कृत कवियों जैसी श्लेषात्मक क्रीडावृत्ति का भी प्रयोग कवि करता है। एकाध उदाहरण से इसकी पुष्टि की जा सकती है -

तुअ विचित्र कायर कथन अहि अहार मन धोर
तुलसी हरि भये पच्छधर ताते कह सब मोर

इस दोहे में 'पच्छधर तथा मोर' शब्द में चमत्कार वृत्ति का प्रयोग किया गया है पच्छधर (पक्षधारण करने वाले एवं पंखा धारण करने वाले का मूषक है, मोर मूषर तथा मेरा का। मूषर में अनेक बुराइयों के होते हुए भी लोग इसे मोर (या मेरा) कहते हैं क्योंकि कृष्ण ने उसके पंख को सिर पर धारण किया था। इसी प्रकार क्रीडावृत्ति के पोषक और भी अनेक उदाहरण दोहावली में प्राप्त हैं।

भावात्मकता

तुलसी को इस चमत्कारवृत्ति से कहीं अधिक भावात्मकता प्रिय है भक्ति, भक्तिविषयक प्रेम, एवं आसक्ति के उदाहरण में कवि इसी मनोवृत्ति का आधार लेता है।

वह कहीं स्थलों पर सहृदय, भक्त, भक्ति, प्रेम एवं आसक्ति का अपनी अभिव्यक्ति का मूल आधार बताता है चातक, मृग, मीन, सर्प, कमल आदि के उदाहरण प्रेमविषयक अनन्यता को ही सिद्ध करने के लिए हैं। इन स्थलों पर कवि का भावात्मक आवेश अधिक आयत है।

शैलीगत सरलता नीति एवं उपदेश विषयक मुक्तकों में परम्परा से ही शैलीगत सरलता दृष्टिगत होती है। कवि ने भी आचार तथा नैतिक उपदेशों, मायामोह के त्याग तथा निंद्यकर्म कृत्यों आदि क्रमें में शैलीगत सरलता का आश्रय लिया है। चमत्कारप्रियता एवं रसात्मकता की दृष्टि से ये स्थल अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। किन्तु जहाँ तक उपदेशात्मक वृत्ति से सम्बन्धित सरलता का प्रश्न है, वह कवि के लिए वांछित है।

जहाँ तक मुक्तक काव्य के सहृदय का प्रश्न है वर्ण्यविषय के अनुसार उनमें अनेक स्तर देखे जा सकते हैं। दोहावली जैसे मुक्तक काव्य के सहृदय भक्त सामान्यजन, काव्यमर्मज्ञ, आचरणशील सभी हो सकते हैं। वस्तुतः कवि की काव्य रुचि नैतिक विवेक सम्पन्न श्रद्धालु सहृदय की ओर ही अधिक लगा है।

मुक्तक के लिए जहाँ तक वृत्त का प्रश्न है, दोहे तथा सोरठे उसे एकमात्र प्रिय हैं। भक्तिकालीन परम्परा के पूर्व दोहे को मुक्तक वृत्त के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था।

कथात्मकमुक्तक संस्कृत साहित्य में कथात्मक मुक्तक नहीं है। मेघदूत एवं वृन्दावन जैसी कतिपय कथात्मक संकेत से मुक्त रचनाओं को यहाँ खंडकाव्य की श्रेणी में रखा गया है। इस दृष्टि से बाहुक तथा कवितावली में कथात्मकता कहीं अधिक है। किन्तु उन्हें खंडकाव्य की श्रेणी में न रखकर मुक्तककाव्य की श्रेणी रूप में रखना अधिक उपयुक्त है मुक्तक काव्य की अनेक संभावनाएँ इसमें वर्तमान हैं।

खंडकाव्य की एकदेशानुसारिता का मुख्य तात्पर्य घटना एवं भाव की एकरूपता से है। पात्रों की अल्पता, घटनाओं में परस्पर संबंध का अभाव, उद्देश्य की निश्चित सीमा तथा वर्णनात्मक छन्दों का प्रयोग इसके अन्य लक्षण हैं, कवितावली में इससे सम्बन्धित लक्षणों का अभाव है। इसमें रूपरेखा में निम्नतत्व निर्धारित किए जा सकते हैं।

कथात्मकता से अधिक रमणीक स्थलों का चुनाव

यह दृष्टि कवितावली में प्रधान रही है। यहाँ कथात्मकता से कहीं अधिक ध्यान रमणीक स्थलों के नियोजन को ओर दिया गया है। कवि यदि चाहता तो इन्हीं वृत्तों में राम की सम्पूर्ण जीवनकथा कह जाता किन्तु वह उसके स्थान पर भावात्मक आग्रहपूर्ण स्थलों को चुनता है। रामकथा में ये स्थल कवि को अधिक प्रिय रहे हैं क्योंकि ऐसे स्थलों पर उसकी मनोवृत्ति रमी हुई दिखाई देती है। बाललीला, विवाह, वनगमन, भेंट संवाद, मार्ग में उत्पन्न श्रम, ग्राम वधूटियों के कथन, मुनियों का परिहास, उपदेश, वानर राक्षस युद्ध राक्षस एवं राक्षस वध, तथा दैन्य एवं भय विषयक प्रसंग ही कवितावली के वर्ण्यविषय हैं। सम्पूर्ण रामकथा मात्र इन्हीं प्रसंगों पर नहीं आधारित है। उसके लिए कथा को जिस एकरूपता की आवश्यकता है, उसका इसमें अभाव मिलता है अभाव का कारण यही है कि कवि की मनोवृत्ति मुक्तक काव्य के अनुकूल प्रसंगों में रमी है। हनुमान बाहुक में मात्र ४४ पद हैं इन पदों में कथात्मकता का लघु संकेत का व्यंग्य है। इस व्यंग संकेत का अर्थ हनुमान की शक्ति एवं सामर्थ्य का बोध कराना है। खंडकाव्य या एकार्थ काव्य जैसा सामान्य कथा इसमें भी नहीं है। कवि के आत्मपीड़ा विषयक प्रसंग में कथाभास मात्र निहित है। फलतः इन्हें किसी भी दृष्टि से खंडकाव्य नहीं कहा जा सकता।

वर्णनवैचित्र्य

वर्णन वैचित्र्य में चमत्कृति का अधिक सहयोग है। वर्णन वैचित्र्य के खेदमें में ही कवि यहां छंद, दृष्टान्त, रूपक, वक्रोक्ति, श्लेष, उत्प्रेक्षा भ्रम, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों को प्रमुख आधार बनाता है। वर्णन वैचित्र्य को उदाहरणों से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

छंद प्रयोग

धनुही कर वीर निषंग कसे कटि, पीत दुकूल नवीन फबै।

तुलसी तेहि अवसर लावनिता दस, चारि नौ, तीन, इकीस सबै।

दस, चार, नौ, तीन, इकीस का प्रयोग निश्चित रूप से वर्णन वैचित्र्य

का क्रम, जिसके कम से कम १० भेद बताए जाते हैं। रीतिकालीन कवियों की भाँति अन्तिम पंक्ति में चमत्कृति उत्पन्न करने का सहज मोह तुलसी में अनेक स्थलों पर देखा जाता है। चमत्कारपूर्ण एवं प्रिय लगने वाली पंक्तियों की पुनरावृत्ति कवि के लिए रोचक है। कवितावली में पुनरावृत्ति के लिए निम्न पंक्तियों का उदाहरण पर्याप्त होगा :—

अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मन्दिर में विहरो।

^ ^ ^ ^

राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।

पंक्तियों को कवि ने बार बार दुहराया है। जहाँ तक अन्तिम पंक्ति में चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रश्न है, कवितावली तथा बालकांड के अनेक कवित्त इस दिशा में द्रष्टव्य हैं। अन्तिम पंक्तियों में जहाँ अलंकार विधायक सूक्ष्म व्यंजना का प्रश्न है, इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं—

मनहुँ चकोरी चारु बैठी निज निज नीड,
चन्द की किरन पीवै पलकौ न लावती

^ ^ ^ ^

राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं

^ ^ ^ ^

बाँहिन में सखि राखिबे जोग इन्हैं किमि कै बनवास दियो है।[१]

इसीतरह चमत्कार एवं सुरुचिपूर्ण छन्द की अनेक अन्तिम पंक्तियाँ इन काव्यों में खोजी जा सकती हैं। कवित्त में योजना मुक्तक काव्य के रचनाकारों को अधिक प्रिय रही है यहाँ उसकी भी बानगी मिल जाती है —

होनी में के होनीपति, हाथे बिन्हे छुवाया।
होनी होनी हाए छिति आए निमिराज के।

.....

१ कवितावली : बालकांड छं: सं. १३, १७, अयोध्याकांड .२०

प्रथम प्रवेद वीररस्कन्द वर वेष वपु
वरवे को बोलि देवेही वर काम को ।

यहाँ 'व' एवं 'ब' वर्णों का शब्दानुप्रास तुलसी की चमत्कारमूलक मनोवृत्ति की द्योतक है।

भावात्मक आग्रह - बाहुक एवं कवितावली दोनों रचनाओं में कवि भावात्मक तीव्रता का बोध कराने की ओर श्रेष्ट है। इस आग्रह का सम्बन्ध भक्ति, उत्साह शृंगार, स्निग्धता, उदारता, धृति, चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य, चपलता, भय, ग्लानि, पीड़ा, असन्तोष, आदि भावों से है। कवि किसी विशेष संचारीभाव को आधार बनाकर उससे सम्बन्धित भावात्मक तीव्रता का चित्रण करने में अधिकदक्ष है। ग्राम वधूटियों का प्रेम, लंकादहन, उत्तरकाण्ड के दैन्य, भय एवं भक्तिविषयक स्थल तथा हनुमान बाहुक के अधिकाधिक कवित्त मात्र संचारी भावों को केन्द्र में रखकर ही गए हैं।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है इन दोनों रचनाओं को मिलाकर ४ छन्दों का प्रयोग किया गया है - कवित्त या घनाक्षरी, सवैया विशेष रूप से दुर्मिला इमिल एवं मत्तगयंद, छप्पय तथा झूलना तुलसी के युग में सम्भवतः मुक्तक काव्य के लिए इन्हीं वृत्तों को प्रमुखता प्राप्त थी।

इसके आधार पर यह निष्कर्ष सरलता से लगाया जा सकता है -

१- हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत प्राप्त मुक्तक दो प्रकार के हैं शुद्ध तथा कथात्मक।

२- मुक्तक का मूल प्राण चमत्कार या चित्र वैचित्र्य मात्र नहीं है। उसके साथ साथ भावात्मक आग्रह एवं शैली सम्बन्धी सरलता अपेक्षित है।

३- इसके पाठक या सहृदय मात्र सहृदयव्यक्ति रसिक या कलाप्रेमी ही नहीं हो सकते। समाज के किसी भी वर्ग या अखाड़ व्यक्ति उससे प्रभावित हो सकता है।

४- छन्द की दृष्टि से इसमें घनाक्षरी, सवैया, छप्पय, झूलना तथा दोहे में से किसी एक या सभी को अपनाया जा सकता है।

********** **********

दोहावली के अतिरिक्त व्यास की साखी एवं परशुराम सागर में संकलित दोहों को भी सामान्य रूप से इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनके क्रमशः निम्न वर्ण्य विषय के रूप हैं—

व्यास की साखी
.....

गुरु स्मरण, गुरु चरण ध्यान, सन्त प्रशंसा, हरिभजन, महिमा, दीनता, गौरव, दृढ़ि विश्वास, अनन्यव्रत, मन की एकाग्रता, प्रेमभाव, कथनीकरनी, प्रसादोत्कृष्टता, नामगुणगान, भक्ति उपदेश, वृन्दावनवास, साधना, हरिकृपा, कुसंगत्याग, कपट से घृणा, लोक प्रतिष्ठा, आशा परित्याग, अभिमान से दूर रहना, प्रभुदास, कंचनकामिनी प्रभाव, कुटम्बविरक्ति।[1]

व्यास के ही सदृश परशुराम ने भी निम्न विषयों को अपने सागर में प्रयुक्त किया है।—

गुरु महिमा, प्रेम, हरिसेवक, परमप्रेममयी, गुरु की महिमा, प्रेमरस, आन्तरिक शुद्धि, सत्य, कुठ, सतसंग, साधुमाहात्म्य, प्रेमकथारति, सिद्धान्त, ब्रह्म, राधा, ज्ञान, जीव, वैराग्य, प्रीतम और प्रेम, आस्तिक, नास्तिक, हरिभजन, दुख सुख आत्मा की समस्थिति।[2]

संक्षेप में इन दोहों की निम्न विशेषताएं हैं—

इन दोनों कवियों ने इन दोहों को साखी के नाम से पुकारा है। व्यास के इन

.....

१: संकलित भक्त कवि व्यास जी सं. वासुदेव गोस्वामी साखी।

२: निम्बार्क माधुरी परशुरामदेव, दोहा सं. २४

दोहों का संकलन साखी के ही नाम से संकलित किया गया है। परशुरामदेव भी अपने दोहे को साखी कहते हैं -

साखी सुनो मुरारि की परसा प्रीति लगाई[1]

इनमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति मिलती है। यही कारण है कि इनमें मुक्तक काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली प्रियता के स्थान पर सरलता है। शैलीगत सरलता के ही कारण इन साखियों को दैनन्दिन व्यवहार का अंग बनाने का प्रयत्न किया गया है।

३ इनमें सिद्धान्त कथन कहीं कहीं सिद्धान्त कथन की भी प्रवृत्ति प्राप्त होती है। तुलसी की दोहावली की भाँति इन कवियों ने भी इनके माध्यम से भक्तिविषयक सिद्धान्तों एवं सामान्य दार्शनिक प्रश्नों का समाधान दिया है।

. ...

१: निम्बार्क माधुरी, परशुरामदेव, दोहा नं २४.

विषयवस्तु की दृष्टि से वैष्णव भक्तिकाव्य के विभिन्न काव्यरूप

कथात्मककाव्य

१ चरितकाव्य — रामचरित मानस

२ कथनात्मक काव्य — सूरसारावली, भागवत भाषा दशम स्कन्ध ।

३ खंडकाव्य — मानकी मंगल, पार्वतीमंगल, रामलला नहछू, रामलला, सुदामा चरित्र, रुक्मणी, रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी

४ एकार्थकाव्य — रामाज्ञाप्रश्न, बरवैरामायण ।

गीतिमूलककाव्य

चरितात्मक गीतिकाव्य - कृष्णगीतावली, रामगीतावली, सूरसागर, परमानन्ददास सागर ।

संग्रहात्मक गीतिकाव्य — कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, हितहरिवंश, सेवक जी. व्यास, हरिदास आदि कवियों के पद संग्रह इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं ।

गीतिकाव्य — मीरा के पद तथा विनयपत्रिका ।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य — दोहावली । व्यास जी रचनाएँ, परशुरामदेव जी रचनाएँ ।

कथात्मक मुक्तककाव्य — कवितावली, हनुमानबाहुक आदि ।

शेष रचनाएं -

हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत बताई जाने वाली रचनाओं में अनेक अप्राप्य हैं। अधिकांश रूप से ये अप्राप्य रचनाएं लीला तथा भक्तिसिद्धान्त विषयक हैं। ये इस प्रकार हैं -

दानलीला (परमा०) ध्रुवचरित्र (परमा०) हनुमान चरित्र (कृष्ण०) प्रेमलीला (कृष्ण०) भक्तिप्रताप (चतु०) द्वादशयश (अप्रा०) शिव जू को मंगल (चतु०) बाललीला माधव०) जन्मकरनलीला माधव०) स्वयम्बर लीला माधव०) रघुनाथलीला माधव०) चन्द्रचोराली (चन्द्र०) अष्टयाम (चन्द्र०) गौरांग अष्टयाम (चन्द्र०) ध्रुवविहार (चन्द्र०) राधाविरह (चन्द्र०) श्यामसरी (बाल०) ग्वालपहेली (बाल०) परकीत परीक्षा (बाल०) प्रेमपरीक्षा (बाल०) परशुराम सागर (परशु०) ध्रुवसागर (ध्रुवदास) रामचरित संग्रह (नाभा०) अष्टयाम (नाभा०) आदि।

इन रचनाओं के स्वरूप निर्धारण के विषय में सामान्यरूप से अनुमान लगाया जा सकता है। लीलामूलक रचनाएं कथात्मक हैं। कृष्णलीला से सम्बन्धित रचनाएं भागवत लीलाओं पर अधिकांशरूप से आधारित जान पड़ती हैं। चरित्र काव्य भी लीलाकाव्यों की भांति कथात्मक ही है। अष्टयाम एवं ध्रुवविहार विषयक रचनाएं कृष्ण या राम की नित्यलीला से सम्बन्धित हैं। शेष या भक्ति विषयक सैद्धान्तिक रचनाएं हैं या भक्ति माहात्म्य से सम्बन्धित इसके अतिरिक्त बालचरित्र दयालसंखरी, ग्वालपहेली, प्रेमपरीक्षा एवं परकीत परीक्षा जैसी रचनाओं के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इनके अतिरिक्त हिन्दीवैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय शब्दकोश, नायकनायिका भेद तथा अनुवाद विषयक रचनाएं भी प्राप्त होती हैं। किन्तु मुक्तकाव्य की दृष्टि से इनका महत्व गौण है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राप्त कतिपय काव्यरूपों को उनके नाम के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। परम्परानिर्देशन की दृष्टि से इनका विशेष महत्व है। ये इस प्रकार हैं -

चरितकाव्य रामचरित मानस, सुदामाचरित्र, ध्रुवचरित्र, हनुमान चरित्र,

सोमदेव कृत कथासरित्सागर (११ वीं शती) तथा बाणभट्ट कृत हर्षचरित (७वीं शती) कथात्मक रचनाएं है। हां चरित का सामान्य अर्थ चरित्र से लिया गया है। काव्य के अन्तर्गत चरित के नाम से सर्वप्रथम व्यवहृत होने वाली रचना अश्वघोष कृत बुद्धचरित है। ५वीं शती के आचार्य भामह ने काव्यालंकार के अन्तर्गत चरितमूलक प्रबन्धकाव्य के प्रणयन की चर्चा का उल्लेख किया है। सम्भवत: धीरे धीरे परवर्तीकाल में चरितशब्द कथात्मक काव्य के लिए रूढ हो गया। १० वीं शती में अभिनन्द कृत रामचरित का उल्लेख मिलता है जिसके अन्तर्गत सीताहरण से लेकर सम्पूर्ण रामचरित्र का वर्णन मिलता है। चरितमूलक काव्यों की एक निश्चित परम्परा संस्कृत काव्य परम्परा में प्राप्त होने लगती है। क्षेमेन्द्र कृत दशावतार चरित्र ११ वीं शती, मंखक कृत श्रीकंठचरित १२ वीं शती, जयरथकृत हरचरित चिंतामणि १२वीं शती, सन्ध्याकरनन्दी रचित रामपाल चरित १२ वीं शती, श्री हर्षकृत नैषधचरित, देवप्रभसूरिकृत पांडवचरित, मृगावती चरित १३वीं शती. रचनाएं चरितमूलक महाकाव्य हैं[१]। इसके अध्ययन से इनका अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि चरितमूलक महाकाव्य प्रणयन का प्रारम्भ अश्वघोष के समय दूसरी शती विक्रमी से हो चुका था।

संस्कृत काव्य के ह्रासकाल में चरित सम्बन्धी काव्यों का प्रणयन प्राकृत तथा अपभ्रंश में होने लगा था। अपभ्रंश खंडकाव्यों का परम्परा में ९वीं शती से चरितकाव्य प्राप्त होने लगते हैं। महाकाव्यों में स्वयंभू रचित पद्मचरित ७वीं शती, रिट्ठणेमिचरिउ ७वीं शती, अपभ्रंश के दो प्रमुख महाकाव्य हैं जिन्होंने परवर्ती चरितकाव्य की परम्परा को अधिकाधिक प्रभावित किया। अपभ्रंशकाल में अनेक चरित मूलक खंडकाव्य ही तत्कालीन साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पुष्पदन्तकृत णायकुमारचरिउ ९वीं शती, जसहरचरिउ ७ वीं शती, नयनन्दी कृत सुदंसणचरिउ ११वीं शती, कनकामर रचित करकंडचरिउ १०वींशती

---

१ ये सूचनाएं कीथ द्वारा लिखित संस्कृतसाहित्य का इतिहास भाषान्तरकार मंगलदेव शास्त्री से संकलित की गई हैं

धाहिल रचित पउम सी चरिउ १२वीं शती, पद्मकीर्ति पासचरिउ १०वीं शती, सिंधर पासणाह चरिउ, १२वीं शती सुलोचना चरिउ, १४वीं शती, जम्बूस्वा चरिउ सिंह या सिद्ध १३वीं शती, हरिभद्र रचित सनत्कुमार चरिउ १३वीं शती धनपाल रचित बाहुबलि चरिउ १२वीं शती यशकीर्तिरचित चन्द्रप्रभचरिउ १५वीं शती, चन्दप्पह चरिउ १५वीं शती रयधू रचित, सन्मतिनाथ चरिउ १५वीं शती, लखमदेव रचित णेमिणाह चरिउ तथा इनकी अन्य चरितमूलक रचनाएं सुकौशल चरित, गोपालचरित, वर्धमानचरित, अमरसेनचरित, सुकुमारचरित, नागकुमारचरित तथा शान्तिनाथचरित १६वीं शती से ही सम्बन्धित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि देशभाषा काल के आरम्भ हो जाने के बाद भी धार्मिक क्षेत्रों में अनेकानेक चरितमूलक कथाकाव्य प्रणीत होते रहे।

इन धार्मिक चरितकाव्यों की सैद्धांत में ये विशेषताएं हैं —

१-चरितमूलक इतिवृत्त इन धार्मिक रचनाओं का उद्देश्य जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ धर्म का प्रचार करना है।

२-इन काव्यों में काव्यात्मकता एवं धार्मिक प्रवृत्ति का इन काव्यों में समन्वय मिलता है।

३-प्राय: अधिकाधिक काव्यों में वक्ता श्रोता की परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

४:- सभी कथाएं पौराणिक आधारों पर निर्मित हुई हैं। ये पुराण जैन धर्मावलम्बियों के ही हैं।

५-इन चरितकाव्यों में वर्णनविस्तार अधिक मिलता है मूलकथा के साथ अवान्तर कथाओं की संख्या अधिक है।

६-ग्रन्थ के आरम्भ में एक वृहत प्रस्तावना, स्तुति, सज्जन दुर्जन निन्दा, आत्मलघुता का प्रदर्शन, कथास्वरूप आदि के प्रति संकेत एवं अन्त में विस्तार के साथ फल का वर्णन मिलता है। कथा के बीच बीच में नैतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक टिप्पणियां भी मिलती हैं।

चरितकाव्यों में प्राप्त ये समस्त लक्षण प्राय: थोड़े बहुत परिवर्तन के बाद रामचरितमानस में प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त मानस में उसकी प्रबन्धात्मकता की अपनी मौलिक विशेषता भी है जो उसके खण्डों में स्पष्टतया देखी जा सकती है।

लीलामूलक काव्य

संस्कृत साहित्य में 'लीलामूलक काव्यों' की भी सामान्य परम्परा प्राप्त हो जाती है। ये लीलामूलक काव्य कृष्णचरित से सम्बन्धित हैं। कृष्णचरित्र के अन्तर्गत आरम्भ में 'रासलीला' को अधिक महत्ता मिला है। हरिवंश, दशाकार तथा मत्स्य बालचरित में 'रास' के स्थान पर हल्लीसक नृत्य का उल्लेख मिलता है। वाक्पति के गौडवहो में भी हल्लीसकनृत्य का उल्लेख है। हल्लीसक उपरूपक की परम्परा में प्रसिद्ध लोकनाट्य है। इसके लक्षणकारों में भावप्रकाशकार शारदातनय ने हरि तथा गोपवधुओं के नृत्य को हल्लीसक के अन्तर्गत रखा है[1]। अग्निपुराणकार हल्लीसक का स्पष्ट उल्लेख करता है। हल्लीसक की एक अन्य प्राचीन परिभाषा के अनुसार भी मुरारी कृष्ण तथा गोपियों का उल्लेख मिलता है[2]। किन्तु कालान्तर में ही हल्लीसक के स्थान पर रास का उल्लेख मिलने लगता है। इस रास का सम्बन्ध उसी कृष्णलीला से है जिसे परवर्तीकाल में 'हल्लीसक' कहा जाता है। पुराणों में हरिवंश को छोड़कर अन्य सभी में 'रास' का ही उल्लेख मिलता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस रास की रचना प्रक्रिया का विस्तृत विधान है। मध्यकालीन काव्य की परम्परा भागवत से ही अधिक प्रभावित रही है। अत: भागवत में कथित पाँच अध्यायों का रास कालान्तर में 'रास पंचाध्यायी' के नाम से विख्यात हो उठा। नन्ददासकृत रासपंचाध्यायी भागवत पर ही आधारित है। हरिराम व्यास की रासपंचाध्यायी प्राय: स्वतंत्र कृति है। भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में 'रास' को लेकर प्राय: सभी कवियों ने अपनी रचना प्रस्तुत की है। सूर एवं परमानन्ददास के रासवर्णन में भागवत की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। लीलामूलक अन्य काव्यों में भागवत या भागवतसम्प्रदाय की ही प्रेरणा अधिक सक्रिय दिखाई पड़ती है। भागवतलीला से सम्बन्धित संस्कृत काव्यों का एक विशाल साहित्य मध्यकाल प्राय: १० वीं से १२ वीं सदी तक मिल जाता है। उज्ज्वलनीलमणि में लगभग विभिन्न कृतियों से सम्बन्धित ५०० श्लोक कृष्ण की शृंगारलीला से सम्बन्धित हैं। इनमें कतिपय कृष्णलीला सम्बन्धी स्वतंत्रकाव्यों के भी उल्लेख मिलते हैं।

१: मंडलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकैवास्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरि:

२: यन्मंडलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तत्प्राहु:।
तत्रैकोनेता स्याद् गोपस्त्रीणामिव मुरारि :

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवि कृष्णलीला को ही अपने काव्य का विषय बनाते हैं।इस कृष्णलीला के अन्तर्गत वृन्दावन लीला ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। इन काव्यों के काव्यविषय के रूप में कृष्ण की विलासमय आनन्दमयी लीला एवं तत्सम्बन्धी भक्तिभावना अभिव्यक्त हुई है। इन काव्यों में न केवल भक्ति अपितु काव्यमय रस एवं शृंगार सम्बन्धी भावनाओं का पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। भक्ति परम्परा में गृहीत होने के कारण इन्हें स्तोत्र या भक्तिविषयक साहित्य मात्र नहीं कहा जा सकता ये काव्य अपने रूप, शिल्पविधान, छन्दयोजना, वस्तुचयन एवं रूपघटना सभी दृष्टियों से उत्तमकाव्य की कोटि में आते हैं। इन काव्यों का प्रेरणास्रोत संस्कृत काव्य ही रहा है।यही कारण है कि इनकी दृष्टि काव्यात्मक अधिक है। कृष्ण के लीला विषयक ये पद नित्यसाधना के रूप में अष्टकालिक लीला में प्रयुक्त होते थे।यह स्थिति वल्लभ एवं राधावल्लभ सम्प्रदाय में समान ही थी इस दृष्टि से प्रमुख काव्यों की स्थिति इस प्रकार है। कृष्णकौमुदी (कविकर्णपुरगोस्वामी), गोविन्दलीलामृत (कृष्णदास कविराज) कृष्णभावनामृत (विश्वनाथ चक्रवर्ती), संकल्प कल्पद्रुम (जीवगोस्वामीकृत) जगन्नाथवल्लभ (प्रबोधानन्द सरस्वती), गीतगोविन्द (जयदेवकृत) चैतन्य चन्द्रोदय (कविकर्णपुर गोस्वामी) कृत, दानकेलि चिन्तामणि (रघुनाथदासकृत), दानकेलि कौमुदी (रूपगोस्वामीकृत) माधवमहोत्सव (जीवगोस्वामीकृत) आदि।

आरम्भ में इन लीलाओं का स्रोत पुराणों में खोजा जा सकता है।हरिवंश पद्म, ब्रह्मवैवर्त, एवं भागवत पुराणों में प्राप्त कृष्ण की वृन्दावन की लीलाएं इस रूप में लीलाविषयक काव्यों की प्रेरणास्रोत रहीं। चैतन्य सम्प्रदाय में लीलाकाव्य की यह परम्परा ज्यों की त्यों हिन्दी में चली आई।दूसरी ओर वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आचार्य वल्लभ ने भक्तों को दीक्षा देकर कृष्ण की अष्टकालिक लीला के अनुरूप पद रचना की प्रेरणा दी थी। आचार्य वल्लभ की यह प्रेरणा भागवत पर ही आधारित है।उन्होंने स्वयं भागवत की दशलीलाओं पर पृथक से भाष्य लिख कर उन्हें पूर्ण रूप से समादृत किया है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में कृष्णलीला विषयक काव्यों की यह परम्परा अपने आप में पूर्ण स्पष्ट है।

यदि इन लीलामूलक रचनाओं की विशेषता की ओर ध्यान दिया जाय तो उनकी स्थिति इस प्रकार होगी

१ लीला विषयक इन कृतियों में शृंगार की अधिकता है।

२ इनमें भावनात्मक तत्व अधिक प्रधान है।

३ इन रचनाओं की विशेषता उनकी मुक्तात्मकता है ये प्रबंध में रहकर भी स्वतंत्र प्रबंध निरपेक्षता से प्रतीत होते है।

[illegible]

लौकिकाव्य

मंगलकाव्य की परम्परा

लोककाव्य

मध्यकालीन काव्यरूपों में मंगलकाव्यों का महत्वपूर्ण स्थान है मंगलकाव्यों की उत्पत्ति कैसे हुई इसके विषय में अभी तक निश्चित साक्ष्य नहीं मिल सके हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार मंगलकाव्य में 'देवताओं' का यश वर्णित है[1]। डॉ० [illegible] का विचार है कि इसके साथ ही साथ किसी न किसी देवता अथवा देवतुल्य मनुष्य की महिमा कीर्तित होती थी इसलिए काव्यों के नाम प्राय: मंगल अथवा विजय से सम्बन्धित होते थे। देव माहात्म्य सम्बन्धी गीति के अर्थ में 'मंगल' शब्द का प्रथम व्यवहार जयदेव ने किया था[2]। डा० शिवप्रसाद सिंह ने अपूर्व क्रमाभाव काव्य में 'मंगलकाव्यों' की ओर संकेत किया है उनकी धारणा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी से अभिन्न है।

जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है डॉ. सेन ने देव माहात्म्य गीति के क्रम में 'जयदेव द्वारा मंगलगीति गाए जाने का उल्लेख किया है। डॉ० द्विवेदी के अनुसार मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में 'मंगल सम्बन्धी उपाख्यानात्मक काव्य अनेक मात्रा में प्रचलित हो चुके थे। इसके लिए उन्होंने रासो के विनयमंगल तथा कबीर के आदि मंगल, अनादिमंगल, एवं आत्म मंगल की चर्चा की है उनके अनुसार मध्यकालीन वातावरण में राजस्थान से लेकर बंगाल तक मंगलकाव्यों की अनिश्चित परम्परा वर्तमान थी[3]।

बंगला में मंगल साहित्य मध्यकालीन काव्यरूपों का मुख्य अंग रहा है ये मंगल काव्य इस प्रकार हैं –

श्री कृष्ण विजय या मंगल — मालाधरवसु — १४७४ ई.
मनसामंगल — विजयगुप्त — १४९५
मनसा मंगल — काणा हरिदत्त — १४ वीं शती पूर्वार्द्ध.
मनसा मंगल — विप्रदास पिपिलाई — १४९६
चंडीमंगल — मानिक — १५ वीं शती
चंडी मंगल — माणिकदत्त — १६ वीं शती बाद

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ. १०३.
२ बंगला साहित्य की कथा डा: सुकुमारसेन हिन्दी अनुवाद श्री मालानाथसभी पृ. ६
३ हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ. १०३, १०४

एस. के. डे. महोदय ने रूपगोस्वामी कृत एकादश श्लोकों का 'स्मरण मंगल' वैष्णव फेथ एंड मूवमेन्ट नामक पुस्तक के अन्त में प्रकाशित किया है। इसके प्रथम श्लोक में उल्लेख है कि मंगल का उद्देश्य कृष्ण का नित्य माधुर्यलीला का ज्ञान करना है। प्राप्त सूचना के अनुसार यह संस्कृत काव्य का प्रथम मंगलकाव्य है। इस प्रकार बंगला साहित्य में मंगलकाव्य के मध्यकाल में एक विशेष प्रकार की प्रशस्तिमूलक परम्परा वर्तमान थी। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में भी मंगलकाव्यों की एक निश्चित श्रेणी मिलती है इन काव्यों की स्थिति इस प्रकार है। तुलसी कृत जानकी मंगल, पार्वती मंगल, नन्ददास कृत रुक्मिणी मंगल, तथा चतुर्भुजदास कृत द्वारिका के मंगल' मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य में मंगलकाव्यों का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में हुआ है। तुलसी दास के अनुसार ~~लौकिक~~ यज्ञोपवीत विवाह एवं उत्साह उत्सव के समय गाए जाने वाले काव्यों को मंगल कहा जाता है। उत्साह के प्रसंग में प्राय: पुत्रोत्सव के अवसर पर मंगल या मंगलाचार के गाए जाने की ओर संकेत हुए तुलसी परमानन्ददास आदि करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन हिन्दी मंगलकाव्यों में विवाह यज्ञोपवीत एवं उत्सव सम्बन्धी गान प्रचलित थे। इनमें मंगल काव्य का प्रमुख स्थान था। इसके अतिरिक्त लौकिक प्रबन्धों को आधार बनाकर मध्यकाल में अन्यकाव्य कभी प्रणीत हुए हैं जिनका किसी पूर्ववर्ती परम्परा में उल्लेख नहीं मिलता तुलसीकृत रामलला नेहछू साहिबो, श्यामसगाई आदि काव्य तत्कालीन लोक प्रचलनों एवं परम्पराओं के बोध से ही निकले हैं।

मंजरीकाव्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में मंजरी शीर्षक से अनेक काव्य मिलते हैं। मंजरीमूलक काव्य की परम्परा का आरम्भिक संकेत राजशेखर (९वीं शती) से मिलता है। इसके द्वारा प्रणीत लघुक कर्पूरमंजरी नामिका ही बोधप्रीत है। प्राकृतकाल में धाहड कवि विरचित (१३ वीं शती) विवेक मंजरी नामक औपदेशिक कथाकाव्य उपलब्ध होता है। परवर्ती प्राकृतकाव्य में मंजरी नामक ~~औपदेशिककथाकाव्यउपलब्ध~~ दो और भी लघुक प्राप्त होतेहैं वे हैं क्रमश:

विश्वेश्वर रचित शिवारमंजरी एवं ~~नन्दक~~ नन्ददेवकृत रमामंजरी। संस्कृत के कथा साहित्य में धनपाल (१००० ई०) कृत तिलकमंजरी का भी उल्लेख मिलता है। मंजरीमूलक इन कृतियों में प्राय: शृंगारविषयक भावनाओं को प्राधानता है, इनमें नायक एवं नायिका के परस्पर स्वच्छन्द प्रेम की कल्पनाएं मिलती हैं, इसके साथ ही साथ इनमें पात्रों की स्थिति कल्पित है। ऐतिहासिक पात्रों का इनमें अभाव मिलता है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में प्राप्त मंजरी मूलक काव्य अधिकांश रूप से प्रेम प्रधान हैं। नायिका की स्थिति या तो काल्पनिक है या फिर पौराणिक चैतन्य सम्प्रदाय में निर्मित मंजरीमूलक काव्य अधिकांश रूप से कृष्ण की प्रेमकथा पर आधारित है।

इन काव्यरूपों के अतिरिक्त तत्कालीन लोक परम्परा में प्रचलित उत्सवों आदि को काव्यरूप के माध्यम से व्यक्त करने की एक पद्धति बन चली थी। इस दृष्टि से सोहिलो, नहछू, बधाई आदि के रूप में काव्य यहाँ प्राप्त है।

मुक्तक काव्यरूप

मुक्तकाव्यरूपों की परम्परा संस्कृत साहित्य में आरम्भ से ही मिलने लगती है। काव्यरूपों के विकास के क्रम में इस विषय पर अध्ययन किया जा चुका है। ये मुक्तक संख्या वाची अधिक हैं मर्तृहरिकृत नीति, वैराग्य एवं शृंगार शतक त्रय, अमरुक कृत भक्ति अमरुशतक एवं आर्यासप्तशती तथा गाहासतसई की परम्परा संख्यावाची मुक्तकों से सम्बद्ध है। स्तोत्र साहित्य में इस संख्यावाची मुक्तक काव्यों का अधिक विकास हुआ। सूर्यशतक चंडीशतक चंडी कुच पंचाशिका, आत्मशतक, निर्वाणशतक, भक्तिशतक, चतुस्तव, जिनशतक आदि संख्यावाची काव्य परवर्ती धार्मिक परम्परा में प्राप्त होते हैं। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त संख्यावाची काव्यों के मूल में यही परम्परा वर्तमान रही है। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'स्तोत्र, गीत एवं विरुद काव्य की परम्पराएं बहुत कुछ इसी से सम्बद्ध हैं।

मध्यकाल में यहाँ मुक्तकाव्यों की एक विशिष्ट परम्परा चल पड़ी थी। इसका सम्बन्ध पूर्णरूप से कृष्णभक्ति से था। इन काव्यों का मूल विषय कृष्णलीला है। ये काव्य इस प्रकार हैं- स्तवावली, चैतन्यस्तव, गौरांगस्तव, कल्पद्रुम, राधिकास्तोत्रात्मक नाम, प्रेमाम्भोज मकरन्द, व्रजविलासस्तव, स्वनियमदशक विलापकुसुमांजलि, राधिकास्तव, उत्कंठादशक, नवशतक, अभीष्टप्रार्थना,

अभीष्ट भावना , विश्वनाथ स्तोत्र , राधाकृष्ण ज्वल झुलनकेलि , स्तवमाला इसी मुक्तककाव्य की परम्परा में राधा कृष्ण विषयक अनेक मुक्तककाव्य भी लिखे गए हैं जिनमें कृष्णभावनानन्दवन्द , हरिप्रसाद स्तव आदि है। अन्य संख्यामूलक काव्यों में त्रिभंगीलक , चतुर्भुजाभिलि , प्रेमप्रकाश आदि का नामोल्लेख मिलता है। विरुद काव्य के अन्तर्गत गोविन्दविरुदावली , आनन्दवृन्दावन , समय विरुदावली तथा गोपालविरुदावली , निकुंजकेलि विरुदावली तथा गोरागविरुदावली का महत्वपूर्ण स्थान है।[1] मुक्तक स्तोत्र मूलक काव्यों की यह एक विशिष्ट परम्परा है, गीतिकाव्यों में कीर्तनों की संख्या अधिक है। ये कीर्तन गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव भक्तों द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकृत होते रहे हैं। इनमें सूक्तिकर्णामृत चैतन्य चरितामृत , गीतावली एवं पद्मावली के नामोल्लेख महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दीवैष्णव भक्तिकाव्य में स्तोत्र , संख्यामूलक मुक्तककाव्य एवं कीर्तन से सम्बन्धित गीत अधिक प्राप्त हुए हैं। कृष्णभक्ति साहित्य में प्राप्त सम्पूर्ण पदों का विभाजन कीर्तन के ही दृष्टिकोण से किया जाता है। भक्तिकाव्य में प्राप्त संख्यामूलककाव्य भी इसी परम्परा की प्रत्यक्ष कड़ी के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में छन्दमूलक काव्य भी वर्तमान हैं। दोहावली , कवितावली , बरवैरामायण आदि इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इसका सम्बन्ध संस्कृत की छन्दमूलक मुक्तककाव्य की परम्परा से है। आर्यासप्तशती , गाथा सप्तशती आदि इस परम्परा के प्रारम्भिक काव्य कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार हिन्दी वैष्णवभक्तिकाव्य के काव्यरूपों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन ज्ञात होती है। गौड़ीय भक्तिआन्दोलनों के फलस्वरूप अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वीकृत समस्त काव्यरूप भक्त कवियों द्वारा किंचित संशोधन के साथ स्वीकृत हुए। इस प्रकार काव्यरूप विषयक इनके प्रयोग पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बद्ध हैं।

.....

१: वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट , दे० लिट्रेरी वर्क

अध्याय ७

भक्तिकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

भक्तिकाव्य में काव्यरस का उल्लेख

इस सन्दर्भ में वैष्णव भक्तकवियों के रस सिद्धान्त की विवेचना की जा चुकी है। यह दृष्टिकोण भक्तिमूलक ही अधिक है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी वैष्णव भक्तिकाव्य में रस सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय संकेत मिलते हैं, जिनसे उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। मानस में काव्यरस का अनेक स्थलों पर उल्लेख है एक स्थल पर कवि के द्वारा शान्त भाव भेद एवं कतिपय रसभेद की चर्चा की गई है[1]। एक अन्य स्थल पर कवित्वरस की चर्चा मिलती है[2]। मानस रूपक के अंतर्गत में कवि ने नवरस जप तप जोग विराग आदि की भी चर्चा की है[3]। इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि रामचरित से आनन्दित होने वाले के लिए रस विशेष अर्थात् काव्यरस के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है[4]। बालकाण्ड में कवि ने शंकर की तपस्या को शान्तरस से उपमित किया है[5]। धनुष भंग के प्रसंग में कवि ने रस रूपों की ओर संकेत करके राम को रसों का समुच्चय स्वीकार किया है क्योंकि रस मानव भावनाओं के अंश हैं, फलतः विभिन्न परिवेश में राम के व्यक्तित्व को रसमूलकता का बोध कराना कवि को यहाँ अभीष्ट है। इस प्रसंग में वीर, भयानक, शृंगार, अद्भुत, वात्सल्य एवं शान्तरस का संकेत प्राप्त है। विभिन्न प्रमाता राम के व्यक्तित्व में विभिन्न भावों के आरोपण से इस प्रकार का भाव बोध करते हैं। लक्ष्मण शक्ति के प्रसंग में कवि रस मिश्रण की चर्चा करता है। उसने हनुमान के पर्वत सहित आगमन को करुणरस में वीररस की निष्पत्ति के समान बताया है।

प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भए बानर निकर।
आए गयेउ हनुमान, जिमि करुणा महँ बीर रस।[7]

१: भावभेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिधि प्रकारा। मानसबालकाण्ड दो. सं. ९
२: जदपि कबित रस एकउ नाहीं। रामप्रताप प्रगट एहिं माहीं। दो. सं. १०की चौपाई
३: नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा। दो. सं. ३८की चौपाई
४: रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन नाहीं। उत्तरकाण्ड. दो. सं. ५३
५: बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरें सरीरु सांत रस जैसे। बालकाण्ड दो. सं. १०७
६: देखहि रूप महाबलबीरा। तहँ बीर रस धरें सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
नारि बिलोकें हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
सजें सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप। आदि मानसबालकाण्ड, दो. सं. २४१, २४२

उत्तरकांड में भी कवि ने राम और भरत के सम्मिलन के लिए भावनाओं का मूर्तीकरण प्रस्तुत करता है। वह उनके सम्मिलित को प्रेम एवं शृंगार रस का सम्मिलन कहता है।[1] तुलसी की अन्य रचनाओं में आनन्द एवं दिव्यता के अर्थ में अनेक स्थलों पर रस शब्द का प्रयोग मिलता है। इस दृष्टि से भक्तिरस, लीलारस, अमृतरस, मधुर द्रव पदार्थ, परमार्थरूप एक रस, रासरसिकरस, का प्रयोग प्राप्त है। काव्य के सम्बन्ध में कृष्णगीतावली में दो स्थलों पर संकेत मिलता है। एक स्थल पर वे कृष्ण के माधुर्य चित्रण से उत्पन्न रस की तुलना में अन्य रस को गुलर की भाँति निरर्थक तथा दूसरे स्थल पर कृष्ण की रूपमाधुरी से अपना ध्यान हटाने को रसभंग बतलाते हैं।[2] दोहावली में कवि पुनः कहता है कि रसों के अनेक रूप हैं तथा भोक्ता भी अनेक प्रकार के हैं; किन्तु रसिक (रस रीति का ज्ञाता) एवं रस गुण दोष का विचार कोई विरला ही होता है।[3] तुलसी की भाँति सूर साहित्य में काव्य रस का उल्लेख प्राप्त है। एक स्थल पर रस में ढलने वाले रसिक की चर्चा उन्होंने की है। उनके अनुसार कृष्णानन्द का आस्वाद रस का मूल कारण है।[4] इस प्रकार यहाँ रसिक एवं रस का परस्पर सम्बन्ध बताना कवि को अभीष्ट है। शृंगार सम्बन्धी तीव्रभाव को व्यक्त करने के लिए कवि ने अनेक स्थलों पर रस शब्द का प्रयोग प्रेम एवं आनन्द के अर्थ में किया है। ये उल्लेख इस प्रकार हैं –

१- सूर प्रभु रस भरो राधा हरत नहीं प्रकाश।[5]

२- या रस ही में मान राधिका चतुर सखी तब हाँ लखि लीन्हों।[6]

३- तुम अब प्रगट कहो मो आगे स्याम प्रेम रस माचो।[7]

४- कहा कहौं दरसन रस अटक्यौ, बहुरि नहीं घर आयौ।[8]

.....

१: मानस उत्तर कांड दो. सं. ५

२: कृष्णगीतावली : पद सं. ४४ तथा ५४.

३: जो जो जेहि जेहि रस मगन, तहँ सो सुदिन मनमानि।
रस गुन दोष बिचारिबे रसिक रीति पहिचानि। दोहावली दो. सं. ३७१

४: यह गति मति बानै नहिं कोऊ, किहिं रस रसिक ढरै। सूरसागर भागवत छं. सं ३५

५: सूरसागर : दशमस्कन्ध पद स. २४६३

६: " " २४७६

७: " " २४७८

८: " " २५०७

५ माखन की चोरी सहि लीनी बात रही वह थोरी ।
सूरस्याम भयो निडर तबहि तें, गोरस [इन्द्रयरस] लेत कमोरी[१] ।
६ मन चिन्ता हिरदै नहिं एकौ, स्याम अंग रस पागो[२] ।
७ सूरदास प्रभु नन्द नन्दन को रस से दै डोडोगी[३] ।
८ स्याम रस भरे मदन बिय हरे, सुन्दरी बात को भेद पायौ[४] ।

इस प्रकार राधा और कृष्ण के संयोग चित्रण में कवि ने रस शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। ये प्रेम शृंगारमूलक प्रेम, क्रीडा एवं तज्जन्य आनन्द से ही सम्बन्धित हैं। अध्याय ३ के अन्तर्गत इस विषय पर विचार किया जा चुका है। कृष्ण के संयोग एवं वियोग चित्रण से स्पष्ट है कि उन्हें रस सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान था। शृंगार के छोटे से छोटे मनोभाव को लेकर कवि ने उससे सम्बन्धित अनुपम चित्रण प्रस्तुत किया है। शृंगाररस में प्रयुक्त होने वाली मनोभावव्यंजक शब्दावली एवं चेष्टाओं का स्पष्ट उल्लेख सूरसागर में मिलता है। संयोग शृंगार के पक्ष में निम्न शब्दावली सूरसागर में प्राप्त है। पुलक, रोमांच, एवं कंटकित होना, प्रेम श्रम स्वेद[१] गात्र विस्मृति : भुलाना, बेकविलीकरि, चित्त का चुराया जाना, बिबसता, ज्ञान ध्यान का हरा जाना, जड़ता[६], अनुराग से भर जाना, गदगद हो उठना, शुद्ध प्रीति, रस कथा का बखान करना, तन, मान, प्राण समर्पण, रति वचन, कंठ भेंटन, अधर भेंटन[७], काम द्वन्द एवं विरह दुख का हरण, अहर्निशि रमण

.....

१: सूरसागर दशम स्कन्ध पद सं. २५०१२
२: " " २५२७ .
३: " " २५५४ .
४: " " २५६७ .
५: बहु वै कहत कछु नहिं आवत, प्रेम पुलक श्रम स्वेद जुई : सूरसागर पद सं. २४७३
६: तदपि सूर मेरी जड़ता प्रभु मंगल माफ गनी २४६८ .
७: भेंटौ एक बेर बहु सुन्दरी, बोरी नाउं मिटाऊँ :२५५५
भेंटौ अधर सुधा गोरस रस घटौ न काहू को री . :२५५६

कृष्ण को भेंट में आ लेना , मन से पीड़ित होना , रति युद्ध रस विरह मग्न होना , गूढभाव का संकेत आदि । इस साहित्य में प्रयुक्त प्रसंगानुसार शब्दावली से स्पष्ट है कि शृंगार रस का सम्पूर्णतः ज्ञान नन्ददास को था। विप्रलम्भ शृंगार के चित्रण में भी यही मनोभाव यहां मिलता है। उन्हें शृंगार रस की सम्पूर्ण शब्दावली का ज्ञान था काव्य में प्रयुक्त होने वाली शृंगार की प्रत्येक अवस्थाओं से वे भली भांति परिचित थे।

इन्होंने रस शब्द का प्रयोग भक्तिसम्बन्धी आनन्द अर्थ में भी किया है। इस दृष्टि से लीलारस , अमृतरस , महामधुररस आदि शब्दों का प्रयोग इनसागर में मिलता है। इन के ग्रन्थों में शृंगार रस विषयक नायिका नायक भेद का उल्लेख है ।

नन्ददास साहित्य में काव्यरस की स्थिति पूर्णतः स्पष्ट है।उन्होंने रस को आधार मानकर विरह मंजरी , रसमंजरी एवं मानमंजरी की रचना की है।इन दोनों कृतियों से पृथक भी वे काव्यरस का उल्लेख कई स्थलों पर करते हैं।शृंगार के लिए उन्होंने प्रेमरस की शब्दावली का प्रयोग किया है[2]। भ्रमर गीत सिद्धान्त पंचाध्यायी में उन्होंने भक्तिरस तथा शृंगार रस को परस्पर पृथक प्रवृत्ति का बताया है। उनके अनुसार सिद्धान्त पंचाध्यायी में जो शृंगार रस समझता है वह पंडित भक्ति का भेद नहीं समझ सकता[3]। उन्होंने अनेकार्थ मंजरी में रसिक का अर्थ विज्ञ बताया है[4] ।

.....

१: मन मृग वेध्यो भेन बान सों .

गूढ भाव की सैन अचानक ,तकि ताक्यो मुठी कान सों : २५६२

२: रूप मरी गुन मरी मरी पुनि परम प्रेम रस पंक्ति सं. १०१ रासपंचाध्यायी
प्रथम अध्याय .

तैसेहि रंचक विरह प्रेम के पुंज बढत अंग अंग दितीय अध्याय

३: जे पंडित शृंगार प्रेम के ग्रन्थ मत यामें साने .
ने कछु भेद न जाने हरि को विज्ञ माने .सिद्धान्त पंचाध्यायी, पंक्ति ६७,

४: कृती कुशल कोविद निपुन .पटु ,प्रवीन निष्णात .
पर विदग्ध नागर कौक जाने रस की बात . अनेकार्थ मंजरी .

रसमंजरी पूर्णरूपेण काव्यशास्त्रीय रचना है रचना से स्पष्ट है कि कवि रस का निष्णात पंडित था। उसने किसी भी अपनी पूर्ववर्ती रस सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय रचना को इसके लिए आधार नहीं बनाया है। भानुदत्त की रस मंजरी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कवि इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन अपने एक अज्ञ मित्र को रस का ज्ञान कराना बतलाता है। यह रस ज्ञान नायिका भेद से सम्बन्धित है। कवि आरम्भ में रस मंजरी के काव्य विषयक को ओर संकेत करके उसके नायक नायिका भेद, हाव भाव हेलादिक तथा रति के वर्णन की ओर अपनी सजगता प्रकट करता है[१]। नन्ददास के द्वारा दी गई परिभाषाएं अधिक महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती क्योंकि कवि की दृष्टि में विषय विभाजन प्रमुख रहा है। सम्भवत : वह अपने मित्र को नायक नायिका भेद से परिचित कराना चाहता था, फलत: विस्तार में न जाकर वह सामान्य परिभाषाओं एवं सम्भावित वर्गीकरणों की ही ओर अधिक सजग है। उसकी कुछ परिभाषाएं इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं -

१: भाव
**** भाव की नन्ददास ने यह परिभाषा की है .-
प्रेम की प्रथम अवस्था आई। कवि जन भाव कहत हैं ताही।

हाव
*** नैन बैन जब प्रगटे भाव। ते भल सुकवि कहत है हाव।

हेला
**** सज सज बनावो करै। बार बार कर दर्पन धरै।
अति सिंगार मगन मन रहै। ताकहु कवि हेला छवि कहै।

रति
**** रति की परिभाषा अत्यन्त सामान्य है उसने भाव के स्थान पर अवस्था का चित्रण कर दिया है जाके हिय में रति जेरे। निरस वस्तु सब रसमय करै।

आदि
जैसे निम्बादिक रस जिते। मधुर होहि मधु मे मिलिते।

.....

१: एक मीत हमसो अस भाख्यो। मैं नायका भेद नहिं राख्यो।
अरु जु भेद नायक के गुने। तेहु मैं नीके नहिं जुने।
हाव भाव हेलादिक जिते। रति समेत समझावहु तिते। दो. सं. ८ की
अर्थावलियां

नन्ददास की इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि वस्तु का उसे भली भाँति ज्ञान है। भाषा आदि के अभाव में वह उनको परिभाषिक रूप न दे पाता है, यह दूसरी बात है।

विरह मंजरी शृंगार रस के वियोगपक्ष से सम्बन्धित है। प्राय: मध्यकाल में भक्तिकाव्य की व्याख्या के लिए एक नवीन सिद्धान्त की आवश्यकता प्रतीत हुई थी, क्योंकि पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से भक्ति काव्यों की सम्पूर्णत: व्याख्या सम्भव नहीं थी। विरह मंजरी के मूल में यही दृष्टिकोण परिलक्षित है। नन्ददास इसमें अपनी पूर्ववर्ती परम्परा में प्राप्त विप्रलम्भ के स्वरूप एवं भेदों पर आश्रित न रहकर कृष्णभक्तिकाव्य में प्राप्त विरह के स्वरूप को उसके विवेचन को आधार बनाते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने विरह की चार मार्गों में विभक्त किया प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर, एवं देशान्तर विरह इस विप्रलम्भ भेद को उन्होंने कृष्ण का विरह भाव कहकर पुकारा।[1]

मान मंजरी की स्थिति पूर्वरूपेण काव्यशास्त्रीय मान्यता पर आधारित है। मानिनी एवं मान की स्थिति तथा शब्दकोश दोनों का एक साथ निर्वाह कराना यहाँ कवि का मूल प्रयोजन है।

परमानन्ददास, भक्त कवि व्यास एवं अन्य भक्त कवियों के काव्यों में रस विषयक सामान्य उल्लेख मिलते हैं। भक्त कवि व्यास ने शृंगार रस का संकेत अपने पदों में किया है। शृंगार लीला के आरम्भ में अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए शृंगार रस का लीला करने वाले कृष्ण को ही परम उपास्य बताया है।

परिरम्भन चुम्बन घन संग्रह, अधर सुधा आधार।
मन्दहास अवलोकनि कूजत, उपमत मदन विकार।
सरस रूप गुन नागर आगर, वेनव अकह अपार।
यह रस नित पीवत जीवत है, व्यास बिसरि संसार।[2]

.....

१: कृष्ण में विरह चारि पकारा, जानत है जो जानहारा।
प्रथम प्रत्यक्ष विरह द्वै सुनि ले तातें पुन पलकान्तर सुनि ले
तिसरो विरह वनान्तर भये चतुरथ देशान्तर के गये।
प्रात्यक्षि विरह के सुनि अवलक्षन चकित होत तहँ बड़े विचक्षन। पंक्ति ३०, ३४

२: व्यास वाणी वन्दना। पृ.स.१

शृंगार रस की सम्पूर्ण स्थिति भक्त कवि हरीराम व्यास के पदों में पाई जाती है। इनके शृंगार विषयक पदों के शीर्षक इस प्रकार हैं प्रात: जमुना विहार, हरिवान्त मनन विहार, रसोद्गार, वसन, स्नानसमय, रतिक्रीडा, रसावेश, वसनास्पर्श रस, खुतिरस, मेणफट, बाहुरस रस, रास, संभ्रमगान, अभिसार, यौवनवन, सेज्यारस, विपरीत, विहार, हरतुद्ध आदि इन प्रसंगों में स्पष्ट है कि इन कवियों की दृष्टि पूर्णरूपेण शृंगारिकता की ओर उन्मुख होती गई है। भक्ति काव्य में प्रेमविभा के दो स्तर हैं एक स्तर पर कवि लौकिक शृंगार से सम्बन्धित भावों का आध्यात्मीकरण करता है किन्तु दूसरे स्तर पर वह उन्हें पूर्णरूपेण शृंगार की ही स्थिति में छोड़ देता है। भक्ति के संदर्भ में इनकी नैतिकता एवं अनैतिकता का प्रश्न उठाया जा सकता है किन्तु काव्य की दृष्टि से इन्हें शुद्ध शृंगार के अन्तर्गत रखा जा सकता है, कहीं कहीं अतिशय शृंगारिकता के कारण अश्लील दोष आ गया है

आजु लवंगलता गृह राजत कुंज विहारी
कुसुम निकट सजि सल्पि सेज रचि नख सिख कुंवरि सिंगारी .
प्रथम करा प्रति करा बार लै करि मुख चुम्बन अंकवारी
तब पहुंचि बन्द लोलत बोलत चाटु वचन गुंजतिहारी
हस्त कमल करि विमल उरज धरि हरि पावत सुखभारी - आदि आदि[1]

परमानन्ददास के काव्य में रस का सामान्य उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार मानवन्य आनन्द ही रस है इस रस में सहायक वेग प्रत्यंग भी रस हैं। इस दृष्टि से अभिरस, करुण रस, बलरस, सखरस, नन्दनन्दन कृष्ण में पाए जाते हैं। शृंगार के संदर्भ में उन्होंने सुरत समागम रस, प्रेमरस, सर्वरस, शृंगाररस, विधसरस, रासरस आदि का उल्लेख किया है। कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्ददास आदि भक्त कवियों के पदों में रस के ये ही सामान्य उल्लेख प्राप्त हैं। काव्यविषयक उल्लेख अत्यल्प हैं इनकी रस सम्बन्धी यह शब्दावली शृंगार, आनन्द, सुख, प्रेम आदि की वाचक है। इस प्रकार काव्यरस के उल्लेख भक्तिकाव्य में सीमित मात्रा में हैं। नाभादास ने जयदेव, चैतन्य के शिष्य नित्यानन्द, वल्लभ तथा नन्ददास के सम्बन्ध में काव्यरस की चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि ये भक्त कवि अपने काव्य के द्वारा लीलाविषयक शृंगार का पोषण करना चाहते थे .

१: भक्त कवि व्यास जी सै. सै. ३२८

निष्कर्ष . भक्त कवियों द्वारा काव्य रस का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु किसी भी कवि ने अपने काव्य में उनकी प्रमुखता नहीं स्वीकार की है। तुलसी ने नव रस के उल्लेख को चर्चा मानस में की है किन्तु वह अत्यधिक गौण है। रस विषयक अन्य शब्द प्रयोग मात्र कृष्ण की शृंगार लीला से सम्बन्धित है इस दृष्टि से कृष्ण भक्त कवियों के काव्यों में इनका प्रयोग प्राप्त है। राममक्ति शाखा के रासकोपासक कवि भी रस शब्द के इसी प्रयोग के समर्थक हैं। नन्ददास ने रस निरूपण अवश्य किया है किन्तु उसमें नायक नायिका भेद हाव, भाव, हेला, रति तथा शृंगार रस को ही स्थिति प्रमुख है ।

भक्तिकाव्य में शृंगार का स्वरूप

भक्तिकाव्य में व्यवहृत शृंगार की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है :

१ - भक्ति आदि सात्विक भावों से शक्ति शृंगार।

२. आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख शृंगार इस शृंगार का वातावरण प्रायः लौकिक है। किन्तु कवि की प्रवृत्ति इस शृंगार को आध्यात्मिकता प्रदान करने की रही है।

३. शुद्ध शृंगार यह कृष्ण या राम की विभिन्न शृंगारचेष्टाओं पर आश्रित है।

१. भक्ति आदि सात्विक भावों से शक्ति शृंगार - इस शृंगार का अभिव्यक्ति राम चरित मानस एवं सूरसागर में मिलता है। मानसकार की दृढ धारणा है कि आराध्य एवं उनकी शक्ति माता पिता के तुल्य है। फलतः सक्षम पुत्र के लिए इनकी रति का चित्रण अपेक्षित नहीं है[१]। यद्यपि शृंगार रस विषयक अनेक अवसर मानस में आते हैं जहाँ खुलकर शृंगार चित्रण किया जा सकता है किन्तु कवि ने अपने नैतिक विवेक को ऐसे स्थलों पर अधिक जागरूक रखा है। इसी सजगता को दृष्टि को ध्यान में रखकर मानस एवं सूरसागर के कतिपय फलों में प्रायः शृंगार रस का अध्ययन किया जा सकता है,

संभोग शृंगार - मानस काव्यरूप की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य है राम इसके नायक एवं सीता नायिका हैं। प्रबन्धकाव्य की प्राचीन परिपाटी के अन्तर्गत इसमें शृंगार रस का वर्णन अपेक्षित है मानसकार भी उसे स्वीकार करता है।

नायक राम गुरु से आज्ञा पाकर सखाओं के साथ पुष्पचयन के लिए वाटिका में जाता है उसी समय गौरी पूजन के लिए नायिका सीता भी आ पहुँती हैं। नायक नायिका के प्रथम दर्शन के लिए कवि ने वसन्त ऋतु का वातावरण निर्मित किया है। नाना प्रकार के वृक्ष लगे हैं वहाँ वहाँ की लताएँ फैली हैं। अपनी सुगन्धि से नन्दन कानन को लज्जित कर देने वाले पुष्प खिले हैं। चातक, कोकिल, शुक एवं चकोर मादक स्वर में कूजन करके परस्पर क्रीड़ा कर रहे हैं। वाटिका के मध्य में मणि निर्मित सोपान से युक्त तालाब है। जहाँ कमल खिले हैं। जलपक्षी क्रीडा कर रहे हैं तथा भ्रमर गुंजार रहे हैं। इस वातावरण में राम और सीता का प्रथम दर्शन होता है।

काव्यशास्त्रियों ने नायक एवं नायिका के परस्पर प्रथम दर्शन के संदर्भ में नायक को के साथ लक्ष्मण एवं नायिका के साथ सखी आदि की चर्चा की है।

१: जनक मातु पितु हरषु मनमानी। तेहि किसोरु न कहहुँ बखानी।। मानस: बाल. दो० सं १०३

राम के साथ लक्ष्मण हैं एवं सीता के साथ उनकी सखियाँ। सीता स्नान करके पूजन करती हैं, उसी समय प्रेम से विह्वल एक सखी आकर राम तथा लक्ष्मण के आगमन की सूचना देती है राम को देख कर उस सखी में पुलक, हर्ष, रोमांच के भाव जागृत हो उठते हैं। किन्तु ये भाव इसको शृंगार रति के पुलक न होकर सीता में उत्पन्न होने वाले प्रेम शृंगार के पोषक हैं। द्वितिका के इस से नायिका के सम्मुख नायक के सौन्दर्य कौन की परिपाटी अत्यधिक प्रावीन है। वह सखी जड़ता नामक संचारीभाव के जागृत हो जाने के कारण नायिका के सम्मुख नायक के सौन्दर्य का चित्रण नहीं कर पाती -

देखन बाग कुअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।[1]

इस सौन्दर्य या मुग्ध अवस्था के बाद नायिका में प्रथम दर्शन की उत्कंठा जागृत होती है -

सुनि हरषी सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी।[2]

अन्य सखियों के द्वारा इस वातावरण को और भी अधिक पुष्ट किया जाता है -

एक कहइ नृप सुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली।
जिन निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।
बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअ देखन जोगू।[3]

इस परिस्थिति में नायिका के हृदय में प्रथम स्मृति दर्शन के लिए आकुलता विषयक भाव और भी अधिक पुष्ट होता है।

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने।[4]

इस परिस्थिति में कवि ने सीता के हृदय में चकितता का भाव उत्पन्न करके नायिका के आन्तरिक मुग्ध भाव की व्यंजना इस प्रकार कराई है।

चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।[5]

इस तरफ राम की घूमते घूमते उसी ओर जा पड़ते हैं। राम के मन में मादकप्रभाव उत्पन्न करने के लिए कवि सीता के अलंकरण को माध्यम बताता है -

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।[6]

१: मानस बालकांड दो. सं. २२६.
२, " "
३: " "
४, " "

इस मादक प्रभाव पूर्ण वातावरण में सीता एवं राम का प्रथम दर्शन होता है। इस प्रथम दर्शन में नायक नायिका की स्थिति निम्न प्रकार की हो जाती है।

नायक पक्ष

.....

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल। मनहुं सकुचि निमि तजे दिगंचल।
देखि सीय शोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा।
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विश्व कहं प्रगट देखाई।
सुन्दरता कहं सुन्दर करई। छबि गृह दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं विदेह कुमारी।
सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।[1]

नायिका पक्ष

.....

चितवति चकित चहूं दिसि सीता। कहं गए नृप किसोर मन चीता।
जनु विलोकि मृग सावक नैनी। जनु तडि बरिस कमल सिय सेनी।
लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए।
~~अके क्यक जनु कि लखि जोरे~~.
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूं परिहरी निमेषे।
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।[2]

नायक एवं नायिका में परस्पर रति भाव अंकुरित हो चुका है। दोनों एक दूसरे के लिए अपना हृदय अर्पित कर चुके हैं किन्तु कवि का नैतिक बोध एवं विवेक जाग्रत हो उठता है। वह इस शृंगार रूपक को मर्यादित, शील एवं संयम की मर्यादा में बांध देता है। राम शीघ्र ही अपनी इच्छा शक्ति को नियमित करके अपने लघु भ्राता लक्ष्मण से कहते हैं:-

....

१: मानस बालकांड दो. सं. २३७.

२: " " ३४०

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ / मन कुपंथ पग धरइ न काऊ ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी / जेहिं सपनेहुं पर नारि न हेरी ।
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी / नहिं पावहिं परतिय मन दीठी ।[1]

इस प्रकार कवि नायक के रति भाव को उत्साह एवं वीरभाव में परिणत करने का प्रयत्न करता है। फिर भी स्थल स्थल पर राम एवं सीता के परस्पर रति भाव का कथन करता चलता है । राम सीता की स्मृति में रात भर जाकर चन्द्र से सीता की तुलना करते रहते हैं –

प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा । सिय मुख सरिस देखि सुख पावा ।
बहुरि विचारि कहहिं मन माहीं । सीय बदन सम हिमकर नाहीं ।

* * * *

सिय मुख छवि विधु ब्याज बखानी । गुरु पहिं चले निसा बड़ जानी ।[2]

सीता विषयक स्मृति रति संचारी के पुष्ट है किन्तु कवि रीतिकालीन या कलावादी कवियों द्वारा प्रथम दर्शन जन्य वियोग या प्रेमवैचित्र्य की प्रगाढ़ता न दिखाकर इसको सांकेतिक सूचना देता है । वह सीधे नहीं कहता कि रात्रि कितनी दुष्कर है । चन्द्र को देखकर रामलला को सीता की याद आ जाती है और विरह में उन्मत्त होकर आलाप करने लगते हैं। चन्द्र के लिए इस संदर्भ में निम्न विशेषता प्रयुक्त है । सिन्धु में पैदा होने वाला, जड़, विषाक्त, कलंकी, मलीन, रंक, विरहिनी को दुख देने वाला, राहु का ग्रास करने वाला, कोक शोक प्रद, प्रकट द्रोही । ये विशेषण राम की इसी चिन्तक चुव्यता के भी सूचक हैं।

इस शृंगार चित्रण का परिवेश भावुकता द्वारा प्रेरित न होकर उत्साह, वीर एवं भक्ति विषयक उदात्त भाव से संयमित है। राम सीता के विवाह के बाद कवि आसक्ति मूलक किसी भी भाव की अभिव्यक्ति मानस में नहीं करता / वह एक पंक्ति में मात्र राम विवाह के बाद के परस्पर विलास का संकेत देता है ।

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे । मंगल मोद विनोद न थोरे ।
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं । अवध जन्म जाचहिं विधि पाहीं ।[3]

संयोग शृंगार की ही भाँति मानस में वियोग की भी स्थिति है। यह नायक एवं नायिका दोनों में है। सीताहरण के प्रसंग में विप्रयोग शृंगार को देखा जा सकता है ।

नायिका विलाप – हा जगदेव वीर रघुराया केहिं अपराध बिसारेहु दाया ।

१: मानस बालकांड : दो . सं. २३१
२: " " २३७

आरत हरन सरन सुख दायक । हा रघुकुल सरोज दिन नायक ।
हा लक्षिमन तुम्हार नहिं दोसा । सो फल पावुँ कीन्हेउँ रोसा ।
विपति मोरि को प्रभुहि सुनावा । पुरोडास वह रासम खावा ।[1]

विप्रयोग शृंगार में नायिका द्वारा नायक की प्रेम विषयक चेष्टाओं शोर्य गुण आदि का स्मरण कराया जाता है। यहाँ सीता का विरह किंचित् भिन्न प्रकृति का है। वह विलासिनी की भाँति नायक की अश्लील, कामुक, रति विषयक चेष्टाओं का स्मरण न करके उनके उदात्त गुणों का कथन करती है। इस दृष्टि से वीर, दयावान्, एकमात्र शरण्य, दुःख हरने वाले, पवित्र पुरोडास के अधिकारी उत्तम देव रूप आदि उनके विशेषण हैं। राम के प्रति सीता की आसक्ति को सूचना देने के लिए कवि मात्र दो पंक्तियों का प्रयोग करता है -

जेहि विधि कपट कुरंग, सँग धाइ चले श्रीराम ।
सो छवि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम ।[2]

नायक आरब्ध विप्रयोग

नायिका की ही भाँति नायक भी उसके गुण, रूप एवं चेष्टा का स्मरण करके अनुताप का अनुभव करता है। सीता-हरण के पश्चात् राम भी इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हैं -

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृग नैनी ।
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रवीना ।
कुंदकली दाडिम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ।
वरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया वेगि प्रगटसि कस नाहीं ।[3]

इस प्रसंग में खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीन, मधुप निकर, सरद, अहि, श्रीफल कुंदकली, दाडिम, दामिनी, कोकिला, सरद कमल, ससि, आदि अप्रस्तुतों द्वारा सीता के आंगिक सौन्दर्य की ओर कवि संकेत करता है। आंगिक चित्रण के अन्तर्गत नेत्र, नासिका, ग्रीवा, नेत्रों की चपलता, केश, मुख, हाथ, ओष्ठ, दन्तपंक्तियाँ हँसी, वाणी, शीतलता, स्तन, जंघ, का स्पष्ट वर्णन न करके उनकी ओर संकेत मात्र करता है। ये रूढ़ अप्रस्तुत राम की विरह व्यंजना को पूर्ण रूप प्रगट करते हैं।

१: मानस: अरण्यकांड. २९ क.

नायक एवं नायिका का यह वियोग चित्त रति का है। इसीलिए इसे विप्रलोग शृंगार के अन्तर्गत रखा जाता है। किन्तु कवि इसकी पृष्ठभूमि में कतिपय परिवर्तन करके इसे शृंगारमूलक होने से बचा लेता है। सीताहरण के ही पूर्व राम सीता को अपनी नर लीला का रहस्य बतलाते हुए कहते हैं, उन्हें कुछ समय तक के लिए अग्नि के अन्तर्गत रहना है :—

दूहा रामकस्स थुति बनाई। हरहु उमा सो कथा सुहाई।
जेहि प्रिया प्रति रुचिर सुलीला। मैं कीन्ह कथ ललित नर लीला।
तुम पावक महँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा।[1]

इस प्रकार पाठक को यह निश्चित हो जाता है कि राक्षस द्वारा अपहृता सीता माया की थी। फलतः सीता का वियोग मात्र छलय था। सीता का यह वियोग मात्र बनावटी, कौतक पूर्ण ही कहा जा सकता है। राम के लिए भी कवि इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करता है :—

एहि विधि सोचत विलपत स्वामी। मनहुँ महा विरही अति कामी।
पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अविनासी।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राम की लीला मनुज लीला है जो उनके लिए वास्तविक नहीं है। कवि द्वारा कथित इन शब्दों से पाठक भी स्वीकार कर लेता है कि वस्तुतः यह वास्तविक लीला नहीं है इस दृष्टि से वास्तविक रूप में न तो राम को ही विरह हुआ था, न सीता ही राम के लिए विरहाकुल थीं। यह माया का प्रपंच था। भक्त पाठक भी इसे स्वीकार करता है। इसी प्रकार का शृंगार रास पंचाध्यायी में भी प्राप्त होता है। कृष्ण की यह लीला मात्र प्रपंच रूपिणी कही गई है। लीला को इन परिस्थितियों में शृंगार की सम्पूर्णतः पुष्टि न होकर उसका आभासिक स्वरूप रखा जाता है। इस दृष्टि से कवि की मनोवृत्ति शृंगार विषयक मनोविकारों में सिन्धि का भाव नहीं मिलती। वह उन मनोविकारों को काव्य में अपने विवेक से संयमित करता है। शुद्ध काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ध्वनिवादियों ने इस स्थिति को रसाभास कहकर पुकारा है। इस प्रकार भक्तिकाव्य में प्रयुक्त शृंगार रस के इस स्वरूप को आभासिक या मायिक शृंगार कह सकते हैं क्योंकि यह लीला का अंग है, जिसे भक्त, पाठक, कवि एवं ऐतिहासिक पात्र सभी काल्पनिक सत्याभास मानते हैं।

.....

१: मानस अरण्यकांड दो० सं. २३.

२: " " ३०

२- शृंगार रस का आध्यात्मीकरण . वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि धार्मिक या दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक है।कृष्ण या राम की लीला लौकिक है।लौकिक लीला का कौन आराधक कवि का इष्ट है।इस लौकिक लीला में आध्यात्मिकता के भाव का आरोपण किस प्रकार कराया जाय भक्तिकाव्य के लिए यह भी एक प्रमुख समस्या रही है।इसके लिए एक उपाय तो वह है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है किन्तु चरितात्मक काव्यों में इस यह सम्भव हो सकता है।लीलामूलक मुक्तक काव्यों के लिए रस की प्रधानता आवश्यक है। इस दृष्टि से शृंगार इसका मुख्य भाव अवश्य होगा किन्तु भक्ति काव्य के पाठक मात्र इसी शृंगार में डूब न जाय इससे बचने के लिए इन कवियों ने शृंगार चित्रण में आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति दिखाई है।इस प्रकार की प्रवृत्ति अष्टछाप के पद साहित्य में विशेष रूप से दृष्टव्य है।

राधा कृष्ण के उद्दीपन संयोग शृंगार के कृष्ण काव्य अनेक रूपों में मुखरित है।संयोग की अनेकानेक अवस्थाएं यहां प्राप्त हो जाती हैं। ये कवि अपने काव्य का आरम्भ प्रथम दर्शन से करके राधा कृष्ण की प्रेम पिपासा की द्युति श्रुति विहार कराते हैं।अष्टछाप के सभी कवियों की दृष्टि प्राय: इसी प्रकार की मिलती है।

नायिका .

कृष्ण के स्वरूप को देख कर नायिका राधा मुग्ध हो जाती है।प्रथम दर्शन में ही वह उनके हाथों बिक उठती है। उनका मुकुट ,कच ,भाल ,तिलक ,भ्रुव लोचन ,कुंडल ,श्रवण ,हास ,नासिका ,अलकें ,अधर ,दशन , चिबुक ,भुजा ,पीतपट कनक मेखला ,जंघ ,जानु आदि सभी सुन्दर लगने लगते हैं।[१] कृष्ण का सौन्दर्य अत्यधिक आकर्षक है। इस सौन्दर्य के प्रति नायिका के निम्न भाव जागृत होते हैं-

१: सुन्दर मुकुट कुटिल कच सुन्दर ,भाल तिलक छवि धाम।
सुन्दर भ्रुव ,सुन्दर अति लोचन ,सुन्दर अवलोकनि विश्राम।
अति सुन्दर कुंडल श्रवननि पर सुन्दर कलकनि रीझत काम।
सुन्दर हास नासिका सुन्दर ,सुन्दर अलकें अधर उपाम।
सुन्दर दशन . चिबुक अति सुन्दर ,सुन्दर भुजा विराजत राम।
सुन्दर जंघ जानु पद सुन्दर ,सुर उधारन सुन्दर नाम .: सूरसागर : सं. सं. २४४३

वे मुग्ध हो जाती हैं। उनका चित्त चुरा लिया जाता है उस स्वरूप पर वे ललचा उठती हैं। रूप के देखकर चित्रवत हो जाती हैं, कृष्ण स्वरूप को देखकर वे नहीं सोच पाती कि यह रात्रि है या दिन स्वप्न है या जागरण, संभ्रम है या चेतन[1]। रूप दर्शन के समय पलक निमेष को युग के समान समझना, मदन के बाण से विद्ध, कृष्ण के मुख सरोज के लिए राधा के नयन का भृंग बन जाना, मन का पशु हो जाना, पावों का लड़खड़ा जाना, रोम रोम में लोचन लाकर कृष्ण का रूप देखना, एक एक अंग से कृष्ण की छवि का पान करना अमृतसिन्धु में डूबी लेना, काम बाण का विद्ध जाना उनके अंग प्रत्यंग के दर्शन की तीव्र लालसा, उनके स्वरूप को देखकर आत्मविभ्रम आदि भाव जागृत होते हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इन भावों की रति के संचारी विभिन्न भाव मद, गर्व, आवेग, उन्माद, विरह, औत्सुक्य, हर्ष, स्नेह आदि के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

नायक पक्ष

कृष्ण भक्त कवियों ने नायक आराध्य शृंगार को गौण रखा है किन्तु अनेक स्थलों पर उनका व्यक्तित्व उभर पड़ा है, प्रथम दर्शन के बाद दोनों का एकाएक मिलन हो उठता है। कृष्ण ने राधा को अंक में भर लिया अधर से अधर नेत्र से नेत्र, हृदय से हृदय, कंठ से कंठ, भुजा से भुजा, मिल जाते हैं[2] इस गूढ़ आलिंगन के बाद कृष्ण ने राधा को कुंज गृह में चलने के लिए संकेत किया[3]। इसके बाद दोनों

१: तब ताकि जकि ह्वै रही चित्र सी, पल न लगत दिन रैन
सूरदास यह सोच कि संभ्रम सुपन किधौं दिन रैन। सूरसागर पृ. सं. २४२२

२: छुटकि न परत प्रगट ही निरखत, आनन्द की निधि खानि
खंडि यह विरह संजोग कि अमरस सुख दुःख लाभ कि हानि।
मिटति न भूख हौं अगिनि रुचि, सूर सु लोचन बानि।
इत लोभी उत रूप पास निधि, कौउ न रहत मिति मानि: सूरदास:
पृ. सं. २४७०।

३: विहंसि राधा कृष्ण अंक लीन्हो
अधर सौं अधर धरि, नैन सौं नैन मिलि, हृदय सौं हृदय लगि, हरषि कीन्हो
कंठ भुज भुज जोरि, उठे लीन्हीं नारि, सुमन दुख टारि सुख दियो भारी।
हरषि बोले श्याम, कुंज बन धाम, जहाँ हम तुम संग मिलें प्यारी: सूर।
पृ. सं. २५६६

कुंज में मिलते हैं। राधा ने अपने कटाक्ष से कृष्ण को विद्ध कर दिया

मन मृग बेध्यो नैन बान सों।

गूढ भाव को सैन अचानक, तकि ताक्यो मुकुटी कमान सों।
प्रथम नाद कल वेरि निकट से, सुरली सपक सुर बंधान सों,
पाछे बंक चितै मधुरे हँसि, घात कियो उलटे सुठान सों।
सुरसागर सुर सुमार विधा या तन को, घटत नहीं औषधी आन सों।

अन्ततः गूढ आलिंगन भाव में विद्ध दोनों सुरति विहार में आमग्न हो गए :

नवल निकुंज नवल नवला मिलि, नवल निकेतन रुचिर बनाए।
विलसत विपिन विलास विविध वर, वारिस बदन विकच सुखपाए।
लागत चन्द्र मुख सुतिय तन, लता भवनि मुकुलनि मग आए।
मनु मदन वल्ली पर छिमकर, छीकत सुधा धार सत नाए।
सुर स्वामी राधामाधव मिलि क्रीडत रति रतिपतिहि लजाए।[2]

किन्तु भक्त कवियों को इतने से ही संतोष हुआ। उन्होंने सुरतान्त के अनेक मनोरम विलास वर्धक मादक चित्र उपस्थित किए हैं —

सुरति अन्त बैठे बनवारी।
प्यारी नैन मुन्द सुरत नहिं सम्भल, सकुचि लेसति गिरधारी।
बसन सम्हारत लगे दोऊ तन, आनन्द उर न समाइ।
चितवत झुकि झुकि नैन लगोहैं, सो छवि बरनि न जाइ।
नागरि अंग मरगजा सारी कान्ह मरगजे अंग।
सुरस प्रभु प्यारी बस कीन्ही हाव भाव रति रंग।[3]

इन पदों में संभोग शृंगार अपने चरम उत्कर्ष पर है। नायक नायिका के संभोग शृंगार विषयक प्रत्येक भाव चाहे वे अश्लील हों या न हों कवि को वर्णित करने में किंचित भी संकोच नहीं है। किन्तु कवि इन भावों के अध्यात्मीकरण की ओर अत्यधिक सचेष्ट है। इसके लिए वह दो साधनों का प्रयोग करता है —

.....

१: सुरसागर पृ. सं. २५८२.
२: " " २६०
३: " " २६१

१- शृंगार विषयक इन पदों के बीच बीच में कृष्ण की शक्ति, ऐश्वर्य एवं ब्रह्मत्व का संकेत करता चलता है।

२- पद के अन्त में कुछ ऐसे गूढ संकेत दे देता है जिससे भाव विह्वल पाठक की दृष्टि शृंगारोन्मुख होने से बच जाती है।[१]

विप्रयोग शृंगार के अन्तर्गत भी प्राय: इस आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति का यही स्थिति है।

शुद्ध शृंगार रस ..... हिन्दी वैष्णव भक्तिकाल के रसिकोपासक कृष्ण एवं राम भक्ति साहित्य में शुद्ध शृंगार की स्थिति प्राप्य है। इस दृष्टि से राधावल्लभ, हरिव्यासी तथा हरिदासी एवं रसिकोपासक राममक्ति शाखा का काव्य भक्ति के अन्तर्गत शुद्ध शृंगार रस निरूपण का आधार है। सूर आदि लीलाप्रिय कवि इसके अपवाद नहीं हैं। शुद्ध शृंगार रस चित्रण की प्रवृत्ति का विकास सूर एवं परमानन्ददास के ही साहित्य से आरम्भ हो जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय के प्राप्त लीला विषयक पदों में शुद्ध शृंगार का भाव प्रभूत मिलता है। भक्ति का आध्यात्मिक पक्ष यहाँ इतना गौण हो चुका है कि वह शायद ही कहीं स्पष्ट हो सके इस दृष्टि से इस विषय में प्राप्त पदों द्वारा उदाहरण न देकर उनके भावों की ओर संकेत कर देना पर्याप्त होगा क्योंकि उदाहरण में प्राप्त पदों की संख्या पर्याप्त है।

शृंगार रस .....

नायक ⟶ कृष्ण या राम

नायिका ⟶ राधा या सीता.

नायक के सखा: कृष्ण के साथ श्रीदामा, अर्जुन, सुबल, आदि अष्टसखा. तथा राम के साथ उनके भाइयों का उल्लेख।

नायिका के साथ सखियाँ .....

राधा के साथ ललिता, प्रवीना, सुभद्रा, चन्द्रावली, विशाखा, आदि सखियों का उल्लेख मिलता है और सीता के साथ अष्ट सखियों का।

विभाव :- कायिक, वाचिक, मानसिक गुण, वय, वयस्सन्धि, मानसिक प्रियता के अन्तर्गत रूप, माधुर्य, प्रियता, लावण्य, मार्दव, अभिरूपता आदि की .....

१: विशेष के लिए देखिए अध्याय ५ - शृंगार भाव का आध्यात्मीकरण

और आसक्ति तथा कृष्ण चरित्र के अन्तर्गत रास, फाग, कन्दुक, ताण्डव, वेणु, गोदोहन, वन गमन, तथा वनागमन, गोधूलि, मोरचन्द्रिका, पीताम्बर, वनमाल, चन्दन लेपन, गोरोचन, गीत, हंसमाल, लकुटी, वृन्दारण्य आदि आते हैं। इसके उद्दीपक तत्वों में कृष्ण की तिरछी दृष्टि, त्रिभंगी रूप, सुख, मुख, मुरा, केश, लता, कर्णिकार, कदम्ब, मालती, यमुना, चन्द्रिका, मेघ, विद्युत, वीणा, वसन्त, शरद् पूर्णिमा, आन्दोलित वायु आदि प्रमुख हैं।

अनुभाव. अंगज अलंकारों में समस्त शास्त्रीय तत्व भक्तिकाव्य में प्राप्त शृंगार में वर्णित हैं; हाव, भाव एवं हेला तथा स्वभावज अलंकारों में लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत आदि के भाव यहाँ प्रमुख मिलते हैं। यत्नज अलंकारों में शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भता, औदार्य एवं धैर्य के भाव वर्तमान है।

उद्भास्वरों में लीला, उत्तरीय, धम्मिल्ल, ललित तथा कुट्टमित आदि भावों के अनेक जीवन्त उदाहरण भक्तिकाव्य में वर्तमान हैं; वाचिक उद्भास्वर के अन्तर्गत विशेष रूप से वनान्तर एवं देशान्तर विरह की स्थिति में विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप एवं संदेश सभी स्थितियाँ भक्तिकाव्य के शृंगार में प्रमुख हैं।

भक्ति काव्य के प्राप्त शृंगार विषयक व्यभिचारी भाव शृंगार काव्य की तुलना में कम नहीं हैं। सम्पूर्ण भक्ति का ठाठ में शृंगार के विषय में ये संचारी भाव प्राप्त हैं। विषाद, दैन्य, दुःख, ग्लानि, श्रम, चन्द्र, ताप, गर्व, शंका, त्रास आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि मोह, अवहित्था, जड़ता, स्मृति, वितर्क चिन्ता, हर्ष, मति, धृति सौभाग्य के कारण उत्पन्न असूया (रास से उत्पन्न) चपलता, श्रम से उत्पन्न निद्रा आदि भाव यहाँ प्राप्त हैं। मरण संचारी भाव का स्पष्ट रूप उल्लेख नहीं मिलता किन्तु उन्माद के कारण मृत्यु संचारी रूप का आभास अवश्य मान मिलता है।

शृंगार की ध्वनि : शृंगार वस्तुतः विषयोन्मुखी का भाव है जब कि भक्तिकाव्य का उद्देश्य विषयोन्मुखी प्रवृत्ति को ईश्वरोन्मुख करना है। इस प्रकार शुद्ध शृंगार की स्थिति भक्तिकाव्य शास्त्रीय दृष्टि से क्या होगी। इसका समाधान ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर दिया जा सकता है। ध्वनि सम्प्रदाय - वस्तु एवं ध्वनि को दो पृथक तत्व

के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार भक्तिकाव्य में प्रयुक्त शृंगार वस्तु है और उससे उत्पन्न सात्विकता या ईश्वरोन्मुखता का भाव ध्वनि है। इस प्रकार शृंगार को प्रकरण ध्वनि का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। यदि ऐसा नहीं समझा जाता तो भक्ति काव्य में प्राप्त शृंगार के साथ अन्याय होगा। शृंगार अपने आप में भक्तिकाव्य में साध्य रूप में नहीं प्रयुक्त है। वहाँ साध्य तो मधुर भक्ति है इसी मधुर भक्ति की व्यंजना कराना शृंगार विषयक पदों का मूल मन्तव्य है। यह नारदभक्तिसूत्र के अनुसार, राग द्वेषादि मनोविकारों को ईश्वर में समर्पित कर देने का एक रूप मात्र है।

शान्तरस

भक्तिकाव्य में दो ही रस प्रमुख हैं लीला विषयक शृंगार एवं शान्तरस। शान्त भक्तिमूलक काव्यों में परम्परा से चला आता हुआ प्रचलित भाव रहा है। इस शान्त का पर्यवसान भक्तिरस में किस प्रकार हुआ तृतीय अध्याय के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भक्तिकाव्य में व्यवहृत शान्तरस की प्रवृत्तियों पर विचार करना अपेक्षित है।

वैष्णव भक्तिकाव्य में शान्तरस की दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं.—

१ रागमूलक या निर्वेदमूलक शान्तरस,

२ ज्ञानमूलक या आसक्तिमूलक शान्तरस

ज्ञानमूलक शान्त

इस शान्त का विषय तत्वचिन्तन ब्रह्म, ब्रह्म के अवतारों का ज्ञान तथा उसके प्रति निष्ठा एवं आश्रय भक्त है। वैराग्य, निर्वेद या तत्व चिन्तन इसके स्थायीभाव हैं। तुलसी एवं सूर की रचनाओं में शान्त के इस स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। इसके उद्दीपन के अन्तर्गत संसारविषयक असारता, क्षण भंगुरता, मनुष्यदेह की नश्वरता एवं अनुभावों के अन्तर्गत ज्ञानमूलक वृत्ति को रखी जा सकती है। वैराग्य भाव से प्रेरित शान्तरस की प्रक्रिया को और मानसकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके अनुसार शान्तरस मानसिक शमत्व के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह शमत्व भाव परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध से समुत्थ है। शमत्व की इस स्थिति की प्राप्ति के लिए आरम्भ में सात्विक भाव की परिपूर्णता अपेक्षित है। इससे क्रमशः वे भाव रूप आगे विकसित होते हैं—श्रद्धा, हरिकृपा, जप, तप, व्रत, यम, नियम, सांसारिक, निवृत्ति, मत की निर्मलता, संतोष, क्षमा

धृति ,मुदिता ,दम ,सत्याचरण ,विमल वैराग्य ,शान्ति ,। इस प्रकार सभी शमत्व की स्थिति मानसकार के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के मानसिक नियमन पर ही सम्भव है।

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौ हरि कृपा हृदय बस आई।
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सब धर्म अचारा।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।
नोई निवृत्ति पात्र विस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा।
परम धरम पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई।
तोष मरुत तब दया दुलावै। धृति सम जावन देइ जमावै।
मुदिता मथै विचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।
तब मथि काढि लेइ नवनीता। विमल विराग सुभग सुपुनीता।

वस्तुत: भक्तिकाव्य में भक्ति की तीन श्रेणियां हैं -वैराग्यजन्य भक्ति ,ज्ञानभक्तिजन्य भक्ति तथा दास्यजन्यभक्ति ,वैराग्यजन्य भक्ति ज्ञान के माध्यम से ही उत्पन्न होती है। इसका स्वभाव शममूलक है। फलत: इस प्रकार के शान्तरस का मुख्याधार भी यही है।उपर्युक्त प्रसंगक्रम में ही तुलसी ने इस शममूलक वृत्ति को और अधिक स्पष्ट करते हुए बताया है -

जोग अगिनि करि प्रगट तब ,कर्म सुभाऊभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृति ,ममता मल जरि जाई।
तब विग्यान रूपिनी,बुद्धि विसद घृत पाइ।
चित दिया भरि धरै दृढ समता दिअटि बनाई।
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढि।
तूल तुरीय सम्हारि पुनि, बाती करै सुगाढि।

ज्ञान के इस साधन क्रम में १० शमत्वमूलक वृत्ति का बोध ही शान्तरस है।

एहि बिधि लेसै दीप,तेज रासि विग्यानमय।
जातहिं जासु समीप ,जरहिं मदादिक सलभ सब।[१]

इस प्रकार तुलसी द्वारा प्रयुक्त योगरूपक वैराग्यजन्य शमत्वमूलक शान्तरस की प्रक्रिया को और स्पष्ट रूप से संकेत करता है इस के विनय सम्बन्धी पदों मानस के आध्यात्मिक विवेचन ,एवं विनय पत्रिका में शान्तरस के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

.....

१: मानस : उत्तर कांड : दो: सं. १७ क.स.ग.प्र.

उदा० राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहं मोह निसा लवलेसा ।
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहं पुनि विग्यान विहाना ।
हरष, विषाद, ग्यान अग्याना । जीव, धर्म, अहमिति अभिमाना ।
राम ब्रह्म नाएक जग नाना । परमानन्द परेस पुराना ।
दरस्य प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ ।[1]

अद्भुतरस शान्तरस

सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के शान्तरस प्रकरण में यह सिद्ध किया था कि शान्तरस भी सुख या आनन्दमूलक होता है। इसी को ध्यान में रखकर इन्होंने इसका स्थायीभाव तृष्णाक्षय सुख माना। मध्यकालीन कृष्ण भक्तिकाव्य में प्राप्त शान्तविषयक भाव मात्र वैराग्य से ही प्रेरित नहीं है, उसमें तृष्णाक्षय सुख की भी है। आराध्य के प्रति आत्मभोग की आत्मार्पिता एवं तादात्म्यता दोनों भाव यहां वर्तमान हैं; भक्तलीला का अनुकरण करके ऐतिहासिक प्रभाता का सुख भोगना चाहता है। तात्पर्य यह कि हिन्दी भक्तिकाव्य में प्राप्त शान्त विषयक सुख को तृष्णाक्षयसुख न कहकर आसक्तिमूलक सुख कहना समीचीन होगा।

आसक्तिमूलक भावों के अन्तर्गत कवि आसक्तिपरक माध्यम को अपनाकर ब्रह्मविषयक सुख का अनुभव करता है इसी दृष्टि से वैष्णवाचार्यों ने ब्रह्म विषयक इस आनन्द को रति या आसक्तिभाव से पुष्ट माना है आचार्य निम्बार्क ने दशश्लोकी के अन्तर्गत दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं मधुर विषयक भाव को रतिमूलक बताया है नारदभक्तिसूत्र में इन्हें क्रमशः आसक्तियों के ही नाम से पुकारा गया है रूपगोस्वामी इसी के आधार पर अपना रस सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रीय आधार देकर पुष्ट करते हैं फलतः शान्तरस विषयक इन विभेदों को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आसक्तियों पर ही केन्द्रित कहा जा सकता है :

दास्य

रूपगोस्वामी ने दास्य भाव को शान्त से पृथक रखा है। उनके अनुसार यह प्रीति भक्ति रस है। इसकी प्रियता की ओर श्रीधर स्वामी ने अपनी कौमुदी नाम किसी कृति में संकेत किया है[2]। उनके अनुसार यह दो प्रकार का है—

१: मानस उत्तर काण्ड दो० सं० ११६ ।
२: श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु : प्रीति भक्तिरस : श्लोक १ ... १० तक ।

सम्भ्रम प्रीति तथा गौरव प्रीति -

सम्भ्रमप्रीति :

उनके अनुसार इसका स्थायी भाव प्रीति है। कृष्ण के प्रति आदर भक्ति एवं समर्थमी का भाव इसका मुख्याधार है। इसके अलावा आलम्बन कृष्ण, हरि एवं उनके दास हैं। हरि का रूप यहाँ चतुर्भुज न होकर द्विभुज है। इनके रोमकूपों में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं। उद्दीपन के अन्तर्गत कृष्ण के सभी भाव वर्तमान हैं। स्तम्भादि इसके सात्त्विक हैं। इसके व्यभिचारियों में उन्होंने मद, त्रास, अपस्मार, आलस्य, उग्रता, क्रोध एवं असूया को गिनाया है।

गौरव प्रीति :

यह इससे पृथक है। स्नेह इसका स्थायी भाव है। भक्त के हीन भाव की अनुभूति इसका मुख्य आधार है। इसके आलम्बन कृष्ण एवं उद्दीपन कृष्ण कृपा है। अनुभाव कृष्ण के चरणों में अर्पण भाव, उनकी आज्ञा का पालन, प्रणाम एवं विनम्रता है। इसके सात्त्विक स्तम्भादि हैं। सम्भ्रम प्रीति के अन्तर्गत कथित व्यभिचारी भाव ही इसके संचारी हैं। इस रस की निष्पत्ति जीव गोस्वामी के अनुसार आश्रय दास्य भक्ति एवं प्रेम्ण के परिणामस्वरूप होती है।[1]

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त दास्य रस इससे किंचित् भिन्न है। कोई आवश्यक नहीं कि इसके आलम्बन कृष्ण ही हों। कृष्ण के साथ, राम, हरि, गणिका, अजामिल, गृद्ध, शबरी, निषाद का उद्धार करने वाले विष्णु इसके आलम्बन हैं। तन्मूलक संचारी भावों में धृति एवं मति दास्य भक्ति का मुख्य आधार है। हिन्दी वैष्णवभक्ति काव्य की अधिकतर प्रवृत्तियाँ स्नेह प्रीति भक्तिरस से मिलती हैं। इस संदर्भ में जीवगोस्वामी की मान्यता रूपगोस्वामी से अधिक संगत है। जीवगोस्वामी आश्रय, दास्य, आश्रयदास्य, एवं प्रेम्ण मूलकदास्य भाव को इसका आधार मानते हैं। हिन्दी भक्ति काव्य में प्राप्त दास्यरस, आश्रयदास्य भाव के अधिक निकट है। रूपगोस्वामी इसे भक्तिरस का प्रमुख भेद मानकर इसकी व्याख्या करते हैं। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त दास्य मुख्य रस न होकर शान्तरस का भेद रस कहा जा सकता है क्योंकि इसका मूल उद्देश्य शमत्व की स्थापना से सम्बन्धित है।

सख्य : रूपगोस्वामी ने इसे स्वतंत्र रस माना है। श्रीहरिभक्ति रसामृतसिन्धु में इसके भावों का विस्तृत परिचय दिया गया है। रूपगोस्वामी के अनुसार इसका नाम प्रेम्ण भक्तिरस होना चाहिए। डॉ० करुणावर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध 'मध्ययुगीन

१: वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट एस.के. डे. पृ. १६५, १६६

हिन्दी भक्तिसाहित्य में 'वात्सल्य तथा सख्य' के अन्तर्गत सख्य का अध्ययन करते हुए इसका शास्त्रीय विवेचन इस प्रकार से किया है :-

१ आलम्बन : कृष्ण तथा उनके सखा .

२ उद्दीपन : कृष्ण की बाल कुमार एवं पौगन्ड अवस्थाएं एवं पत्र निर्मित अलंकरण ,वाद्य तथा उनके सखाओं के विभिन्न कार्य कलाप .

३ आश्रय : यशोदा ,नन्द,गोपियां ,गोप तथा कृष्ण सखा .

४ अनुभाव . साधारण सख्य के वाद युद्ध ,कृष्ण शौर्य,रासलवध ,क्रीडा ,हास. दधिदान , एक शैया शयन ,आदि सभी सात्विक अनुभाव हैं.

५ संचारी . दैन्य ,ईर्ष्या ,स्पर्धा, गर्व ,चापल्य,आलस्य,औत्सुक्य ,वाग्वैपुल्य ,गदगद होना,रोमांच ,मोह ,चिन्ता,स्मृति ,हर्ष ,तथा स्नेह आदि सख्य के भाव संचारी हैं।

६: स्थायीभाव समानदृष्टि ,साहचर्य एवं सख्यधर्म के कारण सख्यरति या मैत्री स्थायीभाव है यही रति उत्तरोत्तर सख्य ,प्रणय ,प्रेम ,स्नेह तथा रागभेद से पांच रूपों में देखी जाती है

सखा - प्रियसखा, प्रियनर्मसखा ,आदि रूपों में अर्जुन ,भीमसेन ,बलराम ,श्रीदामा, श्रीदामा ,सुबल . स्तोक ,सुमंगल आदि देखे जा सकते हैं इन्हीं के संयोग से सख्य भाव साहित्य में एक स्थायीभाव कहा जा सकता है।

डॉ० करुणावर्मा का यह लक्षण निर्धारण श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पर आधारित है यही कारण है कि भक्तिरसामृतसिन्धुकार की भांति वे भी भक्तिकाव्य में व्यवहृत रस के यथार्थ स्वरूप को विस्मृत कर जाती हैं उनकी मुख्य स्थापना यही है कि भक्तिकाव्य में व्यवहृत सख्य अंगीरस है यद्यपि इनकी स्थापना में बल है ,किन्तु . भक्तिकाव्य में अनेकानेक ऐसे उदाहरण हैं ,जहां यह अंग या भाव बनकर आया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह अंगरूप भाव किसी अंगीरस से सम्बन्धित होना चाहिए। वह अंगीरस है शान्त ।निश्चित रूप से हिन्दी भक्तिकाव्य में प्राप्त सख्य को यदि शान्त से पृथक कर दिया जाय तो ,वह सामान्य भाव या लौकिक सख्य बनकर ही रह जायेगा । अत: इस सख्य को मूलत: शान्त का अंग धर्म ही कहना उचित जान पड़ता है यही कारण है कि लौकिक सख्य से अलगाव करने के ही कारण भक्त कवि सख्य विषयक पदों में अपनी टिप्पणियां जोड़ता चलता है। निम्न उदाहरणों से इसकी स्थिति और भी स्पष्ट हो जायेगी .

चरावत वृन्दावन हरि धेनु ।
बाल सखा सब संग लगाए, बेलत हैं करि वेनु ।
कोउ गावत कोउ मुरलि बजावत कोउ विषान कोउ रेनु ,
कोउ निरतत कोउ उपटि ताल दे प्रगट कृष्ण बालक सैन ,
त्रिविध समीर पवन जँह बाजत, निसदिन उमग कुंज बन रेनु ।
सूरस्याम निजधाम सबन विसारत आवत इह सुख लेनु ।

प्रस्तुत पद में यदि अन्तिम पंक्ति को निकाल दिया जाय तो वह मात्र लौकिक स्तर पर रह जावेगा किन्तु अन्तिम पंक्ति का प्रयोग अलौकिकता सम्बन्धी भाव की व्यंजना के लिए हुआ है। कृष्ण के अर्थ में 'निजधाम बिसारत' विष्णुलोक के लिए व्यंग्य है। इस प्रकार सख्य विषयक भाव को शान्त का अंग मानना अधिक उचित है।

वात्सल्य

वात्सल्यमूलक शान्त का अन्तिम भाव वात्सल्य है। इसका प्रयोग भक्तिकाव्य में अधिकाधिक मात्रा में हुआ है। तुलसी एवं समस्त अष्टछाप कवियों की रचनाओं में कुछ न कुछ वात्सल्य भाव के पद अवश्य मिल जाते हैं। रूपगोस्वामी के अनुसार वात्सल्य रस की स्थिति इस प्रकार है:

इसका स्थायी भाव वात्सल्य रति है। इसके आलम्बन कृष्ण तथा उनके गुरु सम्बन्धी माता पिता आदि हैं। उद्दीपन के अन्तर्गत कौमार्यादि वय रूप, वेष, शिशु सुलभ चापल्य स्मिति तथा लीला आदि के भाव हैं। उनका यह कौमार्य तीन प्रकार है - आदि, मध्य एवं अवसान। इसके सात्विक के अन्तर्गत स्तनस्राव, एवं स्तम्भादि हैं। व्यभिचारी भाव के अन्तर्गत उग्रता आलस्य आदि के भाव हैं। रूपगोस्वामी के अनुसार यह भक्तिरस का एक प्रकार है किन्तु वैष्णव भक्तिकाव्य में इसकी स्थिति दो प्रकार की है। कहीं कहीं इसमें स्वतन्त्र रसत्व की पूर्ण क्षमता मिलती है किन्तु अधिक स्थलों पर यह शान्त का अंग बनकर आया है। वात्सल्य सम्बन्धी पदों का प्रयोजन यहाँ कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व से परिचय कराना है। इस दृष्टि से इसे आसक्तिमूलक शमत्व का अंग होना पड़ा है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में प्राप्त मधुर भाव का विवेचन, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से शृंगार के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से भक्तिकाव्य के सौन्दर्य शास्त्रीय एवं शृंगार रस के संदर्भ में इनका पूर्ण रूपेण विवेचन किया जा चुका है।

१: सूरसागर : दशमस्कन्ध : प सं. १०६६

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में एक अन्य प्रकार का भी शास्त्रीय प्राप्त है जिसे तृष्णाभाव मुक्ति के नाम से पुकारा जा सकता है। इसको ब्रह्मानन्द, रहस्यवादियों के समीप की है, किन्तु वह रूपोपासना के कारण उनसे भिन्न हो जाती है। भक्तिकाव्य में ब्रह्म को आनन्दानुभूति के अवसर पर इस प्रकार के भावों का संकेत मिलता है। इसमें भक्त को आत्मिक या ब्रह्मविषयक प्रियता की अनुभूति प्राप्त होती है, किन्तु उसका स्वाद अकथनीय एवं अनुभवीय है। मानस में उच्चकोटि के भक्तों के हृदय में इस सुख का कथन मिलता है :-

हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए।
श्री रघुनाथ रूप उर आवा। परमानन्द अमित सुख पावा।
मगन ज्ञान रस दंड जग .....[1]

इस दृष्टि से अनुन्दि, गीतावली, कृष्णगीतावली एवं विनयपत्रिका के अनेक पदों में कवि को सुख या आनन्दमूलक वृत्ति को देखी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सूर के अनेक पद इस दृष्टि से उत्तमकाव्य की कोटि में रखे जा सकते हैं :-

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहाँ प्रेम निसा होत नहिं, कबहुँ सोच सायर दुख जोग।
जहाँ सनक सिव हंस मीन मुनि नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि उर गुंजन निगम सुबास।
जिहि सर मज्जन मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहा कहाँ रहि लीजै।
लछिमि सहित होत नित क्रीड़ा सोभित ब्रजबदास।
अब न सुहात विषय रस छीलर वा सूकर की आस।[2]

इसी प्रकार के अनेक पद हिन्दी के अन्य वैष्णव भक्त कवियों में प्राप्त है।

१: मानस : बालकाण्ड दो० सं. १११
२: सूरसागर पृ. सं. ३३७

अन्यरस

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय रस सिद्धान्त के दृष्टिकोण से दो ही प्रधान रस हैं। शृंगार एवं शान्त शेष वीर, अद्भुत, करुण, रौद्र वीभत्स एवं भयानक की स्थिति सामान्य है। प्रयोग की दृष्टि से वीर अद्भुत एवं करुण सम्बन्धी पदों की संख्या अधिक है उदात्त (Sublime) के क्षेत्र में नव भावों का अध्ययन किया जा सकता है। रस की दृष्टि से इनका परिचयात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

वीर :- आचार्य भरत के अनुसार उत्तम प्रकृति वाला उत्साहात्मक रस वीर कहलाता है। इसका उत्पत्ति प्रभावादि के अभाव से निश्चय नीति, इन्द्रियजय विनय, सेना पराक्रम, सामर्थ्य, प्रताप आदि विभावों में होता है स्थिरता, शौर्य, धैर्य, त्याग, निपुणता आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। धृति, मति, आवेग, उग्रता, गर्व, अमर्ष, स्मृति, रोमांच, एवं प्रतिबोध इसके संचारी भाव हैं[1]। रूपगोस्वामी के अनुसार यह भक्तिरस का अंगी रस है। इसके लिए उनका तर्क यह है कि वीर से सम्बन्धित समस्त भाव कृष्ण विषयक हैं। अतः यह वीररस कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण भक्तिरस का अंग है। उनके अनुसार भक्तिकाव्य में प्राप्त यह स्थिति वीरभक्तिरस कहा जा सकता है। इसका स्थायीभाव उत्साह भक्तों में भक्ति विषयक आवेश के रूप में भी गृहीत होता है[2]। आचार्य गोस्वामी ने काव्य में प्रयुक्त वीर के युद्ध, दान, दया एवं धर्म सम्बन्धी भेदों का आरोपण भक्ति में भी किया है। प्रायः काव्य में प्रयुक्त वीररस विषयक समस्त विभाव, अनुभाव एवं संचारी इसके भाव हैं[3]।

वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त वीर रस की स्थिति अपने विभावादि के सम्बन्ध में प्रायः उसी प्रकार है जिस प्रकार रूपगोस्वामी ने प्रस्तुत की है। मात्र इसमें थोड़ा सा अन्तर है। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त वीर रस वस्तु से सम्बन्धित है। इसका मूल उद्देश्य भक्त के हृदय में ब्रह्म के उदात्त भाव की स्वीकृति से सम्बन्धित है। भक्त इस वीर भाव के द्वारा आराध्यविषयक अपनी आस्था का एक ओर पोषण करते हैं, दूसरी ओर उनके शील, शक्ति, महत्ता आदि का बोध भी कराते हैं। अनुबन्ध विषयक घटनाओं में वीर रस वस्तु के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु उसकी व्यंजना लौकिक काव्य की भाँति उत्साह का भाव प्रकट करना नहीं है। वह कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व को व्यंजित करने का साधन है।

१: नाट्यशास्त्र: अध्याय ६ श्लोक ५१ के बाद कारिका ।

२: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु : उत्तरविभाग गौण भक्तिरस लहरी : अथ वीरभक्तिरस श्लोक १ .. ४० तक

हास्यरस

हास्य स्थायीभाव से युक्त रस हास कहलाता है और वह दूसरे के विकृत वेष , अलंकार , निर्लज्जता , लालचीपन , तथा गर्दन , के हाथ अंगत भाषण , अज्ञानता के देखने एवं दोषों के कथन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। होठ , नाक और गालों के फड़काने , बातों के फैलाने , पेट के पकड़ने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। अवहित्था , आलस्य , तन्द्रा , निद्रा , स्वप्न, प्रबोध असूया , इसके संचारी भाव हैं[1]। रूपगोस्वामी ने कृष्णभक्ति को आधार बनाकर इसे हास्यभक्ति रस के नाम से पुकारा है उनके अनुसार इसका स्थायी भाव हासरति है। इसके आलम्बन कृष्ण एवं उनके सखा हैं आश्रय वृद्ध एवं शिशु हैं उद्दीपन के अन्तर्गत कृष्ण , उनका उसी से सम्बन्धित वेष तथा चरित्र हैं। रूपगोस्वामी द्वारा कथित यह हास्यभक्तिरस मौ स्मित , हसित , विहसित , अवहसित , अपहासित , अतिहसित , ६ प्रकार का होता है[2]। वैष्णव भक्ति साहित्य में तुलसी ने हास्य के सामान्य स्वरूप स्मिति , हासत , का प्रयोग मानस में किया है। नारद के प्रसंग में का हासत उन्हें आलम्बन बनाकर प्रस्तुत किया गया है इसके अतिरिक्त स्मिति के अनेक प्रसंग यथास्थान प्राप्त हैं।

रूपगोस्वामी के इस लक्षण निर्धारण से स्पष्ट लगता है कि वे कृष्णाश्रित हास्य के विभावादि के संयोजन में हास्यरस की निष्पत्ति मानते हैं फिर लौकिक हास्य एवं भक्ति विषयक हास्य में अन्तर क्या रह जाता है। कृष्ण का नाम मात्र लेने से वैष्णव भक्त ही इसकी अनुभूति से प्रभावित हो सकता है सामान्य जन नहीं। भक्तिकाव्य में इसकी स्थिति किंचित् भिन्न है। उसका भी मूल उद्देश्य इष्ट या ईश्वर का सामर्थ्य से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार हास्य प्रमुख रस न होकर ब्रह्मविषयक उदात्त भाव का अंग एक अंग है।

करुण रस . आचार्य भरत के अनुसार करुणरस का उद्भव इस प्रकार है। शोक नामक स्थायीभाव से उत्पन्न रस करुण कहा जाता है। वह शाप क्लेश में पतित , प्रियजन के विप्रयोग , विभवनाश , वध , देश . निर्वासन , अग्नि आदि में मर जाने तथा व्यसनों आदि विभावों में फँस जाने से होता है। विलाप करने , मुख सूख जाने , वैवर्ण्य आँसो की शिथिलता , लम्बी साँस भरने , स्मृति के लोप आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। निर्वेद , ग्लानि , चिन्ता , औत्सुक्य , आवेग , भ्रम , मोह , श्रम , मद , जिह्मा

१: नाटयशास्त्र : अध्याय ६: कारिका ४० के बाद .
२: उत्तर विभाग हास्य भक्ति रस लहरी श्लोक १ .. १६ तक

विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, मोह, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु एवं स्वरभेद, इसके संचारी भाव हैं।[1] रूप गोस्वामी के अनुसार यह करुणभक्तिरस है।[2] उनके अनुसार इसका स्थायीभाव शोकभक्तिरति है उन्होंने १२ श्लोकों में इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। भरत द्वारा कथित विभावानुभाव एवं इस ग्रंथ में कथित समस्त संचारी इसी करुण भक्तिरस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में करुणरस अधिकतर पात्रगत न होकर भक्तगत है मानस में यह प्रमुख भक्त पात्रों का आलम्बन है दशरथ आदि पात्रों में इसका निष्पत्ति मिलता है। शुद्ध दास्य भक्ति के पोषण के ग्रंथ में इसका प्रयोग अधिक मिलता है।

रौद्र रस

उदात्त भाव के सम्बन्ध में इसकी स्थिति पर विचार किया जा चुका है आचार्य भरत के अनुसार इसकी स्थिति इस प्रकार है यह क्रोध, आक्षेप, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाग्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है मारना, फाड़ना, मसलना, काटना, अस्त्र उठाना, शस्त्रपतन, शस्त्रप्रहार, रक्तनिकाल लेना आदि इसके अनुभाव हैं। असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, कम्प, तथा रोमांच, इसके व्यभिचारी भाव हैं।[3] आचार्य गोस्वामी के अनुसार यह रौद्रभक्ति रस है तथा इसका स्थायीभाव क्रोध भक्तिरति है।[4] इसका विस्तार पूर्वक विवरण भक्ति रसामृतसिन्धु में मिलता है। क्या रौद्र भक्ति के ग्रंथ में रहस्यात्मक है? यह सामान्य प्रश्न उठ सकता है। किन्तु इस उत्तर का समाधान भी अन्य समाधानों की ही भाँति है। ये रौद्र के भाव कृष्ण या राम से सम्बन्धित उदात्त भाव के पोषक हैं। फलतः रौद्र का प्रयोग मात्र कृष्ण विषयक भक्तिभाव की तीव्रता प्रदान करने के लिए किया गया है।

भयानक रस

उदात्त भाव के सम्बन्ध में भयानक रस की भी चर्चा की जा चुकी है। आचार्य भरत के अनुसार यह भय स्थायी भाव से निष्पन्न होता है। विकृत शब्द सूना, श्रृंगाल आदि के देखने एवं भय घबड़ाहट शून्य वन में जाने इत्यादि भावों से यह उत्पन्न होता है।

१: नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ कारिका ४१ के बाद
२: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु : उत्तर विभाग : गौण भक्तिरस: करुणभक्तिरस लहरी श्लोक १ . १२
३: नाट्यशास्त्र : अध्याय ६ रौद्र रस प्रकरण
४: श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु उत्तर विभाग : गौण भक्तिरस: रौद्रभक्तिरसलहरी . श्लोक १ . .. १८ तक

कांपते हुए हाथ, पैर, नेत्रों की चंचलता, रोमांच, मुख का रंग उड़ना, भावों का बदल जाना, आदि इसके अनुभाव हैं; हाथ पैर का जकड़ जाना, खोना, गद्गद् हो जाना, रोमांच, कम्प, सेका, मोह होना, घबराहट, चंचलता, मूर्छा, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं[1]। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु में इसे भी भयानक भक्ति रस के नाम से पुकारा गया है। भयरति इसका स्थायीभाव है। कृष्ण को आरोपित करके रूप गोस्वामी ने भरत के लक्षणों, कोष्ठों का त्यों ठहरा दिया है।[2] अन्य गौण काव्य-रसों की भाँति ही वैष्णव भक्तिकाव्य में इसका प्रयोग मिलता है। इसके प्रयोग का मूल उद्देश्य कृष्ण या राम माधुर्य का निरूपण करना है।

वीभत्सरस. जुगुप्सा स्थायी भाव से युक्त रस का नाम वीभत्स है। अरुचिकर, अप्रिय अपवित्र, एवं अनिष्ट के देखने, सुनने से एवं शरीर के छिलने आदि के विभावों से इसकी उत्पत्ति होती है। समस्त अंगों के संकोचन, मुख के अवयवों के सिकोड़ने, उत्लेसन होने, आदि से सम्बन्धित अनुभाव अपस्मार, जी मचलना, वमनादि रूप पाये जाते, मूर्छा, रोग, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं[3]। रूपगोस्वामी ने भक्तिकाव्य में सदर्भ में इसे वीभत्स भक्तिरस स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसका स्थायीभाव जुगुप्सा भक्तिरति है। उनके अनुसार इसके दो भेद हैं: विवेकजा, एवं प्रायिकी[4]। यह भेद जुगुप्सा के स्वरूप पर ही आधारित है। विवेकजा के अन्तर्गत जुगुप्सा आन्तरिक और प्रायिकी के अन्तर्गत कथित होती है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में वीभत्सरस स्वतंत्र रस के रूप में नहीं आया है। यद्यपि यह सत्य है कि उसके समस्त विभावादि काव्यलंकारों से मेल खाते हैं, किन्तु वह वस्तु के रूप में नहीं है। वह भी उदात्त भाव की व्यंजना का आधार है।

अद्भुत रस. आचार्य भरत के अनुसार विस्मय आदि स्थायी भाव स्वरूप रस अद्भुत कहलाता है। यह दिव्य जन के दर्शन, मनोवांछित और मनोरथ प्राप्ति से उपवन, देवमन्दिर आदि में गमन सभा, विमान, इन्द्रजाल आदि की संभावना से उत्पन्न होता है। बाल फाड़ने, अपलक देखने, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, कम्प आदि इसके अनुभाव हैं; संचारी भावों के अन्तर्गत उन्होंने स्तम्भ, अश्रु, रोमांच, आवेग, सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता, मूर्छा, आदि को गणना की जाती है। रूपगोस्वामी ने इसे अद्भुत भक्तिरस के नाम से पुकारा है उनके अनुसार

१: नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ भयानक रसप्रकरण।
२: श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, गौणभक्तिरस निरूपण : भयानक भक्तिरसलहरी श्लोक १, .. ११ तक.
३: नाट्यशास्त्र : अध्याय ६ वीभत्सरस प्रकरण,

इसका स्थायी भाव विस्मय रति है। उन्होंने इसका दो भेद किया है-साधारण तथा अद्भुत[१]। इनको भाव एवं रसत्व की मान्यता आचार्य मत से अधिक विपरीत नहीं है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में निहित अद्भुत के स्वरूप के विवेचन में उदात्त भाव के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है। भक्तिकाव्य में ये भाव, शान्तरस के अंग हैं; भक्त कवियों ने इसके द्वारा आराध्य की शक्तिमत्ता का बोध कराया है।

भक्तिकाव्य में प्रयुक्त काव्य रसों की स्थिति पर विचार करने के उपरान्त कतिपय निष्कर्षों को सरलता से निकाला जा सकता है। प्रथम यह कि भक्तिकाव्य अपनी मूलस्थिति में मानवीय संवेगों पर अधिक आश्रित है। काव्य के रस मानवीय संवेदनाओं के अंग हैं; कोई आवश्यक नहीं कि भक्त कवियों ने काव्यशास्त्रीय रस का आरोपण अपने काव्य में किया हो। यदि यह आरोपण होता तो ये रस इनके काव्य के लक्ष्य बन जाते। इन्होंने अपने काव्य के माध्यम के लिए इतना विशाल वातावरण चुना कि काव्यरस सम्बन्धी समस्त मान्यताएँ, जीवनगत मूल्यों पर आश्रित होने के कारण, इनके काव्य की मूल्य बन गईं।

भक्ति काव्य में प्राप्त रस सम्बन्धी मान्यता के अध्ययन से दूसरा तथ्य यह निकलता है कि समस्त काव्यशास्त्रीय रस साधन के रूप में प्रयुक्त हैं; ध्वनिवादियों की शब्दावली में कहें तो ये मात्र वस्तु हैं; इनकी व्यंजना भक्तिरस की निष्पत्ति से सम्बन्धित है। कारण कि, जिस परिवेश में रस का चित्रण मिलता है वह आध्यात्मिक है। यही कारण है कि इसी के फलस्वरूप रूपगोस्वामी ने प्रत्येक काव्यरस को अंग रस मान कर उसके साथ 'भक्तिरति' को अनिवार्य बताया है। वस्तुतः अद्भुत, भक्तिरस, भयानक-भक्तिरस वीभत्सभक्तिरस, आदि में अद्भुत, भयानक एवं वीभत्स आदि रसत्व का सम्बन्ध नहीं कर पाते, वे भक्तिकाव्य में प्रयुक्त भक्ति के अंग होने के कारण भाव की श्रेणी में ही रखे जा सकते हैं।

.....

१: श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु : उत्तर विभाग : गौण भक्ति रस निरूपण : अद्भुत रसलहरी श्लोक १ ... ७ तक.

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में अलंकार विषयक शब्दावली का प्रयोग प्राप्त है। तुलसी ने अलंकार के लिए अलंकृति शब्द का प्रयोग किया है[1]। एक अन्य स्थल पर वह उपमा आदि अलंकारों को मानस का वीचि विलास कहता है वीचि विलास का तात्पर्य शोभावर्धन से है[2], इस प्रकार वह अलंकार को काव्य को शोभावर्धक तत्व के रूप में स्वीकार करता है। तुलसी ने अलंकारों में उपमा शब्द का प्रयोग समस्त साम्यमूलक अलंकारों के अर्थ में किया है। एक अन्य स्थल पर वे इसने वक्र उक्ति (वक्रोक्ति) शब्द का प्रयोग वक्रोक्ति वाणी एवं अर्थ के भेदमें में किया है[3]। तुलसी की ही भाँति सूर ने भी उपमा शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा, प्रतीप, उपमा, रूपक एवं अतिशयोक्ति के अर्थ में किया है[4]। सूर की साहित्य लहरी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना कही जा सकती है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य अलंकार शास्त्र ही है। कवि ने यहाँ परम्परा में स्वीकृत १०८ अलंकारों का परिचय दिया है ये इस प्रकार हैं:-

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, संदेह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, व्याज निन्दा, व्याजस्तुति, विरोधाभास विभावना, विशेषोक्ति, असंभव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य विशेष, व्याघात, कारण माला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्या, पर्याय परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिंग अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसान, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण मीलित, विशेष, उत्तर, सूक्ष्म, विहित, व्याजोक्ति गूढोक्ति, विवृतोक्ति युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति

.....

१: आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना। मानस: बालकांड दो. सं. ६

२: राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा वीचि विलास मनोरम। मानस: बालकांड दो. सं. ८

३: वक्रउक्ति धनु वचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस। मानस: लंकाकांड: दो: सं. २३

४: उत्प्रेक्षा : उपमा एक अनूपम उपमत अनित अलंक मनोहर भारे।
बिहरत बिधु कि जानि रथ तें मृग जुत सैसरि ससि लंगर डारें: सूरसागर
पृ. सं. २४१४.

प्रतीप : उपमा : धीरज तज्यौ निरखि छवि, उपमा हरि तन देखि लजानि. पृ. सं. २३७४. २३७५

रूपक : बदन, कमल उपमा यह साँची. पृ. सं. ३१४२.

सादृश्यमूलक अलंकार के अर्थ में: संगरीट मृग मीन विचारत. उपमा को अनुसार.
पृ. सं. २४२६

वक्रोक्ति , स्वभावोक्ति , भाविक , उदात्त , अत्युक्ति , निरुक्ति , प्रतिषेध , विधि हेतु , प्रत्यक्ष , प्रमाण , अनुमान , उपमान , शब्द , अर्थापत्ति , सम्भव , ऐतिह्य तथा सैकड़ों[१] और एवं तुलसी दोनों ने सांगरूपक के प्रयोग में अभिरुचि दिखाते हैं। जहाँ तक शब्दालंकार का प्रश्न है ये कवि इसके अन्तर्गत शब्दगत अनुप्रास , चमत्कृति आदि का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। नवशिल्प कौशल , तथा सौन्दर्य चित्रण के संदर्भ में ये कवि एकमात्र आलंकारिक दृष्टि को ही प्रश्रय देते हैं। इन प्रयोगों को देखकर यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि ये अलंकार की प्रयोगविधि से पूर्ण रूप परिचित थे।

उपमा तथा रूपक .

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा तथा रूपक का प्रयोग अधिकता से हुआ है। वैष्णव भक्तिकाव्य के अध्ययन से स्पष्ट है। ये कवि उपमा एवं रूपक से भली भाँति परिचित एवं उनके काव्यात्मक प्रयोग के प्रति सजग थे। कहा जा चुका है कि उपमा शब्द का प्रयोग उपमा , रूपक , अतिशयोक्ति , उत्प्रेक्षा एवं प्रतीप के अर्थों में आलोच्य साहित्य में मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये कवि अतिशय सादृश्यमूलक अलंकार को उपमा के नाम से पुकारते थे।

उपमा.

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाल का यह प्रिय अलंकार रहा है इसकी वाचक शब्दावली में से, सो , सौ , सी , सम , समान , इव , समाना आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस शब्दावली में लिंग एवं वचन भेद की प्रवृत्ति मिलती है। संस्कृत साहित्य में प्राप्त उपमा के समस्त भेद वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त हो जाते हैं।

उपमा का प्रस्तुत पक्ष .

उपमा के प्रस्तुत पक्ष में साधु प्रशंसा , भक्ति , सत्संगति , गुरु माहात्म्य , विष्णु के स्वरूप गुण , चेष्टा का वर्णन , शंकर के स्वरूप एवं स्वभाव का निरूपण , इष्ट के शौर्य की भावना , कुसंगति , कवित्व की प्रशंसा , रामकथा की उत्तमता , स्वरूप एवं स्वभाव का निरूपण , राम या कृष्ण चरित्र , काव्य की उत्तमता कथा के पात्रों का स्वभाव , निरूपण , राम या कृष्णनाम माहात्म्य , ब्रह्मस्वरूप निरूपण , प्रकृतिचित्रण , वाणी एवं सरस्वती का स्वरूप , अंगवर्णन , अलंकरण , सौन्दर्य चित्रण , आंगिक चेष्टा का निरूपण , रूपचित्रण , भावनिरूपण आदि का प्रयोग मिलता है। यह प्रवृत्ति वस्तुतः द्विविधा है। इसके माध्यम से एक ओर पौराणिक

१: साहित्यलहरी , पं. प्रभुदयाल मीतल , साहित्य संस्थान , मथुरा, मार्च , १९३१ .

एवं नैतिक परम्परा में स्वीकृत मर्यादा के मूल्यों के स्पष्टीकरण, काव्य के स्वभाव, कथा के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है दूसरी ओर लौकिक या शृंगार आदि निरूपण के क्रम में रूप, गुण, क्रिया एवं भाव को स्पष्ट करने के लिए इनका प्रयोग मिलता है।

अप्रस्तुतपद्धति :

उपमा एवं अन्य साम्यमूलक अलंकारों में प्राप्त अप्रस्तुत पद्धति को इसी प्रायः समान ही है। सम्भवतः इसका सबसे प्रबल कारण यही है कि ये कवि अतिशय सादृश्यमूलक अलंकारों को समान समझते थे। इनकी अप्रस्तुत पद्धति भी अत्यन्त व्यापक है। इसका सामान्य परिचय इस प्रकार दिया जाता है –

१ पौराणिक पात्रों का अप्रस्तुतीकरण : यशोमति, हरि, हलधर, विष्णु, कालनेमि रावण, राहु, नरकेशरी नृसिंह प्रह्लाद, ध्रुव, कनककशिपु, हनुमान, कामतरु, कुम्भ कामधेनु, गिरिनन्दिनि, रमा, कासो, अहितिलम्ब आदि पौराणिक कथाएँ आदि।

२-प्राकृतिकतत्वों का अप्रस्तुतीकरण : सूर्य, चन्द्र एवं तत्सम्बन्धी अन्य पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, नदीय, नदी, तट, वारि, वीचि, वेणीगत, सरि, सावन, मादो, यमुना, गंगा, नर्मदा, अमरकंटक, मन्दाकिनी, चित्रकूट, पर्वत, वृक्ष, कमल, एवं उसके पर्यायवाची अन्य शब्द, इन्द्रधनु, प्रसून, मधुकर, एवं उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, त्रिवेणी गंगा, यमुना एवं सरस्वती का संगम : पुष्पों के प्रकारों में बन्धूक, कुन्द, आदि, पल्लव नीलवन, वामिनी, रम्भा, श्रीफल आदि। अप्रस्तुत रूप में आते हैं।

३-पशु तथा पक्षी : अप्रस्तुत के रूप में इनका उल्लेख अधिक मिलता है। भ्रमर तथा उसके पर्याय वाची, मधुकर, मधुलिह, भंवर, सिलीमुख, मधुप, भृंग, मराल, खंजन, शुक, मीन, केहरि, अहिराज, करभा, गुन्द, पन्नगिनि, चकोर, चातक, मयूर, मीन मकर, वकपाति, गजराज, कोकिल, पन्नग, चक्रवाक, सारंग, हिरण, गौ, काग, मणिधरनाग, शेष, बाज अश्व लवा बाज, पक्षी, तस्कर, वीरवधूटी आदि।

युद्ध सूचक शब्दावली : नेजा, खड्ग, असी, सेल्ह, कमान, फन्द, धानुष, कुलिश, कोदंड, शर बाण कवच, खप्पर, खयोढा, मुक्का, चक्र, गज ब्राणि, ढाल, चँवर

मुकुट , रत्नहार , वस्त्र , मल्ल , योद्धा , पायल , पीताम्बर , ध्वजा , अस्त्र शस्त्र की चमक आदि ।

इस प्रकार अप्रस्तुतों की एक विस्तृत शृंखला भक्ति शृंखला भक्तिकाव्य में वर्तमान है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों से लिए गए ये अप्रस्तुत भक्तिकाव्य के लिए अत्यधिक महत्व रखते हैं। प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में सामंजस्य बैठाने का कार्य भाव करता है । हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य में प्राप्त भावों की सूचना इस प्रकार है।

क. सात्विक मनोवृत्ति मूलक प्रस्तुत .

ब्रह्म , विष्णु , शंकर , गुरु , गणेश , कृष्ण , साधु , रामकथा , साधुसंगति , कृष्णकथा , एवं कृष्णकथा के पात्रों , सन्तस्वभाव , भक्ति आदि की महत्ता सिद्ध करने के लिए सात्विक भावों का प्रयोग मिलता है। इन अप्रस्तुतों के द्वारा इनकी श्रेष्ठता , पवित्रता , प्रकृति , माहात्म्य निरूपण आदि की ओर संकेत किया गया है।

ख. अंग प्रत्यंग वर्णन से सम्बन्धित प्रस्तुत .

अंग प्रत्यंग वर्णन के अन्तर्गत दो प्रकार के भाव वैष्णव भक्ति साहित्य में प्राप्त हैं।

१ सात्विक या भक्ति सम्बन्धी भाव

२ . शृंगारिक भाव .

१ सात्विक भाव के अन्तर्गत आराध्य का अंग वर्णन [रति प्रसंग को छोड़कर] सख्य , वात्सल्य , दास्य एवं शान्त के अवसरों पर मिलता है। प्राय: सम्पूर्ण तुलसी साहित्य , सूरसागर पूर्वार्ध , नन्ददास की कतिपय रचनाओं तथा फुटकर पदों में यह अंग प्रत्यंग वर्णन उपलब्ध है ।

प्रस्तुत . शरीर का रंग , बाल्यावस्था , किशोरावस्था , शैशवावस्था , यौवनावस्था , पूर्ण विग्रह रूप , बाल , लटें , मस्तक , भौंह , नेत्र , पलक , गोलक , पुतली , कपोल , चिबुक , ग्रीवा , ग्रीवादर , ओष्ठ , दन्त , कान , कर्णविवर , मुखभाव छाती , रोमावली , कटि , त्रिवली , नाभि , हाथ , भुजा , हथेली , उंगली , नख , जंघ घुटना , पैर , तलवा , उंगली , नख आदि।

अप्रस्तुत नील सरोरुह या कमल के पर्यायवाची शब्द , नील बादल या उसके

पर्यायवाची शब्द , नीलमणि , यमुना , आकाश , तमालवृक्ष , मधुप , एवं उसके पर्यायवाची शब्द , पूर्णचन्द्र , द्वितीय चन्द्र , खंडित चन्द्र , कमल एवं उसके पर्याय वाची शब्द , पंकजकोश , चंचुपुटो , चन्द्र एवं उसके पर्यायवाची शब्द , मृगी एवं उसके पर्यायवाची अन्य शब्द , मंथरगति , शैल , बिम्बाफल , विद्रुम , मकर , केहरि , मृणाल , विद्युत छवि , चन्द्रलेखा , पल्लव , चम्पक आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है ।

२ भक्तिकाव्य में अंग प्रत्यंग वर्णन से सम्बन्धित शृंगार मूलक वस्तुओं की संख्या कहीं अधिक है । इसके अन्तर्गत अंग प्रत्यंग वर्णन , अलंकरण तथा रूपसज्जा स्वभावचित्रण , भावव्यापार , एवं प्रेममूलक क्रियाकलापों की गति एवं तीव्रता प्रदान करने के लिए अप्रस्तुतों का प्रयोग हुआ है ।

अंग प्रत्यंग वर्णन

मुख , अधर , दन्त , नेत्र , भौंह , ललाट , केश , माँग , मुखसंपुट , रद , चिबुक , कंठ , कंठ की रेखाएँ , वक्ष , तथा उसकी विशालता , उत्तुंगता , एवं पीनता त्रिवली , रोम , नाभि , कटि , जंघ , भुजा , हाथ पाँव की उंगलियाँ आदि ।

अलंकरण तथा रूपसज्जा . पीताम्बर , काछनी , चन्दन , कुंडल , मेखला , केशरलेप केशर तिलक , मुरलिका , मोरचन्द्रिका , माल्यानुलेपन , वंशीरव , गुंजा , बनमाला , मृगमद , मलयज , तथा केशर का लेप , कपूर , कुंकुम , अगरु अरगजा आदि चन्दनों के लेप , कुंडल , तरकी , बेसरि , मोतीमाला , मोतिसरा , बुलाक , नथ , पुष्पसज्जा , चोली , चीर आदि ।

स्वभाव एवं भाव व्यापार आदि का चित्रण .

यमुना जल विहार , नायक नायिका का प्रथम दर्शन , दर्शन की लालसा , परस्पर आसक्ति , आकर्षण , तीव्रता , मिलन की उत्कटता , मन , कर्म एवं वाणी से एक मात्र एकाग्रता , नित्यक्रीडा , कंठ में लगाना , परस्पर केलि क्रीडा में उन्मत्त होना , कुंजभवन में रतियुद्ध , आलिंगन , चुम्बन , परिरंभण विरह , व्याकुलता , उन्माद , आवेग , आदि भावों तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं के संदर्भ में अनेकानेक अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है ।

१: इसके विशेष अध्ययन के लिए देखिए सूर की शब्दावली का अध्ययन .
डॉ० निर्मला सक्सेना . प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी , प्रयाग .

पर्यायवाची शब्द , नीलमणि , यमुना ,आकाश ,तमालवृक्ष ,मधुप ,एवं उसके पर्यायवाची शब्द , पूर्णचन्द्र ,द्वितीय चन्द्र ,खंडित चन्द्र ,कमल एवं उसके पर्याय वाची शब्द , पंकजकोश , चंचुपुटो ,चन्द्र एवं उसके पर्यायवाची शब्द ,भ्रमर एवं उसके पर्यायवाची अन्य शब्द , मंथरगति , शंख , बिम्बाफल , विद्रुम, मकर, केहरि , मृणाल , विद्युत छवि ,कुन्दकली , पल्लव , चम्पा आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

२ भक्तिकाव्य में अंग प्रत्यंग वर्णन से सम्बन्धित शृंगार मूलक अप्रस्तुतों की संख्या कहीं अधिक है। इसके अन्तर्गत अंग प्रत्यंग वर्णन , अलंकरण तथा रूपसज्जा स्वभावचित्रण , भावव्यापार , एवं प्रेममूलक क्रियाकलापों की गति एवं तीव्रता प्रदान करने के लिए अप्रस्तुतों का प्रयोग हुआ है ।

अंग प्रत्यंग वर्णन

मुख ,अधर ,दन्त ,नेत्र ,भौंह ,ललाट ,केशों ,माँग,मुखसंपुट, रद , चिबुक ,कंठ ,कंठ की रेखाएँ ,वक्ष,तथा उसकी विशालता ,उत्तुंगता , एवं पीनता त्रिवली ,रोम ,नाभि ,कटि ,जंघ ,भुजा ,हाथ पाँव की उंगलियाँ आदि।

अलंकरण तथा रूपसज्जा . पीताम्बर , कछनी ,चन्दन , कुंडल ,मेखला ,केशरलेप केशर तिलक ,मुरलिका ,मोरचन्द्रिका ,माल्यानुलेपन ,वंशीरव , गुंजा ,वनज , वनमाला ,मृगमद ,मलयज ,तथा केशर का लेप ,कपूर , कुंकुम , अगरु अरगजा आदि चन्दनों के लेप ,कुंडल ,तरकी ,बेसरि ,मोतीमाला ,मोतिसरा ,बुलाक,नथ, पुष्पसज्जा ,चोली ,चीर आदि।

स्वभाव एवं भाव व्यापार आदि का चित्रण .

यमुना जल विहार,नायक नायिका का प्रथम दर्शन, दर्शन की लालसा ,परस्पर आसक्ति ,आकर्षण ,तीव्रता ,मिलन की उत्कटता,मन, कर्म एवं वाणी से एक मात्र एकाग्रता ,नित्यक्रीडा , कंठ में लगाना ,परस्पर केलि क्रीडा में उन्मत्त होना , कुंजभवन में रतियुद्ध , आलिंगन ,चुम्बन ,परिरंभण विरह , व्याकुलता ,उन्माद ,आवेग , आदि भावों तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं के वर्णन में अनेकानेक अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है ।

१: इसके विशेष अध्ययन के लिए देखिए सूर की शब्दावली का अध्ययन .
डॉ० निर्मला सक्सेना . प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी , प्रयाग .

शृंगारमूलक इन प्रस्तुतों के लिए दैनन्दिन में प्रयुक्त होने वाले व्यवहारिक एवं अन्य प्रकार के कोक अप्रस्तुत वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं संगीत, नृत्य, वाद्य, गृहकार्य कृषिमूलक, मध्यकालीन शासन, व्यापारिक कार्य आदि में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली शृंगारमूलक अप्रस्तुत विधान के रूप में मिलती हैं संक्षेप में इनको अप्रस्तुतमूलक शब्दावली को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है.

१ काव्यशास्त्रीय या काव्यपरम्परा में रूढ़ शब्दावली।

२ तत्कालीन समाज में प्रचलित शब्दावली।

३ इसके अतिरिक्त इन कवियों ने अप्रस्तुत के रूप में धार्मिक या पौराणिक पात्रों तथा घटनाओं का प्रयोग किया है।

इन
इनके अप्रस्तुतों को देखकर इनके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। ये सजगतापूर्वक काव्य के द्वारा व्यवहारिक जीवन एवं धार्मिक वातावरण की एकता की ओर सजग थे।

रूपक. उपमा के साथ जिस अलंकार का अधिकतापूर्वक प्रयोग मिलता है, वह रूपक है। रूपक के प्रयोग को दृष्टि में रखकर इन कवियों की काव्यदृष्टि का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। मानसकार को समस्त अलंकारों में रूपक—विशेष रूप से सांगरूपक अधिक प्रिय है। शेष अन्य कवियों में सूर, नन्ददास, व्यास, परमा, नन्ददास, रूपक का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं।

निरंगरूपक ..... निरंगरूपक का प्रयोग भक्तिकाव्य में अत्यधिक हुआ है। प्रायोगिक दृष्टि से यह उपमा से थोड़ा सा ही पृथक है। अप्रस्तुत में प्रस्तुत का अध्यवसान या आरोपण होने के कारण वाचक धर्मलुप्तोपमा से बहुत कम पृथक रह जाता है। वस्तु एवं वस्तु के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत के नियोजन की सम्पूर्णतः वही दृष्टि इस अलंकार के प्रयोग में भी वर्तमान है जो उपमा में मिलती है। इसके प्रस्तुतों एवं अप्रस्तुतों की दृष्टि से उपमा में कम अन्तर दिखाई पड़ता है। जहाँ तक भाव विवेचन या अभिव्यक्ति का प्रश्न है वहाँ उपमालंकार से निरंगरूपक अलंकार में थोड़ा सा अन्तर दिखाई देता है। इन अलंकारों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में अधिक हुआ है। ये वस्तु के व्यंजन न होकर भाव के व्यंजक हैं। इनके द्वारा भाव की गंभीरता पर अधिक बल पड़ा है। निरंगरूपक के क्षेत्र में प्रयुक्त भाव सत्संग, ज्ञान, भक्ति, इष्ट की शक्तिमत्ता, प्रेम, शृंगार, सौन्दर्यानुभूति आदि है।

सांगरुपक. यह दो प्रकार का है - एक अतिशयोक्ति का अंग बन जाने के कारण रुपकातिशयोक्ति के रुप में प्रयुक्त हुआ है। दूसरा शुद्ध सांगरुपक है तुलसी एवं सूर के काव्यों में इतने लम्बे लम्बे सांगरुपकों का प्रयोग मिलता है, जिससे उनकी आलंकारिक सजगता का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। मानस के उत्तर कांड में ६४ अर्धालियों का विस्तृत सांगरुपक प्राप्त है[१]। तुलसी ने लम्बे लम्बे सांगरुपकों का प्रयोग गीतावली, कृष्णगीतावली एवं विनयपत्रिका में भी किया है। इस अलंकार के प्रस्तुत पक्ष में कवित्व की उत्पत्ति, कवित्व की प्रशंसा, रामकथा के पात्रों में विशेष रुप से राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कौशिल्या, हनुमान, दशरथ जामवन्त, निषाद, विभीषण, रघुपति के उपासक, खग, मृग, सुर, नर, शंकर आदि की वन्दना, साधु माहात्म्य, सत्संगति, प्रेममूलक चेष्टाओं का वर्णन, अंगप्रत्यंग वर्णन, भाव चित्रण, विहार, एवं लीला आदि है। जहाँ तक इसके अप्रस्तुत का प्रश्न है इन कवियों ने ऐसी वस्तुओं को चुना है, जो दूर तक कार्यकारण सम्बन्ध से युक्त हो या उसके अनेक अंग हो इस दृष्टि से इन प्रसंगों में समुद्र, नदी, वृक्ष, मानस, वाटिका, वन, क्रीडास्थली, सूर्योदय, रात्रि, दिन, दीपक, आदि का अप्रस्तुतीकरण किया गया है। कहीं-कहीं इन्हीं के साथ पौराणिक कथाओं या पात्रों का भी अप्रस्तुतीकरण मिलता है। मानसकार तथा सूरदास इस प्रकार के अप्रस्तुत प्रयोगों में अत्यधिक सिद्धहस्त हैं। सांगरुपक का प्रयोग भाव निरुपण की ही दृष्टि से हुआ है इसके द्वारा भक्त कवि अधिकतर भाव की व्यंजना ही कराते हैं। कहीं कहीं चेष्टा के निरुपण में भी ये अलंकार प्रयुक्त हैं। सूर ने अनेक स्थलों पर सांगरुपक अलंकार का प्रयोग चेष्टा निरुपण के क्रम में किया है। शेष कवि इसका अधिक प्रयोग भाव निरुपण के क्रम में करते हैं।

उत्प्रेक्षा.

सम्भावनामूलक अलंकारों की दृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है। उत्प्रेक्षा अन्य साम्यमूलक अलंकारों से इसलिए भिन्न है कि इसमें दृष्टिगत प्रत्यक्ष सादृश्य का प्रयोग न होकर काल्पनिक सादृश्य का प्रयोग मिलता है। यहाँ संभावना का तात्पर्य मात्र काल्पनिकता से है। उपमा आदि अलंकार तो रुढ्वद्ध परम्परा का आखमूंदकर समर्थन करने के कारण व्यंग्यान्य हो जाते हैं, किन्तु उत्प्रेक्षा के माध्यम से नवीन वस्तुव्यंजना का बोध होता है। निश्चित रुप से कवित्व शक्ति का

१:मानस : उत्तरकांड : दो० सं. ११७ की ८ वीं अर्धाली के बाद से .. ११८तक

वास्तविक मूल्यांकन उत्प्रेक्षा के आधार पर ही किया जा सकता है। कवि की कल्पनाभिव्यंजन शक्ति का पूर्ण परिचय उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा किया जा सकता है। हिन्दी वैष्णवभक्तिकाव्य में सबसे अधिक उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया गया है। इसका कारण सम्भवत: यही है कि उनकी काव्यदृष्टि कल्पना के क्षेत्र में पूर्ण स्वच्छन्द थी। इन कवियों ने उत्प्रेक्षा अलंकार के लिए भी उपमा शब्द का प्रयोग किया है। जिस तरह तुलसी की रुचि रूपक प्रयोग में अधिक मिलती है। उसी प्रकार सूर को उत्प्रेक्षा सर्वाधिक प्रिय है।

उत्प्रेक्षा का प्रस्तुत पक्ष

रामकथा, सत्संगति, भक्तिनिरूपण, स्थान, अंगवर्णन, सीता एवं राधा के सौन्दर्य निरूपण, अलंकार वर्णन, प्रेमभाव की व्यंजना, क्रियामूलकता, के अन्तर्गत नेत्र, भौंह, ओष्ठ, मुख, पलक आदि की गतियों, पारस्परिक चेष्टा, रूपवर्णन, आदि के चित्रण के संदर्भ में इस अलंकार का प्रयोग किया गया है।

उत्प्रेक्षा की वाचक शब्दावली के अन्तर्गत मानहुं, मनहुं, मनहुं, मनु, जैसो, जनु, मनौ, ज्यौं, जानहुं, मानो, मानौं आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

उत्प्रेक्षा का अप्रस्तुत पक्ष

उत्प्रेक्षा में प्रयुक्त होने वाले अप्रस्तुतों को सामान्य रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। १-काव्यशास्त्रीय रूढ़ अप्रस्तुत तथा द्वितीय, मौलिक अप्रस्तुत काव्यशास्त्रीय रूढ़ अप्रस्तुतों का प्रयोग केश प्रत्यंग वर्णन सौन्दर्य चित्रण, चेष्टावर्णन आदि के अन्तर्गत अधिक मिलता है। इनके अतिरिक्त मौलिक अप्रस्तुतों की संख्या अधिक है। उत्प्रेक्षा सम्बन्धी अप्रस्तुतों को उनके स्वरूप की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१-शब्दगत अप्रस्तुत
२-पदगत अप्रस्तुत
३-वाक्यगत अप्रस्तुत

उत्प्रेक्षामूलक शब्दगत अप्रस्तुत.

इन अप्रस्तुतों की संख्या अधिक है। काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रयुक्त प्राय: समस्त रूढ़ अप्रस्तुत यहां प्रयुक्त हैं। इनका प्रयोग

प्राय: [illegible] प्रसंग एवं चेष्टाओं के वर्णन में मिलता है। ये अप्रस्तुत इस प्रकार है।

वदन >इन्दु, सरोज, विधु, ससि आदि, दसन >बन्द, गति >गजराज, पद >कमल, नख >इन्दु, जानु >करभा, दसद्युति >विद्युत, बाहु >कंचन आदि। अधर >विद्रुम, भुजा >अहिराज, कटि >केहरि, वचन >कोकिल, नासा >शुक आदि। इसी क्रम में मौलिक उत्प्रेक्षासम्बन्धी शब्दगत अप्रस्तुत मिलते हैं यथा उरोज> सर्वसुखदा, शैवालमंजरी, कटाक्ष >किरण, जयमाल >बकपाँति, मौक्तिकमाल >सुरसरि धारा, कनक चूड़ावली >हंसरसाल, गोवमोता >गंगा यमुना आदि।

ये रूढ़उत्प्रेक्षाएं परम्परा से ही उपमान क्षेत्र में प्रयुक्त होती आई है। इन कवियों ने इनके द्वारा भावाभिव्यंजन व्यापार का बोध कराया है। संहिता एवं मान प्रकरण में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा अलंकार का मूल उद्देश्य व्यंजना का चमत्कार दिखाना रहा है।

पदगत अप्रस्तुत

भक्त कवियों में पदगत उत्प्रेक्षालंकार भी प्राप्त है। इनका प्रयोग शुद्ध स्वच्छन्द भावाभिव्यंजन रहा है। इनमें इन कवियों की काल्पनिक क्रियाशीलता का परिचय मिलता है।

यथा . कटित छुद्रावलि > कनक भूमि ढिगर स्थित रुचिर मराल।
बनमाल >बरन बरन सुक मुक्त सुरंजित।
अरुण अधर दिवजकोटि > वज्र द्युति ससि धन रुप समाने।
~~कुंचित अलक > वज्र कुलिशकंकणिकंकण~~
कुंचित अलक > सिलीमुख मिलिमधु लै मकरंद उड़ाने।
कटि मेखला अलंकृत साजति > साते रासि मेलि द्वादस में।
लट लटकनि > मनौ मत्त मधुप गन मादक मदहि पिये। आदि

इस प्रकार का प्रयोग कवि की स्वतंत्र काल्पनिक काव्यशक्ति का परिचय देता है।

वाक्यगत अप्रस्तुत .

कल्पनाशक्ति की उन्मुक्त अवस्था में वाक्यगत अप्रस्तुतों का प्रयोग मिलता है। तुलसी सूर, व्यास, एवं परमानन्ददास आदि कवियों ने इसका प्रयोग किया है। इसका सबसे अधिक प्रयोग सूरसागर में मिलता है।

यथा वह लखि निमिष नवत मुरली पर कर मुख नयन नये इक चोर ?
मुख जलरुह तजि बैर -
मिलत विधु करत नाद बाहन मुखकारे ।

उपमा - एक बहुपम उपजति कुंचित अलक मनोहर भारे > विहरत विधु कि जानि रथ
तें मृग जुत ससंकि ससि लैगर डारे ;
कनक बरन तन पीत पिछोरी उर ग्राजति बनमाल > निर्मल गगन स्वेत चादर पर .
मनो दामिनी माल ।

इस प्रकार के अप्रस्तुतों के साथ कहीं कहीं सम्पूर्ण पद गत एक अप्रस्तुत के लिए सम्पूर्ण संदर्भ को कवि अप्रस्तुत मय कर देता है। इस प्रकार वैष्णव भक्ति काव्य में उत्प्रेक्षालंकार अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

अतिशयोक्ति :

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में अतिशयोक्ति के सम्पूर्ण प्रकार प्राप्त हो जाते हैं। सामान्य दृष्टि से अतिशयोक्ति अलंकार को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है -

१ अतिशयोक्त्याभास .
२: शुद्ध अतिशयोक्ति

१ अतिशयोक्त्याभास - इसका एकमात्र प्रयोग ब्रह्म की अनन्तशक्तिमत्ता के संदर्भ में किया गया है । राम या कृष्ण तथा उनके सहायक पात्र दैवी शक्तियों से सम्पन्न हैं । फलतः अतिशयोक्तिपूर्ण अप्रस्तुत विधान इसी शक्ति का अनिवार्य तत्व बनकर प्रयुक्त हुआ है । ऐसे अवसरों पर कवि ब्रह्म की अनन्तशक्तिमत्ता के द्योतन के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धति का प्रयोग करता है। इस प्रकार यह पद्धति शुद्धअतिशयोक्ति न होकर अतिशयोक्त्याभास हो जाती है इसके अनेकानेक उदाहरण भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं ।

उदा० .

करुनामय जब चाप लियो कर, बाँधि जुद्धकर वीर ।
भृकुटी सीस नमित जो गर्वगत पावक सीच्यो नीर ।
डोलत महि अधीर भयो फनपति क्रम अति अकुलान ।
दिग्गज चलित, ललित मुनि आसन इन्द्रादिक भयमान ।

इस उदाहरण को अतिशयोक्ति अलंकार के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है क्योंकि प्रस्तुत की शक्तिमत्ता की दृष्टि से यह कार्य असम्भाव्य न होकर संभाव्य है । इस प्रकार के अनन्त उदाहरण हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में भरे पड़े हैं। इनका मूल उद्देश्य

इष्ट की शक्तिमत्ता का आभास कराना मात्र है ।

शुद्धअतिशयोक्ति

.....

इसका प्रयोग अनन्तशक्तिमत्ता, सौन्दर्य के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, प्रभावमत्ता, चेष्टा की त्वरा, अंग प्रत्यंग वर्णन, सांकेतिक वार्ता आदि संदर्भों में अधिक हुआ है। सांकेतिक वार्ता के अन्तर्गत गुरुजनों के समीप नायक से सम्मिलन के उचित अवसर का निर्देश कहीं स्थलों पर इसी अलंकार के द्वारा कराया गया है। अनन्तशक्तिमत्ता के संदर्भ में सम्बन्धातिशयोक्ति असम्बन्धातिशयोक्ति एवं चेचलातिशयोक्ति का प्रयोग प्राप्त है शंकर, राम कृष्ण हनुमान आदि की शक्तिमत्ता की व्यंजना इसी अलंकार के द्वारा दिखाई गई है। मानस में रामकथा के माहात्म्य निरूपण में कई बार अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है। सौन्दर्य चित्रण एवं अंग प्रत्यंग वर्णन के संदर्भ में सौन्दर्यातिरेक की व्यंजना इसी अलंकार के द्वारा कराई गई है। सीता, राधा, कृष्ण एवं राम के सौन्दर्य निरूपण में इन कवियों ने इसी अलंकार को माध्यम बनाया है। मानस में सीता के सौन्दर्य की व्यंजना के लिए कवि ने इसी अलंकार का प्रयोग किया है। यथा -

जौ छवि सुधा पयोनिधि होई, परमरूप मय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारु, मथै पानि पंकज निज मारु।
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहइ सीय सम तूल।

राधा के सौन्दर्यवर्णन में भी कवि ने इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है

अद्भुत एक अनूप बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।

इसी प्रकार कृष्ण एवं राम के सौन्दर्य निरूपण के संदर्भ में कवि इसी अलंकार का प्रयोग करता है इन संदर्भों के मूल में इष्ट या इष्ट के निकटवर्ती पात्रों के रूप, गुण चेष्टा या स्वभाव की उदात्तता का बोध कराना इन अलंकारों का मूल प्रयोजन है। अनन्तशक्तिमत्ता की पुष्टि के लिए चेष्टा सम्बन्धी त्वरा एवं प्रभावपूर्ण वातावरण की सृष्टि इन कवियों द्वारा अनेक स्थलों पर की गई है। राम, हनुमान, कृष्ण, बलराम के उदात्त कार्यों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है।

रूपक अलंकार इसका प्रयोग मानस में अनेक स्थलों पर हुआ है। धनुर्भंग के प्रसंग में राम की
....
शक्तिमत्ता प्रकट करने के लिए कवि अतिशयोक्तिपूर्ण पंक्तियों का अनेक बार प्रयोग करता है।

गुरु हि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ।
लेत उठावत खैंचत गाढे। काहु न लखा देख सब ठाढे।
तेहिं छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा।[1]

धनुष भंग के लिए किए गए प्रयत्न की घटना लेत उठावत खैंचत क्रियाओं में निहित है यहाँ अतिशयोक्ति (अलंकार) राम की चेष्टा सम्बन्धी इन क्रियाओं को पुष्ट करता है इसी का परिणाम है कि उस त्वरा में धनुष टूटने का दृश्य कोई नहीं देख सका धनुष टूटने के उपरान्त उत्पन्न घोर कठोर रव से देवताओं ने जाना कि वह टूट चुका है।

हर गुरु कर कान दीन्हे, सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी, जयति बचन उचारहीं।[2]

चेष्टा सम्बन्धी यही त्वरा मदन दहन प्रसंग में कवि दिखाता है -

छाडे बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे।
भयउ रोष मन दोष बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी।
सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रैलोका।
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा।[3]

कृष्ण के संदर्भ में सूर ने इसी प्रकार की अनेक अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों के द्वारा चेष्टा सम्बन्धी त्वरा को और संकेत करके उनकी शक्तिमत्ता प्रकट की है।

नेकु धीरज करौ, जियहिं कोउ जिनि डरौ, कहा इहि सरौ, लोचन मुदाए।
मुठी भरि लियौ, सब नाइ मुख दियौ, सूर प्रभु जन पियौ ब्रज जन बचाए।[4]

चेष्टा सम्बन्धी कार्य व्यापारों के अतिरिक्त सांकेतिक वार्ता आदि के सम्बन्ध में इन कवियों ने रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया है। रूपकार्थित अतिशयोक्ति का प्रयोग सूरसागर में ही अधिक हुआ है। राधा अपनी सखी से कृष्ण मिलन के लिए व्याकुल होने पर उन का स्वरूप वर्णन रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से वर्णित करती है

.....

१: मानस: बालकांड : दो: सं. २६१
२: सूरसागर पृ. सं. २०३०
३: ,, ३०८५ तथा ३०८५
४: मानस बालकांड : दो. सं. २३७

मिलवहु पार्थ मित्रहि जानि।
जलनिधि सुत के सुत की रुचि करि महँ हित की हानि।
दधिउताउत अवलि उर पर इन्द्र आयुध जानि।[1]

राधा मान के प्रसंग में उसी अलंकार का प्रयोग कई स्थलों पर कवि करता है। कृष्ण और राधा परस्पर न मिलने के कारण अत्यन्त खिन्न हैं उनकी मुद्रा देखकर ललिता यह प्रसंग समझ जाती है और अपनी सांकेतिक भाषा में राधा सौन्दर्य का चित्रण करके उन्हें उससे मिलने का अवसर देती है।

उदा० अद्भुत एक अनूपम बाग।

जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।[2]
विराजति एक संग हति बात।
अपने पर कर धरे विधाता षट् दल नव जलजात।
द्वै पर्वत ससि बीस एक फनि चारि विधि रंग पात।
द्वै प्रतिबिम्ब बतीस बज्रफन, एक जलज पर धात।[3]

परस्पर विहार एवं केलि के प्रसंग में भी इस अलंकार का प्रयोग मिलता है। राधा रति विहार के प्रसंग में उनकी चेष्टा एवं सौन्दर्य के निरूपण में कवि इस अलंकार का प्रयोग करता है –

ले पाहन सुत कर सम्मुख दै, निरखि, निरखि मुसकात।
अरुण अम्ब बेद जल चातक कनक नील मनिगात।

देखि ससि पाँच कमल द्वै संगु।

षट् सु कमल मुख सन्मुख चितवत बहु विधि रंग तरंग।
तिन में तीन सोम वैसी बस तीन सु कस्यप अंग।[4]

१: सूरसागर द. स्क. पद. सं २७०४।
२: " " "
३: " ५ सं २०३०।
४: " ३०८४ तथा ३०८५

इस प्रकार कवि ने रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग सांकेतिक वार्ता, सौन्दर्यचित्रण एवं चेष्टानिरूपण के संदर्भ में किया है।

प्रतीप

साम्यमूलक अलंकारों में प्रतीप का भी प्रयोग वैष्णव भक्तिकाव्य में अधिक मिलता है प्रायः प्रयोगाधिक्य में तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम प्रतीप को ही अधिकता मिलती है अनेक स्थलों पर उपमेय के सम्मुख उपमान का निरादर मिलता है चतुर्थ एवं पंचम प्रतीप के प्रयोग तृतीय की तुलना में कम प्राप्त है चतुर्थ प्रतीप के अन्तर्गत उपमेय की तुलना में उपमान तुल नहीं पाता एवं पंचम प्रतीप में उपमेय की तुलना में उपमान कम हो जाता है माहात्म्य निरूपण अंग प्रत्यंग वर्णन एवं सौन्दर्य निरूपण के संदर्भ में इस अलंकार का प्रयोग अधिक किया गया है इस अलंकार के द्वारा वस्तु एवं भाव निरूपण को और विशेषता मिलती है चेष्टा या क्रिया व्यापार के संदर्भ में इसका प्रयोग कम मिलता है मानस में राम बालकांड में राम सीता के सौन्दर्य निरूपण के संदर्भ में चन्द्र को सीता की तुलना में अशक्य बताया गया है।

प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा।
बहुत बिचार कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं।
जनम सिन्धु पुनि बंधु, बिषु दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाय किमि चन्द बापुरो रंक।
घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।
कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।[1]

उपकरण .....

१: मानस बालकान्ड दो: सं. २३७

दृष्टान्त एवं उदाहरण

वैष्णव भक्तिकाव्य में उदाहरण अलंकार प्रचुरता में प्राप्त होते हैं इसके लिए प्रयुक्त वाचक शब्दों में जैसे, ज्यों, तिमि, यथा आदि का प्रयोग मिलता है। उदाहरण अलंकार के समकक्ष दृष्टान्त अलंकार भी प्राप्त है। उदाहरण एवं दृष्टान्त अलंकारों का प्रयोग शरणागत का उद्धार, शरणागति भाव, मर्यादा की रक्षा, दीनता से मुक्ति की रक्षा, भक्तों की पीड़ा का ज्ञान, स्वामित्व बोध भाव की पुष्टि भक्त वत्सलता, लोकहित का भाव, इष्ट माहात्म्य, भक्ति की पुष्टि, स्वभाव निरूपण, देवताओं का माहात्म्य निरूपण, सामर्थ्य की व्यंजना, सत्संगति एवं कुसंगति की स्वरूप की व्यंजना, राम कथा के स्वरूप एवं माहात्म्य का निरूपण, आत्मशक्तिता आत्मशालीनता आदि एवं शृंगार विषयक भावों के संदर्भ में हुआ है। ये दोनों अलंकार भाव की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। काव्य की दृष्टि से उनका उद्देश्य निन्दा, भय, प्रशंसा, माहात्म्य, आत्मशालीनता, पौराणिक विश्वासों एवं कथाओं के आधार पर पवित्रता, पवित्रतम वस्तु की कल्पना, आत्महीनता, इष्ट की श्रेष्ठता एवं उच्चता, सामर्थ्य, असामर्थ्य किसी भाव की तीव्रता का बोध वात्सल्य एवं सौहार्द तथा रति विषयक भावों की व्यंजना कराना है। वस्तु की दृष्टि से ऊपर कहे हुए भाव महत्वपूर्ण हैं। इन्हें प्रस्तुत की कोटि में रखा जा सकता है। दृष्टान्त एवं उदाहरण दोनों अलंकारों के लिए प्रयुक्त किए प्रस्तुतों की पुष्टि के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत अधिकतर पौराणिक परम्परा के हो हैं। कहीं कहीं लौकिक विश्वासों का भी समर्थन अप्रस्तुत के रूप में मिलता है। प्रस्तुत में निहित भावों की पुष्टि के लिए निम्न उदाहरण प्रयुक्त किए गए हैं।

दीनता एवं आत्मोद्धार के भाव के संदर्भ में प्रयुक्त उदाहरण या अप्रस्तुत .

शिव, ब्रह्मा, प्रह्लाद, ध्रुव, विदुर, राजसूय यज्ञ, व्याध, अजामिल शबरी के झूठे बेर, दुर्वासा शाप, गोवर्धन धारण, अंबरीष आदि कथाओं का उल्लेख मिलता है।

वन्दना के संदर्भ में प्रयुक्त उदाहरण

शिव, सिद्धजुता, प्रह्लाद, अहिल्या, गोपांगनाएं पाडवजस, विदुर, सुदामा, द्रौपदी आदि प्रचलित समस्त कथाओं का प्रयोग मिलता है।

शरणागत का उद्धार, शरणागति एवं इष्ट माहात्म्य के संदर्भ में प्रयुक्त उदाहरण .....

अंबरीष, दुर्वासा, गोवर्धनधारण, इन्द्रगर्वविनाश, हिरण्यकशिपु वध, कंस वध, रावण, कुम्भकरण आदि असुरों की विनाश कथाएं, नरहरि रूप कथा, ग्राह, मोचन आदि का उल्लेख है।

मर्यादा की रक्षा के लिए प्रयुक्त उदाहरण .....

अंबरीष, शिव, पांडु, पुत्र वासुदेव देवकी कौशिल्या, दशरथ, प्रह्लाद आदि की कथाओं का प्रयोग मिलता है।

दीनता से रक्षा के लिए प्रयुक्त उदाहरण : .....

दुःशासन, द्रौपदी, ग्राह-ग्रस्त कथा ब्रह्मवाण से गर्भ रक्षा, पांडव पुत्र की रक्षा आदि पौराणिक कथाएं मिलती हैं।

भक्तों की पीड़ा केन्द्र ज्ञान के संदर्भ में प्रयुक्त अप्रस्तुत .....

इसके लिए निम्न उदाहरण प्राप्त हैं-

गोवर्धनधारण, शिशुपालवध, कंसवध, नृसिंह वपुधारण, असुरवध की समस्त कथाएं, प्रह्लादनया की रक्षा, अंबरीष की रक्षा, लाक्षागृह में पांडवों की रक्षा, वरुणपाश से नन्द की रक्षा, दावानल से रक्षा आदि।

स्वामित्व या माहात्म्य की व्यंजना के लिए प्रयुक्त उदाहरण : ..... इस दृष्टि से कौरवों को जीत करके युधिष्ठिर को राज्यदान, रावणवध, असुर विनाश की अनेक कथाएं गुरुजन की रक्षा, द्रौपदी, दुःशासन आदि की कथाएं मिलती हैं।

भक्तों की रक्षा के संदर्भ में प्रयुक्त उदाहरण : इस संदर्भ में इन कवियों ने मध्यकाल ..... में प्रयुक्त समस्त पौराणिक कृष्ण एवं रामकथा से सम्बन्धित सह कथाओं का प्रयोग किया है।

ये पौराणिक उदाहरण इसी तरह वस्तु की व्यंजना के संदर्भ में प्रयुक्त हैं। कहीं कहीं लोक व्यवहार में प्रचलित अतिसामान्य कथाओं, विश्वासों, किम्वदन्तियों आदि का भी प्रयोग उदाहरण या दृष्टान्त अलंकार की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किया है। इन उदाहरणों में कौवे की निरामिषता, जल एवं जोंक का एक साथ उत्पन्न होना, कालिख से पुराण का लिखा जाना, पारस पत्थर के स्पर्श से लोहे का सोना हो जाना, गंगा की पवित्रता, मणि का अहि, गिरि, गज के यहां पाया जाना, सटाई के पड़ने से दूध का जमना आदि। इन दोनों अलंकारों के सहकारी अलंकार होकर या संसृष्टि के रूप में मिलते हैं हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य

में प्राप्त उदाहरण एवं दृष्टान्त अलंकारों के सहकारी अलंकार तुल्ययोगिता, दीपक निदर्शना, एवं अर्थान्तर आधिक हैं इस दृष्टि से शैकर एवं संसृष्टि दोनों रूपों में उदाहरण एवं दृष्टान्त पाए जाते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि उदाहरण एवं दृष्टान्त अलंकार के संदर्भ में सर्वप्रथम एक प्रस्तुत भाव मिलता है, जिसे वस्तु कहा जा सकता है। इस वस्तु की पुष्टि के लिए उदाहरण या दृष्टान्त के रूप में अनेक पौराणिक एवं लौकिक विश्वासजन्य विषयों का कथन मिलता है तुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना आदि अलंकारों का प्रयोग करके कवि पुनः उन उदाहरणों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालता है, जो वस्तु की व्यंजना का समर्थन करता है ~~यहाँ समर्थन की भी स्थितियां दृष्टिगत होती हैं। कहीं तुल्ययोगिता आदि अलंकार उदाहरण को पुष्टि करते हैं कहीं स्वतः उदाहरण एवं दृष्टान्त उनकी पुष्टि करने लगते हैं~~ इस रूप में उदाहरण एवं दृष्टान्त दोनों गौण दिखाई पड़ते हैं।

शेष अन्य अलंकारों में आक्षेप, निदर्शना, व्याजस्तुत्य, विरोधाभास, अप्रस्तुत प्रशंसा, विशेषोक्ति, व्याघात, तुल्ययोगिता, व्याजोक्ति, कारणमाला, सूक्ष्म, मुद्रा, सहोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, लोकोक्ति, संदेह, भ्रान्तिमान, मीलित, उन्मीलित, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास, विभावना, काव्यलिंग, तद्गुण, अतद्गुण आदि का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है।

इन अलंकारों में वस्तु के रूप में वैष्णव भक्तिकाव्य में व्यवहृत समस्त काव्य विषय प्रस्तुत हैं। नीति, उपदेश, भक्ति, माहात्म्य, आराध्य, विषयक रूप गुण, चेष्टा, व्यवहार, लीला आदि समस्त विषयों को स्पष्ट करने के लिए इन अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

वात्सल्य, सख्य, एवं मधुरलीला के अन्तर्गत चेष्टा, भाव तथा रूप निरूपण के संदर्भ में साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग अधिक मिलता है जहाँ तक भाव निरूपण का प्रश्न है इनके द्वारा सात्विक एवं शृंगारमूलक दोनों प्रकार के भाव यहाँ व्यवहृत हैं। इसके माध्यम से कवि महत्ता, निन्दा, स्तुति, आत्मश्लाघा, आदि से सम्बन्धित पवित्र भाव, आत्मगर्व, वैयक्तिक अहं के विनाश से सम्बन्धित लीलागत भाव, कवित्व शक्ति की व्यंजना, गूढ़ स्नेह भाव, मानव-स्वभाव, शील एवं चरित्र गत अन्य उदात्त गुणों का स्पष्टीकरण, शौर्य, सात्विकता, मानव स्वभाव, स्नेह, प्रियता, कान्ति, शोभा, मद, स्मरणीयता, प्रेम, सौन्दर्य की अलौकिकता, आसक्ति स्वरूप विषयक मादकता, वैयक्तिक सौन्दर्य के प्रति लिप्सा आदि भावों की

चेष्टा निरूपण के अन्तर्गत लौकिक एवं अलौकिक भाव से सम्पन्न लोक चेष्टाओं में त्वरा, अन्तर्लक्षणा, उदात्तता, शालीनता आदि की व्यंजना मिलती है। इसकी पौराणिक क्रियाओं में कृत्यात्मक चेष्टाओं की अधिकता है। लौकिक जीवन में घटित होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रियाएँ यहाँ वर्तमान हैं। इस दृष्टि से लोक क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली समस्त घटनाएँ यहाँ व्यवहृत हुई हैं। अलौकिक चेष्टाओं की व्यंजना लौकिक क्रियाओं के ही आधार पर की गई है। जहाँ तक रूप एवं गुण निरूपण का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध अधिकाधिक पौराणिक एवं काव्यपरम्परा से है।

निष्कर्ष

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में सबसे अधिक प्रयोग साम्यमूलक अलंकारों का है। साम्यमूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। दृष्टान्त एवं उदाहरण अलंकारों का प्रयोग सादृश्यमूलक अलंकारों की भाँति प्रचुरता से हुआ है। साम्यमूलक अलंकारों के प्रयोग का मूल कारण माहात्म्य निरूपण, सौन्दर्य चित्रण एवं अंगप्रत्यंग वर्णन है। उत्प्रेक्षा का प्रयोग चेष्टा निरूपण एवं काल्पनिक सौन्दर्य विधान के क्षेत्र में किया गया है।

इनके कार्यों का पूर्ण रूप निर्वाह इसी अलंकार के द्वारा किया गया है उदाहरण एवं दृष्टान्त अलंकार भक्ति भावना की पुष्टि के लिए अधिक प्रयुक्त है सौन्दर्य निरूपण एवं अंगप्रत्यंग वर्णन के क्षेत्र में भी इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है

शेष अलंकारों के प्रयोगों के क्षेत्रों का उल्लेख किया जा चुका है। मूलतः सम्पूर्ण अलंकार भक्ति काव्य के काव्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए ही प्रयुक्त हैं। अलंकार के द्वारा इस प्रकार वस्तु की व्यंजना कराना भक्तिकाव्य का मुख्य लक्ष्य रहा है। संस्कृत कवियों की भाँति इन कवियों ने अलंकार के द्वारा अनुरंजन क्रीडावृत्ति एवं चमत्कृति का प्रयोग कम ही किया है। सूर एवं तुलसी के काव्य में अनुरंजन की यह सामान्य वृत्ति कहीं-कहीं परिलक्षित होती है।

....

वक्रोक्तिसिद्धान्त तथा वैष्णव भक्तिकाव्य

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वक्रोक्ति के ६ भेद किए गए हैं- वर्णविन्यास ,पदपूर्वार्ध पदपरार्ध ,पद या वाक्यविन्यास ,प्रकरण एवं प्रबन्धवक्रता । वक्रोक्ति सम्बन्धी समस्त रचना व्यापार शब्दार्थ एवं रचनास्वरूप पर आश्रित है।वर्णविन्यास वक्रता के अन्तर्गत समस्त शब्दालंकार अनुप्रास ,यमक ,श्लेष ,आदि प्रयुक्त होते हैं। पद पूर्वार्ध में पूर्व पद से सम्बन्धित संज्ञा ,सर्वनाम ,विशेषण ,प्रत्यय ,लिंग ,क्रिया , रूढिगत प्रयोग ,उपचार आरोपावृत्ति संज्ञा एवं क्रियाओं से जुडने वाले प्रत्ययों एवं तद्धितों के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया जाता है।पद परार्ध के उत्तरपद में स्थित वाक्यरचना के समस्त तत्वकाल ,पुरुष ,वचन ,परस्मैपद ,कर्मवाच्य आदि के द्वारा वक्रता उत्पन्न की जाती है ।पदों के पश्चात् वाक्य विन्यास का स्थान आता है।इसमें कवि उदार एवं सुन्दरवस्तु के सटीक वर्णन का आधार ग्रहण करता है। स्वभावोक्ति का चमत्कृति के माध्यम से रीति सम्बन्धी विशेषता को उत्पन्न करना वाक्यवक्रता है ।कुन्तक इस वक्रता को मार्ग का नाम देता है।यह मार्ग रीतिसिद्धान्त ही है।इस रीति का मुख्याधार है वस्तु का यथातथ्य स्वभावगत निरूपण ।जड़वस्तु का वर्णन उसके स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए एवं चेतन सम्बन्धी वर्णन रसोद्दीपन के रूप में। इस प्रकार इसमें स्वभावोक्ति का विशेष हाथ है ।प्रकरणवक्रता का सम्बन्ध प्रसंग विशेष से है।इसमें कवि रचना विशेष के प्रसंग औचित्य को सिद्ध करने के लिए विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि करना चाहता है। इसके लिए कवि ऐसी प्रणाली का आधार ग्रहण करता है ,जिससे प्रसंग में चमत्कृति उत्पन्न हो जाय इसका अन्तिम भेद प्रबन्ध वक्रता का है।यह प्रबन्ध ध्वनि की ही भांति वक्रता का व्यापक स्वरूप है।कवि इसके अन्तर्गत घटना विशेष की प्रमुखता ,रचना के निश्चित उद्देश्य आदि के ,प्रयोग से कथानक में इस प्रकार की विशिष्टता उत्पन्न करता है। जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण प्रबन्ध में विशेष प्रकार की चमत्कृति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वक्रोक्ति विषयक सम्पूर्ण चमत्कार योजना रचना के बाह्य स्वरूप पर आधारित है।कवि अपने निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए वर्ण ,पूर्वपद ,उत्तर पद ,वाक्य प्रकरण एवं प्रबन्ध में कतिपय विशिष्ट प्रयोग करता है। इस परिवर्तन विशेष से इनमें वक्रता का पोषण होता है ।इस प्रकार वक्रता काव्य के बाह्य पक्ष से ही अधिक सम्बन्धित है।

वर्णविन्यासवक्रता . हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में शब्दालंकारों का प्रयोग वर्तमान है। जहां तक अनुप्रास का प्रश्न है —लाटीय को छोड़कर इसके समस्त भेदोपभेद भक्तिकाव्य

में मिल जाते हैं। भक्त कवियों में शब्दालंकार सम्बन्धी सचेष्टता का संकेत अनेक स्थलों पर मिलता है। तुलसी ने आखर अरथ अलंकृति[1] के काव्य प्रयोग को चर्चा मानस में की है। वे मानस के आरम्भ में वाणी विनायक गणेश से वर्ण एवं अर्थसंघ[2] की सिद्धि की प्रार्थना करते हैं। तुलसी को यह भलीभांति ज्ञात था कि उत्कृष्ट कवियों की कसौटी अक्षर एवं अर्थ[3] दोनों हैं। यही कारण है कि वे वाणी एवं अर्थ[4] की साथ साथ उपासना करते हैं। भक्तमालकार ने सूर के कवित्व की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए[5] अनुप्रास योजना में विशेष कुशल बताया है। इन साक्षों से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि इन कवियों की दृष्टि शब्दालंकार या वर्णनियोजन की वक्रता पर अवश्य थी।

भक्तिकाव्य में वर्णविन्यास सम्बन्धी वक्रता का जहां तक प्रश्न है, उसके लिए पृथक से कोई[6] सिद्धान्त निरूपित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में वक्रोक्ति सम्बन्धी संस्कृत काव्यशास्त्र के नियम यहां पूर्णरूपेण चरितार्थ होते हैं। हिन्दी भक्त कवियों ने पद पद पर सचेष्ट या निश्चेष्ट भाव से अनुप्रास एवं अन्य वर्णविन्यासवक्रता सम्बन्धी प्रयोगों को ग्रहण किया है। अनुप्रास प्रयोग के संदर्भ में प्राप्त वर्णों के अनुरंजन एवं अवरंजन की प्रवृत्ति यहां भी मिलती है। यह अनुरंजन एवं अवरंजन शैली के कोमल, मधुर या कर्कश तत्वों का पोषक है। अनुप्रास के उपरान्त श्लेष, यमक, वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाभास आदि शब्दालंकार के प्रयोग संस्कृत साहित्य की ही भांति यहां भी प्राप्त हैं। वक्रोक्ति को पुष्ट करने के लिए श्लेष का आधार अधिक अनिवार्य माना गया है। भक्त कवियों ने जहां भी श्लेष का प्रयोग किया है, उसका मूल विषय वक्रोक्ति को ही पुष्ट करना रहा है। एकाध उदाहरण से इस विषय को स्पष्ट किया जा सकता है –

बहुरि वक्र सम बिनवउं तोही। सन्तत सुरानीक हित जेही।

१: आखर अरथ अलंकृति नाना छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना

२: जानामि अक्षरार्थानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।

३: कवित्व अरथ आखर बल सांचा अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा

४: गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न :

५: उक्ति चोज अनुप्रास बर्ण अद्भुत छन्द धारी।

६: मानस : बालकांड : दो० सं. ४

यहाँ 'सुरानीक' शब्द श्लिष्ट है जिसका अर्थ क्रमशः [सुर + अनीक] देव सेना से युक्त तथा [सुरा + नीक] मदिरा प्रिय है। शक्र की देवताओं की सेना तथा सुरों को मदिरा प्रिय है। अभिधेयार्थ में 'सुरों' को इन्द्र के समान समादृत बताया गया है किन्तु सुरा नीक का मदिरा प्रिय अर्थ लगाने पर यह उनकी निन्दा का द्योतक हो जाता है। फलतः इस वक्रता का कारण श्लेष ही है। इसी प्रकार का एक और भी उदाहरण लिया जा सकता है —

बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रबि कर निकर॥[1]

यहाँ 'नर रूप हरि' तथा 'महा मोह तम पुंज' परस्पर विरोधी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। किन्तु श्लिष्टार्थ से 'नर रूप हरि' राम सम्बन्धी के द्योतक हैं। फलतः यहाँ श्लिष्टार्थ से ही अर्थ सम्बन्धी वक्रता सम्भव हो सकती है।

यमक आदि शब्दालंकारों के भी प्रयोग भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं। विशेष रूप से दधि, सारंग, अलि शब्दों के लेकर इन कवियों ने अर्थ सम्बन्धी वक्र व्यंजना उपस्थित की है। सूर के 'अनि छठ कछु सारंग नैनी' तथा 'देखी माई दधि सुत में दधि जात' आदि पद वक्रोक्ति की पूर्ण व्यंजना उत्पन्न करते हैं। वक्रोक्ति सम्बन्धी चित्रकाव्य भक्तिसाहित्य में दुर्लभ है। पूट एवं प्रहेलिका के वक्रोक्ति सम्बन्धी प्रयोग मात्र सूरसागर में ही मिलते हैं। ये वर्णमूलक वक्रोक्ति के उत्कृष्टतम उदाहरण कहे जा सकते हैं —

देखि सखि तीसमाहु इक ठौर।
ता ऊपर बालीस विराजत, रुचि नाहीं वह ठौर।
धर ते गगन, गगन ते धरनी, ता बिच कियो विस्तार।
गुन त्रिगुन सागर की सीमा, बिन रवि भयो निसार।
कोटिन कोटि तरंगनि उपजति, जोग जुगति चितलाउ।
सूरदास प्रभु अकथ कथा को पंडित भेद बताउ॥[2]

१: मानस बालकांड. दो० सं०.
२: सूरसागर: पृ सं ३०८७

यहाँ पंडित के द्वारा भेद बताने की घोषणा वक्रोक्ति का प्रबल समर्थन करती है। कवि इस पद के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की ओर भी रुझान प्रदर्शित करता है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में प्रयुक्त एवं शब्दालंकार के रूप में प्राप्त वक्रोक्ति तत्व के पोषण की ओर संकेतता मिलती है।

पदपूर्वार्ध वक्रता — सम्पूर्ण भक्तिकाव्य में पदपूर्वार्ध एवं पद परार्ध सम्बन्धी वक्रता के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। इनकी दृष्टि पद के पूर्व एवं उत्तर दोनों पक्षों की ओर संकेतता से गई है। इनके प्रयोगों को देखकर इन्हें निःसंकोच रूप से पद सिद्ध कवि कहा जा सकता है। कतिपय प्रयोगों से इन विशिष्टताओं को स्पष्ट किया जा सकता है।

पूर्वार्ध रूढिवैचित्र्य -

रूढिवैचित्र्य के अनेक प्रयोग भक्तिकाव्य में मिलते हैं। इनका प्रयोग शृंगार, प्रेम, भक्ति, माहात्म्य आदि भावों की पुष्टि के लिए हुआ है। इनके यहाँ दो प्रकार की रूढियाँ अधिक प्रयुक्त हैं - प्रथम पौराणिक रूढि एवं द्वितीय शृंगारिक रूढि। अनेक स्थलों पर शृंगारिक भावना की सिद्धि के लिए पौराणिक रूढि का भी प्रयोग किया गया, अन्यथा पौराणिक रूढियों का प्रयोग महात्म्य निरूपण आदि संदर्भों में ही अधिक मिलता है -

उदा० — भए विलोचन चारु अंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल[1]।

सीता एवं राम का प्रथम दर्शन विषयक प्रेम जनक के पूर्व पुरुष 'निमि' के लिए संकोच का कारण हो सकता है। पौराणिक रूढि के अनुसार 'निमि' का निवास पलकों पर बनाया जाता है। पलकों का उठना गिरना निमि के भार से ही होता है। पलकों के ऊपर से निमि का उठ जाने का तात्पर्य है सीताराम का निर्निमेष प्रथम दर्शन। इसी को पुष्ट करने के लिए कवि रूढिवक्रता का आश्रय ग्रहण करता है। इसी प्रकार की अनेक रूढि वक्रताएँ भक्तिकाव्य में भरी पड़ी हैं -

गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही।
जो छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारु। मथै पानि पंकज निजमारु।

१: मानस : बालकांड दो० सं० २३२.
२: " " २४७

इन पंक्तियों में सीता के अतुलनीय सौन्दर्य की व्यंजना कराने के लिए कवि पौराणिक रुढ़ियों का आश्रय ग्रहण करता है। इन पौराणिक रुढ़ियों के मूल में ही सीता के उपमानों को उच्च सिद्ध कर दिया गया है। ये पौराणिक रुढ़ियाँ सरस्वती का वाचालता रति पति कामदेव का अनंग होना, लक्ष्मी के बन्धु - विष्णु कारुणी की कल्पना, समुद्र मथन में ईश्वर का कच्छप होना, मंदराचल का मथानी के रुप में प्रयोग आदि हैं। इनका मूल प्रयोजन सीता के अतुलनीय सौन्दर्य का चित्रण करना है। इन पौराणिक रुढ़ियों के अतिरिक्त काव्यरुढ़ियों का प्रयोग रुढ़ि वैचित्र्य के क्रम में सूरसागर में अनेक स्थलों पर प्राप्त है। अन्य भक्त कवियों में परम्परागत स्फुट उदाहरण यत्र तत्र मिल जाते हैं।

पदपूर्वाध पर्यायवक्रता -

भक्तिकाव्य में पर्यायवक्रता के उदाहरण कम प्राप्त हैं। इसके अन्तर्गत पर्याय के चमत्कारपूर्ण प्रयोग के माध्यम से वक्रता उत्पन्न की जाती है मानस तथा सूरसागर में इसके छुटपुट संकेत मिलते हैं।

विस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।
लच्छन धाम राम प्रिय, जग जाके आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।

इनमें क्रमशः भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न का उल्लेख है, साथ ही भरण पोषक के पर्याय भरत, शत्रुनाश के पर्याय शत्रुघ्न तथा लक्षण धाम के पर्याय लक्ष्मण बताए गये हैं। इस प्रकार यहाँ पर्याय सम्बन्धी वक्रता स्पष्ट रुप से लक्षित उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार से भक्तिकाव्य में पद वक्रता के अन्य भेदों वृत्ति, प्रत्यय वृत्ति आदि के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

पदपराधवक्रता - यह वक्रोक्ति कारक, काल, पुरुष, प्रत्यय एवं पद वक्रता के रुप में प्रकट होती है। इसका सम्बन्ध पद के उत्तर भाग से सम्बन्धित है।

कारक - जहाँ किसी विशेष प्रयोजन से कारक में परिवर्तन उपस्थित किया जाता है। भक्तिकाव्य में इसके उदाहरण कम मिलते हैं -

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा।

कौन दो सिर का होना चाहता है, कौन यमराज को लेना चाहता है, कर्मवाच्य है' जिनके कर्तृवाच्य में 'किसको दो सिर का कर दूँ, तथा किसे यमराज को दूँ है'। यहाँ दशरथ की शक्ति की व्यंजना कराने के लिए कवि इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करता है।

काल - किसी औचित्य के स्वरूप काल का प्रयोग सूर के विरह वर्णन में प्राप्त है' स्मरण अलंकार या स्मृति संचारीभाव विषयक समस्त कथन काल वैचित्र्य के अन्तर्गत आते हैं' -

वे हरि बातें क्यों बिसरी'।
आवत राधा पैथ चरन रज, हित ही अंक भरी।
भाँति भाँति किसलय कुसुमावलि, सेज्या सोभकरी।

यहाँ स्मृति के द्वारा कृष्ण राधा के प्रेम की ओर संकेत किया गया है।

पुरुषवक्रता - मानस में 'कहँ रघुपति' पर पुरुष सम्बन्धी वक्रता का उल्लेख आत्मपरक भावना को व्यक्त करने के लिए हुआ है। इसमें पुरुष प्रयोग सम्बन्धी विपर्यय देखा जाता है।

नाथ सैल धनु मोर निहारा। होइहै कोउ इक दास तुम्हारा।

यहाँ राम अपने लिए 'मैं' शब्द का उत्तमपुरुषवाची प्रयोग न करके 'इक दास तुम्हारा अन्य पुरुष के रूप में करते हैं'।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में 'पदपराधि वक्रता के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं'। पद सम्बन्धी वक्रता के अन्तर्गत आत्मने एवं परस्मैपद सम्बन्धी क्रियाओं से युक्त उपग्रहवक्रता एवं पदवक्रता उपसर्ग एवं निपातरहित वक्रता के उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। इनके प्रयोग अधिकतर संस्कृत काव्य में ही मिलते हैं।

वाक्यवक्रता - कुन्तक के अनुसार यह स्वभावोक्ति या कवि अभ्यासजन्य विलक्षणता से सम्बन्धित है भक्तिकाव्य में वक्रताजन्य वर्णनरूप सर्वत्र मिलते हैं' प्राकृतिक चित्रण देव एवं ब्रजवर्णन, कृष्ण तथा राम के बाल्यजीवन आदि के स्वाभाविक वर्णन ~~रूपकों~~ को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थ से संयुक्त एवं कवि की विलक्षणप्रतिभाजन्य वाक्यवक्रता के अन्तर्गत प्रायः समस्त अर्थालंकारों का प्रयोग मिलता है इस दृष्टि से प्राय अर्थालंकारगत वाक्यवक्रता हिन्दी भक्तिसाहित्य में सर्वत्र मिलते हैं'

प्रकरणवक्रता - वक्रोक्तिकार कुन्तक ने शब्द शब्दरचना एवं वाक्यविन्यास के अतिरिक्त

१: सूरसागर पृ. सं. ४२५१

काव्य में प्रयुक्त प्रकरण विशेष को भी वक्रता की संज्ञा दी है। इस प्रकरण की विशिष्टता यह है कि वह वक्ताभिप्राय एवं औचित्य की दृष्टि से मूलविषय को पुष्ट करने वाली हो। प्रकरणवक्रता उसके अनुसार ६ प्रकार की होती है -

१ नायक के चारित्रिक उत्कर्ष को दिखाने के लिए ·

२ रचना की विलक्षणता प्रकट करने के लिए ·

३ ऐतिहासिक कथानक में परिवर्तन के द्वारा ·

४: संक्षिप्त प्रसंग को सरस एवं विस्तृत बनाने के लिए ·

५: वर्णन के समर्थन के लिए प्रयुक्त दूसरा वर्णन रूप ·

६: किसी प्रकरण के भीतर अन्य प्रसंगों की कल्पना ·

प्रकरणवक्रता मूलरूप से ऐसे काव्यों में खोजी जाती है, जिसमें किसी न किसी रूप में कथात्मकता वर्तमान हो। महाकाव्य कथात्मक गीतिकाव्य खंड तथा अनेकार्थ काव्यों में इस प्रकार की विशेषताएं देखी जा सकती हैं। हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य में इस प्रकार के अनेक प्रकरण मिलते हैं। मानस में धनुभंग का प्रसंग नायक का शौर्य प्रकट करता है। पुष्पवाटिका, ताप्स का आगमन, आदि प्रसंग रचना में विलक्षणता को प्रकट करते हैं। सीता का अग्निप्रवेश नवीन कथा प्रसंग की योजना में पूर्वरूपेण सहायक है। वैष्णव भक्तिकाव्य में ऐतिहासिक कथानक नहीं आए हैं; ये पौराणिक कथानक हैं। ~~वैष्णव भक्ति काव्य में ऐतिहासिक कथानक नहीं आए हैं वे पौराणिक कथानक हैं~~ इन कथानकों में भक्त कवियों ने काफी उलट फेर किया है। मानस में प्रतापभानु कथा एवं शुकनासिकरुसंवाद की कथा कुछ इसी प्रकार की है। यद्यपि ये कथानक कल्पित नहीं हैं, किन्तु इनमें काफी संशोधन किया गया है। कथापरक गीतात्मक काव्यों में छोटे से छोटे प्रसंग को लेकर उसका विस्तृत काव्यपूर्ण सरस चित्रण अनेक स्थलों पर हुआ है। सूरसागर में प्रयुक्त राधाकृष्ण विहार, भ्रमरगीत, वात्सल्यवर्णन इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सूरपरवर्ती कवियों में राधा कृष्ण केलि का वर्णन भी प्रकरणवक्रता का उदाहरण है। इसके अन्तर्गत कुछ काल्पनिक प्रकरणवक्रता भी प्राप्त होती है। नन्ददास की रासपंचाध्यायी के अन्तर्गत रति एवं कामदेव का प्रसंग, सूरसागर में राधा का रात्रि भर कृष्णकेलि में समय व्यतीत करना और प्रातः माता से मोतीमाला के खो जाने का बहाना बताना, श्री कृष्ण द्वारा राधा के स्तन स्पर्श के अवसर पर यशोदा के आ जाने पर गेंद चुरा लेने का बहाना, राधामिलन के लिए कृष्ण का यशोदा से रात्रि में गाय दुहने का उदाहरण, कल्पनात्मक प्रकरणवक्रता से सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रकरणवक्रता भक्तिकाव्य में कथात्मकता के संदर्भ में अनेक

स्थलों पर प्रयुक्त मिली है।

प्रबन्धवक्रता..... यह सम्पूर्ण कथानक के मूल में देखी जाती है। इसके पाँच भेद किए गए हैं। किन्तु भक्तिकाव्य के संदर्भ में एक ही प्रकार की प्रबन्धवक्रता देखी जाती है। नायक के सम्पूर्ण जीवनचित्रण को अभिव्यक्त करके मात्र उसी के आधार पर रचना का उद्देश्य प्रकट करना इस प्रबन्धवक्रता की विशेषता है। इसके अन्तर्गत मानस, सूरसागर, रुक्मिणी आदि प्रबन्धात्मक रचनाओं को लिया जा सकता है।

इस प्रकार वक्रता काव्य की बाह्य प्रकृति से ही सम्बन्धित है। सम्पूर्ण विश्व के किसी भी शब्दार्थरूपकाव्य के ऊपर इस सिद्धान्त का आरोपण किया जा सकता है। विशेष रूप से शैलीप्रधान काव्यों के लिए मूलतः कुन्तक की वक्रोक्ति ही है। भक्तिकाव्य के शैलीपक्ष के निरूपण के लिए इस वक्रता को सामान्य आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। सम्पूर्ण भक्ति काव्य को शैली के दृष्टिकोण से देखना असंगत है। कारण स्पष्ट है, भक्तिकाव्य की रचना के मूल में नैतिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत आत्मप्रेरणा की प्रेरणा निहित है इसलिए शैलीवादी सिद्धान्तों से इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

अलंकार एवं अलंकार्य

वक्रोक्तिवाद के अनुसार काव्य की मूलात्मा वक्रोक्ति या अन्तश्चमत्कार है। इस अन्तश्चमत्कार के लिए शैली पक्ष का चमत्कृत होना अपेक्षित है। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार अलंकार एवं अलंकार्य दोनों ही वक्रोक्ति हैं। तात्पर्य यह कि वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार अलंकार एवं अलंकार्य का भेद निरर्थक है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त वक्रोक्ति के उदाहरणों में इस प्रकार की किसी भी स्थापना की ओर संकेत नहीं मिलता। भक्त कवि वक्रोक्ति का प्रयोग सोद्देश्य करता है। इसमें शैली सम्बन्धी विलक्षणता की सिद्धि न मिलकर भक्ति, नैतिकनियम, सामाजिक व्यवस्था, लीलानियोजन, माहात्म्य वर्णन आदि वस्तुओं की व्यंजना कराने का उद्देश्य निहित है। ये कवि इस उद्देश्य की पुष्टि के लिए वस्तु के गुण, पात्रों की चेष्टाओं, रूप, स्वभाव, या वैचित्र्य का बोध कराने के लिए वक्रोक्ति का प्रयोग करते हैं। मानसकार द्वारा प्रयुक्त शब्दभूक का प्रकरणगत वक्रोक्ति वर्णन माघ के शिशुपाल वध महाकाव्य में प्राप्त रैवतक गिरि के वर्णन से पूर्णरूपेण तुलनीय है। यहाँ वस्तु की व्यंजना आलंकारिक दृष्टि के सम्मुख धुंधली पड़ गई है। सूरसागर का गोपिका विरह कालगत वक्रोक्ति के रूप में कृष्णलीला का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भक्तिकाव्य में प्रयुक्त वक्रोक्ति मात्र साधन या अलंकार के रूप में है। भक्तिकाव्य में वक्रोक्ति को वक्रात्मा से कहीं अधिक पुष्टि रसात्मकता या प्रयोजनशीलता को मिली है। इस प्रकार भक्तिकाव्य के लिए वक्रोक्ति का प्रयोग मात्र शैलीपक्ष की सार्थकता का सूचक है।

भक्तिकाव्य में ध्वनिकाव्यसिद्धान्त की सम्भावनाएं

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में ध्वनिसिद्धान्त के सम्पूर्ण तत्व वर्तमान हैं। भक्तकवियों में एकमात्र तुलसी ने मानस में ध्वनि सिद्धान्त के प्रयोग की चर्चा की है। उनके अनुसार ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रीति का प्रयोग मानस में हुआ है। इस ध्वनि तत्व को वे मानस में प्राप्त मीन की भाँति विलास तत्व से संयुक्त मानते हैं। इस प्रकार मानस में ध्वनिकाव्य सिद्धान्त की सम्भावनाएं वर्तमान हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुशल कवि किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ या आदर्श को अपने सम्मुख रखकर काव्यरचना में प्रवृत्त नहीं होते उनके मस्तिष्क में कतिपय आदर्श, प्रयोग, प्रौढ़ियाँ एवं परम्पराएं वर्तमान रहती हैं, जिसका वे सचेष्ट या निश्चेष्ट भाव से पालन करते हैं। साथ ही काव्य वाणी एवं रस का व्यापार है। वाणी शब्दार्थ से संयुक्त काव्य के वाह्यतत्व की पोषक है। रस वस्तु में स्थित भावव्यंजना का समर्थक है। इस प्रकार सम्पूर्णकाव्य में यही दो तत्व क्रियाशील मिलते हैं-ध्वनिसिद्धान्त की भी यही विशिष्टता है। वह तत्कालीन प्रचलित समस्त शैलीगत काव्यमूल्यों के साथ भाव तत्व को अपने मूल में अन्तर्भुक्त कर लेता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, गुण, रस एवं भाव सम्बन्धी समस्त काव्यसिद्धान्त समाहित हैं।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनिकाव्य को तीनभागों में विभक्त किया है, ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य तथा चित्रध्वनि या अवरकाव्य। पंडितराजजगन्नाथ ध्वनिकाव्य में गुणीभूत व्यंग्य को उत्तमकाव्य की श्रेणी के अन्तर्गत स्वीकार करके इसको क्रमशः चार भागों में विभक्त करते हैं। उत्तमोत्तम काव्य, उत्तमकाव्य, मध्यमकाव्य एवं अवरकाव्य।

ध्वनिकाव्य एवं लक्ष्य पर आधारित रहती है, इसलिए ध्वनिवादियों ने उसे दो भागों में विभाजित किया है अभिधामूलकध्वनि तथा लक्षणामूलकध्वनि.

लक्षणा के अन्तर्गत वाक्यार्थ तिरस्कृत रहता है। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के भी अन्तर्गत या तो वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है या लक्ष्यार्थ में सन्निविष्ट हो जाता है। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद किए जाते हैं।

.....

१: ध्वनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि , एवं असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य । जहाँ तक वैष्णवभक्तिकाव्य का प्रश्न है , इसके अनेक उदाहरण इस खंड में दिये जा सकते हैं किन्तु इनमें ध्वनिमूलकता के अतिरिक्त और कोई विशेष सिद्धान्त नहीं निकलते । भक्त कवि इनका प्रयोग काव्यपूर्ण स्थलों पर ही अधिक करते हैं। मानस एवं सूरसागर में इस प्रकार के अनेकस्थल हैं जहाँ सम्पूर्ण रूप से लाक्षणिक प्रयोग की मालाएँ ही दृष्टिगत होती हैं। मानस में लक्ष्मण परशुराम संवाद , अयोध्याकांड में कैकेई के कोपभवन में गमन एवं दशरथ का मनाना , केवटराम संवाद , सूरसागर में राधा का मान प्रसंग , एवं भ्रमरगीत में लक्षार्थ की मालाएँ ही दिखाई पड़ती हैं। परवर्ती कृष्णभक्ति काव्य में उक्तिवैचित्र्य के स्थान पर भावात्मकता का आग्रह अधिक है। स्फुट रूप से कहीं कहीं इनका प्रयोग अवश्य मिलता है, किन्तु उनमें कवि की संश्लिष्टता नहीं दिखाई पड़ती। भक्त कवियों में इस प्रकार की विशेषता सूर , तुलसी एवं स्फुट रूप से नन्ददास में मिलती है। ध्वनि के माध्यम से प्रकट होने वाली लक्षणामूलक शब्द शक्ति भक्त कवियों को पूर्ण रूपेण ग्राह्य है। इस लक्षणा प्रयोग के माध्यम से ये कवि राम या कृष्ण का माहात्म्य निरूपण , पराक्रम एवं शौर्य चित्रण कृष्ण विषयक प्रेमभाव की तीव्रता तथा प्रेम के विभिन्न स्फुट भावों की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार लक्षणामूलक शब्दशक्ति भक्तिकाव्य में साधन के रूप में प्रयुक्त है।

अभिधामूलकध्वनि को दो भागों में विभक्त किया जाता है - अभिधा या वाच्यार्थ पर आश्रित शब्दशक्ति जिसमें ध्वनि सम्बन्धी व्यंजना का क्रम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है तथा दूसरे में मात्र व्यंजना का ही बोध होता है। क्रम की अस्पष्टता के कारण इसे असंलक्ष्य क्रम एवं प्रथम को संलक्ष्यक्रम के नाम से पुकारते हैं। प्रथम के अन्तर्गत शब्दार्थ पर आश्रित समस्त व्यंजना व्यापार आता है तथा दूसरे का सम्बन्ध रससिद्धान्त से है।

शब्दशक्तिउद्भव

शब्दशक्तिउद्भव ध्वनि का मूलाधार शब्द है। यहाँ व्यंग्य शब्द प्रयोग पर आश्रित रहता है। शब्द प्रयोगविशेष ही वहाँ अर्थ की एक विशिष्ट व्यंजना उत्पन्न करता है। इसीलिए इसे सूक्ष्मध्वनि का भी नाम दिया जाता है। इसके चार भेद किए गए हैं- पदगत वस्तुध्वनि , वाक्यगत वस्तुध्वनि , पदगत अलंकार ध्वनि तथा वाक्यगत अलंकारध्वनि । शब्द के अन्तर्गत वस्तु एवं तत्सम्बन्धी अलंकार

ही जाते हैं यही कारण है कि इसके भेद वस्तु एवं अलंकार पर आश्रित हैं।

अर्थशक्तिउद्भव

इसमें वाच्यार्थ के निकल जाने पर ही व्यंग्यार्थ का बोध होता है, क्योंकि इस ध्वनि का मूलाधार अर्थ है वक्ता की प्रबन्धन प्रधानता के कारण इसके तीन भेद किए गए है - स्वत: सम्भवी, कवि प्रौढोक्तिसिद्ध, तथा निबद्धमान पात्र प्रौढोक्ति। ध्वनिवादियों के अनुसार अर्थ की सम्पूर्ण सम्भावनाएं वक्ता की स्थिति पर ही आधारित है। इन तीनों के पुन: चार भेद किए गए हैं - वस्तु से वस्तु को व्यंजना, वस्तु से अलंकार की व्यंजना, अलंकार से वस्तु की व्यंजना, तथा अलंकार से अलंकार की व्यंजना। ध्वनिवादियों ने अर्थ के आधार की दृष्टि से इसको पुन: पदगतध्वनि, वाक्यगतध्वनि एवं प्रबन्धगतध्वनि के रूप में विभाजित किया है। इस प्रकार शब्दार्थ ध्वनि के अन्तर्गत काव्य के सम्पूर्ण बाह्य कलेवर को अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।

भक्तिकाव्य अन्य काव्यों की ही भाँति शब्दार्थमय है। यह सत्य है कि अन्य काव्यों की भाँति वह निश्चित रूढ़ियों पर आश्रित एवं घिसे घिसाए उद्देश्य का समर्थक नहीं है, फिर भी शब्दार्थ की समस्त विशिष्टताएं उसमें निहित हैं। अत: शब्दार्थ पर आश्रित ध्वनि के इन भेदों का भक्तिकाव्य में पाया जाना असम्भव नहीं है।

शब्दशक्ति सम्बन्धी ध्वनि सिद्धान्त प्राय: शब्दव्यंजक अलंकारों पर आश्रित है - समासोक्ति, श्लेष, वक्रोक्ति, यमक, लाटानुप्रास, व्याजोक्ति आदि इसके प्रमुख आधारभूत अलंकार हैं। अलंकार प्रयोग के क्रम में इनका अध्ययन किया जा चुका है। यहाँ कहा जा चुका है कि भक्तिकाव्य में अलंकार प्रयोग का मूल उद्देश्य वस्तु का पोषण (आना) है। निश्चित रूप से भक्तिकाव्य में शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के बन्धों दोनों आधार वस्तु एवं अलंकार (वस्तु के रूप में स्थित) ही व्यंजक हैं।

अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि की विशिष्ट संभावनाएं भक्तिकाव्य में निहित हैं भक्तिकाव्य में वक्ता एवं श्रोताओं की निश्चित परम्पराएं वर्तमान हैं अर्थात् मानव में वक्ता श्रोताओं की (निम्न) स्थितियाँ हैं -

१ शंकर एवं पार्वती का परस्पर वक्ता श्रोता होना.
२ शुकन्हि एवं गरुड़ " "
३ याज्ञवल्क्य एवं भारद्वाज " "
४ कवि एवं सामाजिक जीवन्त व्यक्ति " "

५ कवि का स्वत: कथन ।

६ पात्रों का परस्पर संवाद ।

७ पात्रों का स्वत: कथन ।

भागवत में भी इसी प्रकार की विस्तृत वक्ता श्रोता की परम्परा निर्दिष्ट की जा सकती है। कवि प्रौढोक्ति को प्रौढोक्ति सिद्ध, पात्रगत उक्ति को स्वत: सम्भवा एवं कवि द्वारा कल्पित पात्रों से सम्बन्धित व्यंग्य को कवि निबद्धपात्र प्रौढोक्तिसिद्ध ध्वनि कहा जाता है। भक्तिकाव्य में कवि निबद्धपात्र प्रौढोक्ति सिद्धपात्र अत्यल्प हैं किन्तु कविगत एवं पात्रगत ध्वनि सम्बन्धी कलात्मक अभिव्यक्ति के अनेक रूप भक्तिकाव्य में प्राप्त होते हैं।

जहाँ तक अर्थ के आश्रय वस्तु एवं अलंकार का सम्बन्ध है भक्तिकाव्य में इसके प्रयोग की विशिष्टता दृष्टव्य है। भक्तिकाव्य में मात्र वस्तु से वस्तु या अलंकार से वस्तु की ही व्यंजना मिलती है। यहाँ वस्तु से अलंकार एवं अलंकार से अलंकार की व्यंजनाएँ कम हैं। कहीं-कहीं वस्तु से अलंकार की या अलंकार से अलंकार की व्यंजनाएँ भी मिलती हैं, किन्तु उसकी परिणति पुन: वस्तु व्यंजना में हो जाती है। इसे सम्यक उदाहरण से पुष्ट किया जा सकता है क्योंकि इसके प्रयोग भक्तिकाव्य में विरल हैं। —

> बहुरि वक्र सम बिनु तेहीं। छन्तत सुरानीक हित जेहीं।
> जासन बज्र जेहि कर प्यारा। सहस नयन पर दोष निहारा।

इन पंक्तियों में प्रस्तुत के रूप में श्लेष तथा उपमा अलंकार का प्रयोग किया गया है। किन्तु इन अलंकारों के द्वारा क्रमश: वक्रोक्ति एवं व्यतिरेक की व्यंजना हो रही है। 'सुरानीक' शब्द से श्लेष सम्बन्धी वक्रता एवं दूसरी पंक्ति में व्यतिरेक का बोध होता है। दूसरी पंक्ति में 'दुष्टों' की महत्ता सहस्राक्ष इन्द्र से भी बढ़कर बताई गई है। इन्द्र सहस्राक्ष होकर भी दो ही नेत्रों से देखता है, किन्तु दुष्ट दो नेत्रवान् होकर भी सहस्रनेत्रों का कार्य उससे कर लेता है। यहाँ श्लेष एवं उपमा वक्रोक्ति तथा व्यतिरेक की व्यंजना करते हैं। इस व्यंजना में व्यंग्य वस्तु अलंकार न होकर मात्र वस्तु है। यह वस्तु या कथन

प्रयोजन दृष्टों की अतिशय दृष्टता से सम्बन्धित है।इस प्रकार के अन्य प्रयोगों की दृष्टि भी वस्तुप्रधान है, अलंकार प्रधान नहीं।

भक्तिकाव्य में पदगत ,वाक्यगत एवं प्रबन्धगत ध्वनिभेदों के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं।पद एवं वाक्यगत ध्वनियाँ तो हैं ही साथ ही प्रबन्धध्वनि की दृष्टि से भक्तिकाव्य अत्यधिक सबल ज्ञात होता है।प्रबन्ध ध्वनि के आधार के बिना भक्तिकाव्य का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। सम्पूर्ण भक्ति काव्य में अभिधेयार्थ उतना महत्वपूर्ण नहीं है। जितना कि व्यंग्यार्थ ।पदावली में प्रतीत कृष्ण की शृंगारलीला मूलक समस्त काव्यसाधना ही ध्वनिकाव्य का उदाहरण है इस प्रबन्धध्वनि के ही फलस्वरूप भक्तिकाव्य का अर्थ शृंगार एवं लौकिक भावों की सीमा से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार भक्तिकाव्य में प्रबन्धध्वनि अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके अभाव में भक्तिकाव्य का वास्तविक मूल्यांकन असम्भव है।

रसध्वनि .

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के लिए रसध्वनि अधिक महत्वपूर्ण है।रसध्वनि के अन्तर्गत काव्य में प्रयुक्त रस या भाव के विभिन्न विभेदों पर गंभीरतापूर्वक विवेचन ध्वनिवादियों ने किया है।इस दृष्टि से रस ,रसाभास ,भाव ,भावाभास, भावशान्ति ,भावोदयोदय ,भावशबलता , एवं भावसन्धि इसके आठ भेद मिलते हैं। शुद्धकाव्यशास्त्रीय दृष्टि से रसध्वनि के ऊपर विचार किया जा चुका है।इस विचार का निष्कर्ष है कि भक्तिकाव्य में काव्यरस निरपेक्षरूप से पूर्ण प्रयुक्त है।शृंगार या तो भक्तिरस का अंग है ,या उसमें परिपक्वता नहीं आ पाई है ।जहाँ वह दूसरे रस का प्रश्न है अंगरूप में उनका भी प्रयोग हुआ है ,काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उसे रसाभास की संज्ञा दी जाती है। रस के अन्तर्गत यह रसाभास काव्य को एक दोष माना जाता है।किन्तु ध्वनिवादी आचार्य इसे गुण की संज्ञा देते हैं। भक्तिकाव्य में रसाभास की स्थिति अधिक है। पशुपक्षियों के मानवीकरण ,कृष्ण का बहुनायकत्व एवं अलौकिक नायकत्व ,शृंगार में आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत आती है। भक्तिकाव्य में भाव की स्थिति स्पष्ट है भक्तिकाव्य में शृंगार के साथ साथ अन्य रसों में भी पुष्ट स्थायी

एवं प्रमुख संचारियों के अभाव से रस निष्पत्ति की सम्पूर्ण योग्यताएं नहीं आ सकी हैं। मानस में लक्ष्मण परशुराम संवाद प्रौढ़ रौद्र भाव के अन्तर्गत आता है। रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध मात्र फरसे के फटकने एवं अपने कृत्यों से अतिशयोक्ति पूर्ण कथन करने तक ही सीमित रह जाता है। कृष्ण भक्त कवियों के पदों में वैन्य विभाव पद अधिकांश रूप से करुण रस विभायक न होकर मात्र करुण भाव तक ही सीमित है भावाभास की स्थिति भक्तिकाव्य में कम प्राप्त होती है। भावाभास भाव के औचित्यपूर्ण कथन से सम्बन्धित है। सूर के कतिपय पदों एवं मानस में एकाध स्थल पर भावाभास के भी उदाहरण मिल जाते हैं। ये प्रसंग शृंगार के भावाभास से अधिक सम्बद्ध हैं। शृंगार के प्रसंग में कवि नख सौन्दर्य का वर्णन करने का उपक्रम करता है —

स्याम कमल पद नख की सोभा।
जे नखचन्द्र इन्द्र सिर परसै, सिव विरंचि मन लोभा।
जे नख चन्द्र सनक मुनि ध्यावत नहिं पावत परमाहीं।

सूर स्याम नख चन्द्र विमल छवि गोपी जन मिलि दरसति।

इस वर्णन को कवि शृंगार भाव से आरम्भ कर भक्ति या माहात्म्यभाव में परिवर्तित कर देता है। परिणाम स्वरूप न शृंगार का भाव उद्दीप्त हो पाता है न भक्ति भाव। भावोदय की स्थिति भक्तिकाव्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। भक्तिकाव्य भावोदय की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न है। भावोदय के प्रेरक अलंकार एवं वर्णन वैचित्र्य अनेक रूपों में भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं भावोदय के क्रम में इन कवियों ने कहीं कहीं एक संचारी मात्र में मूलभाव की व्यंजना करा दी है। वैसे भाव के प्रेरक उद्दीपन, आलम्बन, अनुभाव आदि की स्थिति भक्तिकाव्य में अत्यधिक दृढ़ है। रसध्वनि के शेष भेद भावसन्धि, भावशान्ति एवं भावशबलता के उदाहरण भक्तिकाव्य में पग पग पर मिलते हैं। भावसन्धि के अन्तर्गत भक्त कवियों ने एक विशेष चमत्कार यह दिखाया है कि शृंगारादि काव्य के अष्टरस से सम्बन्धित भावों को भक्ति से सम्बन्धित कर दिया है। एक ही भोक्ता को एक ही परिस्थिति में शृंगार, वीर, हास्य, करुण, अद्भुत आदि रस की अनुभूति भक्ति सम्बन्धी

.....

१: सूरसागर स्कन्ध १० .२४२४ .

उदात्त भाव के साथ होती है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय परम्परा से सम्बद्ध भावशान्ति एवं भावशबलता के अनेक काव्योचित् प्रयोग भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं।

गुणीभूतव्यंग्यकाव्य

पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार यह उत्तमकोटि का काव्य है क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ में व्यंग्य निहित रहता है।गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद किए गए हैं, अपूर्ण, अपराङ्ग, वाच्यसिद्धयंग, अस्फुट व्यंग्य, संदिग्ध, प्राधान्यव्यंग्य, तुल्यप्राधान्यव्यंग्य, काक्वाक्षिप्त, असुन्दरव्यंग्य। इस के अन्तर्गत अस्पष्टता प्रधानता, अप्रधानता, रस एवं भावों का परस्पर सम्मिश्रण, व्यंग्यार्थ की गूढ़ता, व्यंग्यार्थ की चमत्कारान्यता आदि भाव आते हैं।जहाँ तक हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य का प्रश्न है, गुणीभूत व्यंग्य के अनेक उदाहरण यहाँ प्राप्त होते हैं, किन्तु उनसे किसी विशिष्ट सैद्धान्तिक नियम की आशा करना असमीचीन है।वे काव्यके अन्तर्गत अनिवार्य गुण बनकर प्रयुक्त हुए हैं किन्तु उनका सम्बन्ध पूर्ववर्ती परम्परा से ही है।

चित्रकाव्य

ध्वनिवादियों के अनुसार यह निकृष्टकोटि का काव्य है क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ रहता ही नहीं।इसका मुख्य उद्देश्य मात्र अलंकरण या चमत्कृति का पोषण करना है।

हिन्दी वैष्णवभक्ति कवि काव्य के इस प्रयोग से अपने को दूर रखते हैं,

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य ध्वनि सिद्धान्त की समस्त सम्भावनाओं से युक्त है।मूलरूप से यह व्यंग्यकाव्य के ही है। इसमें अभिधेयार्थ से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण व्यंग्यार्थ है अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है।पद, वाक्य एवं प्रबन्धगत व्यंग्यार्थ ही भक्तिकाव्य में अधिकमहत्त्वपूर्ण है।भक्तिकाव्य शब्द में काव्यशब्द मूलतः अभिधेयार्थ एवं भक्ति लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ है।सम्पूर्ण भक्तिकाव्य में काव्य भक्ति की पुष्टि के लिए प्रयुक्त एक सशक्त आधार है।स्वतः भक्त कवि भी अपने काव्य के द्वारा काव्य रूप या कलापरक उद्देश्य की सिद्धि नहीं चाहते। उनका मूलउद्देश्य भक्ति या भक्तिसम्बन्धी तत्वों का पोषण करना है।इस दृष्टि से भक्तिकाव्य में प्रबन्धध्वनि अत्यधिक सशक्त कही जा सकती है।

वैष्णव भक्तिकाव्य में प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय रुढ़ियों का अध्ययन

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रयोग के साथ साथ भक्तिकाव्य में काव्यशास्त्रीय रुढ़ियों का भी प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्रीय रुढ़ि का व्यापक अर्थ कवि उत्कर्ष समय एवं समुचित अर्थ कालपरम्परा के प्रयुक्त निश्चित लक्षणों के स्वीकरण से है। तुलसी ने इसके लिए 'प्रौढ़ि' शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुत: इसके अन्तर्गत काव्य के विशिष्ट अंशों में परम्परा से गृहीत प्रयोग वैशिष्ट्य का अध्ययन करना अपेक्षित है। काव्यलक्षण, अप्रस्तुतयोजना, गुणनिरुपण, शृंगारचित्रण आदि प्रसंगों में भक्त कवियों ने उन काव्यशास्त्रीय रुढ़ियों का प्रयोग किया है जो परम्परा से चले आते हुए काव्यों में प्राप्त या लक्षण ग्रन्थों में निर्दिष्ट है जिससे इन कवियों की परम्पराबद्ध शास्त्रीयदृष्टि का अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

१– काव्यलक्षण – काव्यलक्षण के अन्तर्गत एकमात्र तुलसी ने मानस में इसका प्रयोग किया है। तुलसी मानस रुपक के अंशों में स्पष्ट रुप से कहते हैं कि उनके प्रबन्धकाव्य में रस, छन्द, अलंकार, गुण, दोष, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सभी प्राप्त हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने परम्परा से चले आते हुए महाकाव्य के सम्बन्धी अन्य रुढ़ियों का भी प्रयोग किया है –

क. सर्गबद्धता तथा सर्गान्त छन्द प्रयोग – महाकाव्य के लक्षणों में साहित्य दर्पणकार ने बताया है कि यह आठ सर्गों से अधिक नहीं होना चाहिए तथा सर्गान्त में प्रयुक्त अन्तिम छन्द नवीन सर्ग के आरम्भ में भी होना चाहिए। मानसकार इसी दृष्टि का पालन करता हुआ कथा की सम्पूर्ण सामग्री सात सर्गों में विभाजित करता है। वह सर्गों का आरम्भ संस्कृत के श्लोकों या दोहों तथा समाप्ति भी उसी से करता है। ~~सर्गान्त में भावी सर्ग की कथा की ओर संकेत करने की भी चर्चा की है।~~ कवि इस दृष्टिकोण में परिवर्तन करके सर्ग के आरम्भिक श्लोक में कथा की सूचना देता है। अयोध्या, अरण्य सुन्दरकाण्डों में उसने सर्ग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली कथा की ओर संकेत कर दिया है। जहाँ तक एक सर्ग के अन्तर्गत निश्चित कथा स्वरुप के निर्वाह का प्रश्न है, कवि पूर्ण रुप उसकी ओर सचेष्ट है।

महाकाव्य का नाम कथा तथा फलश्रुति का निर्देश।

प्रभाव पड़ा है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु के स्तरों को लहरियों का नाम दिया गया है। इसी प्रकार चन्द्रिका, भास्कर, प्रकाश, आलोक नामों से युक्त ग्रन्थों के साथ सर्गों का नामकरण उन्हीं के धर्मों के साथ मिलता है। तुलसी ने अपने महाकाव्य का नामकरण मानस रखकर उसके लिए सप्तसोपान बनाया है। इस प्रकार महाकाव्य का नामकरण एवं सर्गविभाजन परम्परागत काव्यशैली का प्रतिफल है। वह संस्कृत के महाकाव्यकारों की भाँति कथा के आरम्भ में वन्दना करता है। यह वन्दना गणेश, शंकर, राम आदि की है वह वाणी विनायक गणेश से कवि, अर्थसंघ, रस, छन्द आदि काव्यतत्वों की याचना तो करता ही है, साथ साथ काव्य के आदर्श की ओर भी संकेत करता है। आगे चलकर उसने मानस की काव्य परम्परा, काव्य के आवश्यक तत्व रचना प्रक्रिया आदि की ओर भी संकेत किया है। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में स्तुति देव वन्दना दृष्टिकोण का प्रतिपादन एवं अन्त में काव्य का फलनिर्देश करता है। कथान्त में वह पुनः अपने काव्योद्देश्य की ओर पुनः संकेत करता है।

नायकत्व एवं रसत्व

कवि अपने नायक को उच्चतम दैवत गुणों से सम्पन्न एवं रसत्व के दृष्टिकोण से मर्यादापुरुषोत्तम शान्त का पोषक बताता है। मर्यादापुरुषोत्तम शान्तरस उसके काव्य का अंगीरस है तथा अन्य रस अंग है नायक राम का सम्बन्ध सूर्यवंश से है। वे लौकिक दृष्टि से क्षत्रिय एवं धीरोदात्त हैं। इसमें कुल का कवि न होकर मात्र एक नायक के चरित्र का कवि है।

कथावृत्त एवं रचना विधान

महाकाव्य के लक्षणकारों ने महाकाव्य की कथा को इतिहासोद्भव बताया है। मानसकार इस दृष्टि का सम्पूर्णतः समर्थन करता है। वह अपनी परम्परा में व्यास, नारद, वाल्मीकि, आदि कवियों द्वारा रामचरित्र के गाए जाने की चर्चा करता है। उसने सम्पूर्णकाव्य में प्रमुखता एक ही वृत्त को ही दी है। अन्य वृत्त इसी के साथ सहायक होकर प्रयुक्त हैं। मानस में समस्त नाटकीय संधियों एवं रसों का प्रयोग मिलता भी प्राप्त है।

उद्देश्य

इसके अन्तर्गत कवियों या काव्यलक्षणकारों ने चतुर्वर्गफल की ओर संकेत

भक्ति को स्वीकार करता है।उसके काव्य में इस प्रकार उद्देश्यतत्व भी वर्तमान है।

महाकाव्य के गौण तत्व

इसके अन्तर्गत संध्या ,चन्द्रोदय, रजनी ,प्रदोष ,ध्वान्त ,वासर , अपराह्न ,मृगया ,शैल ,वन ,सागर ,नदी ,स्वर्ग ,पुर,सम्भोग ,विप्रलम्भ,मुनि , रणप्रयास ,मंत्रोपाय ,पुत्रोदय,आदि का वर्णन महाकाव्य के लिए अनिवार्य माना गया है।इसमें कवि अप्रस्तुत के रूप में संध्या ,चन्द्रोदय ,रात्रि ,अपराह्न ,मृगया, का संश्लिष्ट होकर वर्णन करता है। ऋष्यमूकपर्वत ,चित्रकूट ,समुद्र,गंगा,अयोध्या लंका सीता एवं राम का परस्पर संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार ,मुनि ,रणप्रयास मंत्रोपाय आदि की ओर संश्लिष्टता प्राप्त करता है।कतिपय स्थल मानस में मात्र महाकाव्य के लक्षणों की सक्रियता को ध्यान में रखकर वर्णित है। राम का वियोग एवं तत्सम्बन्धी सभी वर्णन ,महाकाव्यों में प्रयुक्त विप्रयोग शृंगार की परम्परागत भावना से अधिक प्रभावित ज्ञात होता है।इसी तरह लंकाकाण्ड के आरम्भ में प्रयुक्त चंद्रवर्णन ,प्रसंग भी महाकाव्य की अनिवार्यता को लक्ष्य बनाकर प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा इसके प्रयोग का दूसरा स्पष्ट कारण नहीं दृष्टिगत होता।

ख. शृंगारचित्रण .

शृंगार निरूपण के क्रम में भक्त कवियों ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा में प्राप्त काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों का अधिक प्रयोग किया है।शृंगारचित्रण सम्बन्धी निम्नरूढ़ियाँ भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं।

नायक . काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से नायक अनुकूल ,दक्षिण एवं धृष्ट हैं।राम के चरित्र को अनुकूल नायक की कोटि में रखा जा सकता है। कृष्ण रुक्मिणी के साथ अनुकूल हैं।अन्य प्रसंगों में कृष्ण दक्षिण एवं धृष्ट हो गए हैं।

नायिका . इस दृष्टि से स्वकीया के भाव का चित्रण अधिक मिलता है।सीता एवं राधा का वर्णन चरित्र स्वकीया के दृष्टिकोण से किया गया है। नायक एवं नायिका का सविस्तार वर्णन शास्त्रीय प्रेम एवं शृंगार उपशीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।नायिका की दृष्टि से राधा के चरित्र में अन्य कार्यगत स्वभावगत भी प्राप्त होते हैं। कार्य की दृष्टि से भक्ति काव्य में नायिका भेद सम्बन्धी

लोक रूढियों प्राप्त होती है-वह अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कंठिता, खंडिता विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, कलहांतरिता आदि रूपों में दिखाई पड़ती है। स्वभाव की दृष्टि से उसके ऊपर मुग्धा, धीराधीरा, खंडिता, प्रोषितभर्तृका आदि लक्षण पूरी रूप से चरितार्थ होते हैं।

वेष्टा एवं भाव

काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्राप्त समस्त शृंगारिक वेष्टाओं एवं भावों का प्रयोग हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त होता है। राग, प्रथम स्नेह दर्शन, आसक्ति, उत्कंठा, प्रथमस्पर्श एवं कम्पन, उन्माद, परस्पर मिलन की वेष्टाएं, मुस्कान, सरोवरक्रीडा, उत्सव एवं कामुकवेष्टाएं, उपवन में मिलन, मौनभाव, प्रेरक अंगों का स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन, रति, सुरति लक्षणों का गोपन नख, क्षत, सित शृंगार, श्रमान्त, शिथिलता, आदि भाव एवं वेष्टाएं भक्तिकाव्य में रूढप्रयोग के रूप में ही मिलती हैं। वियोग शृंगार के समस्त भेद पूर्वराग, मान तथा प्रवास की कल्पनाएं यहां प्रयुक्त हैं। यही नहीं चिन्ता, जागरण, प्रलाप, व्याधि, विरहोन्माद, मोह, एवं संदेश की स्थिति भक्तिकाव्य में काव्यरूढि के ही रूप में वर्तमान है। इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। किन्तु इस संदर्भ में इतना कह देना आवश्यक है कि ये तत्व निश्चित रूप से काव्यशास्त्रीय या पूर्ववर्ती काव्यपरम्परा से ही गृहीत किए गए हैं।

अप्रस्तुतनियोजन

संस्कृत काव्य परम्परा में रूढ अप्रस्तुतों का इन कवियों ने सश्लिष्ट एवं निश्लिष्ट दोनों भावों में प्रयोग किया है। सौन्दर्यचित्रण, अंग प्रत्यंग वर्णन एवं शृंगारमूलक भाव व्यंजना के संदर्भ में कवि सश्लिष्टभाव से काव्यशास्त्रीय रूढ अप्रस्तुतों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। इन प्रयोगों से इन कवियों की काव्य विषयक सतर्कता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त काव्य में व्यवहृत होने वाले सामान्य अप्रस्तुत निश्लिष्ट भाव से यहां प्रयुक्त हैं। इन काव्यशास्त्रीय रूढिगत अप्रस्तुतों की संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है -

मुख - वदन, इन्दु, चन्द, ससि, सरोज, पद्म, कमल, सरदमयंक, मयंक आदि.

नेत्र - तथा उसके अन्य पर्यायवाची शब्द मृग, मीन, खंजन, चातकी, चकोर, मधुप, कमलदल, नलिन, भृंग, सरसीरुह, राजीवदल, अंबुजदल, अली, बाण आदि.

२ बरौनी > अनी

३ कटाक्ष > किरण

४: नेत्र कमल > श्यामघटा

बाल > मधुप निकर, भुंगिनी, पन्नगिनि आदि

मस्तक > द्वितीया चन्द्र, ओम आदि

माँग > गंगा

भृकुटी > धनुष, चातक, कमान, मन्मथ फंद.

नासिका > शुक.

ओष्ठ > बिम्बाफल, इन्द्रायण, बिद्रुम.

मुक्ता > तारागण

सिन्दूरबिन्दु > बन्धूक कुसुम.

नासामणि > प्रभुत्व

दशन या दन्तपंक्ति > कुन्द, कुन्दकली, विद्युत प्रकाश, दाडिम

वचन > कोकिल, मधुपशब्द.

तिलक > शर.

ग्रीवा > कपोत

उरोज > कुम्भ, शिव, शम्भु, कंचनघट, शोकफल, घट, कंचन मेरु, शिखर, चक्रवाक
कनक कलश, कनक कलश, मंगल कलश आदि.

त्रिवली > तरंग

भुजा > मृणाल, सर्पिणी, अहिराज आदि

कटि > केहरि

नाभि > भंवर

जंघ > कदली

गति > गज, केहरि, मराल, हंसगति
कनक पद्मावली, रसाल हंस.

पद > कमल, एवं उसके अन्य पर्यायवाची शब्द

नख > इन्दु, चन्द्र आदि

[illegible] > अट्टहास, विद्युत छवि आदि

इसी प्रकार के कौन रूढ़ अप्रस्तुतों का प्रयोग हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में मिलता है ?

रीति एवं शैली सम्बन्धी रूढ़ियां

.....

रीति एवं गुण के सम्बन्ध पर प्रथम अध्याय में विचार किया जा चुका है। रीति के अन्तर्गत माधुर्य गुण की व्यंजक वैदर्भी या सरस शैली का प्रयोग भक्त कवि शृंगार या भक्ति विषयक स्नेह निरूपण के संदर्भ में करते हैं। ये कवि इन संदर्भों में ओज व्यंजक शब्दावली का प्रयोग त्याज्य समझते हैं। प्रसाद गुण व्यंजक मधुर शैली का भी प्रयोग इन्हीं स्थलों पर हुआ है किन्तु इससे भिन्न जहाँ ओज व्यंजक उदात्त शैली का प्रश्न है, ये कवि (सर्वाधिक संश्लिष्ट मिलते हैं। सूर एवं तुलसी की दृष्टि इस विषय की ओर अधिक सजग है। वीर, रौद्र, उत्कर्ष व्यंजक भावों-उत्साह, उदात्त एवं भय की स्थिति में दोनों कवि ओज गुण सम्पन्न, दीर्घ श्वास प्रवाही विकटाक्षर बन्ध का प्रयोग करते हैं। ये तत्व रूढ़ि के रूप में परम्परा से स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। इन प्रसंगों में कवियों ने प्रायः मुक्तक वृत्त का ही प्रयोग किया है।

...

कविसमय

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में 'कविसमयों' का भी प्रयोग मिलता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'कवि समय' के ऊपर विस्तृत विवेचना मिलती है। आचार्य राजशेखर ने समस्त कवि समय को तीन भागों में विभक्त किया है जाति, गुण द्रव्य क्रिया से संयुक्त भौम कवि समय-जिसके अन्तर्गत लोक प्रचलित कवि विश्वासों के या अशक्य घटना व्यापारों को शक्य रूप में रखने का प्रयत्न किया गया है। इसका दूसरा वर्ग गुण का है। भाववाचक संज्ञाओं में व्यक्ति या जातिबोधक वस्तुओं के गुणों का आरोपण गुणसम्बन्धी कवि समय के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार इसका एक तीसरा वर्ग पौराणिक विश्वासों का है। कवियों द्वारा प्रयुक्त पौराणिक विश्वासों को उन्होंने स्वर्गपातालीय विषयक कवि समय के नाम से सम्बोधित किया है[1]। इन कवि समयों का प्रयोग संस्कृत काव्यों में अधिक मात्रा में प्रचलित रहा है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है।

लौकिकवर्ग

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में इस प्रकार के कविसमयों का प्रयोग शृंगार चित्रण, आसक्ति, भक्ति की तीव्रता या भाव को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए किया गया है इस वर्ग को निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है।

जड़पदार्थ

इसके अन्तर्गत वृक्ष, पर्वत, नदी, कमल, मुक्ता आदि से सम्बन्धित कवि समय प्रयुक्त मिलते हैं। इनके प्रयोग का मुख्य कारण भावनात्मक तीव्रता को उत्कर्ष प्रदान करना है। ये कवि समय प्राय: परम्परा से लिए गए हैं। चन्द्र का पूरब दिशा में उदित होना, सूर्य को देखकर कमल का पुष्पित होना, चन्द्र को देखकर कौमुदी का पुष्पित होना, अशोकपल्लवित, वनज कमल, यमुना में कमल का होना, स्वाति नक्षत्र के जल का मोती बनना, पारस पत्थर के स्पर्श से लौह धातु का स्वर्ण बनना, गिरि पर माणिक्य की प्राप्ति, चन्द्रमा को देखकर समुद्र का बढ़ना आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

पशुपक्षी सम्बन्धी कवि समय

इस प्रकार के भी कवि समय भक्तिकाव्य में अधिक

चकोरी का रवि प्रकाश न सहन करना, भ्रमर का कमलकोष में बन्द हो जाना, चन्द्र का मृगरथ पर चलना, चन्द्र का अपने हृदय में मृग धारण करना, कीटभृंग की गति होना, हंस का मानसर में रहना, हंस का मोती चुगना, हंस का नीर क्षीर विवेक, कौवे का निरामिष होना, चक्वे चक्वी का रात्रि वियोग स्वाति जल पान, चातक की रटन, अहि मूषक सिंह मृग का नैसर्गिक बैर, गज के सिर में मुक्ता की प्राप्ति, सर्पमणि आदि।

मानवगुण स्वभाव एवं क्रिया आदि से सम्बन्धित कवि समय

सिंहासन का प्रयोग, स्त्रियों का अबला होना, राजाओं के हाथ में चक्रवर्तित्व के लक्षण, नूपुरध्वनि से परस्पर संलाप की कल्पना, नायिकाओं की गजगति, कटि केहरि, शुक नासिका, केशों के लिए वरुणपाश या कामाफन्द की कल्पना, चन्द्र का विरहिणियों के लिए दुःखप्रद होना, अपशकुन में स्त्रियों की दाहिनी बाँह का फड़कना या अन्य अपशकुन कुन्द के सदृश दन्तपंक्तियाँ, दन्तपंक्तियों में विद्युत प्रकाश की कल्पना, नख में रवि प्रकाश की कल्पना, मुट्ठी का क्षीण होना, बाहों के 'गो' में गंगा यमुना, सरस्वती आदि की कल्पना आदि इस प्रकार मानव गुण, जाति, क्रिया एवं क्रम सम्बन्धी कवि समयों का प्रयोग भक्तिकाव्य में शृंगारव्यंजना का बोध कराने के लिए अधिक किया गया है।

अचेतन वस्तुओं का मानवीकरण

हिन्दी वैष्णव कृष्ण भक्तिकाव्य में अनेक स्थलों पर प्रकृति के मानवीकरण का प्रयोग मिलता है। यह आरोपण की प्रवृत्ति विश्वास पर आधारित होने के कारण कवि समय के ही अन्तर्गत रखी जा सकती है। प्रकृति मादन भाव में तालाब, सरिता का सम्मिलन, लताओं से तरु शाखाओं का आलिंगन, कामविह्वल नदी का समुद्र से मिलने के लिए दौड़ना, पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र के प्रेम की वृद्धि विरहिणियों को बादल के द्वारा विवर्ण कर दिया जाना, वियोग में मेघ गर्जन को उसका गर्व समझना आदि।

लौकिक जगत में प्रचलित होने वाले कवि समयों के द्वारा अकार्य से कार्य की सिद्धि के भी अनेक उदाहरण भक्तिकाव्य में मिलते हैं। इन उदाहरणों से कवि व्यंजनावृत्ति को अधिक पुष्ट करना चाहते हैं। करील वन में कोकिल का रहना, चकोरी का रवि प्रकाश न सहन करना, सारे समुद्र में मराली का रहना, हंस का वन में रहना, शरद रात्रि में चक्वे की दाहकता आदि को रखने अन्तर्गत रखा जा

गुण सम्बन्धी कवि समय

इनकी संख्या भक्तिकाव्य में अपेक्षाकृत कम है। ये कवि समय भाव का बोध कराने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। भक्ति का विमल होना, पाप का काला होना, पुन्य का स्वेत होना, अनाचार की वृद्धि से जप, तप, योग एवं वैराग्य का भाग जाना, अधर्म का चारों चरणों पर खड़ा होना, हंसों का प्रकाश, भौंहों से विंध जाना, बालों का अंधेरा आदि इसी के अन्तर्गत हैं।

देववर्ग के कवि समय

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में पौराणिक विश्वासों की प्रचुरता है। सम्पूर्ण भक्तिकाव्य पौराणिक मान्यताओं पर आश्रित होने के कारण कवि समय सम्बन्धी इन धारणाओं का समुचित उपयोग करता है। पौराणिक विश्वासों को भक्तिविषयक कवि समय कहना ही उचित होगा क्योंकि जिस प्रचुरता के साथ यहाँ इनका प्रयोग हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कवि समय के अन्तर्गत कुछ ही उल्लेख किया है किन्तु भक्तिकाव्य में अवतारों सम्बन्धी कविसमयों का जो प्रयोग मिलता है। इन कवि समयों को निम्नक्रमों में रखा जा सकता है -

क. उच्चतमदेव सम्बन्धी कवि समय

इसके अन्तर्गत विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, तथा उनके अवतारों को लिया जा सकता है। इनका प्रयोग देवताओं के माहात्म्य, भक्तिव्यंजना, एवं अन्य नैतिक तथ्यों की पुष्टि के लिए किया गया है। ये इस प्रकार हैं,

विष्णु

... विष्णु के उर पर भृगु पद का चिन्ह या श्रीवत्स, शंख, चक्र, गदा, एवं पद्म, वनमाला, क्षीरसागर में शयन, रमानिकेत होना, क्षितिमान्य होना, उनके श्वासों से चारों वेदों की उत्पत्ति, विष्णु का अहि शयन, बिना पाँव चलना, बिना कान के सुनना, बिना हाथ के समस्त कार्यों का करना, शरीर के बिना स्पर्श, नासिका के अभाव में भी तीव्र घ्राण, शक्ति का पाया जाना, बिना वाणी का वक्ता गरुड़ का वाहन आदि।

शंकर

.... शंकर का निर्लिप्त, निर्गुण, कृष्णवर्ण, कपालधारक, कुष्ठ, गेरुहीन, दिगम्बर तथा सर्पयुक्त रहना, नीलकंठ होना, पंच मुख, मस्तक पर गंगा एवं बालचन्द्र का धारण करना, पन्द्रह बालों का होना आदि।

ब्रह्मा: चतुर्मुख होना ,आठ बाँह का होना ,इनके द्वारा भाग्यलेख का लिखा जाना आदि

इनके अतिरिक्त कामदेव,इन्द्र ,लक्ष्मी ,गंगा,शेष ,ब्रह्मा ,वृष्णि आदि से सम्बन्धित कविसमय भक्तिकाव्य में प्रयुक्त मिलते हैं इन्द्र का सहस्राक्ष होना , वज्र धारणकरना ,चन्द्रमा का अमृतमय होना ,शेष का सहस्रशीर्ष होना ,कमठ का पृथ्वी धारण करना ,कामदेव का मनसिज होना ,पुष्प की धनुष धारण करना, अंग होना ,गणेश का गजमुख होना ,अगस्त्य ,अगस्त्य को कल्पना ,सरस्वती को की वाचालता ,कुम्भ का सृष्टि हो जाना ,विश्व क्रोध के समय दिग्गजों का डोलना, पृथ्वी का डगमगाना ,कमठ का कम्पित होना ,पृथ्वी का भार शेष ,गज ,कमठ एवं शूकर के ऊपर रहना ,सीता का पृथ्वी पुत्री होना ,लक्ष्मी के बन्धु विष्णु वारुणी की कल्पना ,क्षीरसागर से लक्ष्मी ,विष वारुणी ,अमृत आदि का निकलना ,निमि का पलकों पर निवास ,कार्तिकेय के लिए मोर तथा गणेश के लिए चूहे का वाहन होना आदि अनेक कवि समय भक्ति काव्य में प्रयुक्त है. देववर्ग के अतिरिक्त असुरवर्ग विषयक अनेक कविसमयों का प्रयोग भक्तिकाव्य में मिलता है यथा स्वर्ग निर्मित लंका ,दैत्य एवं राक्षसों की सत्ता ,मेघनाद ,कुम्भकर्ण ; तृणावर्त शकटासुर , व्योमासुर , अघासुर ,ताड़का आदि रूपकल्पित पात्र ,रावण का दशशीश होना इत्यादि . यदि भक्तकवियों द्वारा स्वीकृत समस्त पौराणिक विश्वासों का अध्ययन किया जाय तो इनके प्रयोग के विषय में इस प्रश्न का उठना संभव है कि इन्हें कवि समय माना जाय या नहीं . वस्तुत: कविसमय की कल्पना के मूल में चमत्कारसृष्टि के पोषण एवं काव्य दोषों से सुरक्षित रहने का भाव निहित है . कवि समय का तात्पर्य शाब्दव्यवहार का भी शक्य हो जाना है .शुद्ध काव्य में दशशीश का अर्थ दशमुख वाले व्यक्ति के समान शीश करने वाले व्यक्ति से भी लिया जा सकता है किन्तु भक्तिकाव्य में यह रावण के रूढ़ अर्थ में ही प्रयुक्त है . इस प्रकार जहाँ शुद्धकाव्य में इन कविसमयों के द्वारा व्यंजना व्यापार को पुष्टि मिलती है ,भक्तिकाव्य में वह अभिधा अधिक है .ऊपर के उदाहरणों में कई कविसमय ऐसे हैं जो पूर्णरूपेण अभिधीय का ही कार्य करते हैं .कवि समयों का प्रयोग लक्षणा या व्यंजना बोध के लिए होता है , इस प्रकार भक्तिकाव्य में उन कवि समयों पर सन्देह किया जा सकता है जो पौराणिक विश्वासों से इतने अधिक पुष्ट हैं कि उनसे व्यंजना या लक्षणा व्यापारजनित चमत्कार प्राप्त होती है .

काव्यहेतु

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में काव्य हेतु के विषय में सामान्य संकेत मिलता है. इसके विषय में मात्र तुलसी ने ही अपना विचार व्यक्त किया है. उनका विचार है कि भक्तिकाव्य के हेतु सरस्वती स्मरण करते ही दौड़ी आती है[1]. किन्तु यहाँ काव्य सरस्वता का मूलहेतु भक्ति है. काव्य के संदर्भ में भक्तिविषायक प्रयोजनशीलता की दृष्टि से वाणी की अधिष्ठात्री देवी तक को दौड़ा आना पड़ता है. यहीं एक अन्य स्थल पर वह किंचित् विस्तार के साथ काव्यहेतु की चर्चा करता है. उसके अनुसार हृदय सिन्धु है, मति सीप, शारदा स्वाति है, इस प्रकार पवित्र पात्र में दृष्टि होने से ही कवित्व मुक्ता का पतन होता है. यहाँ कवि काव्य को मात्र भावनात्मक व्यापार की कोटि में रखने के लिए तैयार नहीं है और न संस्कृत के काव्यशास्त्रियों की भाँति प्रतिभा एवं अभ्यास एवं व्युत्पन्नता को काव्य की आधारशिला मानता है. उसके अनुसार हृदय की विशालता, निर्मल मानसिक आवेश एवं सरस्वती की कृपा, भक्ति काव्य के लिए एकमात्र आधार है। यहाँ सैद्धान्तिक महत्व कवि, शारदा या वाणी की अधिष्ठात्री देवी को देता है[2]. एक अन्य स्थल पर वह पुनः काव्यहेतु की ओर सामान्य संकेत करता है.

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू . वेद पुरान उदधि घन साधू .
बरषहिं राम सुजस बरबारी . मधुर मनोहर मंगल कारी . . आदि[3]

कवि पुनः अगाध हृदय एवं सुमति या निर्मल मनोनिवेश को काव्य का मुख्य हेतु स्वीकार करता है. भक्तिकाव्य के संदर्भ में वेद पुराण साधु जन मिलकर उसकी ज्ञानीनता की वृद्धि करते हैं. सम्भवतः कवि की दृष्टि से काव्य का मुख्य हेतु निर्मल मति है. वह मानस में अनेक स्थलों पर निर्मल कवि मति विमलमति, विमलबुद्धि का प्रयोग करता है. इसी निर्मल मति के ही कारण काव्य की आदि शक्ति सरस्वती को स्वतः वहाँ निवास करना पड़ता है.

---

१. मानस : बालकांड दोहा सं० ११
२. वही
३. वही दो सं. ३६

पार्वतीमंगल में कवि काव्यहेतु के संदर्भ में पुन: इस मति शब्द का उल्लेख करता है

प्रेम पाट पट डोरि , गौरि हरि गुन मनि .
मंगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि [१]

नन्ददास ने अनेकार्थी मंजरी में सरस्वती शब्द के अर्थ में उनके कार्य की स्पष्ट सूचना दी है .

बानी , वाक् , सरस्वती, गिरा , शारदा , नाम .
चतो मानवन भारती , वचन चातुरी काम [२] .

काव्य रचना प्रक्रिया के संदर्भ में स्मरण करते ही सरस्वती का पहुँच जाना इस तथ्य का द्योतक है कि काव्य हेतु से उनका सम्बन्ध अवश्य है . रसमंजरी में कवि ने पुन: रसमय सरस्वती की वन्दना की है . यही वन्दना करने का मुख्य कारण है सरस विचारों की याचना .

इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भक्ति काव्य में काव्यहेतु विषयक समस्या बहुत कम कवियों द्वारा उठाई गई है . सम्भवत. उनका सामान्य विश्वास बन चुका था , कि काव्य की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती काव्य की मुख्य हेतु है . यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो यह काव्यहेतु से सम्बन्धित एक वस्तुगत तथ्य है , जिसका आधार पौराणिक विश्वास है . किन्तु , जहाँ कवि की वैयक्तिक रचनात्मक शक्ति का प्रश्न है , इस संदर्भ में निर्मल मति आवश्यक है . इस प्रकार भक्त कवियों के अनुसार काव्य का मूलहेतु , निर्मल मति है . भक्ति, सत्संगति, वेद, पुराण साधु आदि इस मति को उत्कृष्ट बनाने के साधन मात्र हैं अत: इन्हें अभ्यास के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है .

.....

१ . पार्वतीमंगल छं. सं० १५८
२ . अनेकार्थी मंजरी छं. सं. ८
३ . रस मंजरी . भक्ति सं. २३ .

अध्याय ८

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्शों एवं काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्ययन के उपरान्त इस प्रकार का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। काव्यादर्श के संदर्भ में भक्त कवियों की दृष्टि अपनी पूर्ववर्ती संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा से पूर्णरूपेण भिन्न थी। संस्कृत के काव्यादर्शों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि उसमें जीवनगत मूल्यों के स्थान पर कलात्मक सजगता अधिक है। इस कलात्मक सजगता के ही फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में काव्य के नियामक शास्त्रों का निर्माण हुआ। इस प्रकार यहाँ काव्य मूल्यों का विकास निश्चित नियमबद्ध शास्त्रीयता के रूप में हुआ है काव्यादर्श के सम्बन्ध में यही परम्पराबद्ध दृष्टि मध्यकाल तक के संस्कृत रीतिकारों द्वारा मान्य होती चली आई है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य भी इसी परम्परा के पोषक थे इन काव्यादर्शों की संख्या ६ है .

काव्यानन्द की प्राप्ति यह अलंकारवादियों द्वारा चमत्कृति तथा रसवादियों द्वारा आनन्द के रूप में स्वीकृत हुआ है .

काव्य के द्वारा यश या कीर्ति की प्राप्ति संस्कृत के कवि इस प्रयोजन पर अधिक बल देते हैं

राजकुमारों को काव्य द्वारा शिक्षा देना यह काव्य के उपयोगीपक्ष का समर्थक है इसमें लोक व्यवहार को काव्य का विषय बनाकर प्रस्तुत करने की ओर बल दिया गया है यहाँ भी साहित्यिक कलात्मकता की दृष्टि ही प्रमुख है

लोक व्यवहार की प्राप्ति, अमिष्ट का विनाश, राजाश्रय एवं राजाओं की प्रशंसा द्वारा उनका विश्वास भाजन बने रहना, धर्मार्थ काम मोक्ष की प्राप्ति एवं शिवेतर क्षतियों से रक्षा अन्य काव्य प्रयोजन है। इन शास्त्रकारों की दृष्टि तत्कालीन परम्परा में प्राप्त धार्मिक काव्यों पर भी पहुँची है वे इसे सकाव्य कहकर सम्बोधित करते हैं। उनके अनुसार उनका उद्देश्य धर्मप्रचार एवं व्याधिरक्षा है इस प्रकार संस्कृत साहित्य में प्राप्त काव्य मूल्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

काव्य विषयक कलात्मक मूल्य एवं सामाजिक मूल्य संस्कृत काव्यों में काव्यमूल्य प्रमुख है आरम्भ में कहा जा चुका है कि संस्कृत कवियों एवं शास्त्रकारों की दृष्टि

कलापरक रही है। वे निरन्तर कलात्मक सजगता की ही चर्चा करते हैं।इस प्रकार इनका काव्यमूल्य कलात्मक सजगता से ही अनुप्राणित मिलता है।काव्य में सामाजिक मूल्यों के अन्तर्भाव का जहाँ तक प्रश्न है , वे संस्कृत की काव्य परम्परा में काव्यमूल्य के ही माध्यम से आए हैं। शुद्ध काव्य परम्परा में निर्मित संस्कृत का कोई भी काव्य सामाजिक समस्या को आधार बनाकर नहीं प्रस्तुत किया गया है। रचना का उद्देश्य , वस्तु चयन एवं वाङ्मयसामग्री आदि में सर्वत्र कलात्मक सजगता ही दृष्टिगत होती है।जहाँ कहीं भी इन कवियों ने ऊपर कथित सामाजिक आदर्शों को अपने काव्य का आधार बनाया है , उसमें उनकी सामाजिक अरुचि ही अधिक दिखाई पड़ती है।लोकव्यवहार आदि के सामान्य उद्देश्य यत्र तत्र कथित या व्यंग्य रूप में प्राप्त होते हैं।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की एतद् सम्बन्धी दृष्टि इससे काफी भिन्न है।वैष्णव भक्ति का आन्दोलन सामाजिक क्रान्ति से प्रभावित था।उसमें उच्चवर्गीय सामन्तवादी परम्परा से सन्धि एवं प्रतिक्रिया दोनों तत्व यहाँ क्रियाशील हैं। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य जन काव्य है।इस काव्य के मूल में भक्ति है तथा भक्ति के मूल में लोकसंरक्षणवृत्ति इस प्रकार भक्तिकाव्य का मूलप्रेरक सामाजिक एवं जीवनगत आदर्शों में परिव्याप्त है।भक्तिकाव्य में प्रयुक्त जीवनगत आदर्श संस्कृत की काव्य परम्परा से नहीं आए हैं। उनके आगमन में भक्ति ही एक मात्र सहायक रही है।इस दृष्टि से भक्ति तथा लोकसंरक्षण की मूलवृत्ति पर आधारित भक्तिकाव्य संस्कृत की शुद्ध शास्त्रीयकाव्य परम्परा से भिन्न है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्राप्त आदर्शों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है .

१ . भक्ति सम्बन्धी आदर्श
२ . लोकादर्श
३ . काव्यादर्श .

भक्ति सम्बन्धी आदर्श एवं लोकादर्श काव्यादर्श से भिन्न न होकर उसकी अभिव्यक्ति से ही सम्बन्धित हैं अर्थात् भक्तिकाव्य का काव्यादर्श भक्तिभावना एवं लोकमंगल सम्बन्धी मान्यता से पुष्ट है।

भक्ति सम्बन्धी आदर्श . यह आदर्श इन कवियों की सैद्धान्तिक उपासना का मूलाधार है वे भक्त थे और अपने काव्य द्वारा अपने आराध्य के गुण एवं लीलोपासना में उन्मत्त रहना चाहते हैं, भक्तिरस की प्राप्ति लीलागान ,कृष्णरस का गान ,

आराध्य का गुण एवं यशगान, भक्ति की प्राप्ति, ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति, काव्य के द्वारा आत्मदर्शन आदि प्रयोजन इनकी साम्प्रदायिक साधना से ही सम्बन्धित है।

यह साम्प्रदायिक साधना मात्र सैद्धान्तिक नहीं है। इसमें काव्य के उच्चतम गुण निहित हैं। इस प्रकार के उद्देश्यों से प्रेरित काव्य में इन कवियों का मधुर व्यक्तित्व खोजा जा सकता है। काव्यमूल्य की दृष्टि से इस प्रकार के साहित्य की गणना आत्मविगलित काव्य (personal poetry) के अन्तर्गत की जा सकती है। हिन्दी साहित्य के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है कि इसका आरम्भ वस्तुनिष्ठ काव्य [आब्जेक्टिव पोएट्री] से न होकर व्यक्तिनिष्ठ [सब्जेक्टिवपोएट्री] से होता है। इस काव्य में इनका साहित्यिक व्यक्तित्व सर्वत्र प्रधान है। यही कारण है कि रस एवं सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की सम्पूर्ण संभावनाएं भक्ति काव्य में निहित हैं। इस दृष्टि से इसकी तुलना किसी सम्पन्न साहित्य से की जा सकती है।

लोकादर्श ..... लोकादर्श से तात्पर्य काव्य के द्वारा लोकोपयोगी मूल्यों के संस्थापन से है। इसके अन्तर्गत लोकहित, नैतिकता का प्रचार, कल्मिल से उद्धार, आत्म मुक्ति, भौतिक एषणाओं से मुक्ति, चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति एवं त्रितापों का विनाश आदि मूल्य आते हैं। भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से इस प्रकार लोकसंरक्षण की वृत्ति का पोषण किया है इस लोक संरक्षण का आधार नैतिकता है। काँट, क्रोचे आदि सौन्दर्यशास्त्रियों ने नैतिकता को सौन्दर्य का मूल्य नहीं स्वीकार किया है। उनका विचार है कि नैतिकता के समावेश से काव्यमूल्य का ह्रास होने लगता है। भक्त कवि काव्य का एक मात्र मानदंड नैतिकता का पोषण बनाते हैं। भक्तिकाव्य में नैतिकता स्वतः साध्य न होकर जीवनगत मूल्यों की संरक्षक है। इस प्रकार भक्तिकाव्य काव्यमूल्यों की दृष्टि से जीवनगत आदर्शों का प्रबल समर्थक है। भक्त कवियों ने संस्कृत के काव्यादर्शों को और भी कहीं कहीं खंडित किया है, किन्तु उसके द्वारा वे काव्यमूल्य का पोषण नहीं चाहते। भक्ति कवि अन्ततक इसके पक्षपाती बने रहे हैं कि उनके काव्य में प्राप्त कलात्मक मूल्य भक्ति एवं लोक संरक्षण सम्बन्धी आदर्शों की पुष्टि के लिए है। उन्होंने काव्यमूल्य को साधन के रूप में स्वीकार किया है। भक्ति एवं लोकसाहित्य लोकसंरक्षण सम्बन्धी मूल्य इसके साध्य हैं। इस प्रकार भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्शों की दृष्टि जीवनगत एवं साहित्यिक मूल्यों के समर्थन के प्रति अधिक सजग

दिखाई पड़ती है।

भक्तिकाव्य के साहित्यिक मूल्यांकन के लिए भारतीय परम्परा में प्राप्त रससिद्धान्त का अनुसरण करना अपेक्षित है। भक्तिकाव्य की परम्परा के क्रम में कहा जा चुका है कि इसका सम्बन्ध शुद्ध काव्य से न होकर भारतीय काव्य की धार्मिक परम्परा से है। इस धार्मिक परम्परा के मूल्यांकन के लिए कतिपय आचार्यों ने यहाँ प्राप्त रसात्मक प्रवृत्ति को भक्तिरस के नाम से सम्बोधित किया है। भक्तिरस की परम्परा का संकेत अभिनवगुप्त से प्राप्त होने लगता है। उनका विचार है कि भक्तिरस का अन्तर्भाव शान्तरस में कर लिया जाना चाहिए। डॉ० राघवन् का विचार है कि शान्तरस की कल्पना 6 वीं शताब्दी के आस पास की जा चुकी थी। जहाँ तक इससे सम्बन्धित लक्ष्य ग्रन्थों का प्रश्न है ये पहली शती के आस पास से ही मिलने लगते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि परवर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा में धार्मिक काव्य के काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन सम्बन्धी सजगता आरम्भ से ही मिलने लगती है। शान्तरस इसी शास्त्रीय सजगता का प्रतिफल है। इनके अनुसार इस प्रकार का साहित्य निर्वेद, वैराग्य, तृष्णाक्षय सुख आदि मनोभावों से प्रेरित होता है। तत्कालीन भक्ति सम्बन्धी धारणा भी कुछ ऐसी वैराग्योन्मुखी ही थी।

वैष्णव भक्तिकाव्य के विस्तार के फलस्वरूप रस सम्बन्धी इस धारणा में भक्त आचार्यों को परिवर्तन करना पड़ा। भक्तिवैराग्य से हटकर आसक्ति एवं प्रेम भाव पर आधारित हो गई आराध्य की नामोपासना के स्थान पर लीला एवं गुणोपासना को प्रश्रय मिला। आराध्य की लीला के भाव भक्ति एवं काव्य दोनों के भाव बने। इस लीला के क्षेत्र में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृंगार सम्बन्धी भाव मूलाधार थे भक्ति के क्षेत्र में जहाँ दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य सम्बन्धी भावों का संगठन किया गया वहीं काव्य में भी इन्हीं को केन्द्र बिन्दु मानकर क्रमशः दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य रस की अवतारणा की गई। इस प्रकार भक्ति का अर्थ इन भावों की उपासना एवं काव्य का अर्थ इनकी अभिव्यक्ति से लगाया गया। निष्कर्ष रूप में भक्ति कवि भक्तिरस को अपने काव्य का मूलाधार मानते हैं।

रस के क्रम में हिन्दी के भक्त कवियों ने इसी दृष्टि का अधिकांश रूप से पालन किया है। उनके अनुसार रस का अर्थ आनन्द है। वे अपने काव्य में लीलारस कृष्णरस, प्रेमरस, उज्ज्वलरस, भक्तिरस आदि की निष्पत्ति चाहते हैं। उनका काव्य अधिकांश रूप से इसी रस का पोषक है। इस प्रकार काव्यरस उनके अनुसार भक्ति रस ही है।

ऊपर कहे हुए लीला के चार भाव लौकिक सम्बन्धों पर ही आधारित हैं। लौकिक सम्बन्धों के ये भाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सांसारिक प्रियता के अंग हैं। भक्त कवि इन सम्बन्धों को कृष्ण के प्रति अर्पित करके उनका आध्यात्मीकरण करते हैं। इस प्रकार भक्ति रस में प्राप्त लौकिक अनुभूति रस के स्तर पर आध्यात्मिकता से पुष्ट हो जाती है।

इसके अतिरिक्त भी भक्तिकाव्य में काव्यरस विषयक मान्यताएँ मिलती जाती हैं। इसके अन्तर्गत शृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स सभी रस भक्तिकाव्य में प्राप्त हैं। भक्त कवि अपने काव्य में इन रसों को प्रमुखता नहीं प्रदान करते। उनके अनुसार ये लौकिक काव्य में प्रयुक्त होने वाले भाव हैं। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त होने पर ये मात्र अंगरस हो जाते हैं। भक्ति स्वतः अंगीरस है, शेष काव्यरस अंग। रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में काव्यरस को गौण रस के नाम से पुकारा है। मधुसूदन सरस्वती भी इसी धारणा के पोषक हैं।

भक्तिकाव्य में प्राप्त काव्यदृष्टि के मूल्यांकन के लिए इसका सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है। धार्मिक परम्परा में ब्रह्म को रसमय या आनन्दमय कहा गया है। रस एवं आनन्द सौन्दर्यशास्त्र के अन्तिम मूल्य हैं। भक्तिकाव्य में भी इसी आनन्द मूल्य का समर्थन मिलता है। रस का अर्थ भी इन कवियों ने आनन्द से ही लिया है। इस प्रकार भक्तिकाव्य पूर्णरूपेण आनन्द तत्व का समर्थन करता है। इस आनन्द के मूलाधार कृष्ण या राम हैं तथा साधन भक्ति है इस आनन्द को प्राप्त करने का सापेक्षिक साधन भक्तिकाव्य है, क्योंकि उसमें भक्ति की ही अभिव्यक्ति मिलती है। इस प्रकार भक्तिकाव्य का उच्चतम मूल्य आनन्द ही है। भक्तिकाव्य में प्राप्त आनन्द स्वभाव की दृष्टि से तीन प्रकार का है प्रेमानन्द, भक्त्यानन्द तथा लीलानन्द। प्रेमानन्द के आश्रय भक्त एवं विषय कृष्ण हैं। इस प्रकार भक्ति काव्य अवतारी ब्रह्म के लीलानन्द से परिपूर्ण है।

इस आनन्द से पृथक भी भक्तिकाव्य में सौन्दर्य सिद्धान्त के अन्य मूल्य भी दृष्टिगत होते हैं इनमें उदात्त Sublime प्रियता Affection एवं प्रेम Love सम्बन्धी भावपूर्ण रूपेण भक्तिकाव्य कोष आच्छन्न किए हुए हैं। उदात्त भाव का प्रयोग भक्तिकाव्य में इष्ट या आराध्य की शक्तिमत्ता, एवं आसुरिक शक्तियों की प्रचंडता के संदर्भ में हुआ है। इसका अवसान आनन्द, पुलक, रोमांच, अनुमान, हर्ष, धृति आदि मनोभावों में होता है। भक्तिकाव्य में प्रियता सम्बन्धी भाव अधिक महत्वपूर्ण हैं,

रूपगोस्वामी ने इस प्रियता का समावेश व्यक्त दास्य, सख्य, एवं वात्सल्य रस के अन्तर्गत किया है। भक्ति काव्य में प्रयुक्त ये भाव मूलरूप से मानव सम्बन्धों की आसक्तियों पर निर्भर है। भक्तिकाव्य में ठीक इन्हीं आसक्तियों की प्रियता के रूप में इनकी अभिव्यक्ति हुई है। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त इस लौकिक प्रियता का आध्यात्मीकरण भी किया गया है। इसी आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति के कारण यह भक्तिरस का पोषक बना है। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त प्रेम का स्वरूप शास्त्रीय एवं स्वच्छन्द दोनों है। प्रेम के इन दोनों स्वरूपों को कवि आध्यात्मिक भाव द्वारा पुष्ट करता है। इस प्रकार प्रेम सम्बन्धी आध्यात्मिक भाव भक्तिकाव्य में माधुर्य रस बन गया है।

भक्तिकाव्य के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का तीसरा अंग उपयोगितावाद है। भक्तकाव्य की रचना कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं हुई है। काव्य में साहित्यिक मूल्य से अधिकमहत्वपूर्ण जीवनगत मूल्य है। जीवनगत मूल्य के अनेक आदर्श भक्तिकाव्य में निहित है। समाज में नैतिकता की पुष्टि, धार्मिकता का प्रचार कलि कलुष का विनाश, उच्चतम शुभ मूल्यों की समाज में स्थापना, लोक हित एवं मानव की सेवा इस उपयोगितावादी सिद्धान्त के मूल में है।

सामाजिक एवं वैयक्तिक उपयोगितावाद की धारणा का लघु संकेत संस्कृत की लघु काव्य परम्परा में मिलता है। संस्कृत कवियों की दृष्टि में उपयोगिता का अर्थ मात्र लोकोपदेश का शिक्षण एवं धनार्जन थी धनार्जन वैयक्तिक उपयोगिता का अंग थी और लोकोपदेश सामाजिक इस सामाजिकता के अन्तर्गत उच्चसामन्तवादी वर्ग की प्रसन्नता थी क्योंकि उनका उद्देश्य संस्कारच्युत राजकुमारों को संस्कृत करना था। किन्तु इस काव्य से पृथक धार्मिक काव्य में उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त की समूची संभावनाएं निहित थीं। भक्त कवियों ने धार्मिक काव्य में निहित उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्तों का पूरा पूरा लाभ उठाया है।

उपयोगिता काव्य मूल्य है कि नहीं इसके विषय में केवल कलावादी आचार्य ही संशय करते हैं। हिन्दी के भक्त कवि पूरा पूरा उपयोगितावादी काव्य मूल्य से प्रभावित हैं। यह उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त वैयक्तिक स्वार्थ एवं उदरपूर्ति से प्रभावित नहीं है। इस सिद्धान्त में क्रियाशील मनोवृत्ति के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले सामाजिक रचना के प्रति असन्तोष, राजनीतिक वातावरण के प्रति अरुचि, वासे

सामाजिक संगठन का उदात्तीकरण, जन्मजात मानव प्रवृत्तियों का परिशोधन, भौतिकता का त्याग, अनाचारगत मूल्यों के प्रति कटुता विराग आदि भाव निहित हैं। इस प्रकार भक्तिकाव्य काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उच्चतम सामाजिक मूल्यों का पोषक है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भक्तिकाव्य में प्रयुक्त मूल्यों की दृष्टि द्विधा है वह एक ओर शुद्ध साहित्यिक है एवं दूसरी ओर जीवनगत आदर्शों से सम्बन्धित भक्तिकाव्य की मूल व्यंजना ही यही है कि वहाँ का साहित्यिक मूल्य जीवनगत मूल्यों का पोषक है। इसकी पुष्टि भक्तिकाव्य के काव्यशास्त्रीय अध्ययन से और भी अधिक हो उठती है।

संस्कृत का रससिद्धान्त शुद्ध काव्य के लिए स्वतः साध्यमूल्य है। वह अपने स्पष्टीकरण के लिए काव्य के अन्य तत्वों का आधार साधन के रूप में ग्रहण करता है। ध्वनिवादी आचार्य इसलिए इसीलिए काव्य के अन्य तत्वों अलंकार, वक्रोक्ति, एवं रीति आदि को रस तत्व का साधन बताते हैं। संस्कृत काव्य में प्राप्त रस साध्य है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय रस भक्तिकाव्य एवं तत्सम्बन्धी मान्यताओं के पोषक हैं। तुलसी जैसे सजग उपयोगितावादी कवि के काव्य में शृंगार को नैतिक उपयोगिता का क्या बनना पड़ता है। यही नहीं लीला में निहित माधुर्य विषयक शृंगार आनन्द का साधक है इस प्रकार संस्कृत का काव्य शास्त्रीय रस भक्तिकाव्य में उच्चतम काव्यमूल्य को पुष्ट करने के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त है।

अलंकार के विषय में भी ठीक यही स्थिति यहाँ दिखाई पड़ती है भक्तिकाव्य में प्रयुक्त अलंकारों का स्वरूप बहुत कुछ शुद्ध संस्कृत काव्य की ही भाँति है। किन्तु जहाँ तक इनके प्रयोग का प्रश्न है भक्त कवि इस विषय में मौलिक रूप से सजग मिलते हैं। वे अलंकार का प्रयोग रूपनियोजन, गुणकथन, शृंगार निरूपण, नैतिक कथन, भक्ति की पुष्टि कल्पनात्मक अभिव्यक्ति आदि के संदर्भ में करते हैं। किन्तु यहाँ प्रयोग की दृष्टि में मूल अन्तर वर्तमान है संस्कृत काव्य में अलंकरण वृत्ति की सर्वाधिक विशेषता चमत्कृति से सम्बद्ध थी। रूपनियोजन, गुणकथन आदि में चामत्कारिक व्यंजना का प्रदर्शन करना कवि अपना मूल उद्देश्य समझता था अलंकारों के अध्ययन के संदर्भ में कहा जा चुका है कि भक्तिकाव्य में ये साधन के रूप में प्रयुक्त हैं। इनका मूल उद्देश्य चमत्कार उत्पन्न करना न होकर वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना ही है। इस वस्तु के अन्तर्गत भक्ति, भक्त, भक्तिकाव्य एवं आराध्य के माहात्म्य गुणकथन आदि भक्तिकाव्य के विषय अन्तर्विष्ट हैं।

वक्रोक्ति एवं ध्वनिकाव्य की दृष्टि से भी भक्त कवि संस्कृत की काव्य परम्परा से पृथक मात्र अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही इनका प्रयोग करते हैं। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त वक्रोक्ति एवं ध्वनि सम्बन्धी मान्यताएं काव्यमूल्य का समर्थन करती ही है, साथ ही इनका मूल उद्देश्य भक्ति काव्य में निहित उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य का समर्थन करना है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भक्तिकाव्य में निहित शैलीगत मूल्य के ही अन्तर्गत ध्वनिवादि सिद्धान्त आते हैं, वे यहाँ साध्य नहीं है। भक्तकवि रूढ़िगत काव्यशास्त्रीय मान्यताओं की पुनरावृत्ति एवं पिष्टपेषण में विश्वास नहीं रखते। उनके अनुसार शैलीगत मूल्यकाव्य के लिए यद्यपि आवश्यक है, किन्तु साधन के रूप में ही उनको साध्यता से काव्य के मूल उद्देश्य की प्राप्ति पहुँच सकती है। इस प्रकार शैलीगत मूल्यों का समाहार मूल उद्देश्य के संरक्षण में ही हो जाता है।

जहाँ तक काव्यरूप का प्रश्न है, हिन्दी वैष्णव भक्ति कवियों की दृष्टि काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्राप्त रूढ़मूल्यों के पालन में ही नहीं लग रही है। मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते अनेक स्वतंत्र काव्यरूपों का निर्माण हो चुका था। मुक्तक या लौकिक परम्परा में स्वीकृत अनेक सरलतम काव्यरूप धार्मिक काव्यपरम्परा में पूर्णरूपेण स्वीकृत हो चुके थे। वे संस्कृत के काव्यशास्त्रीय लक्षणों को 'इदमित्थं' मात्र नहीं स्वीकार करते थे। उनके काव्य का मूल उद्देश्य लोक रंजना से सम्बन्धित था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने ऐसे काव्यरूपों को ग्रहण किया जो लोकजीवन में प्रचलित थे या फिर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके लक्षणों में किंचित् संशोधन करके उन्हें अपनाया। काव्यरूप के सम्बन्ध में भक्तिकाव्य में यही दो प्रकार की दृष्टियाँ उपलब्ध हैं।

इस प्रकार मौलिकता की दृष्टि से भक्तिकाव्य का भारतीय काव्यजगत में अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। यह परम्परा की दृष्टि से भी संस्कृत की काव्य परम्परा से अधिक प्राचीन है। इसका सम्बन्ध काव्य की धार्मिक परम्परा से था। शास्त्रीय काव्यों के प्रणयन से इस परम्परा को अधिक हानि उठानी पड़ी थी किन्तु धार्मिक पुनर्संगठन एवं भक्ति सम्प्रदायों के पुष्ट हो जाने पर यह साहित्य पुनः विकसित हुआ मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में इसने हिन्दी क्षेत्र को ही नहीं अपितु समूचे भारत के साहित्यिक प्रवाह को प्रभावित किया। विशेष रूप से हिन्दी क्षेत्र में यह आन्दोलन इतना सशक्त रहा कि बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तक इसकी परम्परा बनी रही। इस प्रकार इस परम्परा का मूल्यांकन संस्कृत काव्यशास्त्र की शास्त्रीय पद्धति से नहीं किया जा सकता है क्योंकि इसमें जिन मूल्यों का स्वीकरण मिलता है, संस्कृत काव्य शास्त्र के लिए वे सामान्य हैं। दूसरी ओर ~~काव्यशास्त्रियों द्वारा~~ संस्कृत के काव्यशास्त्री जिन मूल्यों को काव्य का उच्चतम गुण मानते हैं, भक्तिकाव्य के लिए वे अति सामान्य हैं। यदि शास्त्रीय शब्दावली

में कहा जाय तो कहा जा सकता है कि भक्त कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के शैलीगत एवं विषयगत मूल्यों को साधन रूप में स्वीकार करके अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की है। इस दृष्टि से हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य संस्कृत काव्य एवं उसकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि का गतानुगतिक नहीं है। इसमें स्वतंत्र सिद्धान्त नियोजन की सम्पूर्ण सहिताएं वर्तमान हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र	आचार्य भरत
काव्यालंकार	आचार्य भामह
अग्निपुराण	〃
काव्यालंकार सूत्र	वामन
काव्यालंकार	रुद्रट
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
काव्यमीमांसा	राजशेखर
वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
ध्वन्यालोकलोचन	अभिनवगुप्त
अभिनव भारती	〃
दशरूपक	धनंजय
शृंगारप्रकाश	भोजराज
सरस्वतीकंठाभरण	〃
औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र
काव्यप्रकाश	मम्मट
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
भावप्रकाश	शारदातनय
साहित्यदर्पण	आचार्य विश्वनाथ
रसमंजरी	भानुदत्त
रसगंगाधर	पंडित राज जगन्नाथ
उज्ज्वलनील मणि	रूपगोस्वामी
श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु	〃
श्रीमद्भागवद्भक्ति रसायन	आचार्य मधुसूदन सरस्वती
अलंकार कौस्तुभ	कवि कर्णपूर गोस्वामी

आलोचनात्मक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

आधुनिक कवियों के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त	डा० सुरेशचन्द्रगुप्त
काव्य के रूप	श्री गुलाबराय
काव्यदर्पण	पं० रामदहिन मिश्र
काव्यकला तथा अन्य निबन्ध	श्री जयशंकर प्रसाद
काव्यतत्व समीक्षा	एन० एन० चौधरी
काव्यशास्त्र	डा० भगीरथ मिश्र
काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन	डा० शैलनाथ पांडेय
थ्योरी आव रस एन्ड ध्वनि	ए० शंकरन्
नम्बर आव रसाज	डा० वी० राघवन्
भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	,,
भारतीय काव्यांग	श्री सत्यदेव चौधरी
भारतीय साहित्य शास्त्र	पं० बलदेव उपाध्याय
रसमीमांसा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण	आनन्द प्रकाश दीक्षित
रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र
विचार और अनुभूति	,,
विचार और विवेचन	,,
विचार और विश्लेषण	,,
संस्कृत पोएटिक्स	एस० के० डे०
सम कांसेप्ट्स आव अलंकारशास्त्र	डा० वी० राघवन्
सम प्राबलम्स इन संस्कृत पोएटिक्स	एस० के० डे
साइकोलाजिकल स्टडीज इन रस	राकेश गुप्त
हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स	पी० वी० काणे

सौन्दर्यशास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थ

आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोएट्री	ए० सी० ब्रैडले
आलोचना के सिद्धान्त	श्री शिवदानसिंह चौहान
काव्य के उदात्त तत्व	सै.डा० नगेन्द्र
क्रिटिकल ऐप्रोचेज टु लिटेचर	फ्रिश हैलर
थ्योरी आव आर्ट	एवरक्राम्बे
द मैकिंग आव लिट्रेचर	स्काट जेम्स
द फिलासफी आव ब्यूटीफुल	नाइट
पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा	सै.डा० नगेन्द्र
पोएट्री एन्ड पोएट्स	टी० एस० इलियट
प्रिंसिपुल्स आव इंडिविजुअटिरी	वी० बोसाके
प्रिन्सिपुल्स आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म	आई० ए० रिचर्ड्स
प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म	
फदैर आर्ट्स एंड टाईम कल्चर	के० काडवेल
फिलासफी आव ब्यूटीफुल	कौट
मीनिंग आव मीनिंग	आई० ए० रिचर्ड्स
होरेस का काव्यशास्त्र	सै. महेन्द्र चतुर्वेदी
ह्वाट इज क्लैसिक	टी० एस० इलियट

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ

इंडियन एस्थैटिक थ्योरी	एस० के० रामस्वामी
इंडियन कान्सेप्ट आव व्युटीफुल	"
इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन पेंटिंग	आनन्दकुमार स्वामी
कम्पेरेटिव एस्थैटिक्स भाग १ तथा २	कान्तिचन्द पान्डेय
कम्पेरेटिव एस्थैटिक्स	चौधरी
टैगोर आन आर्ट्स एंड एस्थैटिक्स	संग्रह
द ट्रान्सफार्मेशन आव नेचर इन इंडियन आर्ट	आनन्दकुमार स्वामी
द डान्स आव शिव	" "
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद	डा० हजारीप्रसाद दिवेदी
सौन्दर्यतत्व	सुरेन्द्रनाथदास गुप्त
सौन्दर्यशास्त्र	डा० हरदुवारीलाल शर्मा

अध्यात्मरामायण
अहिर्बुध्न्यसंहिता
ईशोपनिषद्
कठोपनिषद्
केनोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
दशश्लोकी — निम्बार्कदेव
नारदभक्तिसूत्र
पद्मपुराण
प्रेमरत्नादेव
ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्रह्मसूत्र
भक्तिचन्द्रिका
भक्ति मंजरी
भक्तिमीमांसा सूत्र — पं०गोपीनाथ कविराज
भागवत
भागवत सुबोधिनी — आचार्यवल्लभ
महाभारत शान्ति
याज्ञवल्क्य स्मृति
रासपंचाध्यायी भाष्य — आचार्य वल्लभ
ऋग्वेद
वल्लभपुष्टिप्रकाश
वायुपुराण
वाल्मीकिरामायण
विष्णुपुराण
विष्णुपुराण मल्लिनाथ
वृहदारण्यकोपनिषद्
शांडिल्य भक्तिसूत्र

श्वेताश्वतरोपनिषद्	
श्रीमद्भागवतगीता	
षट्सन्दर्भ	जीवगोस्वामी
षोडशग्रन्थ	आचार्यवल्लभ
सिद्धान्त-रहस्यम्	हरिरायगोस्वामी
सिद्धान्तरहस्यटीका	भूमिका लेखक .श्रीमं० टी० तैलीवाला

~~हिन्दी का आलोचनात्मक साहित्य~~

हिन्दी का आलोचनात्मक साहित्य

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा० दीनदयालगुप्त
गोस्वामी तुलसीदास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
चिन्तामणि भाग १ तथा २	
चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य	श्री प्रभुदयाल मीतल
तुलसीदास	डा० माताप्रसाद गुप्त
तुलसी और उनका युग	डा० रामपति दीक्षित
तुलसीदास और उनकी कविता	पं० रामनरेश त्रिपाठी
मानस दर्शन	श्री कृष्णलाल
मानस मीमांसा	रजनीकान्तशास्त्र
रामावल्लभ सम्प्रदाय .सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्रस्नातक
रामकथा	फादर कामिल बुल्के
रागभक्ति में मधुरोपासना	श्री भुवनेन्द्रमिश्र माधव
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	डा० भगवतीप्रसादसिंह
राममक्तिशाखा	डा० रामनिरंजन पाँडेय
श्री राधा का क्रम विकास	डा० शशिकृष्णदास
संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं	पं० पशुराम चतुर्वेदी
सूर की काव्यकला	डा० मनमोहन गौतम
सूर की शब्दावली का अध्ययन	डा० निर्मला जकटैया
सूरदास	डा० ब्रजेश्वरवर्मा
सूरपूर्व ब्रजभाषाकाव्य	डा० शिवप्रसादसिंह

हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
हिन्दी काव्य पर पुराणों का प्रभाव	डा० शशि अग्रवाल
हिन्दी महाकाव्यों का उद्भव और विकास	डा० शम्भुनाथसिंह
१६वीं शती के बंगला और हिन्दी के वैष्णव भक्तकवि	डा० स. रत्नकुमारा
हस्तलिखित शोध प्रबन्ध	पुस्तकालय प्रयाग विश्वविद्यालय
मध्यकालीन साहित्य में वात्सल्य एवं सख्य	डा० करुणावर्मा
हिन्दी खंडकाव्यों का अध्ययन	डा० रामकुमार गुप्त

पत्र पत्रिकाएं एवं कोश

आलोचना एक पत्रिका : आलोचना विशेषांक	
आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबली ग्रन्थ भाग ३	
इनसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन एंड एथिक्स भाग २	
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली भाग ४,५ तथा ८	
काशी नागरी प्रचारिणी	
जर्नल आव ओरियंटल रिसर्च ,५,६,७	
विश्वभारती क्वार्टरली भाग ४ तथा १२	
शब्दकल्पद्रुम	
समालोचक सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक	
हिन्दी साहित्यकोश : भाग १	
हिन्दी अनुशीलन : वर्ष १३ अंक १ .हकक्का	डा०धीरेन्द्रवर्मा .
	विशेषांक तथा अन्य अंक